प्रकाशक
भारत प्रकाशन मन्दिर,
अलीगढ

संशोधित संस्करण

मूल्य दस रुपया

मुद्रक
चन्द्रप्रकाश शर्मा,
आदर्श प्रेस, अलीगढ

प्रथम संस्करण की

भूमिका

हिन्दी-जगत् में सूर-साहित्य-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों के होते हुए, और पुस्तकों के लिखने के प्रयास के औचित्य पर दो शब्द अपेक्षित हैं। साहित्य के विस्तीर्ण क्षेत्र में व्यक्तिगत रुचि के अनुसार तो अनेक समस्याएँ होती ही हैं, किन्तु कुछ समस्याएँ ऐसी भी होती हैं, जिनका अनुभव साहित्य-सेवीमात्र को होता है। उनकी पूर्ति के प्रकार पृथक्-पृथक् हो सकते हैं। प्रत्येक लेखक साहित्य के मन्दिर में किसी प्रयोजन और साधना को लेकर प्रवेश करता है। प्रत्येक प्रवर्तन में प्रवृत्त व्यक्ति का कोई प्रयोजन और साधना में मानसिक प्रेरणा अवश्य निहित रहती है। अत. प्रस्तुत प्रवर्तन के मूल में कोई प्रेरणा अथवा प्रयोजन है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। बात यह है कि श्रीमद्भागवत और सूरसागर का तुलनात्मक अध्ययन करते समय मुझे अनेक प्रेरणाएँ मिलीं और सूर-सम्बन्धी उपलब्ध साहित्य के अवलोकन के उपरान्त कुछ आवश्यकताओं का भी अनुभव हुआ। गवेषणात्मक प्रबन्ध में तो विषय की परिमिति और शोध-कार्य का संयति के प्रतिबन्धों के कारण न तो प्रेरणाओं द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर ही प्रवृत्त हुआ जा सकता है, और न ही आवश्यकताओं की पूर्ति पर विचार किया जा सकता है। इसलिए भक्त-कवि सूरदास पर एक स्वतन्त्र पुस्तक लिखने की बात मन में आई, किन्तु कहाँ तो विश्वसाहित्य-गगन के देदीप्यमान नक्षत्र सूर, और कहाँ भौतिक वासनाओं का सपिण्ड पतङ्ग मैं ? सूर के साहित्य-महोदधि का सन्तरण मानसिक दुर्बलताओं को लिये हुए मुझ से कतिपय साधनों के सबल द्वारा कैसे सम्भव हो सकता है ? फिर भी—

'तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्।'

उपलब्ध साहित्य-सामग्री के पतवारों के आधार पर यह दुःसाहस कर ही बैठा। यों तो सारे ही हिन्दी-साहित्य-सागर के मंथन की आज आवश्यकता है, फिर भी भक्ति-कालीन साहित्य के पुनर्विवेचन और खोज-सामग्री के आधार पर नवीन तथ्यों के प्रकाश में उसके पुनःपर्यवेक्षण की परम आवश्यकता है, क्योंकि इस युग के साहित्य में भारतीय संस्कृति और धर्म की युग-युगान्तर की परम्पराएँ निहित हैं। खेद की बात है कि ब्रज-भाषा के बहुत से कवि अभी अन्धकार में हैं। कहना न होगा कि ब्रज-भाषा के कवि जहाँ एक ओर धार्मिक दृष्टिकोण से शताब्दियों से चले आते हुए भक्ति-आन्दोलन का समन्वित रूप प्रस्तुत करते हैं, वहाँ साहित्यिक परम्पराओं का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। शताब्दियों तक ब्रज-भाषा उत्तरी भारत की साहित्यिक भाषा रही है और अनेक प्राचीन परम्पराओं को इसमें आश्रय मिला है। खड़ी-बोली, जिसका साहित्यिक रूप ही आज हमारी राष्ट्र-भाषा के पद पर आसीन है, ब्रज-भाषा के राजत्व-काल में गँवारू समझी जाती थी।

महाकवि सूरदास जी का काव्य जहाँ एक ओर मँजी हुई साहित्यिक ब्रज-भाषा में शताब्दियों से चली आती हुई साहित्यिक परम्पराओं को नये साँचे में ढालकर प्रस्तुत करता है, वहाँ दूसरी ओर विभिन्न धार्मिक परम्पराओं का समन्वय भी उसमें है। उत्तर और दक्षिण भारत में पूर्व-काल से ही धार्मिक परम्पराएँ विभिन्न रूपों में चल रही थीं, और

राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियो के अनुकूल उनमे बराबर परिवर्त्तन और संशोधन भी हो रहे थे। दसवी शताब्दी से पूर्व उत्तरी और दक्षिणी परम्पराओ के समन्वय का कोई अवसर न आ सका था। वैष्णव सम्प्रदाय के विभिन्न आचार्यों के द्वारा ही यह समन्वय सम्भव हो सका। स्वामी शकराचार्य जी से लेकर वल्लभाचार्य जी तक समन्वय की यह प्रक्रिया चलती रही, जो शास्त्रीय पक्ष तक ही सीमित न रह कर लौकिक पक्ष तक भी पहुँची। परन्तु इन आचार्यों की भाषा सस्कृत होने के कारण साधारण कोटि के मनुष्यो तक उनके विचारो की पहुँच सम्भव न थी। यही कारण था कि भक्त-सन्त जनता की भाषा में ही सर्वसाधारण के लिए एक सरल भक्ति-मार्ग निकाल रहे थे। यह सन्त-समाज, क्या दक्षिण में और क्या उत्तर मे एक ही भावना मे अनुप्राणित था। हो सकता है कि आलवार भक्तो का प्रभाव भी महाराष्ट्र मे से होता हुआ उत्तरी भारत मे आया हो। इन सन्तो की वाणी मे समन्वय का स्वर तो था, पर उसके साथ शास्त्रीय साज का आधार नही था। इस कमी को वैष्णव सम्प्रदायो में दीक्षित सन्तो ने पूरा किया। उन्होने एक ओर तो शास्त्रीय परम्पराओ को लोक-रुचि के साँचे में ढालकर प्रस्तुत किया और दूसरी ओर विभिन्न मत-मतान्तरो और सम्प्रदायो के अच्छे-अच्छे सिद्धान्तो का समावेश और समन्वय अपनी रचनाओ में किया। ऐसे सन्तो मे महात्मा सूरदास अग्रगण्य हैं।

सूरदास जी के साहित्य का कई दृष्टिकोणो से अध्ययन हुआ है और विद्वानो ने उच्चकोटि की साहित्यिक सामग्री प्रस्तुत की है, परन्तु उसका यथासम्भव सर्वाङ्गीण विवेचन नही हुआ। इसी बात को दृष्टिकोण मे रखकर मैंने यह प्रयास किया है और इस पुस्तक में सूर के जीवन-चरित से लेकर काव्य-पक्ष तक विचार किया है। मैं यह नि सकोच स्वीकार करता हूँ कि सूर-साहित्य-विषयक सभी उपलब्ध सामग्री का मैंने उपयोग किया है। सूर-साहित्य की पृष्ठ-भूमि प्रस्तुत करते हुए मैंने पाठको के समक्ष एक नया दृष्टिकोण रखा है। मेरा अपना विश्वास है कि भक्ति-युग के सर्वश्रेष्ठ कवि किन्ही राजनीतिक परिस्थितियो के कारण भक्ति अथवा साहित्य के क्षेत्र मे प्रवृत्त नही हुए थे, और न ही सामाजिक चित्रण उनका ध्येय था। व्यक्तिगत साधना मे लीन साधु को इन सब झमेलो से क्या लेना ? यह सत्य है कि एक विशेष सम्प्रदाय में दीक्षित होने के कारण उसकी परम्पराओ का निर्वाह सूर ने अपना कर्त्तव्य समझा, परन्तु क्या वे सोलह आने उसका निर्वाह कर सके ? इस प्रश्न का असदिग्ध उत्तर खोज निकालने मे हमे सन्देह है। भौतिकता से विरत हुए भक्त की तडपन के साथ-साथ उनकी साधना मे जीवन-मुक्त साधक की निर्मल उद्दाम आनन्दकेलि भी हैं। स्थूल रूप से इन दोनो प्रकार की भावनाओ को प्रस्तुत करने वाले उनके पदो में हमें शताब्दियो से चले आते हुए भक्ति-आन्दोलन का समन्वित रूप स्पष्ट दीख पडता है। सूर-साहित्य के आधार का विवेचन करने के लिये मैंने भागवत के अतिरिक्त अन्य सभी वैष्णव सम्प्रदायो की भी छान-बीन की है, और सभी वैष्णव सम्प्रदायो का तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत किया है।

ग्यारह अध्यायो मे विभक्त इस पुस्तक के अन्त में सूर-साहित्य की कुछ ज्ञातव्य बातो की ओर भी सकेत किया गया है। प्रथम अध्याय में सूर के जीवन-चरित पर विस्तार से विचार किया गया है और उनके जीवन से सम्बद्ध सभी उपलब्ध सामग्री के आधार पर निष्कर्ष निकाले गये हैं। इस सामग्री का विभाजन बाह्य और अन्त साक्ष्य के रूप में किया गया है। प्रथम कोटि मे सूर के जीवन से सम्बद्ध वे घटनाएँ ली हैं, जिनका उल्लेख सम-सामयिक तथा परवर्ती प्राचीन लेखको व कवियो ने अपनी कृतियो में किया है। इसके

अन्तर्गत साम्प्रदायिक-साहित्य, वार्ता-साहित्य, परवर्ती कवियों और भक्तों के उल्लेख तथा तत्कालीन इतिहास-ग्रन्थ आते हैं। हिन्दी-साहित्य के इतिहास और सूर-विषयक आलोचनात्मक ग्रन्थ भी इसी कोटि में आते हैं। दूसरी कोटि में सूर के वे आत्म विषयक कथन हैं, जो उनके पदों में यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं, और जिनकी संगति खींच-तान कर विद्वानों ने उनके जीवन से लगाई है।

दूसरे अध्याय में सूर के साहित्य की मीमांसा की गई है। इस सम्बन्ध में न तो वार्ता-साहित्य ही में, और न ही उनके सम-सामयिक इतिहास-ग्रन्थों में कोई विशेष उल्लेख है। इसलिए खोज-रिपोर्ट, इतिहास-ग्रन्थ एवं पुस्तकालयों में सुरक्षित उन पुस्तकों के आधार पर उनके साहित्य का निर्णय किया गया है, जो सूर के नाम से प्रचलित हैं। इन ग्रन्थों की प्रामाणिकता, अप्रामाणिकता तथा विषय-क्रम का विवेचन भी किया गया है। इस विषय में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि सूरसागर के संग्रहात्मक और द्वादश-स्कन्धात्मक संस्करण प्राप्त होते हैं। दोनों ही प्रकार के प्राप्त ग्रन्थों का तुलनात्मक विवेचन करते हुए वार्ता-साहित्य और साम्प्रदायिक परम्पराओं से उनकी संगति लगाने का प्रयत्न किया है।

तीसरे अध्याय में सूर-साहित्य की पृष्ठ-भूमि प्रस्तुत की है, जो भारत के मध्य युग का इतिहास है और जिसमें वह महान् व्यापक आन्दोलन अन्तर्हित है, जो भक्ति-आन्दोलन के नाम से प्रसिद्ध है। वास्तव में विभिन्न युगों के अनेक स्तरों के बीच से मन्द-मन्द किन्तु अव्याहत गति से बहती हुई, अनेक दिशाओं से उलटी-सीधी बहकर आने वाली विविध विचार-धाराओं को आत्मसात् करती हुई, भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की सिद्धान्त-सार-सुधा से प्राणियों के अन्तःकरण को तृप्त करती हुई, भारतीय साधना की मन्दाकिनी का आश्रय इस महाकवि का 'सागर' है। भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन वैदिक काल से लेकर सूफियों के समय तक की विभिन्न साधनाओं का अध्ययन है। वैदिक काल से चली आती हुई भक्ति की वह अजस्रधारा—जो उपनिषदों, ब्राह्मण-ग्रन्थों, स्मृतियों और पुराणों के मार्ग से बहती हुई अपना रूप और मार्ग बदल चुकी थी, इस भक्ति-आन्दोलन के महाप्रवाह में विलीन हो गई। बौद्धों और जैनों की भी वह धर्म-साधना, जो अहिंसा को परमधर्म मानकर चली थी और पीछे तांत्रिक उलझनों में फँसकर अपने मूल स्वरूप को विस्मृत कर चुकी थी, इस भक्ति-आन्दोलन में सहायक बनी। दक्षिण के आलवार भक्तों की भक्ति-साधना, जो सच्चे हृदय की प्रतीक थी और लोक-गीतों तथा ग्रामीण गानों से प्रस्फुटित होती हुई दक्षिण प्रान्त के दिग्गज आचार्यों के सिद्धान्तों का मूल कारण बन चुकी थी, इस भक्ति-आन्दोलन की प्रेरणा देने वाली हुई। नाथ-पंथी सम्प्रदाय का भी इसमें अपना स्थान है। इन भारतीय सम्प्रदायों और मत-मतान्तरों से परिचित मुसलमानों, विशेषतया सूफियों की वह प्रेम साधना थी, जो ज्ञान और उपासना का समन्वय उपस्थित करती हुई सच्चे हृदय की प्रेरणा के रूप में दीख पड़ी, भारतीय धर्म-साधना को प्रभावित कर रही थी। इन विभिन्न प्रभावों को आत्मसात् करता हुआ भक्ति का यह विशुद्ध प्रवाह १६वीं शताब्दी तक इतना विकास और उत्कर्ष को गया कि सागर सदृश इसमें [illegible] विस्तार हो गया। इन धार्मिक परिस्थितियों के अतिरिक्त सामाजिक और साहित्यिक परिस्थितियों पर भी इस अध्याय में प्रकाश डाला गया है।

चतुर्थ अध्याय मे भक्ति-आन्दोलन में दक्षिण के योग और वैष्णव सम्प्रदाय के सिद्धान्तो का विवेचन हुआ है। वास्तव मे ८वी शताब्दी मे १५वी शताब्दी तक दक्षिण ही सुधार का केन्द्र रहा। वैष्णव, शैव आदि भक्तो ने भक्ति पर बल दिया और आचार्यों ने अपने-अपने दार्शनिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया। राजनीतिक और सामाजिक परिवर्त्तनो के कारण धर्म की जो धारा दक्षिण मे पहुँच गई थी, वह अवसर पाकर फिर उत्तरी भारत की ओर बही और अनुकूल वातावरण पाकर एक अत्यन्त विशाल और विस्तृत प्रवाह मे परिणत हो गई। चैतन्य महाप्रभु और वल्लभाचार्य ने इसमें विशेष योग दिया। चैतन्य ने भक्ति में भाव-पक्ष की प्रबलता पर जोर दिया, और वल्लभाचार्य ने विधि-विधान और बाह्य रूप को विशेष प्रश्रय दिया। सूरदास जी पर चैतन्य का भी पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है। सहजिया, सखी और राधावल्लभीय आदि सम्प्रदाय इस युग में रागात्मिका भक्ति से प्रेरित होकर अपने सिद्धान्तो का प्रचार जनता में कर रहे थे, और साथ ही साथ सन्तो का एक वर्ग मनुष्य की सामान्य भाव-भूमि के आधार पर जाति पाँति के बन्धनो से परे, साम्प्रदायिकता के आवरण को दूर फेंककर एक ही ईश्वर की निष्ठा का प्रतिपादन कर रहा था। इन सभी सम्प्रदायो का इस अध्याय मे उल्लेख किया गया है। हमारे चरितनायक भक्त-प्रवर सूरदास इस भक्ति-पारावार मे डूबती-उतराती जन-साधारण की नौका के कर्णधार कहे जा सकते हैं, जिन्होने मत-मतान्तरो के झञ्झावात से डगमगाती हुई उस साधना-तरणि को प्रेमाभक्ति की पतवारो से व्रजधाम के स्वर्णतट पर लाकर खडा कर दिया। ससार के सकीर्ण वातावरण मे तडपते हुए मानव को उन्होने उस उच्च भाव-भूमि पर लाकर बैठा दिया, जहाँ एक ओर तो वह ऐहिकता की कलुषित दुर्गन्ध से मुक्त होकर ईर्ष्या-द्वेष, छल-कपट आदि से रहित उन्मुक्त वायुमण्डल में साँस ले सका; और दूसरी ओर सांसारिक ताप से तप्त मनुष्य की दशा पर आँसू बहाता हुआ हाथ बढाकर उसे ऊपर उठने में सहारा दे सका। इस प्रकार जनता की कुत्सित वृत्तियो का परिष्कार कर उन्हे कृष्ण-भक्ति की ओर उन्मुख कर सूर ने लोक-कल्याण का बडा भारी कार्य किया।

'पुराण-साहित्य और कृष्ण का विकास' शीर्षक पञ्चम अध्याय में पुराण-साहित्य के विश्लेषण के साथ वैदिक-साहित्य से पौराणिक युग तक के कृष्ण-विषयक उल्लेखो पर विचार किया गया है। हमारा अपना अनुमान है कि पुराणो की स्थिति चाहे किसी रूप में क्यो न हो, वैदिक काल मे भी थी। अपनी इस मान्यता की पुष्टि में हमने वैदिक-साहित्य से प्रमाण भी उपस्थित किये हैं। यह बात अवश्य है कि जिस रूप में पुराण आज उपलब्ध हैं, उस रूप मे प्राचीन काल मे न रहे होंगे। किन्तु पुराणो मे जितने भी मुख्य तत्त्व दीख पडते हैं, उन सभी के सूत्र वैदिक-साहित्य मे किसी न किसी रूप मे मिल जाते हैं। अन्तर केवल इतना है कि वैदिक ग्रन्थो में उनका आभास मात्र है, और पुराणो मे विकसित रूप। 'पुराण सहिता' शब्द से हमारे इस कथन की पुष्टि होती है। बात यह है कि जैसे-जैसे हमारे वाङ्मय का सकलन और सम्पादन होता गया, वैसे-वैसे ही पुराण-साहित्य विकसित होता गया और उसमें नवीन-नवीन कथाओ का समावेश, वशो का वर्णन और सिद्धान्तो का सकलन होता गया। आगे चलकर जब कई धार्मिक सम्प्रदायो का जन्म हुआ तो उन्होंने पुराणो को अपने प्रचार का साधन बनाया। महाभारत के पश्चात् पुराण-लेखन-प्रवृत्ति ने और भी बल पकडा। इसमें सन्देह नही कि यह प्रवृत्ति मध्य युग के अन्त तक चलती रही। रूपक की प्रवृत्ति ने वास्तविकता को और भी अन्धकार में धकेल दिया और वह साधारण

चतुर्थ अध्याय मे भक्ति-आन्दोलन मे दक्षिण के योग और वैष्णव सम्प्रदाय के सिद्धान्तो का विवेचन हुआ है। वास्तव मे ८वी शताब्दी से १५वी शताब्दी तक दक्षिण ही सुधार का केन्द्र रहा। वैष्णव, शैव आदि भक्तो ने भक्ति पर बल दिया और आचार्यो ने अपने-अपने दार्शनिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया। राजनीतिक और सामाजिक परिवर्त्तनो के कारण धर्म की जो धारा दक्षिण मे पहुँच गई थी, वह अवसर पाकर फिर उत्तरी भारत की ओर वही और अनुकूल वातावरण पाकर एक अत्यन्त विशाल और विस्तृत प्रवाह मे परिणत हो गई। चैतन्य महाप्रभु और वल्लभाचार्य ने इसमें विशेष योग दिया। चैतन्य ने भक्ति में भाव-पक्ष की प्रबलता पर जोर दिया, और वल्लभाचार्य ने विधि-विधान और बाह्य रूप को विशेष प्रश्रय दिया। सूरदास जी पर चैतन्य का भी पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है। सहजिया, सखी और राधावल्लभीय आदि सम्प्रदाय इस युग में रागात्मिका भक्ति से प्रेरित होकर अपने सिद्धान्तो का प्रचार जनता मे कर रहे थे, और साथ ही साथ सन्तो का एक वर्ग मनुष्य की सामान्य भाव-भूमि के आधार पर जाति पाँति के बन्धनो से परे, साम्प्रदायिकता के आवरण को दूर फेंककर एक ही ईश्वर की निष्ठा का प्रतिपादन कर रहा था। इन सभी सम्प्रदायो का इस अध्याय मे उल्लेख किया गया है। हमारे चरितनायक भक्त-प्रवर सूरदास इस भक्ति-पारावार मे डूबती-उतराती जन-साधारण की नौका के कर्णधार कहे जा सकते हैं, जिन्होने मत-मतान्तरो के झञ्झावात मे डगमगाती हुई उस साधना-तरणि को प्रेमाभक्ति की पतवारो से व्रजधाम के स्वर्णतट पर लाकर खडा कर दिया। ससार के सकीर्ण वातावरण मे तडपते हुए मानव को उन्होने उस उच्च भाव-भूमि पर लाकर बैठा दिया, जहाँ एक ओर तो वह ऐहिकता की कलुषित दुर्गन्ध से मुक्त होकर ईर्ष्या-द्वेष, छल-कपट आदि से रहित उन्मुक्त वायुमण्डल में साँस ले सका; और दूसरी ओर सांसारिक ताप से तप्त मनुष्य की दशा पर आँसू बहाता हुआ हाथ बढ़ाकर उसे ऊपर उठने में सहारा दे सका। इस प्रकार जनता की कुत्सित वृत्तियो का परिष्कार कर उन्हे कृष्ण-भक्ति की ओर उन्मुख कर सूर ने लोक-कल्याण का बडा भारी कार्य किया।

'पुराण-साहित्य और कृष्ण का विकास' शीर्षक पञ्चम अध्याय में पुराण-साहित्य के विश्लेषण के साथ वैदिक-साहित्य से पौराणिक युग तक के कृष्ण-विषयक उल्लेखो पर विचार किया गया है। हमारा अपना अनुमान है कि पुराणो की स्थिति चाहे किसी रूप में क्यो न हो, वैदिक काल मे भी थी। अपनी इस मान्यता की पुष्टि में हमने वैदिक-साहित्य से प्रमाण भी उपस्थित किये हैं। यह बात अवश्य है कि जिस रूप में पुराण आज उपलब्ध हैं, उस रूप मे प्राचीन काल में न रहे होगे। किन्तु पुराणो मे जितने भी मुख्य तत्त्व दीख पडते हैं, उन सभी के सूत्र वैदिक-साहित्य मे किसी न किसी रूप मे मिल जाते हैं। अन्तर केवल इतना है कि वैदिक ग्रन्थो में उनका आभास मात्र है, और पुराणो मे विकसित रूप। 'पुराण सहिता' शब्द से हमारे इस कथन की पुष्टि होती है। बात यह है कि जैसे-जैसे हमारे वाङ्मय का सकलन और सम्पादन होता गया, वैसे-वैसे ही पुराण-साहित्य विकसित होता गया और उसमे नवीन-नवीन कथाओ का समावेश, वशो का वर्णन और सिद्धान्तो का सकलन होता गया। आगे चलकर जब कई धार्मिक सम्प्रदायो का जन्म हुआ तो उन्होंने पुराणो को अपने प्रचार का साधन बनाया। महाभारत के पश्चात् पुराण-लेखन-प्रवृत्ति ने और भी बल पकडा। इसमें सन्देह नही कि यह प्रवृत्ति मध्य युग के अन्त तक चलती रही। रूपक की प्रवृत्ति ने वास्तविकता को और भी अन्धकार में धकेल दिया और वह साधारण

एवं गीत-गोविन्द हैं, तथा भाषा में विद्यापति और चण्डीदास ने राधा का वर्णन किया था। राधा के चित्रण में सूर अपने पूर्ववर्ती कवियों से कहाँ तक प्रभावित हुए, तथा कहाँ तक उन्होंने अपना मौलिक चित्रण प्रस्तुत किया ? इस पर भी हमने इस प्रकरण में विचार किया है। वास्तव में सूर की राधा में—विद्यापति, जयदेव, चण्डीदास और ब्रह्मवैवर्त्त की राधा की विशेषताओं का समन्वय तो हुआ ही है, साथ ही स्वाभाविक मनोवैज्ञानिकता के स्वर्णिम वर्ण से उन्होंने अपनी राधा को ऐसा रूप दिया है कि उनसे पहले के सभी चित्र फीके पड़ गये हैं। उनकी राधा के प्रेम में स्वाभाविक विकास है। उन्होंने कैशोर्य की मयत चपलता और यौवन के उद्दाम सागर में डूबती हुई राधा का ही चित्रण नहीं किया, अपितु अपने भोलेपन से सबके मन को हरने वाली और सहज निर्व्याज तरलता से मनमोहन श्याम का मन मोहने वाली 'बालिका राधा' का भी चित्रण किया है। वह सूर की अपनी देन है, निजी मौलिकता है। उनकी राधा में चाहे परकीया की तीव्र वेदना न हो, परन्तु स्वकीया की गम्भीर और स्वाभाविक उत्कंठा अवश्य है।

अष्टम अध्याय में सूर के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। यद्यपि सूरदास जी तत्त्वतः दार्शनिक नहीं थे, वे तो सन्त-भक्त और सिद्ध-कवि थे। उनका लक्ष्य दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन नहीं था। भगवान् की भक्ति में विभोर हुए उनके हृदय की तन्त्री से जो राग स्वतः निर्गत हुए, उन्हीं का संकलन सूरसागर है। फिर भी हम इस ग्रन्थ को शताब्दियों से चली आती हुई धार्मिक परम्पराओं का आश्रय स्थल कह सकते हैं। इसीलिए भक्ति-रस से लबालब भरा रहने पर भी इसमें सिद्धान्त-रत्नों की कमी नहीं है, किन्तु स्वतन्त्र रूप से इसमें दार्शनिक सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा सिद्ध करना सम्भव नहीं। इसीलिए सूर के दार्शनिक पक्ष को समझने के लिए जहाँ पिछले कई शताब्दियों के धार्मिक आन्दोलन का मन्थन आवश्यक है, वहाँ विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का परिचय भी अपेक्षित है। वैष्णव सम्प्रदायों ने अपना आधार श्रीमद्भागवत को माना है, और वल्लभ-सम्प्रदाय में तो उसे बहुत ही अधिक मान्यता मिली है। इसलिए इस प्रकरण में हमने भागवत के मुख्य दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए वल्लभाचार्य जी के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवरण प्रस्तुत किया है। वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यों ने श्रीकृष्ण-लीलाओं को भी आध्यात्मिक रूप में लिया है और गोपी, गोप, राधा, मुरली आदि को प्रतीक रूप से स्वीकार किया है। चैतन्य महाप्रभु के शिष्यों ने तो वैष्णव सम्प्रदायों को शास्त्रीय रूप देने में बहुत योग दिया। इस प्रकरण में हमने कृष्ण-लीलाओं के आध्यात्मिक पक्ष और प्रतीकार्थों पर विस्तार से विचार किया है, और फिर जीव, जगत्, संसार, माया, मोक्ष आदि के विषय में सूर की मान्यताओं का विवेचन किया है। इन सभी विषयों में सूर ने केवल अपनी मौलिकता ही नहीं, निर्भीकता भी दिखाई है। उन्होंने दार्शनिक सिद्धान्तों का [illegible] नहीं किया है। भक्ति-भूमि में प्रवेश करने से पहले चाहे उनका मन माया और अविद्या की ओर में रमा हो, पर भक्ति-स्पर्श से तो मानो उन्हें परमधाम की प्राप्ति हो ही गई थी, जहाँ पहुँचकर भगवान् का लीला-गान ही वे अपना कर्त्तव्य समझते रहे। आनन्दमग्न भक्त को जीव की विभिन्न कोटियों के पचड़े में पड़ने से क्या मतलब ? इसलिये सूरसागर में दार्शनिक सिद्धान्तों का क्रमिक विवेचन नहीं मिलता, किन्तु एक विशेष सम्प्रदाय में दीक्षित होने के कारण उनका प्रभाव अवश्य लक्षित होता है।

१—दशम स्कन्ध के अतिरिक्त अन्य स्कन्धो मे भागवतानुसरण की बात केवल दुहराई गई है, अनुसरण किया नही गया। दशम स्कन्ध मे भी गेय पदो में सूर की दृष्टि भागवत की अपेक्षा भावना के अधिक विस्तृत प्राङ्गण में चौकडी भरती दीख पडती है।

२—भागवत मे आये हुए पौराणिक और ऐतिहासिक आख्यानो की सूरसागर में पूर्ण उपेक्षा की गई है, कथाओ मे पारस्परिक सम्बन्ध भी नही है और पद भरती के से प्रतीत होते हैं।

३—भागवत के दार्शनिक पक्ष को भी सूरसागर मे प्रश्रय नही दिया गया है। स्तोत्रो और प्रवचनो के रूप मे भागवत में दार्शनिक सिद्धान्तो की जैसी विस्तृत व्याख्या मिलती है, उसका लेशमात्र भी सूरसागर मे नही। वस्तुत 'विद्यावता भागवते परीक्षा' वाली उक्ति भागवत के दार्शनिक पक्ष से ही चरितार्थ होती है।

४—जिस स्थान पर सूरसागर मे 'भागवत' के वर्णन को ज्यो का त्यो अपनाने का प्रयास किया भी गया है, वहाँ उसमे शिथिलता आ गई है और वर्णन मे अस्वाभाविकता-सी प्रतीत होती है। ऐसे प्रसङ्गो में कवि का कथन नीरस और केवल कथापूर्ति हेतु किया हुआ प्रतीत होता है। ऐसे स्थलो मे कही तो वर्णनात्मक शैली के दर्शन होते हैं और कही ऐसी अस्पष्ट समास-शैली मिलती है कि ज्ञात होता है, मानो कवि को कथाओ का भार बलात् ढोना पड रहा है।

सप्तम अध्याय में सूरदास के कृष्ण और गोपियो का स्वरूप दिखाया गया है। इस प्रकरण मे हमने सूर के पात्रों को भागवतकार के पात्रो की तुलना मे रख कर देखा है। यद्यपि सूरदास जी ने कृष्ण के मानव-रूप को ही प्रधानता दी है, फिर भी वे उनके अतिप्राकृत, लोकातीत रूप के चित्रण का लोभ सवरण नही कर सके हैं। यह दूसरी बात है कि मानवीय रूप की स्वाभाविकता के कारण उनका अलौकिक रूप दब-सा गया है। कृष्ण का रूप, सौन्दर्य-वर्णन, उनकी क्रीडाओ और चेष्टाओ का विवेचन तथा विभिन्न सस्कारो, उत्सवो और समारम्भो का विवरण सूर की अपनी मौलिकता है, साथ ही साथ कृष्ण की अलौकिकता की छाप सूर की भक्ति-भावना को भूषित करती चलती है। गोपियो के चित्रण में भी सूर ने अपनी मौलिकता दिखाई है। सूर द्वारा गोपियो के चित्रण मे एक विशेषता यह है कि किसी गोपी का व्यक्तित्व पृथक् रूप से विकसित नही हो पाया है। सब का लक्ष्य राधा की दशा को प्राप्त करना ही रहा है। ऐसा करने से गोपियो के चरित्र के विकास को बडी ठेस पहुँची है। 'भ्रमर-गीत' मे भी सूर ने गोपियो को सामूहिक रूप में ही लिया है। भागवतकार की भाँति उन्होंने उनमें अतिप्राकृत तत्त्व का आरोप नही किया। उनकी गोपियाँ ब्रज की भोली-भाली नारियाँ है, जिनमे सभी मानवीय दुर्बलताएँ हैं, और यही कारण है कि वसन्त और फाग के अवसर पर उनकी प्रगल्भता बहुत मात्रा में बढ जाती है। गोपियो के चित्रण मे सूर पर चैतन्य-सम्प्रदाय का भी प्रभाव पडा है, परन्तु गौडीय वैष्णव आलकारिको की गोपियो से वे अलग रही हैं। इस प्रकरण मे सूर की राधा पर विचार करते हुए हमने राधा के विकास पर भी प्रकाश डाला है, क्योंकि कृष्ण की भाँति राधा के विषय में भी पाश्चात्य विद्वानो ने अनेक कल्पनाएँ की हैं। कृष्ण के समान राधा का चरित्र भी अनेक वैष्णव और अवैष्णव सम्प्रदायो से प्रभावित हुआ है। राधा का विकास दिखाते हुए हमने यह निष्कर्ष निकाला है कि ब्रह्मवैवर्त्त पुराण की रचना से बहुत पहले राधा भाव-जगत् की वस्तु बन चुकी थी। सूर से पहले राधा का विवेचन करने वाले सस्कृत-ग्रन्थ ब्रह्मवैवर्त्त पुराण

एवं गीत-गोविन्द है, तथा भाषा में विद्यापति और चण्डीदास ने राधा का वर्णन किया था। राधा के चित्रण में सूर अपने पूर्ववर्त्ती कवियों से कहाँ तक प्रभावित हुए, तथा कहाँ तक उन्होंने अपना मौलिक चित्रण प्रस्तुत किया? इस पर भी हमने इस प्रकरण में विचार किया है। वास्तव में सूर की राधा में—विद्यापति, जयदेव, चण्डीदास और ब्रह्मवैवर्त्त की राधा की विशेषताओं का समन्वय तो हुआ ही है; साथ ही स्वाभाविक मनोवैज्ञानिकता के स्वर्णिम वर्ण से उन्होंने अपनी राधा को ऐसा रूप दिया है कि उनसे पहले के सभी चित्र फीके पड़ गये हैं। उनकी राधा के प्रेम में स्वाभाविक विकास है। उन्होंने कैशोर्य की सयत चपलता और यौवन के उद्दाम सागर में डूबती हुई राधा का ही चित्रण नहीं किया, अपितु अपने भोलेपन से सबके मन को हरने वाली और सहज निर्व्याज तरलता से मनमोहन श्याम का मन मोहने वाली 'बालिका राधा' का भी चित्रण किया है। यह सूर की अपनी देन है, निजी मौलिकता है। उनकी राधा में चाहे परकीया की तीव्र वेदना न हो, परन्तु स्वकीया की गम्भीर और स्वाभाविक उत्कंठा अवश्य है।

प्रथम अध्याय में सूर के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। यद्यपि सूरदास जी तत्त्वतः दार्शनिक नहीं थे, वे तो सन्त-भक्त और सिद्ध-कवि थे। उनका लक्ष्य दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन नहीं था। भगवान् की भक्ति में विभोर हुए उनके हृदय की तन्त्री से जो राग स्वतः निर्गत हुए, उन्हीं का संकलन सूरसागर है। फिर भी हम इस ग्रन्थ को शताब्दियों से चली आती हुई धार्मिक परम्पराओं का आश्रय स्थल कह सकते हैं। इसीलिए भक्ति-रस से लबालब भरा रहने पर भी इसमें सिद्धान्त-रत्नों की कमी नहीं है, किन्तु स्वतन्त्र रूप से इसमें दार्शनिक सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा सिद्ध करना सम्भव नहीं। इसीलिए सूर के दार्शनिक पक्ष को समझने के लिए जहाँ पिछले कई शताब्दियों के धार्मिक आन्दोलन का मन्थन आवश्यक है, वहाँ विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का परिचय भी अपेक्षित है। वैष्णव सम्प्रदायों ने अपना आधार श्रीमद्भागवत को माना है, और वल्लभ-सम्प्रदाय में तो उसे बहुत ही अधिक मान्यता मिली है। इसलिए इस प्रकरण में हमने भागवत के मुख्य दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए वल्लभाचार्य जी के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवरण प्रस्तुत किया है। वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यों ने श्रीकृष्ण-लीलाओं को भी आध्यात्मिक रूप में लिया है और गोपी, गोप, राधा, मुरली आदि को प्रतीक रूप में स्वीकार किया है। चैतन्य महाप्रभु के शिष्यों ने तो वैष्णव सम्प्रदायों को शास्त्रीय रूप देने में बहुत योग दिया। इस प्रकरण में हमने कृष्ण-लीलाओं के आध्यात्मिक पक्ष और प्रतीकार्थों पर विस्तार से विचार किया है; और फिर जीव, जगत्, संसार, माया, मोक्ष आदि के विषय में सूर की मान्यताओं का विवेचन किया है। इन सभी विषयों में सूर ने केवल अपनी मौलिकता ही नहीं, निर्भीकता भी दिखाई है। उन्होंने दार्शनिक सिद्धान्तों को [illegible] नहीं दी है। ब्रज-भूमि में प्रवेश करने से पहले चाहे उनका मन माया और अविद्या से मोहित न रहा हो, पर ब्रज के स्पर्श से तो मानो उन्हें परमधाम की प्राप्ति ही हो गई थी, जहाँ पहुँचकर भगवान् का लीला-गान ही वे अपना कर्तव्य समझने लगे। जीवन्मुक्त भक्त को मोक्ष की विभिन्न कोटियों के पचड़े में पड़ने से क्या मतलब? इसीलिये सूरसागर में दार्शनिक सिद्धान्तों का क्रमिक विवेचन नहीं मिलता, किन्तु एक विशेष सम्प्रदाय में दीक्षित होने के कारण उसका प्रभाव अवश्य लक्षित होता है।

नवम अध्याय में सूर के भक्ति-पक्ष पर विचार किया गया है। पहले तो भक्ति का विकास दिखाते हुए उसकी व्याख्या की गई और वैदिक-काल से लेकर पौराणिक युग तक के भक्ति-सिद्धान्तो का विवेचन किया गया है।

श्रीमद्भागवत, शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र और नारद-भक्ति-सूत्र के अनुसार भक्ति का विवेचन करते हुए सूर की भक्ति-साधना पर विस्तृत रूप से विचार करने के लिए हमने उसे पाँच शीर्षकों मे विभाजित कर दिया है—

१—साधारण भक्ति-विवेचन,

२—वैराग्यपूर्ण-भक्ति,

३—वैधी-भक्ति,

४—प्रेमरूपा-भक्ति,

५—पुष्टिमार्गीय-भक्ति।

सूर ने इस प्रपञ्चात्मक जगत् से छूटने का एकमात्र उपाय श्रीहरि-भक्ति ही माना है, जिसके विना समस्त जीवन ही भार स्वरूप है। भक्ति-रहित जीवन अधार्मिक जीवन है। कलियुग के सतापकारी तापत्रय का शमन भक्त के कोमल हृदय से वहते हुए भगवद्-भक्तिरस के शीतल स्रोत से ही सम्भव है, जो केवल भौतिक सघर्ष-जन्य क्लान्ति को ही दूर नही करता, प्रत्युत मानसिक कालुष्य का प्रक्षालन कर हृदय को भी स्वच्छ करता है, और उसे उच्च भावो के ठहरने योग्य वनाता है। कार्म-काण्ड के जाल की जटिल उलझन में फँसी हुई जनता धर्म के लुब्धक ठेकेदार, पण्डित, पुजारियो की वगुला-भक्ति का शिकार वन रही थी। तीर्थ, जप, व्रत आदि का व्यर्थ ढकोसला वास्तविकता पर आवरण डाल कर धर्म के मूलभूत तत्त्वो का अपहरण कर रहा था। तुलसी की तरह सूर ने भी अपने चारो ओर के ससार को आँख खोलकर देखा और ऐहिक लालसा की मृग-तृष्णा के पीछे भटकते हुए मानव-मन कुरङ्ग को भगवद्भक्ति-सरिता के सरस कूल पर लाकर छोड दिया। भौतिक विषयो के दुष्परिणामो का उद्घाटन और प्रभु-प्रेम का प्रतिपादन उन्होने इस खूवी के साथ किया कि लोग हरि लीलागान मे अनायास ही रत हो गए और भक्ति के विना समस्त साधनो को वन्धन समझने लगे। ज्ञान और वैराग्य को भक्ति का साधक वनाकर उन्होंने भक्त के पद की प्रतिष्ठा की, तथा ज्ञान एव योग द्वारा अगम्य तत्त्व को भी भक्ति के सरल मार्ग द्वारा गम्य वताया। भक्ति स्वत पूर्ण है, वह साधन नही—साध्य है, व्यापार नही—लक्ष्य है, और उसकी प्राप्ति सव कामनाओ की इतिश्री है।

सूर की भक्ति मे शास्त्र-प्रतिपादित भक्ति के सभी प्रकार मिल जाते हैं, साथ ही साथ सामयिक प्रभाव और मौलिकता का भी उनकी भक्ति में पुट है। उनकी राधा, कृष्ण और गोपियो की शृङ्गारिक चेष्टाओ के पीछे भक्ति का वह रूप स्पष्ट झाँकता हुआ दिखाई देता है, जो समाज मे प्रचलित लोक-गीतो और परम्पराओ मे विद्यमान था। सूर की भक्ति अन्त करण की प्रेरणा और हृदय की अनुभूति थी, परन्तु भक्त होने के साथ-साथ वे कवि भी थे। यही कारण है कि उनकी भक्ति मे कवि-सुलभ कल्पना का योग भी हो गया है। भक्ति और साहित्य के उन्मुक्त वायुमण्डल मे सूर की कल्पना ने व्यावहारिक ज्ञान और

अनुभव के पंख खोलकर इतनी ऊँची और लम्बी उड़ान भरी है कि दर्शकों को कभी-कभी तो यह आभास होता है कि वह किसी अन्य लोक की यात्रा कर रही है, परन्तु सत्य यह है कि इतने ऊँचे पर उड़ते हुए भी उसकी दृष्टि सदैव धरा पर ही लगी रही है।

दसवें अध्याय में पुष्टि-सम्प्रदाय का विवेचन किया गया है और यह बताया गया है कि इसमें सूरदास जी की स्थिति क्या थी, और सूरसागर में पुष्टि-मार्ग के तत्त्वों का किस रूप में विवेचन हुआ है। इस प्रकरण में पुष्टि-सम्प्रदाय की ऐतिहासिकता पर विचार करके पुष्टि-मार्गीय भक्ति के सिद्धान्तों का विवरण प्रस्तुत किया है और वल्लभाचार्य जी के ग्रन्थों का भी विशेष रूप से आश्रय लिया गया है। इसके पश्चात् श्रीमद्भागवत में पुष्टि-तत्त्व की खोज करते हुए 'वृत्रासुर-चतुःश्लोकी' पर विचार किया गया है, जो पुष्टि-मार्ग की सिद्धान्त-सूचिका कही जाती है। पुष्टि-मार्गीय सेवा के क्रम का उल्लेख करते हुए अन्त में 'सूरदास और पुष्टि-मार्ग' नामक शीर्षक से हमने सूर की पुष्टि-मार्गीय भक्ति पर विस्तार से विचार किया है। सूर ने पुष्टि-मार्गीय तत्त्वों का बड़ा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है और कृष्ण-चरित में अत्यधिक अतिमानवता का स्वभाव से ही निषेध कर पुष्टि-मार्गीय भक्ति को सर्वसाधारण के लिये सुगम बनाने का प्रयत्न किया है। इसलिये सूरदास न तो वैष्णव आलङ्कारिकों के बन्धन में बँधे, न ही उन्होंने भागवत का गुणगान किया; और न ही वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित पुष्टि-मार्ग का यथावत् विवेचन अपना कर्त्तव्य समझा। वे तो पुष्टि-सम्प्रदाय में दीक्षित होने पर भी साम्प्रदायिकता से बहुत दूर थे। उनका अपना अलग व्यक्तित्व है। उनका काव्य एक महान् सागर है, जिसमें अनेक प्रकार के रत्न छिपे हैं। मरजीवा बनकर कोई प्रयत्न करे, तो निकाल सकता है।

एकादश अध्याय में सूर-काव्य की आलोचना प्रस्तुत की गई है। पहले आलोचना के सामान्य रूप पर विचार करते हुए यूरोपीय और भारतीय काव्य शास्त्र-परम्परा का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत किया है। भक्त कवि सूरदास की आलोचना करते समय हमने इस बात का ध्यान रखा है कि उनके काव्य का आधार भाव है। भक्ति-भाव से प्रेरित होकर ही उनका हृदय काव्यमय गीतों में अभिव्यक्त हुआ। उनके भाव-विधान का आधार मनोवैज्ञानिकता है, इसीलिये आलोचना के नवीनतम सिद्धान्तों की कसौटी पर भी, जिसके अनुसार मनोविश्लेषण का बड़ा महत्त्व है, उनकी कविता खरी उतरती है, और भारतीय आलोचना-पद्धति के अनुसार भी वे महान् कवि ठहरते हैं। उनकी कविता में पाश्चात्य समीक्षकों द्वारा प्रतिपादित रागात्मक तत्त्व, कल्पना तत्त्व, शैली-तत्त्व तथा बुद्धि तत्त्व तथा भारतीय आचार्यों के भाषा, शैली, रस और अलङ्कार-विधान आदि तत्त्वों का समाहार बड़े ही कौशल के साथ हुआ है। कवि की गेय-पद शैली का विवेचन करते हुए हमने गेयपद शैली के विकास और महत्त्व पर भी विचार करना उचित समझा। हमारी दृष्टि से सूर ने भावमय गीत-शैली के शास्त्रीय परिष्कार में अपूर्व योग दिया है। गेयपद शैली के अतिरिक्त उनकी दृष्टकूट-पदशैली और वर्णनात्मक शैली पर भी हमने प्रकाश डाला है तथा काव्य में अलङ्कार-योजना के स्वरूप का निर्धारण कर सूर द्वारा प्रयुक्त अलङ्कारों का विवेचन किया है। वास्तव में सूर का वाग्वैदग्ध्य सहृदयता से समन्वित है और यही कारण है कि उनके काव्य में अलङ्कारों के घटाटोप के दर्शन नहीं होते। वे सहज रूप-चित्रण में सर्वत्र [illegible] दीख पड़ते हैं। किसी वस्तु के साक्षात्कार से जब कवि की सौन्दर्यानुभूति सजग हो उठती है,

नवम अध्याय में सूर के भक्ति-पक्ष पर विचार किया गया है। पहले तो भक्ति का विकास दिखाते हुए उसकी व्याख्या की गई और वैदिक-काल से लेकर पौराणिक युग तक के भक्ति-सिद्धान्तो का विवेचन किया गया है।

श्रीमद्भागवत, शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र और नारद-भक्ति-सूत्र के अनुसार भक्ति का विवेचन करते हुए सूर की भक्ति-साधना पर विस्तृत रूप से विचार करने के लिए हमने उसे पांच शीर्षको मे विभाजित कर दिया है—

१—साधारण भक्ति-विवेचन,

२—वैराग्यपूर्ण-भक्ति,

३—वैधी-भक्ति,

४—प्रेमरूपा-भक्ति,

५—पुष्टिमार्गीय-भक्ति।

सूर ने इस प्रपञ्चात्मक जगत् से छूटने का एकमात्र उपाय श्रीहरि-भक्ति ही माना है, जिसके विना समस्त जीवन ही भार स्वरूप है। भक्ति-रहित जीवन अधार्मिक जीवन है। कलियुग के सतापकारी तापत्रय का शमन भक्त के कोमल हृदय से बहते हुए भगवद्-भक्तिरस के शीतल स्रोत से ही सम्भव है, जो केवल भौतिक सघर्ष-जन्य क्लान्ति को ही दूर नहीं करता, प्रत्युत मानसिक कालुष्य का प्रक्षालन कर हृदय को भी स्वच्छ करता है, और उसे उच्च भावो के ठहरने योग्य बनाता है। कार्म-काण्ड के जाल की जटिल उलझन में फँसी हुई जनता धर्म के लुब्धक ठेकेदार, पण्डित, पुजारियो की बगुला-भक्ति का शिकार बन रही थी। तीर्थ, जप, व्रत आदि का व्यर्थ ढकोसला वास्तविकता पर आवरण डाल कर धर्म के मूलभूत तत्त्वो का अपहरण कर रहा था। तुलसी की तरह सूर ने भी अपने चारो ओर के ससार को आंख खोलकर देखा और ऐहिक लालसा की मृग-तृष्णा के पीछे भटकते हुए मानव-मन कुरङ्ग को भगवद्भक्ति-सरिता के सरस कूल पर लाकर छोड दिया। भौतिक विषयो के दुष्परिणामो का उद्घाटन और प्रभु-प्रेम का प्रतिपादन उन्होंने इस खूबी के साथ किया कि लोग हरि लीलागान मे अनायास ही रत हो गए और भक्ति के बिना समस्त साधनो को बन्धन समझने लगे। ज्ञान और वैराग्य को भक्ति का साधक बनाकर उन्होंने भक्त के पद की प्रतिष्ठा की, तथा ज्ञान एव योग द्वारा अगम्य तत्त्व को भी भक्ति के सरल मार्ग द्वारा गम्य बताया। भक्ति स्वत पूर्ण है, वह साधन नही—साध्य है, व्यापार नही—लक्ष्य है, और उसकी प्राप्ति सब कामनाओ की इतिश्री है।

सूर की भक्ति मे शास्त्र-प्रतिपादित भक्ति के सभी प्रकार मिल जाते हैं, साथ ही साथ सामयिक प्रभाव और मौलिकता का भी उनकी भक्ति में पुट है। उनकी राधा, कृष्ण और गोपियो की शृङ्गारिक चेष्टाओ के पीछे भक्ति का वह रूप स्पष्ट झांकता हुआ दिखाई देता है, जो समाज मे प्रचलित लोक-गीतो और परम्पराओ मे विद्यमान था। सूर की भक्ति अन्त करण की प्रेरणा और हृदय की अनुभूति थी, परन्तु भक्त होने के साथ-साथ वे कवि भी थे। यही कारण है कि उनकी भक्ति में कवि-सुलभ कल्पना का योग भी हो गया है। भक्ति और साहित्य के उन्मुक्त वायुमण्डल मे सूर की कल्पना ने व्यावहारिक ज्ञान और

अनुभव के पख खोलकर इतनी ऊँची और लम्बी उडान भरी है कि दर्शकों को कभी-कभी तो यह आभास होता है कि वह किसी अन्य लोक की यात्रा कर रही है, परन्तु सत्य यह है कि इतने ऊँचे पर उडते हुए भी उसकी दृष्टि सदैव धरा पर ही लगी रही है।

दसवें अध्याय में पुष्टि-सम्प्रदाय का विवेचन किया गया है और यह बताया गया है कि इसमें सूरदास जी की स्थिति क्या थी, और सूरसागर में पुष्टि-मार्ग के तत्त्वों का किस रूप में विवेचन हुआ है। इस प्रकरण मे पुष्टि-सम्प्रदाय की ऐतिहासिकता पर विचार करके पुष्टि-मार्गीय भक्ति के सिद्धान्तों का विवरण प्रस्तुत किया है और वल्लभाचार्य जी के ग्रन्थों का भी विशेष रूप से आश्रय लिया गया है। इसके पश्चात् श्रीमद्भागवत में पुष्टि-तत्त्व की खोज करते हुए 'वृत्रासुर-चतु श्लकी' पर विचार किया गया है, जो पुष्टि-मार्ग की सिद्धान्त-सूचिका कही जाती है। पुष्टि-मार्गीय सेवा के क्रम का उल्लेख करते हुए अन्त मे 'सूरदास और पुष्टि-मार्ग' नामक शीर्षक से हमने सूर की पुष्टि-मार्गीय भक्ति पर विस्तार से विचार किया है। सूर ने पुष्टि-मार्गीय तत्त्वों का बडा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है और कृष्ण-चरित मे अत्यधिक अतिमानवता का स्वभाव से ही निषेध कर पुष्टि-मार्गीय भक्ति को सर्वसाधारण के लिये सुगम बनाने का प्रयत्न किया है। इसलिये सूरदास न तो वैष्णव आलङ्कारिको के बन्धन में बँधे, न ही उन्होने भागवत का गुणगान किया; और न ही वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित पुष्टि-मार्ग का यथावत् विवेचन अपना कर्त्तव्य समझा। वे तो पुष्टि-सम्प्रदाय मे दीक्षित होने पर भी साम्प्रदायिकता से बहुत दूर थे। उनका अपना अलग व्यक्तित्व है। उनका काव्य एक महान् सागर है, जिसमें अनेक प्रकार के रत्न छिपे हैं। मरजीवा बनकर कोई प्रयत्न करे, तो निकाल सकता है।

एकादश अध्याय में सूर-काव्य की आलोचना प्रस्तुत की गई है। पहले आलोचना के सामान्य रूप पर विचार करते हुए यूरोपीय और भारतीय काव्य-शास्त्र-परम्परा का सक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत किया है। भक्त कवि सूरदास की आलोचना करते समय हमने इस बात का ध्यान रखा है कि उनके काव्य का अधार भाव है। भक्ति-भाव से प्रेरित होकर ही उनका हृदय काव्यमय गीतों में अभिव्यक्त हुआ। उनके भाव-विधान का आधार मनोवैज्ञानिकता है, इसीलिये आलोचना के नवीनतम सिद्धान्तो की कसौटी पर भी, जिसके अनुसार मनोविश्लेषण का बडा महत्त्व है, उनकी कविता खरी उतरती है, और भारतीय आलोचना-पद्धति के अनुसार भी वे महान् कवि ठहरते हैं। उनकी कविता में पाश्चात्य समीक्षको द्वारा प्रतिपादित रागात्मक तत्त्व, कल्पना तत्त्व, शैली-तत्त्व तथा बुद्धि-तत्त्व तथा भारतीय आचार्यों के भाषा, शैली, रस और अलङ्कार-विधान आदि तत्त्वो का समाहार बडे ही कौशल के साथ हुआ है। कवि की गेय-पद शैली का विवेचन करते हुए हमने गेयपद शैली के विकास और महत्त्व पर भी विचार करना उचित समझा। हमारी दृष्टि से सूर ने भावमय गीत-शैली के शास्त्रीय परिष्कार में अपूर्व योग दिया है। गेयपद शैली के अतिरिक्त उनकी दृष्टि कूट-पदशैली और वर्णनात्मक शैली पर भी हमने प्रकाश डाला है तथा काव्य मे अलङ्कार-योजना के स्वरूप का निर्धारण कर सूर द्वारा प्रयुक्त अलङ्कारो का विवेचन किया है। वास्तव में सूर का वाग्वैदग्ध्य सहृदयता से समन्वित है और यही कारण है कि उनके काव्य में अलकारो के घटाटोप के दर्शन नही होते। वे अपने रूप-चित्रण मे सर्वत्र सवेदनशील दीख पडते हैं। किसी वस्तु के साक्षात्कार से जब कवि की सौन्दर्यानुभूति सजग हो उठती है,

हृदय तल्लीन हो जाता है, तो उसकी कल्पना उस वस्तु के सौन्दर्य को अधिक हृदयग्राही और प्रभावोत्पादक बनाने के लिये अप्रस्तुत व्यवहार-योजना का समावेश करने लगती है, उस समय कवि की रचना मे अलकारो का स्वत ही समावेश हो जाता है।

यद्यपि सूर के काव्य मे राग-रागनियो का ही प्राधान्य है, तथापि परम्परा के अनुसार छन्दो का भी उन्होने प्रयोग किया है। अलकार-योजना और छन्दोविधान के पश्चात् हमने सूर की भाषा पर भी कुछ विचार किया है। उनके काव्य मे हमें ब्रज-भाषा का परिनिष्ठित साहित्यिक रूप मिलता है, जिसको देखकर यह अनुमान लगाना असङ्गत न होगा कि सूर के समय से शताब्दियो पहले से ही ब्रज-भाषा काव्य की भाषा रही होगी। सूर ने उसे सुसस्कृत बनाकर साहित्यिक रूप देने में ही योग दिया होगा। खेद का विषय है कि ब्रज-भाषा के विकास पर अभी तक हिन्दी के विद्वानो की दृष्टि नही पडी, और न ही इस विषय पर कोई प्राचीन पुस्तक उपलब्ध होती है। डा० दीनदयालु जी से ज्ञात हुआ कि शाहजहाँ के काल में 'सुन्दर' नामक किसी विद्वान् ने ब्रज-भाषा पर एक पुस्तक लिखी थी, किन्तु वह हमे अभी तक देखने को नही मिली। एक और पुस्तक ब्रज-भाषा के सम्बन्ध मे प्राप्त है, जो सन् १६७६ में मिर्जा खाँ ने लिखी और जिसका सम्पादन सन् १६३५ ई० में जियाउद्दीन ने 'A Grammar of Brij Bhakha' के नाम से किया। यह विश्व-भारती से प्रकाशित भी हो चुकी है। इस पुस्तक का फारसी नाम 'तुहफतुए-हिन्द' है। इसका सर्वप्रथम हवाला सर विलियम जॉन्स ने सन् १७८८ में अपने लेख 'On the Musical Notes of the Hindus' में दिया था। इस पुस्तक की पाण्डुलिपि 'इण्डिया-आफिस' लन्दन में सुरक्षित है। यह पुस्तक कई दृष्टिकोणो से महत्त्व-पूर्ण है। इसमे हिन्दी-साहित्य की कई शाखाओ पर विचार किया गया है। जब फारसी के प्रभाव से उर्दू-भाषा फारसीमय होने लगी तो मिर्जा खाँ ने प्रचलित हिन्दी अथवा भाखा को इस पुस्तक के द्वारा मुसलमानो के अधिक निकट लाने का प्रयत्न किया और भाखा-साहित्य के अध्ययन का साधन प्रस्तुत किया। इस पुस्तक में दिये हुए शब्द-कोष मे प्राय बोलचाल के शब्दो की अधिकता है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह पुस्तक बडे महत्त्व की है, क्योकि इसमे हिन्दी, अरबी और फारसी का तुलनात्मक उच्चारण भी दिया है।

ब्रजभाषा-व्याकरण की कसौटी पर सूर की भाषा खरी नही उतरती, क्योकि उन्होंने केवल ब्रज-भाषा के ही शब्दो को नही तोडा-मरोडा, अपितु अन्य भाषाओं के शब्दो को भी अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा की है। सस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों से तो उनकी भाषा का ढाँचा बनने में सहायता मिली ही है, अन्य देशी भाषाओ तथा फारसी आदि विदेशी भाषाओ का भी उसमे महत्त्व-पूर्ण योग है। इस प्रकार चलती हुई ब्रज-भाषा को व्यापक और प्रभावशाली बनाने का स्तुत्य कार्य सूर ने ही सबसे पहले किया। सूर की भाषा पर विचार करते हुए हमने इस प्रकरण में सूर-काव्य में प्रयुक्त तत्सम, अर्ध-तत्सम, तद्भव और विदेशी शब्दो की सूची दी है, और साथ ही सूर-काव्य के उन मुहावरो और लोकोक्तियो की भी बानगी प्रस्तुत की है, जिनसे उनकी भाषा की प्रौढ़ता और भाव-व्यजकता में वृद्धि हुई है। वास्तव मे लोक-प्रचलित उपमाओ, मुहावरो और लोकोक्तियो का आश्रय लेकर सूर ने अपनी भाषा को अभीष्ट भावो की अभिव्यक्ति के लिये पूर्णतया उपयुक्त बना लिया था। इस प्रकार सूर के कला-पक्ष पर विचार करके उनके भाव-पक्ष पर भी हमने प्रकाश डालने का प्रयास किया है।

महाकवि सूर आचार्यो द्वारा गिनाये हुए ही भावो और अनुभावो मे बँधकर नही चले, बल्कि अपनी कल्पना-शक्ति और अनुभूति के वल पर उन्होने 'रससिद्धकवीश्वरा' वाली उक्ति के अनुसार अनेक नवीन भावो, अनुभावो की कल्पना की है। साधारण-सी राधाकृष्ण की कथा में उन्होंने अपने भाव-रस का सम्मिश्रण कर कल्पना के दिव्य साँचे में ढाल उसे इतने सुन्दर रूप मे जनता के सामने रखा कि वह उनके आराध्य-युगल की दिव्य, सौन्दर्यमयी सफल प्रतिकृति प्रतीत होती है। जिसके हृदय में प्रेम की उत्ताल तरगें उठती हैं, पर कोलाहल नही होता, आँखो में वियोग के काले मेघ उमडते हैं, पर गर्जन नही होता, भावो का जमघट होता है, परन्तु ओठो पर स्पदन नही होता, जहाँ आग्रह के साथ सकोच, औत्सुक्य के साथ सतोष, किशोर-चपलता के साथ यौवन की गम्भीरता, और साधना के साथ साध्य का असाध्य सामञ्जस्य है। वास्तव में सूर ने राधाकृष्ण की क्रीडाओ में अनेक भावो की कल्पना की है जिससे उनका सयोग-वर्णन रीतिकालीन कवियो की भाँति गुलगुली गिलमो और गलीचे तक ही नही रह गया है, उसमें प्रकृति का अनन्त प्रसार है, सीमित सचारियो की कृत्रिम धारा के स्थान पर सरस हृदय का उन्मुक्त भाव-वर्पण है। अनायास ही सूर के मुख से जो शृङ्गारमयी उक्तियाँ निकली हैं, उनमे काव्य-शास्त्र के अनेक लक्षणो का समन्वय हुआ है। सूर की रचना मे नायिका-भेद के अनेक उदाहरण मिलते हैं, उनकी ओर भी हमने सकेत किया है।

सूर के संयोग-वर्णन के पश्चात् उनके वियोग-वर्णन की विशेषताओ का उल्लेख किया गया है। सयोग की भाँति वियोग-वर्णन भी सूर ने वात्सल्य से ही प्रारम्भ किया है। सूर का वात्सल्य-वियोग—वात्सल्य-सयोग की ही भाँति—स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक है। पुत्र से वियुक्त होने पर माता-पिता की जो स्थिति होती है, उनके हृदय में जो भाव उठते हैं तथा पुरानी बातो की स्मृति से जो अकुलाहट होती है, उन सभी का वर्णन हृदय के पारखी सूर ने बडी भावुकता से किया है। सूर के पद नद और यशोदा के हृदय की गहरी व्यथा को सूचित करते हैं। वियोग-पक्ष में विप्रलम्भ-शृङ्गार का वर्णन भी बेजोड है। सूरदास जी ने अपने वियोग-वर्णन में जहाँ एक ओर काव्य-परम्परा का निर्वाह किया है, वहाँ दूसरी ओर साम्प्रदायिक दृष्टिकोण की भी स्वाभाविक अभिव्यक्ति की है। पुष्टि-सम्प्रदाय मे सयोग-विप्रयोगात्मक रसिकेश्वर श्रीकृष्ण ही आराध्य हैं। भक्ति का शुद्ध रूप वियोगावस्था मे ही निखरता है। इसलिये सच्चे भक्त सूर का वियोग-वर्णन उच्चकोटि का बन पडा है। साधारण रूप में सयोग की अपेक्षा वियोग-शृङ्गार को साहित्यिको ने अधिक उच्च स्थान दिया है, क्योकि जहाँ सयोग में प्रिय-सान्निध्य से प्राप्त सुख हृदय की अनेक सात्विक वृत्तियो को तिरोहित किये रहता है, वहाँ वियोग उन्हें उद्‌बुद्ध करके भावो के प्रसार के लिये समस्त विश्व का क्षेत्र खोल देता है। सयोग मे प्रेमी-युगल एकान्त चाहते हैं। उन्हे किसी की सहानुभूति की आवश्यकता नही रहती, पर वियोग में उनकी आत्मा का प्रसार हो जाता है और वे प्राणीमात्र के साथ ही नहीं, जड-पदार्थो के साथ भी तादात्म्य स्थापित करते हैं। वियोगी व्यक्ति अपनी स्थिति को भूलकर उस सामान्य भाव-भूमि पर आ जाता है, जहाँ से उसकी दृष्टि प्रत्येक छोटी-मोटी वस्तु की सत्ता पर पडती है। उसके हृदय की अनुभूति रेचन का साधन न मिलने के कारण घनीभूत और तीव्र होती चली जाती है। समस्त ससार में उसे उसका प्रिय व्यक्ति ही दीख पडता है। इसी कारण सहृदय कवियो ने सयोग की अपेक्षा वियोग को अधिक पसन्द किया है। शृङ्गार-रस के सिद्ध कवि अमरुक ने

विषयानुक्रमणिका

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

—— * ——

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

विषय | पृष्ठ संख्या

पञ्चम अध्याय

पुराण-साहित्य और कृष्ण का विकास

—— * ——

प्रथम अध्याय

सूर का जीवन-चरित

भौतिकता को अवहेलना की दृष्टि से देखने वाली आध्यात्मिकता-प्रधान भारतीय-सस्कृति के अग्रदूत अनन्य कवि एव लेखको की रचनाएँ यशोलिप्सा आदि ऐपरणाओ से दूर रह कर स्वान्त सुखाय ही प्रमाणित हो तो आश्चर्य ही क्या ? यह प्रवृत्ति उनकी निर्लिप्तता का भले ही डिण्डिम घोप से प्रतिपादन करे, किन्तु इसके कारण भारत के महान् कवियो और लेखको का जीवन तमसावृत्त रहा है और इससे भारतीय साहित्य के क्रमिक अध्ययन करने के लिये अर्थ उत्सुक पाठक के निमित्त एक गहन समस्या प्रस्तुत होती रही है। फलस्वरूप अनेक पाश्चात्य विद्वान् अपने अनुसधान के टिमटिमाते दीपक की धुँवली-सी आभा में हमारे उन महान् साहित्यकारो के जीवन की अस्पष्ट प्रतिच्छायामात्र देखकर कभी-कभी तो ऐसी उपहासास्पद अटकलें लगाते हैं, जिनसे अनेक प्रकार की भ्रान्त धारणाएँ साहित्य-क्षेत्र मे प्रसृत हो जाती हैं। ऐसे घोर प्रत्यक्षवादी महानुभाव, लिखित ऐतिहासिक तथ्यो के अभाव मे, यदि राम और कृष्ण को भी काल्पनिक पात्र मानने का फ़तवा दे दें तो आश्चर्य नही होना चाहिये। स्वान्तः सुखाया वाली इस प्रवृत्ति-परम्परा के कारण आज हमें भास, कालिदास, भवभूति आदि कवियो के सम्बन्ध में प्रामाणिक ज्ञान बहुत कम प्राप्त है। हिन्दी-साहित्य ने भी यह प्रवृत्ति अपने पूर्वज सस्कृत-साहित्य से विरासत में पाई। 'काव्य यशसे' मानते हुए भी भारतीय कवि ने कीर्ति के पीछे दौड नही लगाई। उसका लक्ष्य था केवल भारती की उपासना कर उसकी वीणा के तारो में मुखरता भरना, जिनकी झङ्कार के माधुर्य में समस्त विश्व सरावोर हो जाय। यही कारण है कि एक ही नाम से अनेक कवियो की रचनाएँ आज हमें उपलब्ध होती हैं। हिन्दी के भक्ति-साहित्य को स्वर्ण-कालीन साहित्य का रूप देने वाले, राम और कृष्ण की पावन-लीलाओ का जनता में प्रचार कर उसके सकट-विलोडित मानस में धैर्य और आशा की तरगें तरगित कर भक्ति-प्रवाह को अवाध गति से प्रवृत्त करने वाले हिन्दी के कवि-युगल के विपय मे भी यही वात है। हम निश्चयपूर्वक नही कह सकते कि तुलसी का आविर्भाव कहाँ और कव हुआ ? अपने साधनामय जीवन के यापन में उन्हे क्या-क्या मधुर और कटु अनुभव हुए ? यही वात महाकवि सूरदास के विपय में भी है। केवल कतिपय प्रचलित जन-श्रुतियो एव किम्वदन्तियो के आधार पर उनके जीवन के विपय में कुछ धारणाएँ बनाकर ही हमें उन्मनस्कता पूर्वक सन्तोप की साँस लेनी पडती है।

यद्यपि महाकवि सूरदास के विपय में अनेक ग्रन्थो का प्रणयन हो चुका है, पर्याप्त गवेपणा भी हो चुकी है और हो रही है किन्तु खेद का विपय है कि उनके जीवन और साहित्य के विपय में इतने विभिन्न मत अस्तित्व में आ गये हैं, कि इस विपय में हढतापूर्वक 'इदमित्थम्' कहना नितान्त दुष्कर प्रतीत होता है। उनके साहित्य के विपय में आगे के पृष्ठो में विचार किया जायेगा, यहाँ मैं सक्षेप से सूर के जीवन-चरित के विपय में निवेदन कर रहा हूँ। इस सम्वन्ध मे जो भी सामग्री उपलब्ध है, सभी का मैंने उपयोग किया है।

सचमुच सूरदास की जन्म-तिथि और जीवन-वृत्त के विपय में सन्देह के लिये बहुत स्थान है किन्तु उनके अस्तित्व मे 'ननु-नच' करने की अणुमात्र भी गुन्जाइश नही। कारण स्पष्ट है, उन्होंने एक ऐसे परिनिष्ठित सप्रदाय मे दीक्षित होकर योग दिया था जिसका उल्लेख

तत्कालीन ऐतिहासिक ग्रंथों में भी मिलता है। यद्यपि इस प्रश्न का निश्चयात्मक उत्तर देना कि क्या सूरदास का उल्लेख इन ऐतिहासिक ग्रन्थों मे है, अति कठिन है, क्योंकि इन ग्रन्थो मे सूरदास का जैसा उल्लेख है, वह अनेक भ्रमात्मक कल्पनाओं को भी जन्म देता है। पुष्टि-मार्ग की मान्यताओं के अनुसार वल्लभाचार्य जी का जन्म वैशाख कृष्णा एकादशी रविवार सवत् १५३५ मे और मृत्यु आषाढ शु० ३ सवत् १५८७ में हुई थी और उन्होंने गौ-घाट पर सूरदास जी को अपना शिष्य बनाया था।[1] इसी सम्प्रदाय की अन्य मान्यताओं के अनुसार सूरदास जी महाप्रभु से अवस्था मे १० दिन छोटे थे और गोस्वामी विट्ठलनाथ जी सूर की मृत्यु के समय जीवित थे। विट्ठलनाथ जी का गोलोकवास सम्वत् १६४२ है, अत सूरदास जी का समय अधिक से अधिक सम्वत् १५३५ से स० १६४२ तक माना जा सकता है। उनके जीवन-चरित का निर्धारण करने मे हमे उपलब्ध समसामयिक एव परवर्ती सामग्री पर विचार करना होगा।

जीवन-सामग्री—

सूर के सबन्ध मे प्राप्त सामग्री के दो रूप हो सकते है —

(१) वाह्य-साक्ष्य के रूप में।

(२) अन्त —साक्ष्य के रूप मे

वाह्य-साक्ष्य के रूप मे अधिगत सामग्री भी दो प्रकार की है। प्रथम कोटि मे सूर के जीवन से सवद्ध वे घटनाएं आती हैं, जिनका उल्लेख समसामयिक तथा परवर्ती प्राचीन लेखको व कवियो ने अपनी कृतियों में किया है। इसके अन्तर्गत, साम्प्रदायिक-साहित्य, वार्तासाहित्य, परवर्ती कवियो तथा भक्तो द्वारा उल्लेख तथा तत्कालीन इतिहास-ग्रन्थ आते है। दूसरी कोटि मे आधुनिक सामग्री आती है जो हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थो तथा आलोचनात्मक प्रवन्धो मे है।

जहाँ तक अन्त साक्ष्य के रूप में उपलब्ध सामग्री का प्रश्न है, उसके अन्तर्गत सूर के वे आत्मविषयक-कथन आते हैं, जो उनके पदो मे यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। निश्चित तिथियो के उल्लेख के अभाव के साथ-साथ ये कथन हमारे लिए अधिक सहायक नही हो सकते, क्योकि दैन्य-भाव प्रेरित प्राय सभी भक्त कवियो के आत्मप्रवञ्चना तथा आत्म-भर्त्सना सवन्धी पद एक से मिलते हैं, जिनके आधार पर उनके भौतिक जीवन की कल्पना करना उनके जीवन के अध्यात्मिक पक्ष पर आवरण डाल कर उनके प्रति घोर अन्याय करना होगा। अत मेरे विचार से अन्त साक्ष्य के रूप मे केवल उन्ही पदो को उपस्थित करना तर्क सगत एव समीचीन होगा, जिनमें किसी प्रकार की इयत्ता हो। यह सत्य है कि कवि की रचनाओं के कौशेय आवरण से उसके जीवन की अनुभूतियाँ झाँकती हुई मिलती हैं किन्तु इस आधार पर सूर के पदो में से उनका जीवन-वृत्त खोज निकालने की धुन मे हमें इस गुरुतर सत्य की ओर से नेत्र-निमीलन नही कर लेना चाहिये कि सूर कवि से पहले भक्त थे और फिर कृष्ण के परमधाम व्रज में निवास करते हुए वे अपने लौकिक वन्धनो को विच्छिन्न कर अपने जीवन का स्वरूप ही वदल चुके थे।

वाह्य-साक्ष्य

वाह्य-साक्ष्य के रूप मे अधिगत सामग्री में सबसे अधिक महत्वपूर्ण साम्प्रदायिक-साहित्य तथा वार्ता-साहित्य है, जिसमें सूर का उल्लेख हुआ है। वार्ता-साहित्य में (१) चौरासी

१ वल्लभ दिग्विजय

वैष्णवन की वार्ता, (२) निजी वार्ता तथा (३) श्री हरिराय जी कृत भाव-प्रकाश आते हैं। इनके अतिरिक्त सूर के जीवन पर कुछ प्रकाश डालने वाले सम्प्रदाय-सम्वन्वी निम्नलिखित ग्रन्थ हैं:—

१—वल्लभ दिग्विजय,
२—सस्कृत-वार्ता-मणि-माला,
३—अष्ट-सखामृत,
४—सम्प्रदाय-कल्पद्रुम,
५—जमुनादास कृत धौल,
६—भाव सग्रह,
७—वैष्णवाह्निक-पद।

इस साम्प्रदायिक साहित्य के अतिरिक्त जिन समकालीन अथवा परवर्ती भक्तो के ग्रन्थों में सूर का उल्लेख हुआ है, वे ये हैं:—

१—भक्तमाल (नाभादास) तथा भक्तमाल की टीका (प्रियादास),
२—भक्त नामावली (ध्रुवदास),
३—राम-रसिकावली (ठा० रघुराजसिंह),
४—भक्त-विनोद (कवि मियासिंह)
५—नागर-समुच्चय (नागरीदास)।

जिन ऐतिहासिक ग्रन्थो में सूर अथवा उनके पिता का उल्लेख हुआ है, वे निम्नलिखित हैं —

१—आयने-अकवरी,
२—मुन्तखिव्-उल-तवारीख,
३—मुशियात-अवुल फजल।

वाह्य-साक्ष्य के रूप में उपस्थित आधुनिक सामग्री इस प्रकार है —

१—इतिहास ग्रथो के रूप में
(अ) खोज रिपोर्ट (काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा),
(आ) 'गार्सें द तासी' का 'इस्त्वार दै ला लितेरा', 'त्यूर ऐन्दुवे ऐन्दुस्तानी',
(इ) शिवसिंह सेंगर का 'शिवसिंह-सरोज',
(ई) सर जार्ज ग्रियर्सन का 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आव हिन्दुस्तान',
(उ) मिश्र-बन्धुओं का 'मिश्र-बन्धु-विनोद',
(ऊ) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास',
(ए) डा० रामकुमार वर्मा का 'हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास',
(ऐ) डा० हजारी प्रसाद का 'हिन्दी-साहित्य'।

इनके अतिरिक्त अनेक अन्य छोटे-मोटे इतिहास-ग्रन्थ हैं, जिनमें परम्परा के अनुकूल सूर के जीवन-वृत्त का उल्लेख किया गया है।

सूत्र-रूप में अलोचना करने की जिस प्रवृत्ति की परम्परा अत्यत प्राचीन काल से "उपमाकालिदासस्य", "भारवेरर्थगौरवम्" आदि वाक्यो के रूप में भारतीय-साहित्य में चली आ रही थी, वह सूर विषयक "सूर सूर", "किधौं सूर को पद लग्यौ", "सूर-कविता सुनि कौन कवि, जो नहिं सिर चालन करै" आदि आलोचनात्मक उक्तियों के रूप में हिन्दी-साहित्य में भी

निर्धारित होती रही, किन्तु आधुनिक ढंग से 'भारतेन्दु' का लेख 'सूर-सागर' की भूमिका के रूप मे उपलब्ध है। कविवर जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने भी इस कार्य मे योग दिया उनके पश्चात सूर के विषय मे अनेक आलोचनात्मक ग्रन्थ प्रणीत हुए, जिनमें से निम्नलिखित ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं —

१—भक्त-शिरोमणि महाकवि सूरदास (श्री नलिनी मोहन सान्याल),
२—सूरदास (डा० जनार्दन मिश्र),
३—सूर-साहित्य (डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी),
४—सूर-साहित्य की भूमिका (डा० रामरतन भटनागर तथा श्री वाचस्पति त्रिपाठी),
५—सूरदास (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल),
६—सूर-सौरभ (डा० मुन्शीराम शर्मा),
७—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय (डा० दीनदयालु गुप्त),
८—सूरदास (डा० ब्रजेश्वर वर्मा),
९—सूर-निर्णय (प्रभुदयाल मीतल तथा द्वारिकादास परीख),
१०—महाकवि सूरदास (श्री नन्ददुलारे वाजपेयी)।

वाह्य-साक्ष्य के रूप में उपस्थित की जाने वाली जो सामग्री सम-सामयिक एव परवर्ती रचनाओं के रूप में है, उसमे सबसे महत्वपूर्ण साम्प्रदायिक साहित्य है। भक्तों की रचनाओं में 'भक्तमाल' में सूर-विषयक एक ही पद प्राप्त है —

उक्ति, चोज, अनुप्रास, वरन, अस्थिति अतिभारी।
वचन, प्रीति निर्वाह अर्थ, अद्भुत, तुकधारी।
प्रतिविम्बित दिवि दिष्टि हृदय मे लीला भासी।
जनम करम गुनरूप सवै रसना परकासी।
विमल बुद्धि गुन और की, जो वह गुन श्रवननि धरै।
सूर-कवित सुनि कौन कवि जो नहि सिर-चालन करै।[1]

इस पद में केवल सूरदास जी की जन्मान्धता तथा कवित्व-वैशिष्ट्य का ही उल्लेख है। नाभादास जी राम-भक्तो की परम्परा में आते हैं और उनके ग्रन्थ की रचना गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के जेष्ठ पुत्र गिरधर जी के समय की बतलाई जाती है। नाभादास जी को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सवत् १६५७ में वर्तमान् बतलाया है।[2] गिरधर जी का आचार्यत्व-काल भी सवत् १६४२ से सवत् १६७७ तक माना जाता है इस आधार पर 'भक्त माल' की रचना लगभग सूरदास जी के समय की ही ठहरती है किन्तु 'भक्तमाल' में सूरदास नाम के अन्य कवियो का भी उल्लेख है और प्रियादासकृत 'भक्तमाल' की टीका में हमारे सूरदास के विषय में कोई टिप्पणी नही की गई है। हाँ, पद १२६ में, जिस अन्य सूरदास का उल्लेख हुआ है, उस पर प्रियादास की टिप्पणी अवश्य मिलती है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि हमारे चरित-नायक सूरदास के जन्म के विषय में भक्तमाल से कोई सहायता नही मिलती, उल्टे कई सूरदासो की जीवन-घटनाओं का उल्लेख इस ग्रन्थ में होने के कारण सन्देह का ही पोषण होता है। ध्रुवदास कृत 'भक्त नामावली' में भी सूरदास जी का अत्यन्त सक्षिप्त उल्लेख है, जिससे किसी निष्कर्ष पर पहुँचना टेढी खीर है।

---

१ श्री भक्तमाल सटीक पृष्ठ ५३९-४०
२ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृष्ठ १४७

यद्यपि कृष्णगढ नरेश महाराज सामन्तसिंह उपनाम नागरीदास के 'नागर-समुच्चय' मे महात्मा सूरदास-विषयक पर्याप्त मसाला मिलता है किन्तु वह जनश्रुतियो पर ही आधारित प्रतीत होता है, अतएव उससे भी कोई विशेष सहायता नही मिलती। महाराज रघुराजसिंह ने अपनी 'राम रसिकावली' में सूर के विषय में विस्तार पूर्वक लिखते हुये उन्हें जन्मान्ध माना है। उनके अनुसार सूर उद्धव के अवतार थे तथा उनका विवाह भी हुआ था। सूर के कवित्व की प्रशसा करते हुये इन्होंने अकवर और सूर की भेंट का भी उल्लेख किया है। कवि मियाँसिंह ने अपने भक्त-विनोद में सूरदास के जीवन-चरित पर विस्तृत प्रकाश डाला है और उनके पूर्व जन्म का उल्लेख करते हुये उन्हें कृष्ण का परम मित्र माना है। वे सूर का जन्म मथुरा प्रान्त में मानते थे। उनकी जन्मान्धता, कूप-पतन एव बादशाह अकबर के साथ एक चमत्कारपूर्ण घटना का भी उन्होंने उल्लेख किया है। 'भक्त-विनोद' पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि लेखक ने प्रचलित जनश्रुतियो को ही एकत्र गुम्फित कर सूर की जीवन-वृत्त-माला का सृजन करने का प्रयास किया है। कहने का अभिप्राय यह है कि समसामयिक एव परवर्ती भक्तो की रचनाएँ सूर का जीवन-चरित निर्धारित करने में विशेष सहायक सिद्ध नहीं होती, क्योकि प्रथम तो इन कृतियो मे सूर की जन्मतिथि अथवा काल का निश्चित उल्लेख ही नही हुआ, दूसरे सूर के सर्वाङ्ग-व्यवस्थित जीवन-चरित का भी इनमें अभाव ही है। इतना ही नही, इनमें वर्णित घटनाओ में इतना वैभिन्य है कि विचारशक्ति भूल-भुलैया में पड जाती है और वास्तविक तथ्य का उद्घाटन करने में असमर्थ रहती है। केवल दो बातो का सकेत सभी कृतियो में समान रूप से हुआ है—एक तो सूर की जन्मान्धता के विषय में और दूसरे उनकी कवित्वशक्ति के विषय में। राधा-कृष्ण गोस्वामी द्वारा प्रकाशित 'व्यास वाणी' में भी सूर के विषय मे केवल इतना ही लिखा गया है कि 'सूर के बिना अब कौन कवि उस कोटि के पदो की रचना कर सकता है ?'[1] भक्तो की रचनाओ में बाबा वेणीमाधवदास का 'गुसाईं-चरित भी उल्लेखनीय है, जिसके एक पद में सूर और तुलसी की भेंट का वर्णन है और कुछ विशेष वर्णन उसमें नही मिलता। इस ग्रन्थ की अप्रमाणिकता सिद्ध हो चुकी है।

तत्कालीन ऐतिहासिक ग्रन्थो का आश्रय लेने पर भी हमें निराश ही होना पडता है। 'आइने अकबरी' मे जिसका अनुवाद ब्लाकमैन ने किया है सूर के पिता 'रामदास' का उल्लेख है, जिसे अकबर की राज-सभा का एक गायक बताया गया है और उसके पुत्र सूरदास का अपने पिता के साथ अकबर का सभा में आने-जाने का भी उल्लेख किया गया है।[2] इसी प्रकार का उल्लेख 'मुन्तखिबुल-तवारीख' में भी प्राप्त होता है।[3]

'मुन्शियात अबुल फजल' अबुल फजल के पत्रो का एक सग्रह है, जिसका सकलन 'अब्दुल समद' नामक व्यक्ति ने स० १६६३ में किया था। इसमें सूरदास के नाम लिखा गया एक पत्र है, जिसमें न तो किसी तिथि का ही उल्लेख है और न सूर की जीवन-घटनाओ पर कोई प्रकाश ही डाला गया है।

वार्ता-साहित्य तथा अन्य साम्प्रदायिक साहित्य में सूरदास-सबधी जो उल्लेख मिलते हैं, वे विशेष रूप में विचारणीय हैं। वार्ता साहित्य में गोस्वामी गोकुलनाथ जी कृत चौरासी वैष्णवन की वार्ता' अधिक महत्त्वपूर्ण है यद्यपि उसके रचनाकाल तथा रचयिता के सम्बन्ध में अभी तक सदेह है। विद्या-विभाग कांकरौली से स० १९९८ में प्रकाशित 'प्राचीन-वार्ता-

१ 'व्यास-वाणी' पृ० १२, १४ प्रकाशक—राधाकृष्ण गोस्वामी

२ आइने-अकबरी भाग १ पृ० ६१? संस्करण १८७३

३ मुन्तखिबुल-तवारीख भाग २ पृ० ३७

रहस्य' के द्वितीय भाग मे इन वार्ताग्रो की प्रामाणिकता पर विचार किया गया है ग्रौर वार्ता-साहित्य के तीन सस्करण माने गये है.—

१—सग्रहात्मक-वार्ता-साहित्य (स० १६४५ से १६६० तक), जो गोकुलनाथ जी के कथा, प्रवचनो के रूप में प्राप्त होता है।

२—हरिराय जी द्वारा सम्पादित वार्ता-साहित्य (स० १६६४ से स० १७३५ तक)।

३—हरिराय जी द्वारा की गई व्याख्या ग्रौर स्पष्टीकरण वाला वार्ता-साहित्य (स० १७३५ से १७८० तक)।[1]

वार्ता-साहित्य की प्रामाणिकता मे १२८ प्रसङ्गोवाली हस्तलिखित वार्ता-पुस्तक का उल्लेख किया जाता है, जो कॉकरौली-सरस्वती-भण्डार के हस्तलिखित ग्रन्थो में सुरक्षित है ग्रौर जिसके ग्रन्त में इस प्रकार लिखा है—

"सवत् १७४६ वर्षे श्रावण सुदी ७ शुकरे पोथी लिखी छै, प्रति गोविन्दास पोथी लख्यू छै।"[2]

सूर-निर्णय में इस प्रमाण को उद्धृत किया गया है ग्रौर वार्ता-साहित्य की प्रामाणिकता पर प्रकाश डाला गया है।[3]

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में पुष्टि-सम्प्रदाय में दीक्षित होने के उपरान्त का ही सूर का जीवन-चरित उपलब्ध होता है, उनके जन्म-स्थान, माता-पिता ग्रादि के विषय में कोई उल्लेख नही है। इसमें तो हमारे चरित-नायक सूर के दर्शन हमें उस समय होते हैं, जब वे मथुरा ग्रौर ग्रागरा के बीच गौ-घाट नामक स्थान पर रहा करते थे ग्रौर जहाँ उन्हे वल्लभाचार्य जी के दर्शन हुए। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के ग्रन्तर्गत सूरदास की वार्ता में प्रसङ्ग १, २, ३, ४, ५ मे सूरदास जी के जीवन पर प्रकाश डाला गया है। वार्ता के प्रारम्भ में ही यह लिखा गया है

"ग्रब श्री ग्राचार्य जी महाप्रभून के सेवक सूरदास जी गौ-घाट पर रहते तिनकी वार्ता।"

वार्ता के प्रारम्भ में कहा गया है कि एक बार महाप्रभु वल्लभाचार्य जी बहुत दिनो के पश्चात् ग्रडैल से ग्रागरा ग्रौर मथुरा के बीच गौ-घाट पर पधारे। यही पर बहुत से सेवको के साथ सूरदास जी रहा करते थे, जब उन्हे ग्राचार्य जी के ग्रागमन की सूचना मिली तो वे उनके दर्शनार्थ गये। उन्होने सूर को भगवद्-यश-वर्णन करने का ग्रादेश दिया। प्रभू के महत्व ग्रौर ग्रपने दैन्य को लक्ष्य करके ग्रन्धे सूर ने "हौं हरि सब पतितन को नायक" तथा "प्रभु हौं सब पतितन को टीकौ" पदो की मधुर ध्वनि के साथ ग्रपनी वीणा के तारो में स्पन्दन भरा। ये पद भक्त की सामान्य भक्ति-भावना के द्योतक हैं। इस प्रकार की भक्ति-भावना से परिपूर्ण मिलते-जुलते पद प्राय सभी भक्त कवियों की रचनाग्रो में उपलब्ध होते हैं। ये दैन्य-भाव के पद हैं। इन पदो से ऐसा ग्राभास मिलता है कि उस समय तक सूरदास की भगवद्-भक्ति में दृढता नही ग्रा पाई थी। वे भक्ति-मानसरोवर के तट पर तो पहुँच चुके थे ग्रौर उसकी तह में मुक्ताग्रो को टटोलने के लिए उत्सुक भी थे किन्तु कदाचित् किसी ग्रनुभवी गोताखोर के निर्देश की ग्रपेक्षा रखते थे ग्रौर स्वय उसमें निमग्न होने मे हिचकते थे। सम्भवत:

१ प्राचीन-वार्ता-साहित्य द्वितीय भाग, विद्या विभाग कॉकरौली। संस्करण सं० १९५८

२ हस्तलिखित पुस्तक कॉकरौली सरस्वती-भण्डार संख्या १००×१

३ सूर-निर्णय (द्वारिकादास) पृ० १६ संस्करण २००९

इसीलिये महाप्रभु ने उनसे कहा—"सूर ह्वै कै ऐसे काहे को घिघियात, कछु भगवद् लीला वर्णन करि।"

आचार्य जी के सम्पर्क ने सूर के जीवन की धारा को परिवर्तित कर दिया। उन्होंने स्नानादि से निवृत्त होकर तत्काल ही महाप्रभु से गुरु-मन्त्र लिया और पुष्टि-मार्ग मे दीक्षित होकर अपने समस्त दोपो का निवारण कर नवधा-भक्ति की प्राप्ति की। वे निर्द्वन्द्व होकर भक्ति-मानस में अवगाहन करने लगे, जिसके फलस्वरूप उन्हें वह दिव्य-दृष्टि प्राप्त हो गई, जिससे वे प्रभु की समस्त लीलाओ के दर्शन का आस्वाद पाने में ममर्थ हुए। भागवत के दशम-स्कन्ध की सुबोधिनी के मङ्गलाचरण की प्रथम कारिका का पाठ कर तत्क्षण ही उनके भक्ति-रस-पूरित-कल-कण्ठ से गीत की मधुर धारा वह निकली·

"चकई री चलि चरन सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग।"

सचमुच वे उस चरण-सरोवर पर पहुँच गये, जिससे निर्गत मन्दाकिनी आज भी अपने पूत-प्रवाह से समस्त विश्व को पवित्र कर रही है। जहाँ नि.सार होकर भी ससार ससार है, बन्धन है पर बाधक नही, स्पन्दन है किन्तु हलचल नही, द्वन्द्व का अनुभव होता है किन्तु निर्द्वन्द्वता के साथ। भक्त के हृदय-कपाट खुल गये किन्तु भगवान् वहाँ बन्द हो गये। कर्म के पाश टूट गये.

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसशया.।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥"

महाप्रभु को भी विश्वास हो गया कि सूर अब वास्तव मे 'सूर' हो गये, ऐसे सूर, जिनके जोड का कोई नही, जिनकी ज्योति शाश्वत है और इसका प्रमाण भी उन्हे उस समय मिल गया, जब सूरदास ने यह पद गाया—

"व्रज भयो महर के पूत
जब यह बात सुनी।"

इसके अनन्तर आचार्य जी ने सूरदास जी के सब सेवको और शिष्यो को सम्प्रदाय में दीक्षित कर लिया। फिर उन्होने सूरदास जी को 'पुरुषोत्तम-सहस्रनाम' सुनाया, जिससे उन्हे सम्पूर्ण भागवत का स्फुरण हो गया और उन्होंने भागवत के प्रथम स्कन्ध से द्वादश स्कन्ध तक की कथा को पद-बद्ध करना प्रारम्भ किया। अब सूरदास परम भगवदीय हो गये और उन्होने आचार्य जी के साथ व्रजलोक में पदार्पण किया।

दूसरी वार्ता मे महाप्रभु द्वारा सूरदास जी को यथावत् दीक्षित करने का सकेत है। श्री गोकुल के दर्शन-मात्र से ही उनके हृदय में भगवान् की बाललीला का स्फुरण हुआ और उन्होने .

"सोभित कर नवनीत लिये,"

पद की रचना की। सूर की इस अलौकिक प्रतिभा से महाप्रभु बहुत प्रसन्न हुए। उनकी कीर्तन-शैली, सगीत एव कवित्त्वशक्ति पर मुग्ध होकर महाप्रभु ने उन्हे श्रीनाथ जी के कीर्तन के उपयुक्त समझा। श्रीनाथ जी के दर्शन कर मानो सूर को भगवान् का साक्षात्कार होगया। उन्हे सच्ची शान्ति की प्राप्ति हुई। अब भगवच्चरण का परित्याग कर वे भला कहाँ जायें? अब तक ससार के प्रलोभनो ने उन्हे बहुत नचाया

"अब हौं नाच्यौ बहुत गुपाल।"

महाप्रभु को विश्वास हो गया कि अब वास्तव में सूरदास की 'सर्व अविद्या' नष्ट हो गई। सूरदास भी व्रजवासियो के भाग्य पर ईर्ष्या करने लगे—

"कौन सुकृत इन व्रजवासिन को ?"

सूरदास श्रीनाथ जी की सेवा में लग गये। महाप्रभु ने अपने सम्प्रदाय का स्वरूप, भगवान् का महात्म्य और व्रज-भक्तो का स्नेह—सूरदास जी को सुनाया और तब से सूरदास जी कीर्तन के मण्डानकार्य में दत्तचित्त हो गये।

तीसरी वार्ता मे सूरदास जी की अकबर से भेंट का उल्लेख है। इस वार्ता में सूरदास के वे पद दिये हुए हैं, जो उन्होंने अकबर के आगे गाये। तथा :

"मना रे! तू करि माधव से प्रीति।"
"नाहिन रह्यो मन में ठौर।"

अकबर के हृदय पर सूर की निर्भीकता और भक्ति-भावना का बडा गम्भीर प्रभाव पडा।

चौथी वार्ता मे चौपड के खेल का वह रूपक दिया हुआ है, जो उन्होंने अपने साथियो को सुनाया था।

पांचवी वार्ता मे उस समय की घटनाओ का उल्लेख है, जब सूरदास जी बीच-बीच मे गोवर्द्धन से श्री गोकुल और श्री नवनीत-प्रिय जी के दर्शन के लिये आते थे। इसमें श्री गोसाई जी के साथ उनके सम्पर्क का भी उल्लेख है। गुसाई जी के सस्कृत के 'पालना' के आधार पर उनका बाल-विनोद 'आंगन मे की डोलनि' वाला पद दिया हुआ है, यथा :

"गोपाल दुरे है माखन खात।"

और

"कहां लगि बरनौं सुन्दरताई।"

आदि पद, जो सूर ने गाये थे, दिये हुए हैं।

छठे प्रसग में सूरदास जी के अन्तिम समय का वर्णन है। अन्त समय में सूरदास जी नित्य लीला और फलात्मक लीला के स्थान पारसोली मे आये और श्रीनाथ जी की ध्वजा को दण्डवत् कर ध्वजा की ओर मुख करके लेट गये, परन्तु उनके अन्त करण मे महाप्रभु श्री विट्ठलनाथ जी के दर्शन की अभिलाष बनी रही। गुसाई जी के हृदय मे प्रेरणा हुई और आरती आदि से निवृत्त होकर पारसोली पहुंच गये। उनके साक्षात्कार पर सूरदास ने "देखो देखो हरि जू कौ एक सुभाय।" पद गाया, जिसमें उनके भक्त-हृदय के दैन्य का उत्कर्ष है। अन्त समय मे जब चतुर्भुजदास जी ने आचार्य महाप्रभु के यशोवर्णन के लिये कहा तो गुरु और गोविन्द में समान भाव रखने वाले भक्त प्रवर सूरदास ने "भरोसो दृढ इन चरणन केरो।" पद गाया और जब गोस्वामी जी ने उनसे उनकी चित्तवृत्ति के विषय में पूछा तो सूर ने "बलि बलि बलि हौं कुमरि राधिका नन्द सुवन जासौं रति मानी।" पद गाया तथा जब किसी ने उनसे नेत्रवृत्ति के विषय में प्रश्न किया तो "खजन नैन रूप रस माते।" पद गाया और इसके पश्चात् उन्होने अपनी इह लीला समाप्त करदी।

यद्यपि इन वार्ता-प्रसगो मे 'सूरदास' जी के जीवन-चरित की कुछ झांकियां अवश्य मिलती है तथापि वे उनके धार्मिक-विश्वास एव भक्ति-भावना का ही विशेष परिचय देती हैं, तिथि-निर्णय करने मे उपयोगी सिद्ध नही होती। हां, कुछ ऐतिहासिक तथ्य अवश्य प्रकाश मे आते हैं परन्तु वे तथ्य भी स्वतत्र रूप से विशेष महत्व नही रखते क्योकि उनमे केवल व्यक्तियो के सम्पर्क-मात्र का परिचय मिलता है। उदाहरणार्थ हम कह सकते हैं कि सूरदास जी की गौ-घाट पर महाप्रभु वल्लभाचार्य जी से भेंट हुई, परन्तु वह कौनसा सन्-सवत् था ? उस समय

सूर की क्या आयु थी ? यह विचारणीय है। 'सूर' एव अकबर की भेंट के समय का निर्धारण भी आवश्यक है। इसके अतिरिक्त यह भी निश्चित प्रतीत होता है कि सूरदास जी के वैकुण्ठ-वास के समय चतुर्भुजदास, कुम्भनदास, गोविन्दस्वामी और रामदास विद्यमान थे, एव श्री गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के जीवन-काल में ही सूर ने इहलीला समाप्त की थी। परन्तु इन सब घटनाओ से सूरदास जी के निश्चित-काल-क्रम के निर्धारण मे कोई विशेप सहायता नही मिलती।

वार्ता-साहित्य के ही अन्तर्गत निज-वार्ता तथा श्री हरिराय जी की भाव-प्रकाश टीका भी सम्मिलित है। प्राचीन वार्ता-साहित्य में निज-वार्ता का उल्लेख है, जो श्री गोकुलनाथ जी द्वारा कथित है इसमें सूरदास जी का उल्लेख, इस प्रकार है—

"सो सूरदास जी जब श्री आचार्य जी महाप्रभून को प्राकट्य भयो है तब इनको जन्म भयो है। सो श्री आचार्य जी सो ये दस दिन छोटे हुते।"

भाव प्रकाश—हम पहले कह चुके हैं कि प्राचीन वार्ता-साहित्य मे वार्ता-साहित्य के तीन सस्करण माने हैं। भाव प्रकाश' श्री हरिराय जी की टीका का नाम है और उनका समय स० १६४७ से १७७२ तक है। स० १७५२ की लिखी हुई 'भाव प्रकाश' की प्रति सम्प्रदाय मे उपलब्ध भी हैं। इससे प्रतीत होता है कि 'भावप्रकाश' सूरदास जी से लगभग १०० वर्प पश्चात् लिखी गई। इस वार्ता का सम्पादन हरिराय जी ने लीला-भावना वाली "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" नाम से किया था। श्री द्वारकादास पारीख ने इसकी एक हस्तलिखित प्रति गुजरात के सिद्धपुर पाटन में खोज द्वारा प्राप्त की है, उस प्रति का सम्पादन-काल सवत् १७५२ लिखा है। यदि उस सम्वत् को सत्य माना जाय तो हरिराय जी के समय में ही उसका सम्पादन सिद्ध होता है, क्योकि हरिराय जी का देहावसान १२५ वर्प की पूर्ण आयु प्राप्त कर सवत् १७७२ मे हुआ था। गोस्वामी हरिराय जी गोस्वामी गोकुलनाथ जी के वडे भाई के पौत्र थे और गोकुलनाथ जी के साथ रहा करते थे। वे सस्कृत के भी प्रकाण्ड विद्वान् थे, वार्ता-साहित्य का सम्पादन भी उन्होने किया था तथा अनेक वार्ता-पुस्तको की रचना भी की थी। 'भावप्रकाश'-टीका में हरिराय जी ने गोकुलनाथ जी द्वारा कथित मूलवार्ता का ही विस्तृत विवेचन किया है। सूरदास जी की वार्ता में पहले तो श्री हरिराय जी ने सूरदास जी के लीला-स्वरूपो का वर्णन किया है और वताया है कि सूरदास जी ठाकुर जी के अष्ट सखाओ में से कृष्ण सखा हैं और स्वामिनी जी की सखियो में चम्पकलता सखी है। इसके अनन्तर ग्यारह वार्ता प्रसगो में हरिराय जी ने सूरदास जी का जीवन-चरित विस्तार से लिखा है। इस भावना वाली टीका मे हरिराय जी ने भक्तो के तीन-तीन जन्मो का परिचय दिया है। हरिराय जी के अनुसार सूरदास जी का जन्म दिल्ली के पास सीही ग्राम मे, जो जन्मेजय के यज्ञ-स्थान के निकट है, एक निर्धन सारस्वत ब्राह्मण के यहाँ हुआ था। सूरदास जी सलपट जन्मान्ध थे, और उनके नेत्रों के गड्ढे भी नही थे, केवल भौहें थीं, वे अपने पिता के चौथे पुत्र थे। जन्मान्ध पुत्र की उत्पत्ति से निर्धन ब्राह्मण को वडा कष्ट हुआ और वह उसे आपत्ति के रूप में ही मानने लगा। छ वर्प की आयु मे चूहे द्वारा ले जाई गई दो मुहरो का पता वताने के कारण सूरदास के माता-पिता वडे चमत्कृत हुए और पुत्र से प्रेम करने लगे। परन्तु इसलिए सूरदास जी की मुहर वताने की यही शर्त थी कि वे इसके पश्चात् घर मे नही रहेंगे, माता-पिता के आग्रह करने पर भी वे घर मे नही रहे और वहाँ से चार कोस दूर एक तालाव के किनारे रहने लगे। वहाँ भी जब उन्होने वहाँ के एक ब्राह्मण जमीदार को उसकी खोई हुई गायें वता कर चमत्कृत कर दिया तो उस जमीदार ने उसी गाँव में तालाव के किनारे

पीपल के वृक्ष के नीचे एक झोपड़ी बनादी। सूरदास जी इसी झोपड़ी मे रह कर सगुन बताने लगे।। कुछ ही दिनो मे उनके अनेक सेवक हो गये। झोपड़े के स्थान पर अच्छा घर बन गया। गाने-बजाने का सब प्रबन्ध हो गया और वस्त्र, द्रव्य आदि वैभव से वह स्थान पूर्ण हो गया। सूरदास जी वहाँ विरह के पद सेवकों को सुनाते थे। १८ वर्ष की आयु तक यही क्रम चलता रहा। एक दिन उन्हे विरक्ति हुई और अपना सब वैभव अपने माता-पिता को सौंप कर केवल एक वस्त्र एव एक यष्टिका लेकर चल दिये। वहाँ से चल कर वे मथुरा मे विश्राम-घाट पर पहुँचे किन्तु उस स्थान को भी उपयुक्त न समझ कर मथुरा और आगरा के मध्य गौ-घाट पर यमुना के किनारे रहने लगे। उनकी प्रतिभा ने यहाँ भी उन्हे दूर-दूर तक प्रसिद्ध कर दिया। एक दिन महाप्रभु वल्लभाचार्य व्रज से अड़ैल जाते हुए गौ-घाट पर रुके और यही उनसे सूरदास जी की भेंट हुई। यह सब वर्णन 'चौरासी वैष्णन की वार्ता' के अनुकूल है, केवल कोष्ठो मे हरिराय जी ने विस्तार के साथ कुछ स्थलो को समझाया है। उसकी विशेष उल्लेखनीय बातें ये हैं

१—वल्लभाचार्य जी का सूरदास जी को पुष्टि-सम्प्रदाय मे यथावत् दीक्षित करना,
२—सूरदास जी द्वारा पुष्टिमार्ग का निरूपण,
३—चौपड़ के रूपक की व्याख्या,
४—अकबर और सूरदास की भेंट का विशेष वर्णन,
५—सूरदास जी के कुछ चमत्कार,
६ - सूरदास जी के सवालाख कीर्तन-पदो का उल्लेख,
७—परासोली चन्द्रसरोवर का परिचय,
८—अकबर बादशाह के पहले जन्म का उल्लेख,
९—सूरदास जी के चार नामो का उल्लेख।

(१) सूरदास, (२) सूरजदास, (३) सूरज, (४) सूरश्याम।

इसके अतिरिक्त 'भावप्रकाश' मे और भी सप्रदाय-सम्बन्धी व्याख्याएँ है।

वार्ता-साहित्य के अतिरिक्त और भी ऐसा साम्प्रदायिक साहित्य है, जिसमें सूरदास का उल्लेख मिलता है। उसके कुछ ग्रन्थ-निम्नलिखित हैं—

(१) वल्लभ दिग्विजयः—

इस ग्रन्थ की रचना गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के छठे पुत्र श्री यदुनाथ जी ने सम्वत् १६५८ में की थी। वल्लभ-वश-वृक्ष मे यदुनाथ जी का जन्म सम्वत् १६१५ लिखा है अत वे सूरदास जी के समसामयिक ठहरते हैं। सम्प्रदाय कल्पद्रुम में इसको यदुनाथजी-कृत स्वीकार किया गया है तथा इस ग्रन्थ की पुष्पिका में इसके रचनाकाल के विषय मे निम्नलिखित कथन है—

"वसु-बाण-रसेन्द्वब्दे तपस्य सितिके रवौ।
चमत्कारिपूरे पूर्णो ग्रन्थोऽभूत् सोमजातटे।"[१]

इसमे सूरदास जी का उल्लेख इस प्रकार है—

"ततोऽलर्कपुरे समागता। तत्रावासे कृते,
ततो व्रजसमागमने सारस्वतसूरदासोऽनुग्रहीत।[२]

१ वल्लभ दिग्विजय।
२ वल्लभ दिग्विजय पृष्ठ ५०।

अर्थात् आचार्यपाद इसके अनन्तर अलर्कपुर (अडैल) आये, वहाँ कुछ दिन निवास किया और फिर ब्रज-यात्रा मे सारस्वत सूरदास पर अनुग्रह किया।

(२) संस्कृत-वार्ता-मणिमाला:—

यह भी सम्प्रदाय का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके रचयिता श्रीनाथ भट्ट तैलङ्ग ब्राह्मण थे। भट्ट जी का समय सवत् १७७५ से १८३० तक का है। इस ग्रन्थ में वार्ताओ के १२५ प्रसङ्गो का उल्लेख है। इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रतियाँ कांकरौली विद्या-विभाग मे सुरक्षित हैं। इस ग्रन्थ की ५८ वी वार्ता सूरदास जी से सवध रखती है। इसके अनुसार सूरदास जी प्राच्य ब्राह्मण थे और जन्मान्ध थे। महाप्रभु वल्लभाचार्य से अरिल्ल (अडैल) गाँव में उनकी भेंट हुई, उसी समय इनकी गणना, विद्वान् कवियो और उच्चकोटि के गायको में थी। आचार्य जी ने इन्हे भगवल्लीला का उपदेश दिया, और इसके अनन्तर उन्होने ब्रज-भाषा में काव्य-सागर की रचना की।

(३) अष्ट-सखामृत

इसके प्रणेता प्राणनाथ कवि हैं, जो वृन्दावन के निवासी थे। इसकी सवत् १७६७ की लिखी हुई एक प्रति बम्बई के एक मन्दिर में बताई जाती है।[1] इस ग्रन्थ में सूर के विषय में एक उल्लेख है, जिसका साराश निम्नलिखित है।

(अ) सीही ग्राम के एक सारस्वत-ब्राह्मण-वश मे जन्म लेने वाले तथा आचार्य वल्लभ के प्रिय शिष्य सूरदास जी एक प्रख्यात भक्त थे।

(आ) वे यद्यपि चर्मचक्षुहीन थे, तथापि उनके आन्तरिक नेत्र खुले हुए थे।

(इ) प्रतिदिन हरि-लीला-सबधी नवीननवीन पदो की रचना किया करते थे और सूरजदास कहलाते थे।[2]

(४) सम्प्रदाय-कल्पद्रुम

विट्ठलनाथ भट्ट ने सवत् १७२९ में इस ग्रन्थ की रचना की थी। इसमें महाप्रभु वल्लभाचार्य तथा श्री गोसाईं जी की जीवन-घटनाओ का वर्णन है। इस ग्रन्थ की रचना उन्होने कृष्णगढ के राजा मानसिंह के लिए की था। किन्तु इस ग्रन्थ में उल्लिखित तिथियो की प्रामाणिकता में भी सन्देह है। हमारे चरित-नायक सूरदास के सम्बन्ध में इसमें यह पद मिलता है।

"सूरदास को सरन लै तीर्थराज प्रभु आय।
भू प्रदक्षिणा पूर्ण किय, ब्रह्म-भोग करवाय॥"[3]

(५) धौल

जमुनादास जी कृत यह ग्रन्थ गुजराती भाषा में है। इसके रचयिता जमुनादास जी हरिराय जी के सेवक थे। इन्होने सूरदास जा का जीवन-चरित पद्य-बद्ध किया है, परन्तु वह

१ 'नवीन भारत' १९ मई सन् १९४८ में प्रकाशित 'लोक महाकवि सूरदाम'

२ अष्ट सखामृत—

' श्री वल्लभ-प्रभु-लाडिले, सीही सर जल जात।
....
'प्रान' जप्यौ नहिं नाम हरि, ताके मुख में धूर, '

३ सम्प्रदाय-कल्पद्रुम पृ० ४२

हरिराय जी की 'भाव-प्रकाश' टीका पर ही पूर्णतया आधारित है और लेखक ने स्वीकार भी किया है —

"जमनादास, प्रथम ते वर्णन शं करे आ सुण्यु वदनजे श्री हरिराय महाप्रभु जो।"

(६) भाव संग्रह

यह संग्रह द्वारिकेश जी का किया हुआ है, जिनका समय संवत् १७५१ से १८०० तक माना गया है। इसमें सूर-सम्बन्धी उल्लेख इस प्रकार है —

"सो सूरदास जी श्री आचार्य जी महाप्रभून ते दस दिन छोटे हते। लीला में उनको स्वरूप कृष्ण-सखा, चम्पकलता सखी, श्री जी के वाक् को स्वरूप, गिरिराज के चन्द्रसरोवर द्वार के अधिकारी, स्वामी की छाप, सारस्वत ब्राह्मण, सीही ग्राम के वासी।"

(७) वैष्णवाह्निक-पद

इनके रचयिता श्री गोस्वामी गोपिकालङ्कार जी हैं, जो जतीपुरा के निवासी थे। इनका उपनाम मट्टू जी तथा जन्म संवत १८७६ में बताया जाता है। उन्होंने सूरदास जी के जन्म के संबंध में लिखा है कि सूरदास जी संवत् १५३५ में वैसाख शुक्ल ५ में, जबकि षष्ठी आ गई थी, उत्पन्न हुये थे।[1]

अब हम सूर-सम्बन्धी आधुनिक सामग्री पर विचार करेंगे। हम पहले कह चुके है कि आधुनिक सामग्री के दो रूप हैं। (१) इतिहासग्रन्थों में तथा (२) आलोचनात्मक प्रबन्धों मे। इतिहास-ग्रन्थो का आधार खोज-रिपोर्ट तथा कुछ प्राचीन ग्रन्थ हैं। खोज-सम्बन्धी-कार्य करने वाली तीन संस्थाओं के नाम उल्लेखनीय हैं। (१) काशी की नागरी-प्रचारिणी-सभा, (२) ब्रज-साहित्य-मण्डल और (३) हिन्दी-विद्या-पीठ। इन संस्थाओं द्वारा हुए सूर-सम्बन्धी अन्वेषणों में सूरदास जी की रचनाओं पर तो काफी प्रकाश पडता है, किन्तु उनके जीवन पर नहीं। रचनाओं के विषय में हुए अन्वेषणों का उल्लेख हम दूसरे प्रकरण मे करेंगे। जहाँ तक इतिहास-ग्रन्थो का प्रश्न है, उनमें, प्रारम्भिक ग्रन्थो में सूरदास के जीवन-सम्बन्धी आलोचनात्मक विवरण का अभाव ही है, केवल जनश्रुतियो अथवा प्राचीन अप्रामाणिक ग्रन्थो के आधार पर ही सूर-सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', डा० रामकुमार वर्मा का 'हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' तथा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'हिन्दी-साहित्य' इस विषय मे विशेष रूप से विचारणीय हैं। आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में सूर के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में लिखा है

१—"साराश यह है कि हमे सूरदास का जो थोडा-सा परिचय 'चौरासी वैष्णवों' की वार्ता में मिलता है, उसी पर संतोष करना पडता है।"

२—"जीवन का कोई विशेष प्रामाणिक वृत्त न पाकर इधर कुछ लोगो ने सूर के समय के आसपास के किसी ऐतिहासिक लेख मे जहाँ कही सूरदास नाम मिला है, वही का वृत्त प्रसिद्ध सूरदास पर घटाने का प्रयत्न किया है।"

शुक्ल जी ने सूरदास जी का आचार्य वल्लभ का शिष्य होना स० १५८० में माना है तथा 'सूर सारावली' को प्रामाणिक मानते हुए उसके लिखने के समय उनकी आयु ६७ वर्ष की मानी है।

---

१ प्रगटे भक्त शिरोमनिराय,
माधव शुक्ला पंचमि ऊपर छट्ट अधिक सुखदाय।

साहित्य-लहरी' के

"मुनि पुनि रसन के रस लेप।
दमन गौरी नन्द को लिखि सुभग सवत् पेप ।।"

वाले पद के आधार पर शुक्ल जी ने 'साहित्य-लहरी' की समाप्ति सम्वत् १६०७ में मानी है। सूर के जन्मकाल और मृत्युकाल के विषय में उन्होंने इस प्रकार लिखा है

"यह तो मानना ही पड़ेगा कि साहित्य-क्रीडा का यह ग्रन्थ 'सूर-सागर' से छुट्टी पाकर ही सकलित किया होगा। उसके दो वर्ष पहले यदि 'सूर-सारावली' की रचना हुई तो कह सकते हैं कि सवत् १६०५ मे सूरदास जी ६७ वर्ष के थे। अब यदि उनकी आयु ८० या ८५ वर्ष की मानें तो उनका जन्मकाल सम्वत् १५४० के लगभग तथा देहावसान सवत् १६२० के आसपास ही अनुमित होता है।"[1]

'साहित्य-लहरी' के वश परम्परा-विषयक अन्तिम पद के विषय में शुक्ल जी की सम्मति है·

"हमारा अनुमान है कि 'साहित्य-लहरी' में यह पद पीछे किसी भाट के द्वारा जोड़ा गया है।"

'आइने-अकबरी' और 'मुन्शियात अबुलफजल' में आए हुए सूर-सम्बन्धी उल्लेखो के विषय में शुक्ल जी की सम्मति यह है

"अकबर सवत् १६१३ में गद्दी पर बैठा। हमारे सूरदास सवत् १५८० के आसपास ही वल्लभाचार्य जी के शिष्य हो गये थे और उससे पहले भी विरक्त साधु के रूप में गऊघाट पर रहा करते थे। इस दशा में सवत् १६१३ के बहुत बाद दरबारी नौकरी करने कैसे पहुँचे ? अत आइने-अकबरी के सूरदास और सूरसागर के सूरदास एक ही व्यक्ति नही ठहरते।"[2]

'मुन्शियात अबुफजल' नामक पत्र-सग्रह के विषय में शुक्ल जी का मत है

"इन शब्दो से ऐसी ध्वनि निकलती है कि ये (पत्र मे उल्लिखित सूरदास) कोई ऐसे सन्त थे, जिनके अकबर के 'दीन इलाही' में दीक्षित होने की सभावना अबुलफजल समझता था। सम्भव है ये कबीर के अनुयायी कोई सत हो। अकबर का दो बार इलाहाबाद जाना पाया जाता है, एक तो सवत् १६४० में, फिर सवत् १६६१ में। पहली यात्रा के समय का लिखा हुआ भी यदि इस पत्र को मानें तो भी हमारे सूर का गोलोकवास हो चुका था। यदि उन्हे तब तक जीवित भी मानें तो वे १०० वर्ष से ऊपर रहे होगे। मृत्यु के इतने समीप आकर वे इन सब झमेलो में क्यो पडने जावेंगे या इनके 'दीन इलाही' में दीक्षित होने की आशा कैसे की जावेगी।"[3]

डा० रामकुमार वर्मा ने अपने 'हिन्दी-साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास' में सूर-जीवन-सम्बन्धी प्राप्त समस्त सामग्री का उल्लेख किया है, परन्तु उन्होंने न तो उसकी प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता पर ही विचार किया है और न ही वे किसी निर्णय पर पहुँच सके है। उनके सारे निष्कर्ष सन्देहास्पद हैं। अन्त साक्ष्य पर विचार करते हुए डाक्टर साहब लिखते हैं

"यदि हम 'सूर-सारावली' और 'साहित्य-लहरी' का रचना-काल एक ही मानें (जैसा कि बहुत सम्भव है, क्योकि दोनो पुस्तकें 'सूरसागर' के बाद मे ही बनी, तो संवत् १६०७ मे

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास रामचन्द्र शुक्ल पृष्ठ १६१
२ ,, ,, ,, पृष्ठ १६२-१६३
३ ,, ,, ,, पृष्ठ १६३

सूरदास जी की आयु ६७ वर्ष की रही होगी अर्थात् उनका जन्म सवत् १५८० में हुआ होगा। जितना अन्तर 'सूर-सारावली' और 'साहित्य-लहरी' के रचना-काल मे होगा, उतना ही अन्तर जन्म-सम्वत् मे पड जायगा। किन्तु अनुमान से यह कहा जा सकता है कि दोनो के रचना-काल मे अधिक अन्तर नही हो सकता। अतएव सूरदास के पदो के अनुसार उनका जन्म-सम्वत् १५४० अथवा उसके आसपास ठहरता है।"[1]

बाह्य साक्ष्य का उल्लेख करते हुए डा० वर्मा ने 'मुन्शियात अबुलफजल' मे सगृहीत सूरदास-विषयक पत्र को विशेष महत्व दिया है तथा 'आइने अकबरी' एव 'मुन्तखिब-उल तवारीख' वाले सूरदास से उनकी सगति लगाई है। इस सम्बन्ध मे उन्होने जोधपुर के कविराज मुरारिदान के कथन से 'चौरासी वार्ता' और 'आइने अकबरी' दोनो के मतो की पुष्टि की है और सूर की मृत्यु के सम्बन्ध मे विवेचन करते हुए उन्होने इस प्रकार लिखा है—"अत सम्वत् १६४२ के श्रावण कृष्ण मे सूरदास को अबुलफजल द्वारा यह पत्र लिखा गया। विट्ठलनाथ की मृत्यु सम्वत् १६४२ मे हुई अत इस प्रमाण से सूरदास की मृत्यु श्रावण सम्वत् १६४२ के बाद मे हुई। अभी तक के प्रमाणो से ज्ञात होता है कि सूरदास जी का जन्म-सम्वत् १५४०, प्रसिद्धि सवत् १५८७ और मृत्यु स० १६४२ है। इस प्रकार सूरदास ने १०२ वर्ष की आयु पाई।"[2]

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने 'हिन्दी-साहित्य' मे इस विषय का विशेष विवेचन नही किया है। उन्होने वार्ता-साहित्य के आधार पर सूरदास जी के जन्म एव अन्धत्व के विषय मे लिखा है

"प्रसिद्ध है कि कविवर सूरदास महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य थे। साम्प्रदायिक अनुश्रुतियो के अनुसार वे वल्लभाचार्य से १० दिन छोटे थे 'चौरासी वैष्णवो की वार्ता' के अनुसार इनका जन्म रुनकता या रेणुका क्षेत्र में हुआ श्री हरिराय जी के 'भाव प्रकाश' से पता चलता है कि सूरदास जी दिल्ली के पास सीहो ग्राम में सारस्वत कुल में पैदा हुए। ये जन्म से ही अन्धे थे।"

आचार्य हजारीप्रसाद जी आगे लिखते है

"परन्तु सूरदास जी का प्राकृतिक शोभा और रूप-वर्णन को देखकर अधिकाश विद्वान् यह नही मानना चाहते कि वे जन्मान्ध थे। सूरदास के कुछ पदो से यह ध्वनि अवश्य मिलती है कि सूरदास जी अपने को जन्म का अन्धा और कर्म का अभागा कहते हैं। पर सब समय इसके अक्षरार्थ को ही प्रधान नही मानना चाहिये। यह मानसिक ग्लानि की अवस्था में कही हुई बात है, जिसमें अपनी हीनता को अतिरञ्जित करने की प्रवृत्ति काम करती रहती है।"

आगे डाक्टर साहब ने लिखा है—'चौरासी वैष्णवो की वार्ता से स्पष्ट है कि महाप्रभु के तिरोधान के बहुत बाद तक सूरदास जी जीवित रहे। अनुमान किया जाता है कि सन् १५२३ ई० के आसपास वे वल्लभाचार्य के सम्पर्क मे आये होगे। महाप्रभु ने उन्हे श्रीनाथ जी के सामने कीर्तन करने का भार दिया। परन्तु जब कृष्णदास मन्दिर के अधिकारी नियुक्त हुए तो सूरदास को वहाँ से हटकर परासोलीग्राम मे चला जाना पडा था और वही उनकी मृत्यु भी हुई। उनकी मृत्यु के समय वल्लभाचार्य के सुपुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ जी उपस्थित

१ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० ७४०

२ हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० ७४८

थे। विट्ठलनाथ जी की मृत्यु सन् १५८५ ई० मे हुई थी, इसलिये सूरदास जी की मृत्यु इससे पहले ही हो गई थी।"[1]

हिन्दी-साहित्य के इन तीनो ही प्रसिद्ध इतिहास-ग्रन्थो में सूरदास जी का जन्म-काल सन्देहात्मक ही माना है। इनके अतिरिक्त जो पूर्ववर्ती विद्वानो के इतिहास-ग्रन्थ हैं, उनने इतनी भी विवेचना नही है। इसलिए उनका उल्लेख अनावश्यक-सा ही प्रतीत होता है। इन इतिहास-ग्रन्थो के अतिरिक्त सूरदास जी के सम्बन्ध में सूर-साहित्य की भूमिका के रूप में अथवा स्वतन्त्र रूप मे पर्याप्त विवेचन हुआ है। उस सामग्री का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। इस प्रकार का सबसे पहला लेख भारतन्दु बाबू हरिश्चद्र का है, जो 'वेंकटेश्वर प्रेस', बम्बई से मुद्रित 'सूर-सागर' की भूमिका के रूप में लिखा गया है। भारतेन्दु जी ने अपनी लिखी 'चरितावली' तथा 'सूरशतक पूर्वार्द्ध' की भूमिका में भी सूर के जीवन-पक्ष पर कुछ प्रकाश डाला है। 'वेंकटेश्वर प्रेस' से प्रकाशित 'सूरसागर' के सम्पादक श्री राधाकृष्ण ने अपने समय तक की प्राप्त सभी सूर-जीवन-सम्बन्धी-सामग्री का सकलन इस ग्रन्थ में किया है। इसी सामग्री के आधार पर श्री राधाकृष्णदास ने प्रारम्भ मे अपने विचार प्रकट किये है। अन्त साक्ष्य के बल पर उन्होंने सूरदास जी के समय का निरूपण किया है। बाबू राधाकृष्ण-दास ने सूरदास का जन्म-सम्वत् १५४० के लगभग और देहावसान स० १६२० के लगभग माना है। अपने निष्कर्ष को वे इस प्रकार प्रमाणित करते हैं :

१—श्री वल्लभाचार्य जी का जन्म-सम्वत् १५३५ वैशाख कृष्ण एकादशी को और अन्तर्धान सवत् १५८७ आषाढ शुक्ल तृतीया को तथा श्री गोस्वामी विट्ठलनाथ जी का जन्म-सवत् १५७२ पौष कृष्ण ६ और अन्तर्धान सवत् १६४२ माघ कृष्ण सप्तमी को हुआ। अब इनका समय सम्वत् १५३५ से लेकर सम्वत् १६४२ के बीच १०७ वर्ष के भीतर ही निर्णीत होना चाहिये।

२—'सूर-सारावली' की रचना सूरदास जी ने लगभग ६७ वर्ष की आयु में की थी।

३—'साहित्य-लहरी' मे 'सरस' सम्वत्सर का उल्लेख है। राधाकृष्ण जी ने इस सवत् पर विशेष विचार किया है और एक लीला को सरस-सवत्सर-लीला माना है। 'साहित्य-लहरी' के 'मुनि पुनि रसन के रस लेख' वाले पद से उन्होंने सवत् १६०७ लिया है और साहित्य-लहरी का सकलन भी लगभग ६७ वर्ष की आयु मे माना है। इस गणना से १६०७ में से ६७ वर्ष निकाल देने से १५४० बनते हैं।

४—'सूरसागर' के देखने से विदित होता है कि उस समय श्री गोस्वामी हितहरिवश जी और स्वामी हरिदास जी के पूरे अभ्युदय का समय था जैसा कि—"निस दिन स्याम सेऊँ मैं तोहि" वाले पद से प्रकट होता है।[2]

बाबू राधाकृष्णदास ने 'सूरदास-मदनमोहन' नामक एक और सूरदास का उल्लेख किया है। 'भारतेन्दु' जी ने अपने लेख में 'साहित्य-लहरी' के ११८ सख्या वाले पद को सूर-कृत मानकर उनके वश का निर्णय किया है। उसी के आधार पर उन्होंने सवत् १९३५ में अपनी 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' में एक लेख छपवाया था, जिसमें उस पद पर विचार किया गया है। महामहोपाध्याय हरिप्रसाद शास्त्री जी ने अपने ऐतिहासिक-काव्यानुसन्धान के आधार पर 'बगाल एशियाटिक सोसाइटी' द्वारा छापे गये विवरण में चन्द्र-वृक्ष दिया है, जिसमे सूरदास

---

१ हिन्दी-साहित्य (डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी)

२ सूरसागर की भूमिका (वेंकटेश्वर प्रेस) सं० १९६१।

का भी नाम आया है और इसी सूरदास को हमारा चरितनायक सूर बताया है। मुन्शी देवी प्रसाद ने भी इसी परम्परा का अनुसरण किया है।[1]

सूरदास जी को जन्मान्ध मानते हुए भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने अपनी चरितावली मे लिखा है:—

"यह इस असार ससार को न देखने के लिये आँखे बन्द किये हुए थे"।[2]

मुन्शी 'देवीप्रसाद' जी ने 'आइने-अकबरी' और 'मुन्शियात अबुलफजल' की प्रामाणिकता मे सन्देह न करते हुए 'अकबर' की सभा के चार गायको मे सूरदास को भी माना है और उक्त ऐतिहासिक ग्रन्थो के आधार पर उनका जीवन-चरित निर्धारित किया है।

सूर-काव्य के अन्य जितने सकलन हुए है, सभी मे सूरदास जी के जीवन के विषय मे कुछ न कुछ प्रकाश डाला गया है, किन्तु किसी महत्वपूर्ण सकेत के अभाव के कारण सूर का जीवन-वृत्त फिर भी अस्पष्ट ही दीख पडता है। श्री महादेवप्रसाद जी द्वारा रचित 'साहित्य-लहरा-टीका' मे भी, जो लहेरिया सराय से प्रकाशित हुई है, कोई विशेष बात नही, पुरानी बातो का ही पिष्ट-पेषण किया गया है। कतिपय जनश्रुतियो का भी सूर के जीवन-चरित से सामजस्य स्थापित किया गया है और 'विल्व-मङ्गल' वाली कहानी को सूर के जीवन से सङ्गत करने का प्रयास किया है।

सूर के सम्बन्ध मे आलोचनात्मक ढग की सामग्री भी प्रचुर मात्रा में प्राप्त है। सूर-विषयक इस समस्त साहित्य में वार्ता-साहित्य की सामग्री तथा अन्त साक्ष्य के रूप में उपस्थित किये जाने वाले पदो के आधार पर ही आलोचको ने अपने निर्णय दिये हैं। 'सूर-साहित्य' की भूमिका मे श्री रामरतन भटनागर और श्री वाचस्पति त्रिपाठी ने 'चौरासी वैष्णवो की वार्ता' को प्रामाणिक माना है तथा 'साहित्य-लहरी' के अन्तर्गत सूर के वशवृक्ष-सम्बन्धी पद को प्रक्षिप्त। उक्त विद्वानो ने अपनी 'भूमिका' मे सूर का जन्म-सम्वत् १५४० में ब्रज प्रदेश में माना है किन्तु उन्हे जन्मान्ध न मानते हुए उन्होने लिखा है—"वृद्धावस्था के साथ वे कदाचित् नेत्रहीन भी हो गये।" सूरदास की मृत्यु के सम्बन्ध मे उनका कथन है कि 'विट्ठलनाथ' जी राज-भोग का नित्य-कर्म समाप्त करके सूरदास जी की मृत्यु-शय्या पर पहुँचे थे, राजभोग का समय सवेरे प्राय दस ग्यारह बजे तक है। अत सूर का निधन दोपहर को हुआ होगा।[3]

सूर-विषयक दूसरा उल्लेखनीय ग्रन्थ प० मुन्शीराम शर्मा का 'सूर-सौरभ' है। इस ग्रन्थ मे शर्मा जी ने सूर के जीवन-पक्ष पर पर्याप्त प्रकाश डाला है और कई क्रान्तिकारी मौलिक निष्कर्ष निकाले है। उन्होंने एक ओर तो 'सूर-सारावली', 'साहित्य लहरी', 'सूर-सागर' आदि सभी रचनाओ को प्रामाणिक माना है और दूसरी ओर सूर के सम्बन्ध मे लिखे गये लेखो और प्रचलित जनश्रुतियो का समन्वय करने का प्रयास किया है, जिसके कारण कही-कही तो उनके मत से सूर-सम्बन्धी विशेष रूप से प्रामाणिक सामग्री भी अप्रामाणिक-सी हो गई है और कही-कही निराधार जनश्रुतियो को भी प्रामाणिकता में स्थान मिल गया है। शर्मा जी वल्लभाचार्य जी से मिलने के समय सूरदास की आयु ६७ वर्ष मानते हैं तथा उन्होंने 'साहित्य-लहरी' के "मुनिपुनि रसन के रस लेख" वाले पद से उसका रचना-काल सम्वत् १६२७ निर्धारित किया है। 'साहित्य-लहरी' के सूर-वश वाले पद को प्रामाणिक मानकर

१ श्री महाराज सूरदास जी का जीवन-चरित (भारत-जीवन प्रेस, काशी) स० १९६३।

२ चरितावली (भारतेन्दु) स० १९१७।

३ सूर साहित्य की भूमिका (रामरतन भटनागर तथा वाचस्पति त्रिपाठी) सस्करण १९४१ ई, पृ० १८-१९।

सूरदास जी को महाकवि चन्दवरदाई का वशज माना है और इस प्रकार भाट मानकर भी उन्हे ब्राह्मण सिद्ध किया है तथा उनके पिता का नाम रामदास वतलाया है, जो वैष्णव-भक्ति के अनुसार रामचन्द्र का ही परिवर्तित रूप है। उन्होंने सूर का जन्म-स्थान 'सीही' न मान कर 'गोपाचल' माना है एव सीही ग्राम के मदनमोहन सूरदास को अकवर का कृपा-पात्र और सडीले का अमीन माना है। सूर के अन्धत्व के विषय मे शर्मा जी स्पष्ट नही हैं। वे केवल इतना ही मानते हैं कि सूरसागर की रचना करने से पहले ही वे अधे हो गये थे। कूपपतन की जनश्रुति से शर्मा जी ने आध्यात्मिकता का सम्बन्ध भी जोडा है और सूर को प्रारम्भिक जीवन मे गृहस्थ भी ठहराया है। इस प्रकार 'साहित्य-लहरी' के पद को प्रामाणिक अतएव सूर के जीवन पर चतुर्दिक् आलोक-विकीर्ण करने वाला मानकर उन्होंने अत साक्ष्य और वाह्य-साक्ष्य से प्रमाण उपस्थित किये हैं और अन्त मे सूर के जन्म-मरण के विषय मे अपना क्रान्तिकर मत देते हुये वे लिखते हैं·

"सूर सवत् १५१५ के लगभग उत्पन्न हुए और सवत् १६२८ के आसपास तक जीवित रहे। अकवर से उनकी भेंट जीवन के अन्तिम समय मे हुई होगी। सम्वत् १६२८ के पश्चात् उनके जीवित रहने का कोई प्रमाण नही मिलता।"[1] इतने पर भी सन्तुष्ट न होकर शर्मा जी ने ओरछा के प्रसिद्ध कवि 'व्यास जी' के एक पद को भी प्रस्तुत किया है।

सूरदास जी के जीवन, सम्प्रदाय और सिद्धान्तो के विषय में दूसरा महत्वपूर्ण गथ डा० दीनदयालु गुप्त जी का "अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय" है। उन्होंने वार्ता-साहित्य को ही विशेष रूप से प्रामाणिक माना है। वे सूरदास जी का जन्म-स्थान सीही ही मानते हैं तथा उन्हे विवाहित स्वीकार नही करते। सूरदास के अन्धत्व का विवेचन करते हुए वे लिखते हैं

"सूरदास ने अपनी रचनाओ मे अपने अन्धे—निपट अधे, होने का तो कई स्थलो पर उल्लेख किया है, परन्तु यह नही कहा जा सकता कि वे जन्मान्ध थे अथवा अमुक अवस्था में अधे हुए थे।"[2] अन्त मे गुप्त जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि "यथार्थ में देखा जाय तो यह समस्या कोई महत्त्व की नही है कि वे जन्मान्ध थे अथवा वाद मे अन्धे हुए। इतना सब को मान्य है और इसके वाह्य और आन्तरिक प्रमाण भी हैं कि सूरदास अन्धे थे और अपनी रचना-काल की अवस्था में भी वे अन्धे थे।"[3] सूर-सम्बन्धी अन्य घटनाओ के विषय में भी उन्होंने वार्ता-साहित्य को ही प्रामाणिक माना है, कही-कहीं सन्-सवत् का हेर-फेर अवश्य हो गया है, जो अधिक महत्त्वपूर्ण नही है। सूरदास जी का जन्म-सम्वत् गुप्त जी ने सम्प्रदाय की प्रथा के अनुसार सम्वत् १५३५, शरणागति सम्वत् १५६५ या १५६६ तथा गोलोकवास सम्वत् १६३८-३९ में माना है। अपनी मान्यताओ के लिये उन्होंने प्रमाण भी उपस्थित किये हैं।

डा० व्रजेश्वर वर्मा ने भी अपने 'सूरदास' नामक प्रवन्ध मे सूर के जीवन-वृत्त पर प्रकाश डालते हुए तत्सम्वन्धी प्राप्त सामग्री का विश्लेषण किया है फिर भी वे किसी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँच सके हैं। वार्ता-साहित्य को पूर्णतया प्रामाणिक न मानते हुए वे लिखते हैं—"पर किसी अन्य प्रमाण के अभाव मे इस जनश्रुति के आधार पर सूरदास की जन्म-तिथि वैशाख शुक्ल ५ सम्वत् १५३५ मानकर पूर्ण सतोष नही किया जा सकता। इस प्रश्न को भी अन्य प्रश्नो के साथ पुष्टि, खण्डन, अथवा सशोधन के लिये ऐतिहासिक प्रमाणो की निरन्तर

---

१ सूर सौरभ (पं० मुन्शीराम शर्मा सोम) पृष्ठ ८०

२ अष्ट छाप और वल्लभ सम्प्रदाय (डा० दीनदयाल गुप्त) पृष्ठ २०१

३ वही पृष्ठ २०३

अपेक्षा बनी रहेगी।"[1] इसी प्रकार सूर के निधन-सम्वत् के विषय में भी वर्मा जी की उक्ति सन्देहात्मक है। वे लिखते हैं

"सूरदास शतायु होने के बाद सं० १६४० के लगभग गोलोकवासी हुए होंगे।[2] जाति के विषय में वे लिखते हैं, "यदि वे ब्राह्मण होते तो अपने उपास्य देव के जन्मोत्सव पर दीन ब्राह्मण का भी रूप धारण कर सकते थे। अन्त में अन्य पुष्ट प्रमाणों के मिलने तक यही कहकर संतोष किया जा सकता है कि सूरदास कदाचित् ब्राह्मण नहीं थे, सम्भव है वे ढाढी, जगा या ब्रह्म भट्ट हों। यह भी सम्भव है कि ब्रह्म-भट्ट होने के नाते परम्परागत कविवंशज सूर सरस्वती-पुत्र और सारस्वत नाम से विख्यात हो गये हों, जो कालान्तर में सहज ही भक्तों द्वारा सारस्वत ब्राह्मण कर लिया गया।"[3]

सूरदास के माता-पिता, पारिवारिक जीवन और निवास-स्थान के विषय में भी वर्मा जी ने अपना कोई निश्चित मत नहीं दिया है। वार्ता-साहित्य के विवरणों पर यह लिख दिया है कि—

"उक्त विवरणों में जाति तथा जन्मान्ध-सम्बन्धी कथनों के अतिरिक्त और कोई ऐसी बात नहीं है, जिस पर सन्देह करने की आवश्यकता हो।"[4]

ढाढी वाले दो पदों में ढाढिन के उल्लेख के कारण वर्मा जी ने लिखा है—"इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि सम्भव है कि सूरदास किसी समय वैवाहिक, जीवन व्यतीत कर चुके हों। नहीं तो वे अपने उपास्य देव के जन्मोत्सव के अवसर पर अपने साथ ढाढिन की कल्पना क्यों करते? परन्तु इस अनुमान को सूर के जीवन-वृत्त में किसी आग्रह के साथ सम्मिलित नहीं किया जा सकता।"[5]

डा० ब्रजेश्वर वर्मा सूरदास जी की दृष्टि-हीनता की सम्भावना वृद्धावस्था के निकट करते हैं और सूर के काव्य में बाह्य जगत् के यथार्थ एवं सूक्ष्म चित्रण को उनके जन्मान्ध होने की सम्भावना के खण्डन का आधार मानते हैं।

सूर के जीवन, ग्रन्थ, सिद्धान्त और काव्य की निर्णयात्मक समीक्षा के विषय में श्री द्वारिकादास परीख और प्रभुदयाल मीतल ने 'सूर-निर्णय' नामक ग्रन्थ में विद्वत्तापूर्वक अपने विचार प्रकट किये हैं और अनेक स्थलों पर नवीन सामग्री का उल्लेख किया है। श्री परीख पुष्टि-सम्प्रदाय में दीक्षित होने के साथ-साथ सम्प्रदाय-साहित्य में विशेष गति रखते हैं और पहुँच भी। यद्यपि उन्होंने सूरदास जी के जीवन के सम्बन्ध में वार्ता-साहित्य को ही महत्व दिया है, तथापि उन्होंने समग्र सामग्री का यथोचित उपयोग और विश्लेषण किया है। कदाचित् 'सूर-निर्णय' ही पहला ग्रन्थ है, जिसमें निर्णयात्मक रूप में सूर के विषय में कुछ व्यवस्था दी गई है। सूरदास के जन्मस्थान के विषय में उन्होंने लिखा है

"हम सूरदास का जन्म-स्थान दिल्ली के निकटवर्ती सीही ग्राम को मानने के लिए विवश हैं। हिन्दी के माननीय इतिहासकार भी अब इसी मत को मानने लगे हैं।"[6]

---

१ सूरदास (डा० ब्रजेश्वर वर्मा) पृष्ठ ४६

२ ,, ,, ,, ,, ३

३ सूरदास (डा० ब्रजेश्वर वर्मा) पृष्ठ ६

४ सूरदास (डा० ब्रजेश्वर वर्मा) पृष्ठ १२

५ 'सूरदास' (डा० ब्रजेश्वर वर्मा) पृष्ठ ११

६ सूर-निर्णय पृष्ठ ५०

सूरदास जी की जन्म-तिथि 'सूर-निर्णय' में वैशाख शुक्ला पचमी, सम्वत् १५३५ मगलवार मानी गई है। उनकी वश-परम्परा के विषय में 'सूर-निर्णय' के लेखक किसी निर्णय पर नही पहुँच पाये हैं, केवल हरिराय जी के 'भाव-प्रकाश' में वर्णित वश-वृत्त से ही उन्होंने सन्तोष किया है। लेखक-युगल ने वार्ता-साहित्य के आधार पर सूरदास जी को निश्चित रूप से सारस्वत ब्राह्मण और जन्मान्ध माना है। सूरदाम जी का शरणागति-काल सवत् १५७२, अकबर-मिलन स० १६२३, तुलसी-भेंट स० १६२६ और देहावसान सं० १६४० में निश्चित किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अपनी कीर्ति-ज्योति से दिग्दिगन्त को समुद्भासित करने वाले इस अन्धे कवि के जीवन की कहानी अन्धकार में ही तिरोहित है। न तो किसी ऐतिहासिक ग्रन्थ में और न कहीं अन्यत्र वाह्य साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किये जाने वाले ग्रन्थो में ही इसका निश्चयात्मकता के साथ प्रतिपादन है। अन्त साक्ष्य के रूप में उपस्थित किये जाने वाले पदो में केवल दो पद ही ऐसे हैं, जिनमें काल-प्रमाण का उल्लेख है। यदि यह भी अप्रामाणिक सिद्ध हो जायें तो फिर केवल उन्ही पदो का आश्रय लेने के लिये विवश होना पडेगा, जो भौतिक जीवन की अपेक्षा आध्यात्मिक जीवन की ओर ही विशेष सकेत करते हैं अथवा साधक की मानसिक दशा के ही सूचक हैं। हम पहले कह चुके हैं कि ऐसे पदो के आधार पर किसी कवि के जीवन की घटनाओ का अनुमान लगाना केवल असगत ही नही, भक्त के हृदय में प्रतिष्ठित उपास्य देव की अवहेलना और भक्त की भावना का घोर तिरस्कार भी है। गोस्वामी तुलसीदास के विनय के पदो को लेकर कितनी ऊट-पटांग कल्पनाएँ की गई हैं, यह ऐतिहासिक तथ्यो से प्रमाणित हो चुका है। इसके अतिरिक्त यह वात भी द्रष्टव्य है कि साधक साधनावस्था में जव मानसिक वेदना का अनुभव करता है तो उसके हृदय की भाव-धारा अनेक स्रोतो में फूट निकलती है। ऐसी स्थिति में कोई आलोचक किसी विशेष मापदण्ड को लेकर कवि के उन उद्‌गारों को अपने अनुमान की पुष्टि का आधार वना सकता है, किंतु यह कवि की मधुर-भाव-धारा में कटुता उत्पन्न करने का प्रयास ही कहा जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त किसी पद विशेष के विश्लेपण में सबसे आवश्यक वात यह है कि हमें उसके सदर्भ का ठीक ज्ञान हो। पूर्वापर-सम्बंध-ज्ञान के विना अर्थ का अनर्थ होने की सम्भावना ही रहती है।

आधुनिक आलोचको ने अपने-अपने मत की पुष्टि में अन्त-साक्ष्य का सहारा लिया है। यह अव परिपाटी भी हो गई है कि किसी कवि का जीवनवृत्त निर्धारित करने के लिये अन्त-साक्ष्य और वाह्य-साक्ष्य का सामंजस्य हो। परन्तु यह प्रणाली उन कवियो के जीवनवृत्त के विपय में भ्रामक हो सकती है, जिनके वाह्य-साक्ष्य प्रामाणिक न हो तथा जिनमें वहुत अधिक मात्रा में वैभिन्य हो। हमारे महाकवि के विपय में भी यही वात है। उनके नाम, जाति, जन्मान्धत्व, सम्प्रदाय आदि के विपय मे अपनी-अपनी धारणा के अनुकूल आलोचको ने उनकी रचनाओ में से वहुत से पद खोज निकाले हैं, किन्तु मैं उन्हे पूर्ण रूप से प्रामाणिक नही मानता। प्रथम तो—जैसा कि मैं निवेदन कर चुका हू—सूर और तुलसी जैसे महात्मा भक्ति के क्षेत्र मे पहुँचकर स्वय ही नाम, ग्राम, जाति आदि के आवरण छोड चुके थे, दूसरे भक्ति की साधना में कुछ ऐसी सर्व-सामान्य भूमिकाओ को पार करना पडता है, जो दैन्य, ग्लानि, नैराश्य आदि परक होने के कारण पार्थिव दृष्टिकोण से जीवन की झाँकियाँ-सी प्रतीत होने लगती हैं। परन्तु इसके साथ-साथ हम इस तथ्य को भी नही भुला सकते कि साधक इसी पार्थिव शरीर से, इसी के सस्कारो से और इसी के सम्वन्ध से ब्रह्म-सम्वध स्थापित करता है। भक्ति के आलौकिक क्षेत्र में भी वह इसी भौतिक शरीर को लिये हुये हैं और इसीलिये वह जीवन्मुक्त है। कवि का

व्यक्तित्व, परोक्ष रूप से ही नही, उसकी रचनाओ मे सूक्ष्म रूप से आभासित होता ही है। किन्तु उस व्यक्तित्व का स्थूल भौतिकता से इतना सम्बन्ध नही होता, जितना सूक्ष्म मानसिक प्रवृत्तियो से होता है। वह तो केवल अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति का परिचायक होता है। जब हम ससार के स्थूल सम्बन्धो से उसका समन्वय करने लगते हैं तो मैं उसे साधक या कवि के प्रति अन्याय ही समझता हूँ।

'सूर-सारावली', 'साहित्य-लहरी' और 'सूर-सागर'—तीनो ही रचनाओ से अन्त.साक्ष्य उपस्थित कर महाकवि सूरदास के जीवन-वृत्त को निर्धारित करने की चेष्टा प्राय सभी आधुनिक विद्वानो ने की है। आचार्य मुन्शीराम शर्मा 'सोम' ने अन्त साक्ष्य के ही आधार पर सूर के सम्पूर्ण जीवन-वृत्त की भित्ति उठाई है तथा बडे परिश्रम एव विश्वास के साथ युक्तियाँ दे-देकर अपने मत को प्रमाणित करने का प्रयास किया है। इनकी युक्तियो को पढकर तो ऐसा प्रतीत होता है मानो सूरदास जी ने जान-बूझकर अपनी रचनाओ में अपने जीवन-वृत्त को अन्तर्हित कर रखा हो। डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने परम्परा के अनुसार अन्त साक्ष्य के रूप में कुछ पद उपस्थित किये है, किन्तु वे आचार्य मुन्शीराम शर्मा 'सोम' की भाँति उन्हे निश्चयात्मक नही मानते। अन्य प्रमाणो के अभाव मे ऐसे कथनो की ऐतिहासिक प्रामाणिकता मे उन्होंने सदेह ही प्रकट किया है। 'सूर-निर्णय' में अन्त साक्ष्य के रूप मे उपस्थित किये जाने वाले पदो मे से कुछ को प्रामाणिक तथा कुछ को अप्रामाणिक माना है। 'साहित्य-लहरी' के "प्रथम ही प्रभु जागतें भे प्रगट अद्भुत रूप" वाले पद को अप्रामाणिक सिद्ध करने में उन्होंने सात युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं।[१] डा० दीनदयालु गुप्त ने सूर का जीवन-वृत्त निर्धारित करने में अवश्य कही-कही सूर के पदो का सहारा लिया है परन्तु अधिकाश मे उन्होने वार्ता-साहित्य को ही प्रामाणिक माना है, और साहित्य-लहरी वाले पद के विषय में उन्होने लिखा है— "ज्ञात होता है कि यह पद सरदार कवि तथा भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी से पहले 'साहित्य-लहरी' के किसी टीकाकार अथवा लिपिकार ने मिलाया था।"[२] स्वर्गीय प० रामचन्द्र शुक्ल ने भी इस पद को सूरदास कृत नही माना है। मिश्रबन्धुओ ने भी इस पद को प्रक्षिप्त ही माना है। हाँ, मुन्शी देवीप्रसाद तथा राधाकृष्णदास जी ने अवश्य इस पद को प्रामाणिक माना है। डा० रामकुमार वर्मा जी ने अपने आलोचनात्मक इतिहास मे इन पदो के विषय में कोई निश्चयात्मक मत नही दिया है। निश्चित तिथि का निर्देश करने वाला साहित्य-लहरी का पद "मुनि पुनि रसन के रस लेप" वाला है। 'साहित्य-लहरी' को प्रामाणिक मानने वाले प्राय॰ सभी आचार्यो ने इस पद को प्रामाणिक माना है। केवल इसकी व्याख्या के विषय में ही उनका कुछ मत-वैभिन्य है, जिसका सकेत हम पहले कर आये हैं। 'सूर-सारावली' के "गुरु-प्रसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन" वाले पद के विषय में भी यही बात लागू होती है। सूरसागर के जिन पदो को अन्त साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया जाता है उनकी सख्या बहुत है और सभी आलोचको ने अपनी-अपनी धारणा के अनुकूल सूरसागर के पदो को छाँट लिया है। यदि किसी को उनका ब्राह्मण होना अभीष्ट नही है तो सूरदास जी के पदो मे प्रयुक्त 'बाँभन' पदो मे उन्हे तिरस्कार की गध आती है और ढाढी वाले पद को मत की पुष्टि करते हुए प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार जो उन्हे जन्मान्ध नही मानते, वे उनके रूप वर्णन वाले पदो को अपने मत की पुष्टि में उद्धृत करते हैं परन्तु इतना अवश्य है कि सूरदास जी के विनय के पद ही प्राय आत्म-परक पद है, जिनके विषय में मैं पहले ही कह चुका हूँ कि

१ सूर-निर्णय पृष्ठ ५६

२ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय पृष्ठ ९२

सासारिकता से ऊबे हुए भक्त के ये उद्गार पार्थिव अश की अपेक्षा मानसिक द्वन्द्व का ही अधिक प्रतिनिधित्व करते हैं।

सूरदास जी का जीवन-वृत्त निर्धारित करने मे हम वार्त्ता-साहित्य को भी प्रामाणिक मानते हैं। इसके दो कारण हैं। प्रथम तो सम्पूर्ण वार्त्ता-साहित्य में दिये हुए सूर-सम्बन्धी वृत्त की थोडे-बहुत अन्तर के साथ अन्विति मिल जाती है, दूसरे कुछ सम-सामयिक रचनाओ को छोडकर सूरदास जी का सर्वाधिक एव सर्वप्रथम उल्लेख इसी वार्त्ता-साहित्य में है। यह हम पहले प्रतिपादन कर चुके हैं कि सूर के समकालीन ग्रथो में उनका वृत्त न तो पर्याप्त मात्रा में है और न निश्चयात्मक रूप में। 'भक्त-माल' में तो केवल सूर-सम्बधी एक ही पद है। उसमें विल्वमगल, सूरदास, सूरजदास तथा सूरदास-मदनमोहन नामक अन्य कवियो का भी उल्लेख है। प्रियादास जी कृत 'भक्त-माल' की टीका में 'अष्टछापी सूरदास' का कोई विवरण नही है। हाँ, सूरदास-मदनमोहन के विषय में विस्तार के साथ लिखा है। वास्तव में ये सूरदास-मदनमोहन ही हमारे सूरदास के विषय में भ्रम उत्पन्न करते हैं। 'आईने-अकबरी' और 'मुन्तखिब-उल-तवारीख' में इन्ही सूरदास-मदनमोहन का वृत्तान्त है। आज भी चक्षुहीन मात्र को सूरदास की पदवी से विभूषित करने की परम्परा चली आ रही है और यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि महाकवि सूरदास के जीवन-वृत्त के निर्धारण में यह परम्परा भी वडी बाधक रही है। उनके विषय में प्रचलित जन-श्रुतियो का आधार भी यही परम्परा है। 'विल्वमगल सूरदास' के विषय में भक्तमाल में लिखा है

"विल्वमगल जी कृष्ण के परम-कृपापात्र तथा मगलस्वरूप हैं। उन्होंने 'श्रीकृष्ण-करुणामृत' ग्रथ लिखा। भगवान् ने एक वार इनको अपना हाथ पकडा कर अवलम्ब दिया और छुडा लिया; तब इन्होंने कहा कि भगवन्, आप हाथ से चले गये तो क्या हुआ, हृदय से आप जायें तब मानूँ। चिन्तामणि वेश्या के सग से इनकी लौकिक विषय से विरक्ति हुई और फिर उन्होने व्रज वालाओ की केलि का अद्भुत वर्णन किया।"[१]

सम्भवत सूरदासो की इसी अनेकता के कारण महाकवि सूरदास के वास्तविक नाम पर भी आज वाद-विवाद है। सूर के पदो में सूर, सूरदास, सूरज, सूरजदास और सूरश्याम ये पाँच नाम आते हैं। आचार्य मुन्शीराम शर्मा सभी नामो को महाकवि सूरदास के मानते हैं। 'सूर-निर्णय' के लेखको ने 'अष्ट सखामृत' के आधार पर उनका नाम 'सूरजदास' माना है।[२] 'साहित्य-लहरी' वाले पदो में उनका मूलनाम सूरजचन्द लिखा है। डा० मुन्शीराम जी ने तो सूर सुजान, सूरदास और सूरजश्याम आदि नामो को भी प्रामाणिक सिद्ध किया है।[३] हो सकता है पद-रचना में नाम का कुछ हेर-फेर हो गया हो किन्तु सूरदास जी का वास्तविक नाम 'सूरदास' ही था। वार्त्ता-साहित्य में उनको 'सूर' अथवा 'सूरदास' ही कहा गया है और यही नाम उनके जन्मान्धत्व का भी परिचायक है, जो प्राय परम्परा से जन्मान्ध को दिया जाता है। नामो की यह अनेकता भी कहीं-कही उनके साहित्य की प्रामाणिकता में भी वाधा उपस्थित करती है।

जन्म-स्थान

सूरदास जी की जन्म-भूमि के सम्बन्ध में चार स्थानो की प्रसिद्धि है—गोपाचल, मथुरा प्रान्त में कोई ग्राम, रुनकता तथा सीही। गोपाचल और गोपाद्रि ग्वालियर के पुराने

---

१ भक्त-माल, भक्ति-सुधा, स्वाद-तिलक रूप कला। पृष्ठ ३७२

२ 'सूर-निर्णय' पृष्ठ ४६

३ सूर-सौरभ भाग २ पृष्ठ ५०

नाम है। 'साहित्य-लहरी' के वंश-परिचय वाले पद में सूर के पिता का निवास-स्थान गोपाचल माना गया है। स्व० डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल ने ग्वालियर का नाम 'गोपाचल' सिद्ध किया है और इसे ही सूर की जन्म-भूमि माना है।[1] कवि मियांसिंह-कृत 'भक्त-विनोद' में सूर की जन्म-भूमि के विषय में लिखा है :—

"मथुरा प्रान्त विप्र कर गेहा, भो उत्पन्न भक्त हरि नेहा।"

इस पद में किसी स्थान-विशेष का उल्लेख तो नहीं है परन्तु इसके कारण सूर के आलोचकों में पर्याप्त भ्रान्ति रही है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिंदी-साहित्य के इतिहास' (संस्करण संवत् १९९०, पृष्ठ ५५) में सूर का जन्म स्थान रुनकता लिखा है। डा० श्यामसुन्दर-दास ने भी अपने ग्रंथ 'हिंदी-भाषा और साहित्य' (संस्करण सम्वत् १९९४, पृष्ठ ३२२) में सूर की जन्म-भूमि रुनकता लिखी है। रुनकता को सूर का जन्म-स्थान मानने की भ्रांति का कारण सम्भवतः सूरदास जी का गौ-घाट पर रहना है। रुनकता आगरा से मथुरा जाने वाली सड़क पर एक छोटा-सा गांव है। वहां से दो मील की दूरी पर यमुना के किनारे 'रेणुका जी' का स्थान और परशुराम जी का मंदिर है। यहाँ से कुछ दूरी पर गौ-घाट है। यहाँ आसपास बहुत से खण्डहरों के चिह्न हैं। वार्त्ता-साहित्य के अनुकूल सूर का जन्म स्थान सीही है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' के 'भाव प्रकाश' में श्री हरिराय जी ने सबसे पहले सूरदास जी का जन्म-स्थान दिल्ली से चार कोस की दूरी पर सीही ग्राम बतलाया था। श्री हरिराय जी के 'भाव-प्रकाश' की टीका की रचना सूरदास जी के लगभग १०० वर्ष पश्चात् हुई थी। उससे पहले कहीं वार्ता-साहित्य में सूरदास जी के लौकिक जीवन की ओर संकेत नहीं है। श्री हरिराय जी के समय तक महाकवि सूरदास जी की पर्याप्त प्रसिद्धि हो चुकी थी। सम्भवतः इसीलिये उन्होंने उनके सम्पूर्ण जीवन-वृत्त का लिखना आवश्यक समझा। हो सकता है कि उनको जो सूचनाएँ मिली हों, कुछ अतिरंजित अथवा भ्रान्ति पूर्ण हों, परन्तु अन्य पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में इतने ही से संतोष करना पड़ता है। गोकुलनाथ जी के समकालीन प्राणनाथ कवि ने भी 'अष्ट-सखामृत' में सूर का जन्म-स्थान सीही ही माना है। सीही की स्थिति हरिराय जी ने अपने 'भाव-प्रकाश' में इस प्रकार बताई है

"दिल्ली के पास चार कोस उरे में एक सीही ग्राम है, जहाँ परीक्षित के बेटा जन्मेजय ने सर्पयज्ञ कियो है।[2]

दिल्ली के आसपास इस सीही ग्राम का आज कहीं पता नहीं है। कहा जाता है कि जहाँ आज नई दिल्ली है, वहाँ के छोटे-छोटे गाँव उठा दिये गये थे और वे दूसरे जिलों में जाकर आबाद हो गये। दिल्ली-मथुरा-सड़क पर बल्लभगढ के निकट सीही नाम का एक ग्राम है। वहाँ यद्यपि सूर-सम्बन्धी कोई स्मारक अब विद्यमान नहीं है, तथापि वहाँ के लोगों में यह अनुश्रुत प्रचलित है कि महाकवि सूरदास का जन्म उसी सीही ग्राम में हुआ था। इसके साथ-साथ वहाँ यह भी कथा प्रचलित है कि जन्मेजय ने सर्पयज्ञ उसी स्थान पर किया था। इन दोनों अनुश्रुतियों से 'भाव प्रकाश' वाले सीही ग्राम की संगति तो ठीक बैठ जाती है परन्तु दूरी वाली बात का समाधान नहीं हो पाता। दिल्ली के अनेक बार बसने और उजड़ने के कारण भी दूरी में अन्तर आ सकता है, दूसरे दिल्ली से दिल्ली-राज्य की भी कल्पना की जा सकती है, तीसरे आज भी दिल्ली के निकटवर्ती ग्रामों की दूरी भ्रामक माप के रूप में प्रचलित है। लेखक का ग्राम दिल्ली से १६ मील की दूरी पर है किन्तु ग्रामवासी दिल्ली को वहाँ से

१ "सूरदास" (डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल) सम्पादक डा० भागीरथ मिश्र

२ 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' में अष्टसखान की वार्ता पृष्ठ २

६–७ कोस ही बताते हैं। वर्तमान सीही को सूरदास जी का जन्म-स्थान मान लेने पर कवि मियाँसिंह वाले मत की भी सगति बैठ जाती है। इसलिये सूरदास जी का जन्म-स्थान सीही ही ठहरता है।

जन्म-तिथि

सूरदास जी की जन्म-तिथि के सम्बन्ध में भी वार्ता-साहित्य मे कोई स्पष्ट उल्लेख नही है, वास्तव में 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में सूर की कथा का आरम्भ उस समय से होता है, जब वे आगरा-मथुरा के बीच गौ-घाट पर रहते थे। । गौ-घाट पर रहने से पहले की शृङ्खला हरिराय जी ने अपने 'भाव-प्रकाश' मे मिलाई है। पहले लिखा जा चुका है कि पुष्टि-सम्प्रदाय की मान्यता के अनुकूल सूरदास जी श्री वल्लभाचार्य जी से आयु में १० दिन छोटे थे। आचार्य जी का जन्म-सवत् १५३५ की वैशाख कृष्णा १० उपरान्त ११ रविवार निश्चित है।[1] इसलिये सूरदास जी की जन्म-तिथि सवत् १५३५ की वैशाख सुदी ५ मगलवार हुई। सम्प्रदाय के अन्य लेखो से भी इस तिथि की पुष्टि होती है। श्री वल्लभाचार्य जी के वशज श्री गोपिकालङ्कार भट्ट जी महाराज ने भी सूर की जन्म-तिथि का एक पद मे उल्लेख किया है :

"प्रगटे भक्त-शिरोमणि राय।
"माधव शुक्ला पञ्चमि ऊपर छट्ट अधिक सुखदाय।।"

श्री द्वारिकेश जी के 'भाव-सग्रह' और श्री गोकुलनाथ जी की निज-वार्ता से भी इस तिथि की पुष्टि होती है। श्रीनाथ-द्वारे मे सूरदास जी का जन्मोत्सव श्री वल्लभाचार्य जी के जन्मोत्सव से दस दिन पश्चात् मनाया भी जाता है।

हिन्दी के विद्वानो ने सूरदास जी का जन्म-सवत् प्राय. १५४० माना है और सभी इतिहासकारो ने इसी को दुहराया है। मिश्रबन्धुओ ने अनुमान से सूर का जन्म-सवत् १५४० लिखा था, फिर सभी विद्वानो ने उसी को मान्य समझा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'सूर-सारावली' के

'गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन'

वाले पद के आधार पर सूरदास जी का जन्म सवत् १५४० के लगभग तथा निधन सम्वत् १६२० के आसपास अनुमित किया है।[2] सूर का जन्म-सम्वत् १५४० मानने वालो ने 'सूर-सारावली' और 'साहित्य-लहरी' की रचना लगभग साथ-साथ ही मानी है और क्योकि साहित्य-लहरी का रचनाकाल 'मुनि पुनि रसन के रस लेख' वाले पद से सम्वत् १६०७ ठहराया है, इसलिए सूर-सारावली की रचना भी लगभग इसी सम्वत् के समीप मान ली गई है। इस समय सूरदास जी की आयु ६७ वर्ष की थी, इसलिये उनका जन्म-सम्वत् १५४० अनुमित किया गया है। सूर-निर्णय के लेखको ने अन्त साक्ष्य के आधार पर सूरदास का जन्म-सम्वत् १५३५ ही निश्चित किया है। उन्होने लिखा है, "वल्लभ-सम्प्रदाय की सेवा-प्रणाली के इतिहास की सगति से सूर-सारावली का रचना-काल सम्वत् १६०२ स्पष्ट होता है। उस समय सूर की आयु ६७ वर्ष की थी। १६०२ में से ६७ कम कर देने से १५३५ रहते हैं, अत अन्त साक्ष्य से भी सूरदास जी का जन्म-सम्वत् १५३५ ही सिद्ध होता है।"[3]

---

१ वल्लभ दिग्विजय पृष्ठ ७

२ हिन्दी-साहित्य का इतिहास (आचार्य शुक्ल) पृष्ठ १६०-१६१

३ सूर-निर्णय पृष्ठ ५३

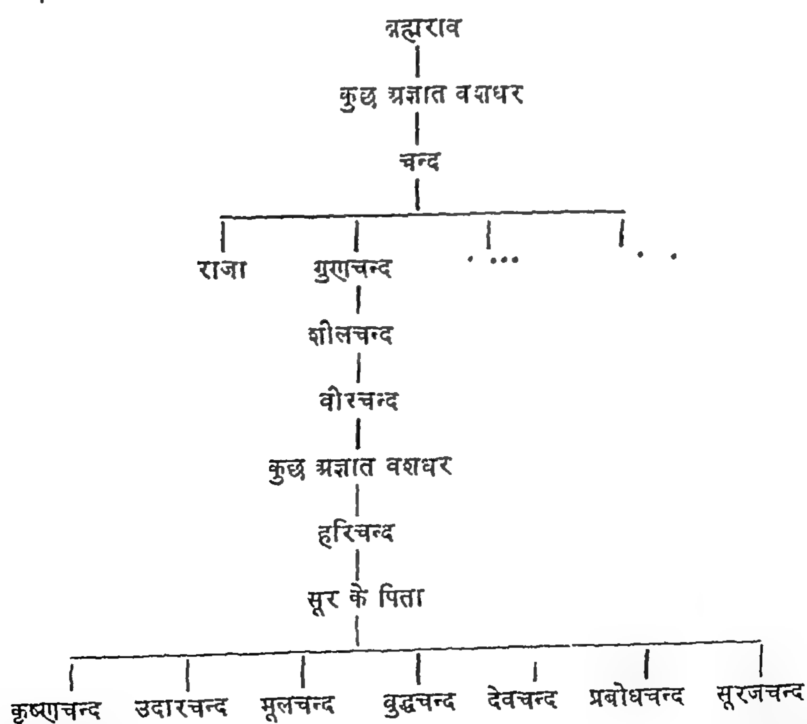
बड़ौदा कालेज के संस्कृत के आचार्य श्री भट्ट जी ने महाप्रभु वल्लभाचार्य जी का जन्म-सम्वत् १५३० माना है। वे लिखते हैं—

"The evidence in support of the year 1473 A. D is earlier and stronger and can easily out-weigh the evidence in support of 1479 A D which is dicidedly later and weak"[1]

परन्तु अभी तक भट्ट जी का मत भी मान्य नहीं है क्योंकि उनकी युक्तियाँ तब तक अकाट्य नहीं मानी जा सकती, जब तक कि वे श्री वल्लभाचार्य जी के जीवन से संबद्ध घटनाओं को इस हेर-फेर के साथ सिद्ध न कर दें। श्री वल्लभाचार्य जी के विषय में अभी तक 'वल्लभ-दिग्विजय' ही प्रामाणिक है और उसमें उनका जन्म-सम्वत् १५३५ ही माना है,[2] इसलिए सूरदास की जन्म-तिथि वैशाख शुक्ल ५ मंगलवार सं० १५३५ ही ठहरती है।

जाति तथा वंश-परिचय–

सूरदास जी की जाति तथा वंश भी विवाद-ग्रस्त हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, 'साहित्य-लहरी' का सूर का वंश-वृक्ष तथा तत्कालीन इतिहास-ग्रन्थ इस विषय को और भी उलझा देते हैं। साहित्य-लहरी का ११८ वीं संख्या वाला पद सर्वप्रथम 'ब्रह्म-भट्ट-प्रकाश' नामक ग्रन्थ में प्रकाशित हुआ था। सम्वत् १९३५ में भारतेन्दु जी ने अपनी 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' के एक लेख में इस पद पर विचार करके सूर की वंश-परम्परा निश्चित की थी। उन्होंने सूर की वंशावली इस प्रकार निर्धारित की थी—



1 *"The Birth date of Ballabhacharya, the Advocate of Suddhadvait Vedant" by Prof Bhatt of Baroda Gollege, From 9th All India Oriental Conference, Trivendrum p* 60

२ वल्लभ दिग्विजय पृष्ठ ७

इस वश-वृक्ष की पुष्टि महामहोपाध्याय श्री हरिप्रसाद शास्त्री द्वारा भी की गई। उन्होंने अपनी राजपूताने की यात्रा में चन्द के वश-वृक्ष का पता लगाया था, जो चन्द के वशधरो की नागौरी शाखा के वर्तमान प्रतिनिधि 'नानूराम' से प्राप्त हुआ था। इस वश-वृक्ष मे भी सूरदास का नाम है और 'साहित्य-लहरी' के वशवृक्ष से बहुत साम्य रखता है। इस वश-वृक्ष में सूरदास के पिता का नाम रामचन्द्र दिया हुआ है। शास्त्री जी की इस खोज से 'साहित्य-लहरी' के पद को प्रामाणिक मानने वालो को और भी बल मिला और उन्होंने सूर की वशावली निर्धारित कर डाली। आचार्य मुशीराम जी ने तो यहाँ तक लिख डाला "पण्डित नानूराम भट्ट से प्राप्त हुई वशावली के आधार पर महामहोपाध्याय प० हरप्रसाद शास्त्री ने सूर के पिता का नाम रामचन्द लिखा है, जो वैष्णव-भक्ति के अनुसार रामदास बनजाता है। आर्य-जाति के लिये सच्ची वीरता के आदर्श मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी हैं। सूर के पिता का नाम भी यही था।"[1]

तत्कालीन इतिहास-ग्रन्थो मे सूरदास के पिता रामदास का उल्लेख होने से यह भ्राति और भी दृढ हो गई। इसी को प्रमाणित करने के लिए आलोचको ने अनेक तर्क दिये और डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल ने अपने 'सूरदास-जीवन-सामग्री' मे इसको पूर्ण रूप से पुष्ट करके सिद्ध करने की चेष्टा की।[2] डा० ग्रियर्सन ने भी यही भूल की और अकबर के गायक रामदास को ही अष्ट छापी सूरदास का पिता मान लिया।

सूरदास जी की जाति का निर्णय भी इसी पद के आधार पर हुआ है। चन्दवरदाई भाट थे और उन्ही के वशज होने के कारण सूर को भाट माना गया है। डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने उन्हे ब्राह्मणेतर सिद्ध करने के लिए अन्त-साक्ष्य का सहारा लिया है। आचार्य मुशीराम शर्मा ने महा कवि 'चन्दवरदाई' को भी ब्राह्मण सिद्ध करके सूर को भट्ट ब्राह्मण ही माना है।[3]

वास्तव मे सूरदास जी न तो भट्ट ब्राह्मण थे और न ढाढी या जगा जाति के थे। भट्ट ब्राह्मण होने का आधार 'साहित्य-लहरी' का पद है, जो अप्रामाणिक सिद्ध हो चुका है। जहाँ तक ढाढी के पदो का प्रश्न है, वह आधार जाति-निर्णायक नही हो सकता क्योकि वल्लभ-सप्रदाय की सेवा-प्रणाली में राधाष्टमी के दिन ढाढी बनने की प्रथा है। श्रीनाथ जी के सभी कीर्तनकार ढाढी बनकर आते थे और तत्सबन्धी पदो का गायन करते थे। कृष्णदास, नन्ददास तथा चतुर्भुजदास आदि सभी भक्तो ने इस प्रकार के पदो का प्रणयन किया है। यदि सभी पद जातिपरक मान लिए जावें तो वे सभी ढाढी जाति के ठहरेंगे। 'सूर-निर्णय' मे इस पक्ष पर विचार हुआ है। उसमें लिखा है—"ऐसे और भी कितने ही पद उपलब्ध हैं, जिनसे अन्य जातीय अष्ट छापी एव दूसरे कवियो को ढाढी जाति का कहना होगा, इसके अतिरिक्त इन पदो के कारण महाप्रभु वल्लभाचार्य की शरण में आने के बाद भी सूरदास को गृहस्थ एव सपत्नीक भी मानना पडेगा, जोकि हास्यास्पद है।"[4] सरस्वती-पुत्र से 'सारस्वत' की कल्पना भी इसी प्रकार दूर की कौडी है। इसलिए वार्ता-साहित्य ही अधिक प्रामाणिक है और उसके आधार पर हमे सूरदास जी को सारस्वत ब्राह्मण ही मानना चाहिये। इसकी पुष्टि इस बात से और भी हो जाती है कि दिल्ली के आसपास सारस्वत ब्राह्मण ही रहते हैं।

१ सूर सौरभ पृष्ठ २०

२ सूरदास-जीवन-सामग्री ले० डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल, सम्पादक डा० भगीरथ मिश्र (अवध पब्लिशिंग हाउस लखनऊ)

३ सूर-सौरभ पृष्ठ २२

४ सूर-निर्णय पृष्ठ ५८

वास्तव मे सारस्वत नाम सरस्वती के कारण ही पडा है। कहा जाता है कि प्राचीन काल मे सरस्वती नदी पाञ्चाल देश मे बहती हुई गङ्गा नदी मे मिलती थी और उसके आसपास के वास्तव्य सारस्वत ब्राह्मण ही कहलाते थे। यही कारण है कि आजकल भी पाञ्चाल मे सारस्वत ब्राह्मणो का ही बाहुल्य है। वार्ता-साहित्य मे सूर को सारस्वत ब्राह्मण ही लिखा है। हाँ, गोकुलनाथ-कृत "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" मे सूर की जाति का उल्लेख न होने के कारण कुछ सन्देह अवश्य होता है, जिसके निराकरण के हेतु सूर-निर्णय के लेखको की यह युक्ति कि सूर पुष्टि-सम्प्रदाय मे दीक्षित होने के पूर्व अपनी जाति का परित्याग कर चुके थे तथा बाल्यावस्था मे ही घर से निकलने अन्धे होने से जाति मर्यादा पालन मे असमर्थ होने एव "जाति पाँति पूछै नहि कोई, हरिको भजै सो हरि का होई" के सिद्धान्त का प्रचार करने वाले विरक्त सन्तो से प्रभावित होने के कारण जाति-बन्धन-विमुक्त हो चुके थे,[1] केवल हेत्वाभास-सी ही प्रतीत होती है। हमे तो यही तथ्य प्रतीत होता है कि गोकुलनाथ जी ने साधारण रूप से भक्तो के साम्प्रदायिक जीवन-वृत्त का ही सकलन 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता मे किया है अतएव उन्होने उनके साङ्गोपाङ्ग जीवन की घटनाओ का विवेचन करने की आवश्यकता नही समझी, जिसके कारण सूर की जाति का प्रश्न भी उनकी दृष्टि से दूर ही रहा, परन्तु हरिराय जी ने सम्पूर्ण-जीवन-वृत्त लिखने की भावना से प्रेरित होकर यथासम्भव समग्र जीवन-घटनाओ का उद्घाटन एव उल्लेख किया है और प्रसङ्गवश अपने 'भाव-प्रकाश' मे सूर की जाति के विषय मे भी सकेत करना वे नही भूले है।

सूर के परिवार के विषय मे अनेक भ्रामक कथन प्रचलित ह, जिनका उद्गम 'साहित्य-लहरी' का वश-वृक्ष वाला पद है, जिसके अप्रामाणिक सिद्ध होने पर वार्ता-साहित्य का ही आश्रय लेना होगा और हरिराय जी द्वारा भाव-प्रकाश' में उल्लिखित कथन पर ही सतोष करना पडेगा। किसी-किसी आलोचक ने सूर को विवाहित भी माना है, उदाहरणार्थ डा० व्रजेश्वर वर्मा उनके गृहस्थ होने की कल्पना कर बैठे है। कुछ आलोचक इतने से सन्तुष्ट न होकर बिल्वमङ्गल की कहानी के सूत्र मे महाकवि सूरदास को गूँथ कर उन्हे युवावस्था मे प्रेम-पाश-बद्ध घोषित करने मे भी नही हिचकते। तथ्य तो यह है कि भक्तशिरोमणि सूरदास न तो गृहस्थ ही थे और न ही कभी किसी कामिनी के कटाक्षो से आहत होकर वे प्रेम-पाश मे आबद्ध हुए। यदि केवल सासारिक विषयो के सूक्ष्म, यथार्थ एव शृगारिक वर्णन के कारण ही किसी व्यक्ति को गृहस्थ अथवा प्रणय-रसास्वादक करार दिया जा सकता है तो ससार की असारता के प्रबल प्रचारक महान् दार्शनिक शङ्कराचार्य को भी इस दोष से मुक्त नही माना जा सकता। सस्कृत-साहित्य से इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। वस्तुत भक्त अथवा साधक कवि की उक्तियाँ स्वान्त सुखाय होते हुए भी सर्वभूत-हिताय होती हैं क्योकि आत्मसाक्षात्कार के अथवा मुक्तहृदयत्व के कारण उसके 'स्व' का इतना विस्तार हो जाता है कि वह समस्त विश्व को अपनी सीमा मे समेट लेता है, व्यष्टि समष्टि में लीन हो जाता है और वह इस प्रकार की वैराग्यपरक उक्तियाँ प्रस्तुत करता है, जो सर्वसाधारण के लिए पथ-प्रदर्शिका सिद्ध हो। इस प्रकार के कथन जहाँ एक ओर उसकी स्वय की भक्ति को दृढ करते हैं, वहाँ दूसरी ओर जनसाधारण के कल्याण का भी वहन करते है। सूर के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि सीही ग्राम से जब वे चार कोस दूर एक गाँव मे रहने लगे थे, वहाँ उनके पास यथेष्ट वैभव, शिष्य, सेवक और गाने बजाने का प्रबन्ध हो गया था, जिसका उल्लेख हरिराय जी ने भी अपने 'भाव-पकाश' मे किया है। भक्ति का

१ सूर-निर्णय पृष्ठ ६१

उदय होने पर उन्हे उस जीवन से विरक्ति हुई और वे उसका पश्चात्ताप बहुत दिनो तक करते रहे। तीसरे, जैसा कि हम पहले निवेदन कर चुके है, वे विरक्ति-परक-पद उनके दैन्य, विनय और शील को ही प्रकट करने वाले हैं, इसीलिये उन पदो को आधार मानकर उनके जीवन के विषय मे अन्यथा कल्पना करना समुचित नही।

अन्धत्व

वार्ता-साहित्य मे सूरदास जी को न केवल साधारण जन्मान्ध ही माना है अपितु सलपट अन्ध भी, अर्थात् उनके चक्षु नाम मात्र को भी न थे वल्कि कुहर रूप में केवल चक्षु चिह्न थे। आज भी इस प्रकार के अन्धे यत्रतत्र दृग्गोचर हो जाते हैं। प्रचलित सूर-विषयक जन-श्रुतियो मे भी सूर के अन्धत्व की बात दुहराई गई है, किन्तु आज के अधिकाश आलोचक उनके विचित्र रूप-वर्णन, अग-प्रत्यग के सौन्दर्य का ब्यौरे के साथ सश्लिष्ट चित्रण एव विभिन्न प्राकृतिक दृश्यो की अवतारणा को देखकर उन्हे जन्मान्ध मानने के लिये प्रस्तुत ही नही है। प० मुशीराम शर्मा उन्हे अवश्य जन्मान्ध मानते हुए लिखते हैं—

"यह तो साधारण मनुष्यो की बात हुई। सूर जैसे उच्चकोटि के सन्त की तो बात ही निराली है। वे भगवद्-भक्त थे, अघटित घटना घटा देनेवाले प्रभु के सच्चे भक्त के सामने विश्व के निगूढ रहस्य भी अनवगत नही रहते। साधारण कवि जिस वस्तु को नेत्र रहते हुए भी नही देख सकता उसे क्रान्तदर्शी व्यक्ति एव महात्मा अनायास ही देख लेते हैं।"[1]

सूरसागर में से अनेक पद सूर के अन्धत्व के प्रतिपादन में प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत दिये जा सकते हैं, जैसे:

"रास-रस रीति नहि बरनि आवै"
इहै निज मन्त्र, यह ज्ञान, यह ध्यान है, दरस दम्पति भजन सार गाऊँ
इहै माँगौं बार-बार प्रभु, सूर के नयन द्वै रहो, नर-देह पाऊँ।"*

तथा

कहावत ऐसे त्यागी दानि।
चारि पदारथ दिये सुदामहि, अरु गुरु के सुत आनि।
रावन के दस मस्तक छेदे, सर गहि सारग-पानि॥
लका दई विभीषन जन को, पूरवली पहिचानि॥
विप्र सुदामा कियौ अजाची, प्रीति पुरातन जानि।
'सूरदास' सो बहुत निठुरता, नैननि हू की हानि॥ *

अन्तिम पक्ति स्पष्टत: सूर के अन्धत्व की सूचक है और 'बहुत निठुरता' तो जन्मान्धत्व को ही व्यञ्जित करती है। निम्नलिखित पद सूर के जन्मान्धत्व का स्पष्ट प्रतिपादन करता है—

किन तेरो गोविन्द नाम धरयौ।
सांदीपनि के सुत तुम ल्याये, जब विद्या जाय पढ्यौ॥
सुदामा की दालिद्र तुम काटी, तन्दुल भेंटि धरयौ।
द्रुपद-सुता की लाज तुम राखी, अम्बर दान करयौ॥
जब तुम भये लेवा देवा के दाता, हम सू कछु न सरयौ।
'सूर' की बिरियाँ निठुर होइ बैठे, जनम-अन्ध करयौ॥ *

---

[1] सूर सौरभ प्रथम अध्याय पृष्ठ २४

* सूर-निर्णय मे उद्धृत

सूर की जन्मान्धता के विषय मे उनके और भी दो पद द्रष्टव्य है :

हरि बिन संकट मे को काको।
तुम बिन दीनदयाल कृपा-निधि नाम लेहुँ धौं काको।।
मजारी-सुत जुवँ अवा म, उनको वार न वाँको।
निरभै भये पाण्डु-सुत डोलत, उनहि नाहि डर काको।।
धन्य भाग है पाण्डु सुतन, के जिनको रथ प्रभु हांको।
जरासंध जोरावर मारयो, फारि कियो दो फांको।।
द्रोपदि चीर गहेऊ दुस्सासन, खेंचत भुजबल थाको।
महाभारत भारहि के अण्डा, तोरयो गज-कांधा को।।
कोटि-कोटि तुम पतिन उधारे, कह हुँ कवन कहाँ को।
रहो जात एक पतित जनम को आंधरो 'सूर' सदा को।। *

तथा

नाथ मोहि अबकी बेर उबारो।
तुम नाथन के नाथ सुवामी, दाता नाम तिहारो।।
करम-हीन जनम को आंधो मोते कौन न कारो।
तीन लोक के तुम प्रतिपालक, मैं तो दास तिहारो।।
तारी जाति कुजाति प्रभु जू, मो पर किरपा धारो।
पतितन मे इक नायक कहिये, नीचन में सरदारो।।
कोटि पापी इक पासग मेरे, अजामिल कौन विचारो।
धरम नाम सुनि कै मेरो, नरक कियो हठ तारो।।
मोको ठौर नही अब कोऊ, अपनो विरद सभारो।
छुद्र पतित तुम तारे रमापति, अब न करो जिय गारो।
'सूरदास' सांचो तब मानें, जो ह्वै मम निस्तारो।। *

इन पदो से यह कल्पना भी की जा सकती है कि इनकी रचना के समय सूरदास नेत्र-विहीन हो गये हो, जन्म से अन्धे न हो—जैसा कि पाय आधुनिक आलोचको ने माना भी है इस प्रकार रूप-वर्णन, रगो एव विभिन्न वस्तुओ के चित्रण करने वाले पदो की अन्विति तो बैठ सकती है किन्तु सूर की दिव्य आध्यात्मिक शक्ति की अवहेलना और उपेक्षा भी द्योतित होती है। यह अनिवार्य नही कि सूर ने जिन वस्तुओ का चित्रण किया है उनका उपभोग भी किया हो या चर्मचक्षुओ से देखा भी हो। वास्तव मे इस प्रकार का वर्णन, जिसमें अमूर्त-भावो के भी आन्तरिक-पक्ष का उद्घाटन किया गया हो, सान्त के प्रसार मे झलकते हुए अनन्त का पूर्ण चित्र उपस्थित किया गया हो, मोहान्धकार को भेद कर शान्ति का शुभसन्देश लाने वाली विरक्ति-ऊषा की अरुण आभा का विकिरण हो जहाँ प्रवृत्ति और निवृत्ति का मधुर योग हो, विलास और साधना के विकास का सुन्दर विश्वास हो, स्वर्ग और वसुधा का समन्वय हो और मानवता मे देवत्व की प्रतिष्ठा हो, केवल दिव्य-दृष्टि-सम्पन्न महात्मा ही कर सकते हैं। यह बात भी नही भूलनी चाहिए कि जन्मान्ध व्यक्तियो के अन्त-करण के नेत्र उन्मीलित हो जाते हैं और वे अन्तर्जगत् से ही बाह्य-जगत् का साक्षात्कार करने लगते हैं, आज भी ऐसे व्यक्ति देखे जाते हैं, जिनकी जन्मान्धता प्रत्यक्ष प्रमाणित है और

* सूर निर्णय से उद्धृत

जो अपनी क्रियाओं से चक्षुष्मान् व्यक्तियों को भी आश्चर्य-चकित कर देते हैं। मैंने स्वय इस प्रकार के एक दो व्यक्तियों को देखा है। फिर सूर तो सूर थे, भगवान् का सान्निध्य प्राप्त कर चुके थे, प्रकाशमय आराध्य में विलीन होकर स्वयं तेजोमय हो चुके थे फिर उनके लिए ससार में क्या वस्तु अप्रकाशित रह जाती ? वे भक्ति-द्वारा उस साधना-स्थिति पर पहुँच चुके थे, जहाँ पहुँच कर भक्त के लिये समस्त ब्रह्माण्ड हस्तामलकवत् हो जाता है। पाश्चात्य भौतिकवाद एवं जडवाद से प्रभावित होकर भारतीय ब्रह्म-ज्ञान के महत्त्व की छीछालेदर अनुचित एवम् अस्पृहणीय है।

सूर के पदो के आधार पर उनके भौतिक जीवन और व्यक्तित्व का चित्र नही बनाया जा सकता। भौतिकता की दृष्टि से परस्पर विरोधी भावो को प्रकट करने वाले इन पदो के आधार पर जो चित्र बनेगा वह बडा ही विकृत, विकल और सामञ्जस्य हीन होगा। कुछ पदो के आधार पर सूर को एक आँख का भी सिद्ध किया जा सकता है। निम्नलिखित पदो पर विचार कीजिए—

१—अब हौं माया हाथ विकानौ।
परवस भयो पसू ज्यो रजु वस भज्यो न श्रीपति रानौ।
× × ×
अपने ही अज्ञान तिमिर में विसरयौ परम ठिकानौ।
सूरदास की एक आँखि है, ताहू में कछु कानौ॥[1]

२—दीनदयाल पतित पावन प्रभु विरद बुलावत कैसो।
कहा भयो गज, गनिका तारे, जो न तारो जन ऐसो॥
× × ×
नेम, धर्म, व्रत, जप, तप, सजम, साधु सग नहिं चीनो।
दरस मलीन, दीन दुर्वल अति तिनकौ मैं दुखदीनो॥[2]

३—द्वै लोचन सावित नहिं तेऊ।
विनु देखैं कल परति नही छिनु, एतेपर कीन्ही यह टेऊ॥
वार-वार छवि देख्यौइ चाहत, साथी निमिप मिले हैं येऊ।
ते तौ ओट करत छिनही छिनु, देखत ही भरि आवत द्वैऊ॥
× × +
कहाभई जौ मिली स्याग सौं, तू जानैं जानैं सव केऊ।
सूर स्याम कौ नाम स्रवन सुनि, दरसन नीकैं देत न वेऊ॥[3]

इसलिए इतिहास-पुष्ट प्रमाणो के अभाव में सूरको जन्मान्ध ही स्वीकार करना पडता है।

१ सभा विनय ४७
२ वही प्र० स्कं० १२६
३ ,, दशम ११५०

वैराग्य तथा सम्प्रदाय-प्रवेश

हरिराय जी के 'भाव प्रकाश' के अनुसार केवल छः वर्ष की आयु में ही विरक्त होकर सूरदास अपना ग्राम छोड़कर चार कोस के अन्तर पर एक तालाव के तट पर पीपल के वृक्ष के नीचे रहने लगे थे। १८ वर्ष की आयु तक वे उस स्थान पर रहे और इसके पश्चात् मथुरा-आगरा के बीच गौ-घाट पर रहने लगे। इस प्रकार यदि सूर के आविर्भाव का संवत् १५३५ है तो उसमें १८ जोड़ने से १५५३ होते हैं जो उनके गौ-घाट पर आने का संवत् माना जा सकता है। गौ-घाट पर आने के बहुत दिन पश्चात् सूर का महाप्रभु से साक्षात्कार हुआ। इस समय का ठीक-ठीक निर्धारण अभी तक नहीं हो पाया। इसका निर्धारण करने के लिये "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" और "वल्लभ दिग्विजय" का अवलम्ब लिया जा सकता है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार वल्लभाचार्य जी दक्षिण देश और काशी में मायावाद का खण्डन और भक्ति-मार्ग की स्थापना कर 'अडैल' से व्रज को आये थे और उसी समय मार्ग में गौघाट पर ठहरे थे।[1] 'वल्लभ-दिग्विजय' से भी इसी कथन की पुष्टि होती है। उसके अनुसार अडैल से व्रज जाते हुए हुए महाप्रभु गौ-घाट पर रुके थे और जब वे वापस 'अडैल' पहुँचे तभी उनके ज्येष्ठ-पुत्र गोपीनाथ जी का जन्म हुआ था, जिसकी तिथि आश्विन कृष्ण द्वादशी सं० १५६८ मानी गई है। महाप्रभु का दक्षिण-देश में राजसभा वाला शास्त्रार्थ सं० १५६५ में हुआ था इस शास्त्रार्थ के अनन्तर ही आचार्य जी अडैल में आये थे। इस प्रकार सं० १५६७ या १५६८ में उन्होंने सूर को दीक्षा दी। इस घटना के पश्चात् का सूर का जीवन-वृत्त हरिराय जी ने अपने 'भाव प्रकाश' में विस्तृत रूप से दिया है। श्री हरिराय जी कृत सूरदास की वार्त्ता, श्री प्रभुदयाल मीतल (अपने 'अग्रवाल-प्रेस' मथुरा से) अलग भी प्रकाशित करदी है, जिसमें सन्-संवत् अथवा तिथियों का उल्लेख नहीं है। अतः तत्तत् घटनाओं से संबद्ध तिथियों की निश्चयात्मकता के लिये अन्य साम्प्रदायिक ग्रन्थों का आश्रय लेना पड़ता है, जिनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। इस विषय में सम्प्रदाय के दो महत्व-पूर्ण ग्रन्थ "वल्लभ-दिग्विजय" और सम्प्रदाय कल्पद्रुम" विशेष सहायक सिद्ध होते हैं। 'सूर-निर्णय' में सूर के शरणागति-काल के विषय में इन ग्रन्थों के आधार पर यह निश्चित किया गया है

"श्री वल्लभाचार्य जी की प्रेरणा से पूर्णमल खत्री ने श्रीनाथ जी के मन्दिर के निर्माण का कार्य सं० १५५६ की वैसाख शुक्ला तृतीया को आरम्भ कर दिया था। द्रव्याभाव से यह निर्माण-कार्य बीच में ही रुक गया था। किन्तु तब तक मन्दिर का अधिकांश भाग बन चुका था, और इस स्थिति में था कि उस नवीन मन्दिर में श्रीनाथ जी का स्वरूप स्थापित हो सके। सं० १५६४ में महाप्रभु वल्लभाचार्य ने इस मन्दिर में श्रीनाथ जी को विराजमान कर दिया था जैसा कि 'वल्लभ-दिग्विजय' और 'सम्प्रदाय-कल्पद्रुम' से सिद्ध है। इसके बाद द्रव्य की व्यवस्था होने पर मन्दिर के शिखर आदि बाह्य भाग की पूर्ति सं० १५७६ में हुई थी। इस निर्माण-पूर्ति के संवत् की संगति के कारण ही 'श्रीनाथ जी की प्राकट्य-वार्ता' में सूरदास का शरणागति काल सं० १५७७ माना प्रतीत होता है।"

यदि सूर वास्तव में १५७७ में ही वल्लभ-सम्प्रदाय में सम्मिलित होते तब उनके द्वारा सं० १५७२ में गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के प्राकट्य-अवसर पर गाया हुआ बधाई का पद किस प्रकार उपलब्ध होता ? इस प्रकार अन्तः एवं वाह्य-साक्ष्य के आधार पर सूर का शरणागति-काल सं० १५६७ विक्रमी निश्चित होता है। आचार्य शुक्ल ने सूर का आचार्य वल्लभ का

---

१ अष्टछाप, काँकरौली पृष्ठ ११-१५

शिष्य होना सवत् १५८० के लगभग माना है[1]। इस कथन का कारण कदाचित् श्रीनाथ जी के मन्दिर का स० १५७६ मे पूर्ण होना है। इसी के आधार पर आचार्य मुशीराम शर्मा ने भी सूर का शरणागति-काल स० १५८१ माना है।[2] 'सूरदास की वार्ता' से प्रकट होता है कि महाप्रभु से दीक्षा प्राप्त करने के अनन्तर सूर ने अपना सारा जीवन गोवर्द्धन में रहते हुए श्रीनाथ जी की सेवा में ही बिताया, परन्तु उनका स्थायी निवास स्थान गोवर्धन नही था अपितु उसके पास परासौली ग्राम में चन्द्रसरोवर पर था। वही से वे प्रतिदिन श्रीनाथ जी की कीर्तन सेवा के लिए आते थे। वार्ता मे आये हुए प्रसंगो से ज्ञात होता है कि वे एक बार मथुरा तथा अनेक बार नवनीतप्रिय जी के दर्शनार्थ गोकुल गये थे। उनके पूर्व श्रीनाथ जी का सेवा-भार बगाली वैष्णवो के ऊपर था और कीर्तन कार्य कुम्भनदास जी के अधीन। श्रीनाथ जी के कीर्तन और सेवा मण्डान का कार्य विशेष रूप से श्री विट्ठलनाथ जी के आने पर प्रारम्भ हुआ था। महाप्रभु वल्लभाचार्य के जीवन-काल में उनके जो चार प्रमुख शिष्य श्रीनाथ जी का सेवा-कार्य तथा कीर्तन किया करते थे, वे कुम्भनदास, सूरदास परमानन्ददास और कृष्णदास थे। कुम्भनदास जी सवत् १५५६, सूर और कृष्णदास स० १५६७, और परमानन्द दास सम्वत् १५७७ मे वल्लभाचार्य जी के शिष्य हुए। महाप्रभु ने वाराणसी के हनुमान-घाट पर गङ्गा के मध्य मे आषाढ शुक्ला तृतीया सम्वत् १५८७ के मध्याह्न के समय जल-समाधि ली, और उनके पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्र गोपीनाथ जी पुष्टि-सम्प्रदाय के आचार्य हुए। किन्तु स० १५९९ में असमय ही उनका देहान्त हो गया और विट्ठलनाथ जी को सम्प्रदाय का कार्य-भार वहन करना पडा किन्तु विधि-पूर्वक आचार्यत्व उन्हें स १६०७ में मिला। उन्होंने कीर्तन-प्रणाली को एक व्यवस्थित और विस्तृत रूप दिया। श्रीनाथ जी के आठ समय की झाँकियो के पृथक्-पृथक् कीर्तनकार नियुक्त किये गये और इस प्रकार अष्टछाप की स्थापना हुई। इन अष्टछापी कीर्तनकारो में सूरदास, परमानन्ददास कुम्भनदास और कृष्णदास तो महाप्रभु वल्लभाचार्य के सेवक थे और छीतस्वामी, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास गुसाई जी के सेवक थे। पुष्टि-सम्प्रदाय की सेवा-प्रणाली का वर्णन हम अगले अध्याय में करेंगे। इन विवेचन से ज्ञात होता है कि सूरदास लगभग बत्तीस वर्ष की अवस्था में सम्प्रदाय में दीक्षित हुए तथा अन्तकाल तक सम्प्रदाय की सेवा करते रहे। उनके जीवन की घटनाओ का उल्लेख वार्ता-साहित्य में विशेष कर हरिराय जी के 'भाव-प्रकाश' में हुआ है।

महात्मा सूरदास के विषय में इधर-उधर जाने की जो जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं उनकी प्रामाणिकता सन्देह के गर्भ में विलीन है। "सूरदास की वार्ता" प्रसग ३ में उनकी अकबर बादशाह के साथ भेंट का उल्लेख मिलता है, जिसकी ओर हम पहले भी इगित कर चुके हैं। अकबर सदृश उदार, सहिष्णु एव कला-प्रेमी व्यक्ति की सूरदास जैसे महात्मा, भक्त एव कवि के प्रति श्रद्धा होना स्वाभाविक है किन्तु सूरदास के हृदय में अपने उपास्य के अतिरिक्त अन्य किसी के लिए स्थान न था

"प्रेम-गली अति साँकरी वामें दो न समायँ।"

"चौरासी-वैष्णवन की वार्ता" के अनुसार दिल्ली से आगरा जाते समय अकबर सूरदास जी से मिला था। किम्वदन्ती है कि अपनी सभा के प्रसिद्ध गायक तानसेन द्वारा सूरदास के एक पद का भाव-रस आस्वादन कर अकबर सूर से मिलने के लिए लालायित हो उठा और उनसे भेंट की। यह भेंट कब हुई? इसका कोई निश्चित समाधान अभी तक

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास संस्करण सं० २००९ पृष्ठ १९२

२ सूर-सौरभ पृ७ ७२

नही हो पाया। डा० दीनदयाल गुप्त का अनुमान है कि 'अकबर सूर से सन् १५७५ ई० व सन् १५८२ ई० के बीच मे मिला होगा।'[१] गुप्त जी अपना मत इस प्रकार देते है—

"लेखक का अनुमान है कि अकबर या तो सन् १५७७ की अजमेर-यात्रा से लौटकर मिला हो या सन् १५७९ की अजमेर यात्रा से फतहपुर सीकरी को लौटता हुआ रास्ते मे मथुरा मे उनसे मिला हो। सन् १५७९ मे मिलना अधिक सङ्गत जँचता है क्योकि अकबर ने उसी साल मे धार्मिक आचार्यों की बहसे सुनी थी और अपने दरबार में भी भिन्न-भिन्न मतो के महात्माओं को बुलाया था।"[२] 'सूर-निर्णय' के लेखकों ने लिखा है—'हमारे अनुमान से सूरदास और अकबर का मिलन सम्वत् १६२३ (सन् १५६६) मे मथुरा मे हुआ था। साम्प्रदायिक इतिहास से ज्ञात होता है कि सम्वत् १६२३ की फाल्गुन कृष्णा सप्तमी को गोस्वामी विट्ठलनाथ जी की अनुपस्थिति मे उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री गिरधर जी श्रीनाथ जी के स्वरूप को गोवर्धन से मथुरा मे ले गये थे। उस समय श्रीनाथ जी की सेवा के लिये सूरदास जी भी मथुरा गये थे। उस समय श्रीनाथ जी दो माह बाईस दिन पर्यन्त मथुरा मे रहे थे और उस अवधि मे सूरदास को भी उनकी कीर्त्तनसेवा करते हुए मथुरा मे रहना पडा था।"[३] डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने इस भेंट को सम्वत् १६३२ के पश्चात् माना है किन्तु उन्होंने किसी निश्चित सन् या सम्वत् का उल्लेख नही किया है। इस सम्बन्ध मे हमे डा० दीनदयालु गुप्त का ही मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है। 'सूर-निर्णय' मे जो समय बताया गया है, यह केवल साम्प्रदायिक-साहित्य पर आधृत है किन्तु साम्प्रदायिक-साहित्य किसी एक भक्त की जीवनी के विषय मे पूर्ण नही कहा जा सकता। उनके मत की भित्ति श्रीनाथ जी के स्वरूप के मथुरा मे रहने के आधार पर आश्रित है किन्तु क्या यह सम्भव नही कि सूरदास उस समय के अतिरिक्त अवसरो पर मथुरा आते-जाते रहे हो? इसके अतिरिक्त मुगलकालीन इतिहासो से सिद्ध होता है कि सम्वत् १६२३ तक अकबर की धार्मिक नीति इतनी उदार नही थी और न ही उसे तब तक राजनीतिक शान्ति उपलब्ध हुई थी। अकबर ने हिन्दुओ पर से तीर्थ-यात्रा का कर सम्वत् १६२० मे तथा जजिया सम्वत् १६२२ मे उठाया। सम्वत् १६३२ तक उसने अपनी दृष्टि साम्राज्य-सगठन पर केन्द्रित रखी और उसी वर्ष उससे निवृत्त होकर फतहपुर सीकरी मे 'इबादतखाना' बनवाया था। यहाँ पर प्रसिद्ध इतिहासकार विंसेन्ट स्मिथ का मत भी उल्लेखनीय है—

For many years, he was zealous, tolerably orthodox Sunni Musalman willing to execute Shias and other heretics Next he passed through a stage (1574-82 A D) in which he may be described sceptical rationalizing Muslim and finally rejecting Islam utterly he evolved an eclectic religion of his own with himself as its prophet (1582 1605 A D)[४]

राय-चौधरी ने अपनी पुस्तक 'दीन-इलाही' तथा विंसेन्ट स्मिथ ने अपने इतिहास मे अकबर द्वारा दीन-इलाही का प्रवर्तन सन् १५८२ अर्थात् सम्वत् १६३९ मे माना है। ये तिथियाँ डा० दीनदयालु गुप्त के इस मत का समर्थन करती हैं कि अकबर सूरदास से सन् १५७४

---

१ अष्ट-छाप और वल्लभ-सम्प्रदाय पृष्ठ २१७

२ वही, पृष्ठ २१८

३ सूर-निर्णय पृष्ठ ६२

४ '*Akbar the Great Mogul*' (विंसेन्ट स्मिथ सन् १९१७ का संस्करण पृष्ठ ३८४)

ग्रोर १५८२ ई० के वीच मे कभी मिला होगा। अकवर की अन्तिम अजमेर-यात्रा सन् १५७९ में हुई थी[1]। अकवर ने वल्लभ-सम्प्रदायवालो के लिये जो फर्मान जारी किये थे, वे भी सन् १५७७ और १५८१ के वीच के हैं। पहला फर्मान सन् १५७७ का और दूसरा सन् १५८१ का है[2]। जैसा कि पहले सकेत किया जा चुका है, गुप्त जी ने सूर-अकवर-मिलन सन् १५७९ ई० मे माना है किन्तु अन्य प्रामाणिक प्रमाणो के अभाव में यही सम्वत् अन्तिम रूप से मान्य नही हो सकता। हाँ, इतना अवश्य है कि अकवर दिल्ली से आगरा लौटते हुए ही सूरदास से मिले होंगे किन्तु अजमेर से लौटने की प्रत्येक यात्रा दिल्ली होकर ही होती थी। अकवर की यह अजमेर-यात्रा सन् १५७९ ई० तक प्रतिवर्ष चलती रही थी। अतएव निश्चयात्मकता के साथ नही कहा जा सकता कि वे कब सूरदास से मिले ? यदि 'सूर-निर्णय' के अनुसार हम सूर-अकवर-भेंट की तिथि स० १६२३ अर्थात् सन् १५६६ को मानें तो यह भी मानना पडेगा कि अकबर केवल इसी उद्देश्य से मथुरा गया होगा क्योंकि 'अकवर नामा' के अनुसार उसकी 'अजमेर-शरीफ' की यात्रा सन् १५६८ से आरम्भ हुई और इसी यात्रा के समय वह अजमेर से दिल्ली होता हुआ आगरा लौटता था[3]। इन सब वातो से यही सिद्ध होता है कि वह सन् १५७४ और १५८२ के वीच ही सूर से मिला होगा।

सूर और तुलसी की भेंट का उल्लेख भी कतिपय ग्रन्थो में हुआ है। 'मूल गुसाँई चरित' में लिखा है कि स० १६१६ मे श्री गोकुलनाथ जी की प्रेरणा से सूरदास जी तुलसीदास जी से चित्रकूट पर मिले[4]। इसके विरुद्ध 'प्राचीन-वार्त्ता रहस्य' मे यह कथन है कि 'तुलसीदास' जी जव अपने भाई 'नन्ददास' से मिलने व्रज में आये उस समय परासोली ग्राम मे उनकी सूरदास जी से भेंट हुई[5]। हमें वार्त्ता-साहित्य का कथन ही समीचीन जान पडता है, जिसका समर्थन 'सूर-निर्णय' के लेखको ने युक्ति पूर्वक किया है।

गोलोक-वास

सूर के गोलोक-वास के सम्वन्ध में भी वहुत अधिक मत-भेद है, जिसके कारण उनकी निधन-तिथि सवत् १६२० से १६४२ तक दोलायमान रही है। मिश्र वन्धुओ ने सूर का निधन संवत् १६२० माना है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी उनकी आयु ८०-८२ वर्ष तथा जन्म-संवत् १५४० मानकर सवत् १६२० में ही उनकी मृत्यु होने का अनुमान किया है। डा० रामकुमार वर्मा ने कोई निश्चित मत न देते हुए दवी जवान से सवत् १६४२ को उनका मृत्यु सम्वत् माना है। 'सूर-निर्णय' के लेखको ने इस प्रश्न पर पर्याप्त विचार किया है और अन्त. साक्ष्य तथा वाह्य-साक्ष्य के आधार पर सवत् १६४० पर्यन्त सूर की उपस्थिति सिद्ध की है, जो वस्तुत युक्तियुक्त प्रतीत होती है। हम पहले वता चुके हैं कि ऐतिहासिक साक्ष्यो के अनुसार सूर और अकवर की भेंट सम्वत् १६३१ से पहले सम्भव नही और इस मिलन को प्राय· सभी ने स्वीकार किया है। अतएव सूरदास जी का गोलोकवास सम्वत् १६३१ के पश्चात् ही मानना चाहिये। कृष्णदास द्वारा रचित जो वसन्त-विषयक प्रसिद्ध पद है, उसमें सूरदास जी के साथ गोसाईं जी के सप्तम-पुत्र घनश्याम' का भी उल्लेख है, जिनका जन्म श्री वल्लभ-वश-वृक्ष के

१ Cambridge History of India Part IV Page 123

२ 'इम्पीरियल फर्मान' झवेरी पृष्ठ ४१-४२

३ अकवर नामा भाग ३, पृष्ठ ४०५

४ 'मूल गुसाँई चरित' पृष्ठ २९-३०

५ प्राचीन-वार्त्ता-रहस्य द्वि० भाग पृष्ठ ३४४

अनुसार सवत् १६२८ मे हुआ। यदि वसन्तोत्सव के समय उनकी आयु ७ वर्ष की भी मान जाय तो सूरदास जी के अस्तित्व का पता सम्वत् १६३५ तक चल जाता है। जैसा कि पह कहा जा चुका है वार्ता-साहित्य के अनुसार सूरदास जी के समय गोसाई विट्ठलनाथ ज जीवित थे। श्री विट्ठलनाथ जी सम्वत् १६२८ विक्रमी से ही स्थायी रूप से गोकुल में रह लगे थे और तभी नवनीत प्रिय जी के मन्दिर की स्थापना हुई थी, जिनके दर्शनो के लि सूरदास जी कभी-कभी आया करते थे। गोसाई जी का तिरोधान फाल्गुन कृष्णा सप्तमी सम्वत् १६४२ को हुआ 'सम्प्रदाय-कल्पद्रुम' मे उनका तिरोधान सम्वत् १६४४ फाल्गुन शुक्ल एकादशी बताया गया है। "दी इम्पीरियल फर्मान्स" में अनूदित और सम्पादित एक फर्मान सम्वत् १६५१ का है, जिसमे गोसाई विट्ठलनाथ जी का भी नामोल्लेख है। इस आधार प किसी आलोचक ने उनकी स्थिति स० १६५१ तक मानी है। हमारे विचार से तो इस विषय में डा० दीनदयालु गुप्त का मत ही अधिक तर्कसगत प्रतीत होता है। उन्होंने लिखा है—

"बहुधा देखा जाता है कि किसी व्यक्ति के मरने के बाद भी जब तक उसके उत्तराधिकारी के नाम उसकी सम्पत्ति के कागजो में दाखिल-खारिज नही होता, तब तक सरकारी कागज उसी के नाम जारी रहते हैं।"[1]

इस बात की पुष्टि इससे भी हो जाती है कि शाहजहाँ के पश्चात् भी जो फर्मान इस सम्प्रदाय वालो के लिए जारी किए गये, उनमे भी विट्ठलनाथ जी का नाम है, इसलिए ऐसे फर्मानो को तो 'नसल-दर-नसल' मानना चाहिए। वैसे साम्प्रदायिक साहित्य से भी यही सिद्ध होता है कि गोसाई विट्ठलनाथ जी का तिरोधान सम्वत् १६४२ में ही हुआ क्योंकि इसके पश्चात् कोई ऐसा कार्य नही हुआ, जिस पर उनके व्यक्तित्व की छाप हो। इसलिए सूरदास जी का देहावसन 'परासोली' मे स० १६४० के लगभग ही मानना अधिक समीचीन जान पडता है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' भावप्रकाशन मे, सूरदास के अन्त समय के बारे में श्री हरिराय जी कहते हैं—

"जो प्रभून की यही रीति है, जो वैकुण्ठ में भूमि पर प्रकट होइवे की इच्छा करत हैं तब वैकुण्ठवासी जो भक्त है सो पहले भूमि पर प्रकट करते हैं। पाछे अपने भक्तन को या जगत सो तिरोधान होय ता पाछे वैकुण्ठ में लीला करत हैं। सो तैसे ही श्री आचार्य जी श्री गुसाई श्री पूर्ण पुरुपोत्तम को प्राकट्य है, सो लीला सम्वन्धी वैष्णव प्रकट किये, अब श्री आचार्य जी आप अन्तर्धान लीला किये और श्री गुसाई जी को करनो है। सो पहले भगवदीयन कूँ नित्य लीला में स्थापन करि कै आपु पधारेंगे।"

---

१ अष्ट छाप और वल्लभ सम्प्रदाय भाग १ पृष्ठ ७८

अध्याय २

सूरदास जी का साहित्य

ग्रन्थ-रचना

वार्ता-साहित्य अथवा सूर के सम-सामयिक इतिहास-ग्रन्थो में उनकी रचनाओ के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नही मिलता। जैसा कि आगे के पृष्ठो से विदित होगा, वार्त्ता-साहित्य में सूर के सहस्रावधि पदो अथवा असाक्षात् रूप से सवा लाख पदो की ओर सकेत अवश्य किया गया है, काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्ट, इतिहास-ग्रन्थ एव पुस्तकालयो में सुरक्षित ग्रन्थों के अनुसार सूर से सम्बद्ध २५ ग्रन्थ बताये जाते हैं, जिनमें बहुत से तो ऐसे हैं, जो प्राय सूरसागर के ही अश हैं और कुछ ऐसे हैं, जो केवल टेक के ही कारण सूरकृत माने हुए हैं। आज तक इस प्रकार के जिन ग्रन्थो का पता चलता है, वे निम्नलिखित हैं —

१ सूरसारावली
२ भागवत-भाष्य
३ सूर-रामायण
४ गोवर्धनलीला (सरस लीला)
५ भँवर-गीत
६ प्राणप्यारी
७ सूरसाठी
८ सूरदास के विनय आदि के स्फुट पद
९ एकादशी-महात्म्य
१० साहित्य-लहरी
११ दशम-स्कन्ध भाषा
१२ मान-लीला
१३ नागलीला
१४ दृष्टिकूट के पद
१५ सूर पचीसी
१६ नल दमयन्ती
१७ सूर-सागर
१८ सूर-सागर सार
१९ राधा-रस केलि-कौतूहल
२० दानलीला
२१ व्याहलो
२२ सूरशतक
२३ सेवाफल
२४ हरिवश टीका (संस्कृत)
२५ राम जन्म

इन ग्रन्थो में से कुछ प्रकाशित और कुछ अप्रकाशित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सूरदास के पदो एव उनके नाम से प्रचलित पदो के हस्तलिखित संग्रह कुछ महानुभावो के यहाँ सुरक्षित थे और जब अनुसन्धान-कार्य प्रारम्भ हुआ तो वे हस्तलिखित प्रतियाँ सूर के नाम से अलग ग्रन्थ मान ली गई। डा० दीनदयालु गुप्त ने केवल 'सूरसागर', 'सूर-सारावली' और 'साहित्य-लहरी' ही सूर के प्रामाणिक ग्रन्थ माने हैं, 'प्राणप्यारी' को उनकी सदिग्ध रचना माना है और 'नल-दमयन्ती', 'हरिवश-टीका', 'रामजन्म' और 'एकादशी-माहात्म्य' को अप्रामाणिक माना है।[1]

द्वारकादास परीख और प्रभुदयाल मीतल ने अपने 'सूर निर्णय' में सूर की सात प्रामाणिक रचनाएँ मानी हैं—सूर-सारावली, साहित्य-लहरी, सूरसागर, सूरसाठी, सूर-पचीसी, सेवा फल और सूरदास के विनयादि के स्फुट पद। उन्होंने हरि-वंश-टीका, एकादशी-माहात्म्य

१ अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय प्रथम भाग पृष्ठ २९८

ल-दमयन्ती और रामजन्म को अप्रामाणिक तथा शेष ग्रन्थों को डा० गुप्त की भाँति सूरसागर के अन्तर्गत माना है।[1] वस्तुत गोस्वामी हरिराय जी के समय तक सूर के सभी पदो का पुस्तक रूप मे सकलन नही हुआ था अन्यथा हरिराय जी उन ग्रन्थों का उल्लेख अवश्य करते। उन्होंने तो सूर-सारावली, साहित्य-लहरी, यहाँ तक कि सूरसागर का भी उल्लेख नही किया है। हाँ, पदों की वात को अवश्य दुहराया है।

आधुनिक आलोचकों ने सूर की तीन रचनाएँ—सूर-सारावली, साहित्य-लहरी और सूरसागर ही प्रामाणिक माना है। वार्त्ता-साहित्य म सूर-साहित्य के विषय में दो उक्तियाँ प्रसिद्ध है·

मूल चौरासी वार्त्ता मे·

"सूरदास जी ने सहस्रावधि पद किये हैं ताको सागर कहिये सो जगत में प्रसिद्ध भये"

गोस्वामी हरिराय जी कृत सूरदास जी की वार्त्ता में

"सो तब सूरदास जी मन में विचारे, जो मैं तो मन में सवा लाख कीर्तन प्रकट करिवे को सकल्प कियो है। सो तामें तें लाख कीर्तन तो प्रकट भये हैं सो भगवत् इच्छा तें पच्चीस हजार कीर्तन और प्रकट करने हैं।"[2]

इसी वार्त्ता के ६० वें पृष्ठ पर लिखा है—

"और सूरदास जी ने श्री ठाकुर जी के लक्षावधि-पद किये हैं।" यह एक लाख पदों वाली वात सूर-सारावली मे भी लिखी है—

कर्म-योग पुनि ज्ञान उपासन सब ही भ्रम भरमायो।
श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनायो लीला भेद बतायो ॥११०२॥
ता दिन ते हरि लीला गाई एक लक्ष पद वन्द।
ता को सार 'सूर-सारावलि' गावत अति आनन्द ॥११०३॥

इस सहस्रावधि एव एक लक्ष पद-वन्द वाली उक्ति को लेकर आधुनिक आलोचकों ने वडी दूर की कौडी लाने का प्रयत्न किया है। यद्यपि हरिराय जी ने स्पष्ट सवा लाख पदो का उल्लेख किया है किन्तु अब तक के अनुसन्धान के फलस्वरूप केवल ८, १० सहस्र पद ही प्राप्त हो सके हैं। डा० श्यामसुन्दरदास ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी-भाषा और साहित्य' में केवल ६ हजार पद माने हैं, 'शिवसिंह सरोज' में ६० हजार पद माने गये हैं। राधाकृष्णदास ने सूर सागर की भूमिका में सवालाख पद मानकर सहस्रावधि का अर्थ 'सहस्रों की अवधि' किया है, 'सहस्र है अवधि जिनकी' ऐसा नही। उदयपुर के मोतीलाल मेनारिया ने इस सहस्रावधि-पद-सख्या को आधार मानकर अपने एक लेख में सूरसागर को एक हजार पदो की परिधि में समाप्त होने वाला ग्रन्थ बतलाया है। श्री द्वारकादास परीख और प्रभुदयाल मीतल ने अपने 'सूर-निर्णय' में सूर की रचना का परिमाण गणित से निर्धारित किया है और सख्या ९३३५० निश्चित की है तथा इनके अतिरिक्त और भी लीला-सम्बन्धी अनेक पद माने हैं। इन महानुभावों की आनुमानिक गणना के हिसाब से सूर के पदों की सख्या सवा लाख से भी कहीं अधिक पहुँचती है। हम उनकी गणना की प्रक्रिया से तो सहमत नही है किन्तु इतना अवश्य मानते हैं कि सूर जैसे सिद्ध कवि ने न जाने कितने पदो की रचना की होगी? आज 'सूरसागर' की जितनी प्रतियाँ हमें उपलब्ध होती हैं, उनकी पद-सख्या में महान् अन्तर है।

१. सूर निर्णय पृष्ठ १०५, १०६, १०७

२. सूरदास जी की वार्ता प्रसङ्ग १० पृष्ठ ५५ [अग्रवाल प्रेस मथुरा]

नागरी-प्रचारिणी-सभा की खोज-रिपोर्ट में सम्वत् १७९८ की एक ऐसी प्रति का विवरण दिया गया है, जिसमे दशम-स्कन्ध का केवल एक ही पद है और द्वादशस्कन्ध के १७५४ पद। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे-जैसे पद प्राप्त होते गये, उनको पुस्तकाकार में सकलित कर लिया गया। गोस्वामी हरिराय जी ने 'सूरदास जी की वार्ता' प्रसङ्ग ३ के 'भाव प्रकाश' में लिखा है—

"तामें ज्ञान-वैराग्य के न्यारे-न्यारे भक्ति-भेद, अनेक भगवत अवतार, सो इन सबन की लीला को वर्णन कियो है।"

आगे प्रसग ४ की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं—

"पाछे देसाधिपति ने आगरे मे आय कें सूरदास के पदन की तलास कीनी, जो कोऊ, 'सूरदास' जी के पद ल्यावें, तिनकूँ रुपैया और मोहर देय, सो वे पद फारसी में लिखाय कै बाँचै।" इसी प्रकार वार्ता प्रसग १० में उल्लेख है—

"सूरदास जी, तुमने जो सवालाख कीर्तन को मनोरथ कियो है सो तौ पूरन होय चुको है, जो पच्चीस हजार कीर्तन मैंने पूरन करि दिए हैं तामें तुम अपने कीर्तन को चौपडा देखौ" • इत्यादि।

वार्ता-साहित्य के इन उल्लेखो से ऐसा आभास मिलता है कि सूरदास जी के कीर्तन-पदो का सकलन उनके जीवन काल में ही हो गया था, पर उनके समय की कोई प्रति उपलब्ध नही है। सूरदास जैसे सिद्ध कवि के लिए अपने भक्ति-भाव-भरित दीर्घ जीवन-काल में सवालाख पदो की रचना करना कोई असम्भव बात नही थी। इस कारण से हम सहज ही निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं

१—सूर ने अवश्य सवालाख के लगभग पदो की रचना की होगी।

२—छ: वर्ष की ही अल्पायु में वे गृह-त्याग कर चार कोस की दूरी पर एक गाँव में रहने लगे और वहाँ अपने भक्त एव सेवको को विरह के पद सुनाते थे। १८ वर्ष की आयु तक यही क्रम चलता रहा, इस दीर्घकाल में उन्होने कितने ही पदो की रचना की होगी।

३—१८ वर्ष की अवस्था से ३१ वर्ष की आयु तक गौ-घाट पर रहे। गान-विद्या में वे पारगत थे जैसा कि वार्ता मे लिखा भी है—

"सूरदास को कण्ठ बहुत सुन्दर हतो, सो गान-विद्या में चतुर और सगुन बताइवे में चतुर, उहाँ सेवक बहुत भये, सो सूरदास जगत में प्रसिद्ध भये।"

इन तेरह वर्षो में सरस्वती-कण्ठाभरण आशु कवि सूरने नि सदेह अगणित पदो की रचना की होगी।

४—इसके पश्चात् सूरने लगभग ७०-७२ वर्ष के साम्प्रदायिक जीवन में भगवान् की लीला के विषय में इतने पद बनाकर गाये होंगे कि उनकी गणना करना अत्यन्त कठिन है। अपनी अप्रतिम प्रतिभा, कलित कल्पना एवं भाव-भरे अन्त करण से न जाने कितने छन्द, राग, रागनियाँ और भावो की उद्भावना प्रज्ञाचक्षु, सूर ने की होगी। कालान्धकार की घोर कालिमा के स्तरो के नीचे सूर के न जाने कितने पद दब गये होंगे, जो आज अलभ्य हैं परन्तु उनकी उपलब्धि के अभाव में, उनकी सख्या के विषय में उन्मुक्त अनुमान लगाना अनुचित है। काल-रचना के विचार से सूर के पदों को हम तीन भागो में बाँट सकते हैं •

१—पुष्टि-सप्रदाय में दीक्षित होने से पहले के पद।

२—सम्प्रदाय मे दीक्षित होने के पश्चात् श्री वल्लभाचार्य जी के जीवन-काल तक के पद।

३—गोस्वामी 'विट्ठलनाथ' जी के समय के पद।

इनमें प्रथम दो काल तो ऐसे है, जिनमे सूर की रचनाओ के नियमित सग्रह का न तो कोई अवसर ही था और न साधन हो। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के समय में जव श्रीकृष्ण के स्वरूप वाहर जाने लगे तो, नित्य-कीर्तन और वर्षोत्सव के पदो का सग्रह आवश्यक समझा गया। इसलिये वे कीर्तन सग्रह-रूप में प्रस्तुत किये गये, और उनका प्रचार विभिन्न स्थानो में हुआ। आज भी वे आचार्यो के घरो में—जीर्ण शीर्ण अवस्था में ही सही—वास्तविक रूप में पाये जाते हैं। कुछ समय पश्चात् ये सग्रह वोझिल होने के कारण 'नित्य-कीर्तन', 'वर्षोत्सव' और 'वसन्त धमार' शीर्षक तीन सग्रहो के रूप मे परिणत हो गये। लेखक ने अपनी व्रज-यात्रा में सहस्रो की सख्या में ये सग्रह देखे हैं। इस प्रकार के सग्रह-ग्रन्थ ही मूल-रूप में सूरसागर के जनक हैं। सूरसागर के अतिरिक्त सागरो जैसे कृष्ण-सागर, परमानन्द सागर, नन्दसागर आदि—का जन्म भी इन्ही सग्रहो से हुआ। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सूरदास जी के केवल वे ही पद प्राप्य हैं, जो उक्त सग्रहो में दिये हैं और वे भी सारे पद नही मिलते क्योकि जिन महानुभावो के अधिकार में वे हैं, वे उन्हे 'जैसे परम कृपन कर सोना'—गुप्त रखते हैं—पैतृक-सपत्ति के रूप में उसकी रक्षा करते हैं। इस दिशा में पर्याप्त अन्वेषण करने की आवश्यकता है। इन्ही पदो के सकलन आजकल विभिन्न ग्रन्थो के रूप में सूर के नाम से प्रचलित है। हम पहले कह चुके हैं कि इनमें केवल तीन सग्रह विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं—सूर-सारावली, साहित्य-लहरी और सूरसागर। इन्ही तीन ग्रन्थो पर हम सक्षेप में विचार करेंगे।

सूर-सारावली—

वेंकटेश्वर प्रेस वम्बई, और नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित सूरसागर के सस्करणो के प्रारम्भ में यह ग्रन्थ छपा है। इस ग्रन्थ के नाम से तो ऐसा आभास होता है कि यह सूरसागर की भूमिका तथा साराश के रूप में प्रस्तुत हुआ है, परन्तु वास्तव में न तो यह सूरसागर की भूमिका है और न उसका साराश ही। इसमें कुल ११०७ पद हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ में लिखा है.

"अथ श्री सूरदास जी रचित सूर-सागर-सारावली तथा सवालाख पदो का सूचीपत्र"। ग्रन्थ का श्रीगणेश 'वदौं श्री हरिपदसुखदाई' सेकिया है, जब कि सूरसागर का प्रारम्भ भी कुछ शाब्दिक हेर-फेर के साथ इसी पद से हुआ है। सूरसागर का पद है—'चरण-कमल वन्दौं हरिराई।' कदाचित् मङ्गलाचरण का यह श्लोक प्रक्षिप्त है क्योकि सूर-सारावली के प्रारम्भ में मङ्गलात्मक पद दूसरा है:

'अविगत आदि अनन्त अनूपम अलख पुरुष अविनाशी।'

और मगलाचरण के प्रारम्भ में एक अर्धाली होली के रूपक की है:

खेलत यह विधि हरि होरी हो होरी हो वेद-विदित यह बात।'

इस पद से प्रतीत होता है कि सूरदास जी ने इस ससार को होली के खेल का रूपक माना है, जिसमें लीला-पुरुष की अद्भुत लीलायें निरन्तर चलती रहती हैं। सारावली के १६ वें पद मे इसी रूपक का विस्तार दिया है.

आज्ञा करी नाथ चतुरानन करो सृष्टि विस्तार।
होरी खेलन की विधि नीकी रचना रचे अपार॥

फिर आगे के पदो में उसी सृष्टि की रचना का स्वरूप सूरदास जी ने वताया है और ३५८-५९ वें पदो में इस रूपक को समाप्त किया है :

सुर अरु असुर रचो हरि रचना सो जग प्रकटहि कीन्ही।
क्रीडा करी वहुत नाना विधि निगम वात वहु चीन्ही ॥ पद स० ३५८
यहि विधि होरी खेलत खेलत वहुत भाँति सुख पायो।
धरि अवतार जगत में नाना भगतनि चरित दिखायो ॥ पद स० ३५९

इसके अनन्तर फिर वे लिखते हैं

अश कला अवतार वहुत विधि राम कृष्ण अवतारी,
सदा विहार करत व्रज-मण्डल नन्द सदन सुखकारी।

सम्पूर्ण ग्रथ में इस होली के खेल का ही निर्देश किया गया है, किन्तु पद सख्या १७, ३५, ३०९, ३५९, ७२६ और ११०० विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। १०४७ से १०८७ तक के पदो में वसन्त से प्रारम्भ करके व्रज-निवासियो के होली खेलने का वर्णन है। इसी होली के रूपक में सृष्टि की उत्पत्ति का भी सुन्दर वर्णन है, जैसा कि आगे के अध्याय में प्रकट होगा। यह सृष्टि वर्णन श्रीमदभागवत तथा अन्य पुराणो के आधार हुआ है। सक्षेप में सूर-सारावली का सार इस प्रकार है

क्रीडा करते-करते भगवान् की सृष्टि-रचना का विचार हुआ और उन्होने अपने आप में से ही काल पुरुष की अवतारणा की जिसमे माया ने क्षोभ उत्पन्न किया और प्रकृति के सत्त्व, रजस्, तमस्, तीन गुण प्रादुर्भूत हुए . उन तीन गुणो से पचमहाभूत, पचतन्मात्रा, चार अन्त करण और दस प्राणो की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार २८ तत्त्वों का प्रादुर्भाव हुआ। तत्पश्चात् नारायण की नाभि से कमल और कमल से ब्रह्मा का उद्भव हुआ। ब्रह्मा ने १०० वर्ष पर्यन्त अतप किया, जिसके फलस्वरूप उन्हें हरि के दर्शन हुए, फिर उन्होने ब्रह्मा को सृष्टिरचना की आज्ञा दी और ब्रह्मा ने १४ लोक, वैकुण्ठ, पाताल की रचना होली के खेल के रूप में ही कर डाली। ब्रह्मा के दस पुत्र हुए, तव शतरूपा और स्वयभू का जन्म हुआ। भगवान् ने पृथ्वी की रक्षा के लिये वराह-अवतार धारण किया। कपिल रूप में साख्य-शास्त्र का प्रवचन देवहूति को किया ८ लोकपालो की उत्पत्ति की और ७ लोक, ९ खण्ड, ७ द्वीप, वन, उपवन, नदी, पर्वत, आदि का निर्माण किया। इसके पश्चात् ग्रन्थ में २४ अवतारो का वर्णन आता है, वीच-वीच में ध्रुव की कथा और हयग्रीव का वर्णन आ जाता है, हिरण्यकशिपु और प्रह्लाद की कथा भी आ जाती है। छन्द सख्या ३६० से कृष्णावतार को कथा प्रारम्भ होती है और कृष्ण से सम्वद्ध समस्त लीलाओ का उसमें समावेश है। छन्द सख्या ९३७ से ९६६ तक दृष्टिकूट पदो की सूची है और अन्त में लिखा है, "इति दृष्टिकूट सूचनिका सम्पूर्ण"। इसके वाद रासलीला का वर्णन है। इस लीला के आनन्द में विभोर कवि गुरु का स्मरण करता है, जिसकी कृपा से वह इस अनिर्वचनीय आनन्द का अधिकारी वना .

गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ वरस प्रवीन।
शिव विधान तप करेउ वहुत दिन तऊ पार नहिं लीन्ह ॥१००२॥

पद सख्या १०१३ से १०१७ तक में विविध राग-रागनियो के नाम गिनाये गये हैं। तत्पश्चात् वसन्त तथा होली के आनन्दोत्सवो का वर्णन है, जो १०८८ वें पद पर समाप्त होता है

"यह विधि क्रीडत गोकुल में हरि निज वृन्दावन धाम।
मधुवन और कुमुद-वन सुन्दर वहुलावन अभिराम ॥

नन्दग्राम सकेत खिदर-वन और काम वन-धाम।
लोह-वन माठ वेल-वन सुन्दर भद्र वृहद् वन-ग्राम ।।

इसके अनन्तर ६ पदो में कृष्ण-कथा के गायको, श्रोताओ और वक्ताओ के नाम गिनाये हैं। तत्पश्चात् युगल स्वरूप के उस महान् आनन्द का उल्लेख है, जिसमे विचरण करते हुए कोटि-कल्प भी एक निमेष सदृश व्यतीत हो जाते हैं—अन्त मे जिस प्रकार होली की ज्वाला में सब कुछ भस्मसात् हो जाता है, उसी प्रकार उस आनन्द की समाप्ति भी सकर्षण के वदन से उत्पन्न हुई अग्नि से हो जाती है। सूरदास जी सारे वेदान्त के तत्व का सकेत करते हुए हरिलीला को सर्वोपरि बताते है

कर्म-योग पुनि ज्ञान उपासन सब ही भ्रम भरमायो।
श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनायो लीला भेद बतायो ।।
ता दिन ते हरि-लीला गाई एक लक्ष्य पद वन्द।
ताको सार सूर-सारावलि गावत अति आनन्द ।।

अन्तिम ४ पदो मे सारावली के पाठ के माहात्म्य का निर्देश किया गया है।

सूर-सारावली से प्रकट हो जाता है कि यह ग्रन्थ न तो सूरसागर की भूमिका ही है और न उसका साराश ही। सूर के आलोचको ने इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता पर विचार किया है। डा० दीनदयालु गुप्त ने इस सम्बन्ध में लिखा है.

"चार छ शब्दो को पकड कर, जो सम्भवत अब तक के छपे सूरसागरो में नही मिलते, इस ग्रन्थ को सूरकृत न कहना उचित नही है, प्रक्षिप्त शब्द और वाक्य सूर के सभी ग्रन्थो में हो सकते हैं। इसलिए यह रचना लेखक के विचार से सूरकृत ही है।"[1]

'सूर-निर्णय' के लेखको ने 'सूर-सारावली' की प्रामाणिकता पर विस्तार-पूर्वक विचार किया है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं

"(१) कथावस्तु, भाव, भाषा, शैली और रचना के दृष्टिकोण के विचार से यह सारावली नि सन्देह सूरदास की प्रामाणिक रचना है। इसमें प्राप्त आत्मकथन और कवि छापो से भी इसकी पुष्टि होती है।

(२) सारावली की रचना वि० स० १६०२ मे हुई है।

(३) सारावली का आधार पुरुषोत्तम-सहस्रनाम है।

(४) सारावली का दृष्टिकोण सैद्धान्तिक रहा है।

(५) विक्रम-सवत् १६०२ पर्यन्त सूरदास ने श्रीमद्भागवत के द्वादश-स्कध के अतिरिक्त वल्लभ-सम्प्रदाय की नित्य और वर्षोत्सव की सेवा के जिन पदो को गाया था, उन्ही का यह सूचीपत्र अथवा सिद्धातात्मक सार है। सृष्टि-रचना के लिये उसकी प्रारम्भिक 'विशिष्ट प्रस्तावना' और 'होरी-खेल की कल्पना' इस सिद्धान्तात्मक दृष्टि की पुष्टि करती है।

(६) द्वादश-स्कन्धात्मक भागवत के सार-रूप से इस में प्रधानत. २४ अवतारो का वर्णन और नित्य एव उत्सव की सेवाओ के पदो के सार-रूप से 'सरस-सवत्सर-लीला' की भावनाओ का वर्णन है। इस प्रकार 'सारावली' में कथावस्तु' को दो भागो मे पृथक्-पृथक् बाँटना भी 'ताको सार सूर-सारावली' वाले कथन की पुष्टि करता है।"

इस प्रकार 'सारावली' सूरदास की एक स्वतन्त्र सैद्धान्तिक रचना है।[2]

---

१ "अष्ट छाप और वल्लभ सम्प्रदाय" पृष्ठ २६०

२ सूर निर्णय पृष्ठ १४२, १४३

आचार्य मुंशीराम जी 'सूर-सारावली' की प्रामाणिकता पर विश्वास करते है, परन्तु डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने अपने विस्तृत विवेचन मे इस ग्रन्थ को अप्रामाणिक माना है और अन्त में लिखा है -

"उपर्युक्त विवेचन के निष्कर्ष-स्वरूप यह निस्सकोच कहा जा सकता है कि कथावस्तु, भाव, भाषा, शैली और रचना के दृष्टिकोण के विचार से 'सूर-सारावली' सूरदास की प्रामाणिक रचना नही जान पडती है। तथाकथित आत्मकथन और कवि-छापो से भी यही सकेत मिलता है।"[1]

डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने अपने निष्कर्ष के विषय मे अनेक युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं।

वास्तव मे 'सूर-सारावली' सूरदास जी की ही रचना है। इसके नाम के कारण ही कुछ आलोचको को यह भ्रान्त धारणा हो गई है कि यह 'सूरसागर' की भूमिका अथवा साराश है। यदि सूक्ष्मता से अनुशीलन किया जाय तो यह प्रतीत होगा कि भागवत की कथा का निर्वाह 'सूरसागर' की अपेक्षा 'सुर-सारावली' मे अधिक सावधानी के साथ हुआ है। 'सूरसागर' के तो बहुत से प्रसगो का समावेश भी इस ग्रन्थ में नही है। भावात्मकता न होने के कारण 'सूरसारावली' की शैली में 'सूरसागर' की शैली से विभिन्नता आगई है। 'सूरसागर' को— विशेषत द्वादश स्कन्धात्मक स्वरूप को—श्रीमद्भागवत के आधार पर रचित माना गया है और जिस प्रकार 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' को 'भागवत-सारसमुच्चय' कहा गया है, उसी प्रकार 'सूर-सारावली' को सूरसागर-सार-समुच्चय कहा' जा सकता है। 'सूर-निर्णय' के लेखको ने इस पक्ष पर विचार करते हूए अपना तर्क सगत मत दिया है।

'सारावली' के विषय से ही यह स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ होली-गान के रूप में लिखा गया है। इसमे न तो कही 'सूरसागर' का ही उल्लेख है और न ही किसी ग्रन्थ के साराश होने का सकेत है। यह तो एक स्वतन्त्र रचना है और इस प्रकार की रचनाओ की भक्त-कवियो में परिपाटी भी रही है। गोस्वामी तुलसीदास जी की रामचरित-मानसेतर रचनाओ को यदि उनके 'मानस' के साथ रखकर सार अथवा साराश खोजने की मनोवृत्ति के चश्मे से देखा जाय तो उनमें से अनेक कृतियाँ 'मानस' के साररूप में दीख पडेंगी। कहने की आवश्यकता नही कि आलोचक की ऐसी दृष्टि से साहित्य-जगत् में अराजकता की सृष्टि ही होगी और अनेक कवि-कृतियाँ अप्रामाणिक सिद्ध हो जायेंगी। हम 'सूरसारावली' की प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे आचार्य मुंशीराम शर्मा के मत से सहमत हैं और उसे उन्ही के शब्दो मे उद्धृत करते है —

"अत हमारी समझ मे 'सारावली' एक 'वृहद्-होली' नाम का गीत है, जिसकी टेक है "खेलत यह विधि हरि होरी हो, हरि होरी हो वेद विदित यह बात।" इसी एक गीत की ११०७ कडियाँ हैं, जो 'सारावली' के छन्दो के रूप में प्रकट की गई हैं।"[2]

यदि हम 'सूर सारावली' को 'सूरसागर' की भूमिका या अनुक्रमणिका मानें तो यह भी मानना पडेगा कि यह 'सूरसागर' के पश्चात् लिखी गई होगी, जो हास्यास्पद ही प्रतीत होता है। वास्तविक बात तो यह है कि 'सूर-सारावली' सिद्धान्त रूप मे लिखा हुआ पृथक् शैली में एक पृथक् ग्रन्थ है। 'सूरसागर' की अनुक्रमणिका मानने का भ्रम 'एक लक्ष-पद-बन्द' वाले पद से भी हो जाता है किन्तु एक लक्ष पद-बन्द से एक अथवा सवा लाख पदो की कल्पना भी निराधार ही प्रतीत होती है। श्री प्रभुदयाल मीतल ने अपने 'अष्ट-छाप-परिचय' में एक लक्ष

१ सूरदास डा० ब्रजेश्वर वर्मा पृष्ठ १०५

२ सूर-सौरभ पृष्ठ ४८८

का अर्थ एक लाख न करके एक लक्ष भगवान् अर्थात् लक्ष-आश्रय-स्वरूप श्रीकृष्ण किया है।[1] मीतल जी के इस तर्क से हम सहमत नही है क्योकि इस पद के पूर्वापरसम्बन्ध से लक्ष शब्द सख्या-वाचक ही प्रतीत होता है, अतएव हमारी समझ मे इस पद का निर्वाह दो प्रकार से हो सकता है

१—'लक्ष-पद-वन्द' मे लक्ष शब्द तो सख्या-वाचक है ही परन्तु 'वन्द' शब्द प्रत्येक पक्ति का सूचक है। इस प्रकार एक लाख पक्तियाँ दस सहस्र पदो से भी कम मे आ सकती है और ६७ वर्ष की अवस्था तक उन्होने अवश्य इतने पदो की रचना करली होगी। कवि की भावी पद-निर्माण-योजना का भी यह सूचक हो सकता है।

२—सम्भव है यह पद प्रक्षिप्त हो और बाद मे ही किसी ने जोड दिया हो

"सूर-सारावली' के विषय-वर्णन, शैली, भाव और कवि-छापो को देखकर निश्चय सा हो जाता है कि इसके रचयिता हमारे अष्टछापी कवि सूरदास ही है। कथा के वैषम्य, शैली की विभिन्नता और विषयान्तरता को देखकर अन्य कवि की कल्पना युक्तिसगत नही जान पडती। श्रीमद्-भागवत मे भी सृष्टि-क्रम कई प्रकार से बताया गया है और स्थान-स्थान पर विषयान्तरता भी दृष्टिगोचर होती है। पर श्रीमद्भागवत निश्चयरूप से एक ही व्यक्ति की रचना है। यो तो यदि हम 'सूरसागर' के प्रामाणिक पदो को भी तर्क-पूर्ण आलोचना की कसौटी पर कसने लगें तो पक्ष और विपक्ष मे बहुत कुछ कहा सुना जा सकता है। अतएव 'सूर-सारावली' को सूर-रचित ही मानना न्याय-सगत होगा। सूरदास के पदो की रचना का क्रम उनके जीवन के अन्तिम क्षणो तक चलता रहा। सभव है ६७ वर्ष की अवस्था तक उन्होने जितने पदो की रचना की हो, उनके साररूप में 'सूर-सारावली' की रचना हुई हो। कुछ आलोचक 'सूरसागर' के अन्त में युगल-उपासना के पदो को देखकर कहते है कि महाप्रभु वल्लभाचार्य ने युगल-रूप की उपासना का विशेष प्रचार नही किया था, इसलिए यह ग्रन्थ सूर-कृत नही हो सकता, किन्तु यह युक्ति भी असङ्गत है क्योकि प्रथम तो यह कहना ही अयुक्त है कि वल्लभाचार्य जी युगल-मूर्ति के उपासक नही थे। दूसरे यदि इस युक्ति को स्वीकार कर भी लिया जाय तो 'सूर-सरावली' की रचना तो उनकी (आचार्य वल्लभ की) मृत्यु से लगभग १५ वर्ष पश्चात् हुई थी, जबकि पुष्टि-सम्प्रदाय में सेवा के मण्डान की पूर्ण प्रक्रिया प्रारम्भ हो चुकी थी। इसलिये 'सूर-सारावली' की प्रमाणिकता मे सन्देह के लिये कोई स्थान है ही नही।

सूरसारावली की कोई हस्तलिखित प्रति अभी तक प्राप्त नही हो सकी है परन्तु बा० राधाकृष्णदास ने 'सूरसागर' के प्रारम्भ में उसको सबसे पहले छपवाया था। 'सूरसागर' का विभिन्न प्रतियो के विषय मे हम आगे लिखेगे। 'सारावली' के दो पदो को काल-परिमाण-सूचक मान कर उनके आधार पर आधुनिक आलोचको ने अपनी कल्पनाएँ प्रस्तुत की है। वे दो पद ये हे

गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन।
शिव-विधान-तप करेउँ बहुत विधि तऊ पार नहिं लीन्ह ॥ पद स० १००२

तथा

सरस सम्वत्सर लीला गावै युगल-चरन चितलावै।
गर्भवास बन्दीखाने मे 'सूर' बहुरि नही आवै ॥ पद स० ११०७

आचार्य मुशीराम शर्मा ने उक्त दोनो पदो का समन्वय कर सरसठ वर्ष की आयु मे सूर का सम्प्रदाय-प्रवेश मानकर उस वर्ष को 'सरस सवत्सर' की कल्पना के आधार पर

१ अष्ट-छाप परिचय (प्रभुदयाल मीतल) पृष्ठ १४२

सम्वत् १५८१ माना है और उसी के हिसाब से उसमे से ६७ निकाल कर सूर का जन्म सम्वत् १५१५ के लगभग माना है।

शर्मा जी की यह कल्पना साम्प्रदायिक-साहित्य के उल्लेखो तथा ऐतिहासिक विवरणो के प्रतिकूल पडती है, अत इसके मूल में कोरी कल्पना ही प्रतीत होती है। वास्तव मे इन पदो का अपना विशेष महत्व है। एक ओर तो ये सूर की जन्म-तिथि के निश्चय करने में सहायक होते हैं और दूसरी ओर साम्प्रदायिक-विवेचन की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण सिद्ध होते हैं। हम पहले कह आये हैं कि अष्टछाप की स्थापना गोस्वामी विट्ठलनाथ जी द्वारा सम्वत् १६०२ में हुई थी। इसी वर्ष गोस्वामी जी ने सम्प्रदाय की सेवा-प्रणाली को व्यवस्थित एव विस्तृत रूप दिया था। श्री वल्लभाचार्य जी के ज्येष्ठ पुत्र गोपीनाथ जी के निधन के उपरान्त विट्ठलनाथ जी ने व्रज-यात्रा प्रारम्भ की और सम्वत् १६०२ में उन्होंने अष्टछाप की नीवें डाली। वार्त्ता-साहित्य से ज्ञात होता है कि सूरदास जी गोस्वामी विट्ठलनाथ जी को श्रीकृष्ण का ही स्वरूप मानते थे और उनके प्रति ऐसी ही निष्ठा, भक्ति एव श्रद्धा रखते थे। अपने अन्त समय में "भरोसो दृढ इन चरनन केरो" वाले पद में सूर ने गो० विट्ठलनाथ जी के प्रति अपनी परम भक्ति को प्रकट किया है। हो सकता है कि ६७ वर्ष की अवस्था में स० १६०२ में जो दर्शनवाली बात उन्होंने कही थी, वह भी गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के प्रति हो। इस बात की पुष्टि उनके सेवा फलवाले "सेवा की यह अद्भुत रीति, श्री विट्ठलेश सो राखैं प्रीति" वाले पद से भी हो जाती है।

'सरस सम्वत्सर' वाले पद से काल-निर्णायक किसी विशेष सवत्सर की कल्पना भी असङ्गत ही प्रतीत होती है। हम आगे बतावेंगे[1] कि किस प्रकार पुष्टि-मार्गीय सेवा-प्रणाली के अनुसार वर्षोत्सवो का क्रम रखा गया है और तदनुकूल भावनाओ का समावेश किया गया है। रसिकेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की नित्य-लीलाओ का बडे विस्तार के साथ सम्प्रदाय में समावेश हुआ और यह सब कार्य श्री गोस्वामी विट्ठलनाथ जा ने ही किया था। सेवा का यह अद्भुत प्रकार सम्वत् १६०२ से सम्प्रदाय में प्रचलित हुआ और इसी सेवा-प्रणाली के आधार पर वर्ष भर की लीलाओ को दृष्टि में रखते हुए 'सरस सम्वत्सर' नामकरण किया गया। अतएव 'सरस सम्वत्सर' का अभिप्राय वर्ष भर की लीलाओ से है। सवत् १६१२ के पूर्व इस प्रकार की कोई सेवा-प्रणाली प्रचलित नही थी। इस सेवा का क्रम जन्माष्टमी से प्रारम्भ होता है, इसलिये सूर ने भी जन्माष्टमी से ही वर्णन प्रारम्भ किया है। सूर सारावली के वर्णन में वर्षोत्सव की सभी भावनाओ का क्रम लक्षित किया जा सकता है। अत. हम 'सूर-निर्णय' के इस कथन से पूर्णतया सहमत हैं कि—'सरसठ वरस प्रवीन' और 'सरस-सवतसर लीला' दोनो कथन ऐतिह्य दृष्टि से एक दूसरे के सापेक्ष हैं और सरस सवत्सर लीला वाले कथन को स्पष्ट करने से सरसठ वरस प्रवीन वाला पद अपने आप स्पष्ट हो जाता है।

साहित्य-लहरी

यह ग्रन्थ सूरदास जी के उन पदो का संग्रह है, जिनको दृष्टिकूट कहा जाता है और जो रस, अलङ्कार और नायिका-भेद वाली रचना-शैली से सम्बद्ध है। इसमें ११८ पद हैं। पद-सख्या १०६-११८ में विशेष प्रकार के ऐतिहासिक सकेत हैं। इस ग्रन्थ की कोई प्राचीन हस्तलिखित प्रति तो नहीं मिलती, किन्तु नागरी-प्रचारिणी-सभा की रिपोर्ट में सूरदास जी के 'दृष्टिकूट सटीक' तथा 'सूरशतक' नाम की रचनाओ का उल्लेख है। इस ग्रन्थ की दो टीकाएँ भी प्रकाशित हो चुकी हैं। नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से 'सरदार' कवि की टीका दो भागो

[1] सूर सौरभ पृष्ठ ७२

मे प्रकाशित हो चुकी है. जिसके प्रथम भाग मे ११८ तथा दूसरे मे ६३ पद हैं। इस ग्रन्थ का नाम 'श्री सूरदास के दृष्टिकूट सटीक' है और इसके अन्त मे लिखा है "इति श्री सुकवि सरदार कृता साहित्य-लहरी समाप्ता।"[१] इस ग्रन्थ की दूसरी टीका 'खड्ग विलास' प्रेस, वांकीपुर से प्रकाशित हुई, जिसके सग्रह कर्त्ता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा प्रकाशक श्री वाबू रामदीनसिंह हैं। इन दोनो ही टीकाओ के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सरदार कवि से पहले भी 'दृष्टिकूट पदो' पर कोई टीका थी, सरदार कवि ने अपनी ओर से भी कुछ नवीन अर्थ किये तथा साथ ही साथ कुछ दृष्टिकूट पदो को भी बढाया है। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि 'साहित्य-लहरी' एक स्वतन्त्र रचना है अथवा 'सूरसागर' में आये हुए दृष्टिकूट पदो का सकलन मात्र ? अब तक 'सूरसागर' की जितनी प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं, उनमें 'साहित्य-लहरी' के कुछ पदो को छोडकर सभी पद नही मिलते। हाँ, इतनी वात अवश्य है कि सूरसागर' में इस प्रकार के कुछ पद अवश्य हैं, जो 'साहित्य-लहरी' के दृष्टि-कूट पदो से विषय और शैली का साम्य रखते हैं। सुकवि 'सरदार' की टीका से विदित होता है कि उन्होने जिस टीका का आश्रय लिया था, उसमे पदो की सख्या कुछ कम थी और वे 'सूर के दृष्टि-कूट' पदो के नाम से प्रचलित थे। सूरदास जी की 'सूरशतक' नाम की कृति में भी प्राय वे ही पद हैं, जो 'साहित्य-लहरी' मे सगृहीत हैं। विद्या-विभाग, कांकरोली मे 'सूर-शतक' की एक प्रति मौजूद है तथा नागरी प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्ट मे भी इसका उल्लेख हुआ है। कांकरोली-विद्या-विभाग में सूरदास जी के दृष्टिकूट पदो की अन्य दो टीकाएँ हैं। उन सव वातो से ऐसा प्रतीत होता है कि सूरदास जी ने दृष्टिकूट-पदो की रचना स्वतन्त्र रूप से ही की थी और सम्भवत. उनका सकलन उनके जीवन काल मे ही हो गया था किन्तु इतना अवश्य है कि 'साहित्य-लहरी' का जो रूप इस समय है, उसमे कुछ पद प्रक्षिप्त अवश्य हे। इस ग्रन्थ के अधिकाश पदो में नायिका भेद, अलङ्कार आदि का विवेचन है। पहले १०४ पदो में तो उनके वर्ण्यविषयों का भी उल्लेख है तथा आगे के पदो में कही स्पष्ट तथा कही अस्पष्ट रूप में काव्याङ्गो का विवेचन होते हुए भी भक्ति-भावना का परमोत्कर्ष लक्षित होता है। 'साहित्य-लहरी' की प्रामाणिकता भी सूर के आधुनिक आलोचको का प्रमुख आलोच्य-विषय रहा है और डा० व्रजेश्वर वर्मा के अतिरिक्त सभी ने इसे सूरदास जी की प्रामाणिक रचना ठहराया है। इस विषय पर विचार करते हुए डा० दीनदयालु गुप्त लिखते हैं

"साहित्य-लहरी सूरदास के दृष्टिकूट पदो का ग्रन्थ है, जिसका सकलन सूर के ही जीवन-काल में हो गया था। इसकी रचना के वाद भी सूर ने सूरसागर' में दृष्टिकूट पद लिखे और उनको छाँट कर लोगो ने वाद को मूल 'साहित्य लहरी' मे मिला दिया। यह ग्रन्थ यद्यपि 'सूरसागर' का अश कहा जा सकता है फिर भी एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है, जो अपनी निजी विशेषतायें रखता है।"[२]

डा० गुप्त ने ११ वें पद को प्रक्षिप्त माना है और यहाँ तक कहा है कि सम्भवत १०९ वें पद के अनन्तर सभी पदो का समावेश 'साहित्य-लहरी' मे वाद को हुआ है।

आचार्य मुशीराम शर्मा 'सोम' ने साहित्य-लहरी' को समग्रत प्रामाणिक मानकर ११८ वें पद के आधार पर अनेक कल्पनायें कर डाली हैं, जिनका उल्लेख हम पहले अध्याय में कर आये हैं। वास्तव में अव 'साहित्य-लहरी' के ११८ वें पद की अप्रामाणिकता सर्वविदित हो चुकी है, अत उसकी अप्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए युक्तियो का उद्धरण करना

१ श्री सूरदास के दृष्टिकूट 'सटीक' नवल किशोर प्रेस सं० १९०४ वि०

२ अष्ट छाप और वल्लभ सप्रदाय—भाग १ पृष्ठ २९४

पुनरुक्ति अथवा पिष्टपेषण होगा। हाँ, पद स० १०६ अवश्य विचारणीय है, जो इस प्रकार है—

मुनि पुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरीनन्द का लिखि सुबल सवत् पेख॥
नन्द-नन्दन मास छै ते हीन तृतिया वार।
नन्द-नन्दन जनम ते हैं बान सुख-आगार॥
तृतीय ऋक्ष सुकर्म जोग विचारि सूर नवीन
नन्द-नन्दन-दास-हित साहित्य लहरी कीन॥

इस पद में 'साहित्य-लहरी' के रचना-काल की ओर सकेत किया गया है। इसमें दो बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं १—रचना काल, २—नन्द-नन्दनदास-हित। इन दोनो ही विषयो में विद्वानो में मत-भेद है। रसन का अर्थ आचार्य मुशीराम शर्मा ने रसना के व्यापारो के आधार पर दो मानकर 'साहित्य-लहरी' का रचना-काल सं० १६२७ माना है किन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'पुनि' के स्थान पर सुनि (शून्य) मानकर सं० १६०७ निर्धारित किया है। कुछ आचार्यो ने 'रसन' का अर्थ 'एक' (१) मानकर स० १६१७ की कल्पना की है। डा० व्रजेश्वर वर्मा ने लिखा है, 'इस पद से एक और सख्या निकाली जा सकती है, यथा—मुनि=७ पुनि (पुन) मुनि=७, रसन के रस=६ दशन गौरी नन्दन को=१=१६७७", इस की पुष्टि में वे आगे लिखते हैं.

यदि सूरदास के समय से इसे मिलाने का आग्रह न हो तो यह सख्या अर्थ-नुकरता के अधिक निकट है क्योकि इसमें न तो 'पुनि' को छोटा गया है और न 'रसन के रस' को खण्डित किया गया है। ऐसा मानने से स्वत 'साहित्य-लहरी' सूर की रचना नहीं ठहरती; परन्तु 'साहित्य-लहरी' का रचना-काल स० १६०७ जितना प्राचीन भी नही माना जा सकता।"[1]

हमारी सम्मति में इसमें सम्वत १६०७ का ही उल्लेख है क्योकि 'सुनि' का हस्त लेख में 'पुनि' पढा जाना असम्भव नही। 'रसन के रस लेख' में तो भ्रान्ति के लिए स्थान ही नहीं, स्पष्ट ही लेखक को रसन के अर्थात् रसना के रस जो ६ होते हैं, अभीष्ट हैं। यहाँ 'रसन' शब्द का प्रयोग काव्य के ९ रसो की व्यावृत्ति के प्रयोजन से ही किया गया है। इस प्रकार 'साहित्य-लहरी' का रचना-काल इस पद के द्वारा सम्वत् १६०७ ही द्योतित होता है। नन्द-नन्दनदास के भी दो अर्थ किये गये हैं—नन्दनदास-नन्द अर्थात् कृष्णदास अथवा स्वय नन्ददास। यहाँ 'नन्ददास' अर्थ ही उपयुक्त प्रतीत होता है। 'कृष्णदास' की कल्पना करने वालो ने भी सामान्यत. कृष्ण-भक्त तथा नन्ददास के पुत्र कृष्णदास को ही स्वीकार किया है तथा इस मान्यता की पुष्टि आख्यायिका और वार्ता से की है। जब नन्ददास जी वल्लभ-सम्प्रदाय मे प्रविष्ट हुए, तब सूरदास जी ने उन्हे नन्द नन्दनदास कहा था। 'भाव-प्रकाश' वाली वार्त्ता का आश्रय लेकर श्री द्वारका'दास परीख तथा प्रभुदयाल मीतल ने यह भी सिद्ध किया है कि जब नन्ददास ने 'पुष्टि-मार्ग' में प्रवेश किया तब सर्वप्रथम वे सूरदास की संगति में ६ मास तक चन्द्र-सरोवर पर रहे थे, और वह सवत् १६०७ के लगभग ही ठहरता है। नन्ददास ने स्वय भी इस प्रकार के काव्याङ्गो का विवेचन करने वाले ग्रन्थो की रचना की थी। वास्तव में हिन्दी-साहित्य में रीति काव्य-प्रवाह के मूल स्रोत को प्रवृत्त करने वाले सर्वप्रथम कवि ये ही हैं क्योंकि कृपाराम की 'हित-तरगिणी' का रचना-काल सदिग्ध है।

---

१ 'सूरदास' डा० व्रजेश्वर वर्मा पृष्ठ १०१

सूर की रचना (साहित्य-लहरी) के आधार पर उनकी भक्ति भावना को शृङ्गार के कर्दम से लाञ्छित और दूषित भी अनेक आलोचकों ने ठहराया है। केवल इस ग्रन्थ मे ही नही, 'सूरसागर' में भी शृङ्गार के उन्मुक्त वर्णनों के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं किन्तु इस आधार पर भक्त शिरोमणि महाकवि सूरदास की रचना मे भौतिक वासनाओं का आरोप उनके पवित्र-हृदय में छिद्रान्वेषण की चेष्टा करना ही कहा जायगा क्योंकि अपनी पवित्र भावना के बल पर सांसारिकता के धरातल से बहुत ऊंचे उठे हुए सूर ने अपने आराध्य की अनेक प्रणय-पूर्ण लीलाओं के मधुर गान का जो स्वर उठाया है, उसमे सरसता है किन्तु कर्दम नही, विह्वलता है किन्तु वासना नहीं, सौंदर्य रस-पान की आकुल पिपासा है किन्तु ऐंद्रिय लोलुपता नही। वाष्प की तरलता है किन्तु दृढता के साथ, मुस्कान की मादकता है किन्तु चेतनता के साथ, अनुभूतियों की चपलता है किन्तु स्थिरता के साथ। कहाँ तक कहे, लौकिकता है परन्तु अलौकिकता के साथ। चैतन्य सम्प्रदाय की भांति पुष्टि सम्प्रदाय के भक्तों ने भी भक्ति को रस मान कर अनेक प्रकार से नायक-नायिकाओं का वर्णन किया है। इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं :—

१—यह पद सूर-रचित न हो किन्तु बाद में किसी ने उनके 'दृष्टि-कूट' पदो में जोड दिया हो क्योंकि इस प्रकार की पद-प्रक्षेप-प्रणाली सरदार कवि की टीका से भी सिद्ध होती है। इतना तो मानना ही पडेगा कि इस पद के पश्चात् आये हुए 'साहित्य-लहरी' के पद अवश्य ही बाद के जुडे हुए हैं। इस पद को प्रक्षिप्त मानने के पक्ष में यह युक्ति भी प्रस्तुत की जा सकती है कि सूरदास ने अपनी रचनाओं में कहीं भी काल-सकेत नही किया है, केवल 'सूर-सारावली' में ६७ वर्ष की आयु का उल्लेख है। इसलिए अन्य युक्तियुक्त प्रमाणों के अभाव में हम इस पद को सूर-कृत मानने के लोभ को सवरण नही कर सकते।

२—यह पद सूर-कृत है और उन्होने नन्ददास के लिये इन दृष्टि-कूट पदो की रचना की, इसका उद्देश्य उनकी उद्दामवासना को श्री कृष्णार्पण कराना था। एक तीसरा कल्पना यह भी की जा सकती है कि सूरदास के दृष्टिकूट पदो की व्याख्या किसी विद्वान् ने 'साहित्य-लहरी' के नाम से भक्तों के हित के हेतु बाद में की हो किन्तु इस कल्पना को स्वीकार करने पर इस पद द्वारा प्रतिपादित समय की व्याख्या का स्वरूप बदलना पडेगा।

सूरसागर

सूरसागर सूरदास जी की महत्वपूर्ण प्रामाणिक रचना है। बहुत सभव है सूर के जीवन-काल में ही उसका किसी न किसी रूप मे सकलन हो गया हो। हम पहले लिख चुके हैं कि गोकुलनाथ जी कृत सूरदास की वार्त्ता मे इस बात का सकेत है कि सूर ने सहस्रावधि पदो की रचना की, जिनका सागर सारे ससार मे प्रसिद्ध हुआ। हरिराय जी ने अपने 'भाव प्रकाश' में इसकी पुष्टि की है कि इस ग्रन्थ मे ज्ञान-वैराग्य के पृथक्-पृथक् भक्ति-भेद, अनेक भगवद् अवतार और उन सब की लीला का वर्णन है। 'सूरदास जी की वार्त्ता' (प्रसग ४) में यह भी उल्लेख है कि अकबर बादशाह ने सूरदास के पदो का सकलन कराया था। इस प्रकार वार्त्ता-साहित्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सूरदास जी के कीर्तन-पदो का सग्रह उनके समय में ही हो चुका था परन्तु उनके समय की कोई प्रति अब उपलब्ध नही है। 'सूरसागर' की अनेक प्रतियाँ हमारे देखने में आई हैं। मथुरा-निवासी प० जवाहरलाल चतुर्वेदी ने पोद्दार-अभिनन्दन-ग्रन्थ' में अपने एक लेख में 'सूरसागर' की प्रतियो का विवरण दिया है, जिसे हम नीचे उद्धृत करते हैं

हस्तलिखित

जिन प्रतियो के स्थान का कोई पता नही चलता—

१—सूरसागर स० १७३५ की प्रति।

२—सूरसागर स० १८१६ की प्रति।[1]

जिन प्रतियो का उल्लेख बाबू राधाकृष्णदास ने किया है, वे ये हैं—

१—सूरसार (प्रथम-स्कघ से नवम स्कन्ध तक), प्रा० स्था० खड्ग विलास प्रेस, पटना।

२—सूरसागर (दशम-स्कन्ध पूर्वार्द्ध) भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र पुस्तकालय काशी।

३—सूरसागर (दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध से द्वादश स्कन्ध तक) काशी राज्य—रामनगर की प्रति।

मिश्रबन्धुओ द्वारा उल्लिखित।

१—सूरसागर (पद सख्या १२ हजार) खत्री मुहल्ला लखनऊ, अहमदाबाद (गुजरात)

२—सूरसागर (सग्रहात्मक) प्रा० प० केशवराम काशीराम शास्त्री, गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी, भद्रकाली।

अलीगढ (याज्ञिक पुस्तकालय)—

१—सूरसागर प्रथम स्कन्ध न० २६७/२६

२—सूरसागर (सपूर्ण) न० २६६/५४ स० १८५४ की प्रति[2]।

३—सूरसागर (अपूर्ण) न० ३७५/२६।

४—सूरसागर (अपूर्ण) न० ४०१/२६ स० १६०० की प्रति।

५—सूरसागर (अपूर्ण) न० ४०२/२६ स० १६०० की प्रति।

६—सूरसागर (दशम अपूर्ण) न० ८१३/२६।

उज्जैन (मध्य भारत)—

१—सूरसागर, प्रा०—ओरियटल मैन्यूस्क्रिप्ट लायब्रेरी, उज्जैन।

उदयपुर (मेवाड) सरस्वती भण्डार—

१—सूरसागर (सम्पूर्ण सग्रहात्मक) स० १६६७ की प्रति।

२—सूरसागर (सम्पूर्ण सग्रहात्मक) स० १७६३ की प्रति।

३—सूरसागर (सम्पूर्ण सग्रहात्मक)।

अन्य—

१—सूर पदावली (सक्षिप्त) स० १७६० की प्रति।

२—सूर सारावली (सक्षिप्त) अन्तिम पद "ब्रज ते पावस पै न गई।"

कलकत्ता—

१—पूर्णचन्द नाहर।

सूरसागर (पूर्ण द्वादश स्कन्धात्मक)

२—हनुमान प्रसाद पोद्दार—"फर्म ताराचन्द घनश्यामदास"

सूरसागर (पूर्ण द्वादश-स्कन्धात्मक) स० १८६६ की प्रति।

कॉकरौली[3] (मेवाड) 'सरस्वती भण्डार'—

१—सूरसागर (पूर्ण सग्रात्मक) बन्ध स० १

---

१ खोज रिपोर्ट सन् १६०६

२ ये पुस्तकें अब नागरी प्रचारिणी सभा काशी में आ गई है।

३ यहाँ ब्रज-भाषा-साहित्य की हस्त लिखित पुस्तकों का बड़ा भारी और सुन्दर सग्रह है।

२—सूरसागर (पूर्ण सग्राहत्मक) वन्च स० ७ पुस्तक स० ५
३—सूरसागर (पूर्ण सग्राहत्मक) वन्च स० २ । ४६ पुस्तक रा० ५
४—सूरसागर (पूर्ण सग्राहत्मक , वन्च सं० ४७ पुस्तक स० ५
५—सूरसागर (पूर्ण सग्रहात्मक) वन्च स० ६६ पुस्तक स० १
५—सूरसागर (पूर्ण सग्रहात्मक) वन्ध स० ८१ पुस्तक स० ५ ।
७—सूरसागर (पूर्ण सग्रहात्मक) स० १६१२ की प्रति
८—सूरसागर (दशम स्कन्ध) वन्च स० ४६ पुस्तक स० ५
६—सूरसागर के पद (स्फुट) वन्च स० १०४ पुस्तक स० ३
१०—सूरदास के पद (स्फुट) वन्च स० २५ पुस्तक स० ४

कामवन (भरतपुर) "देवकीनन्दनाचार्य-पुस्तकालय"[1]

सूरसागर (पूर्ण सग्रहात्मक)

कालाकाँकर (अवध) राज्य-पुस्तकालय—

सूरसागर (पूर्ण द्वादश स्कन्धात्मक) स० १८८६ की प्रति ।

काशी "नागरी प्रचारिणी सभा"—

१—'सूरसागर' (पूर्ण-द्वादश-स्कन्धात्मक) स० १८८० की प्रति ।
२—'सूरसागर' (पूर्ण द्वादश-स्कन्धात्मक) स० १६०६ की प्रति सूवा साहिव वाली ।
३—सूरसागर (पूर्ण, द्वादश-स्कन्धामक) स० १६१६ की प्रनि ।
४—सूरसागर (पूर्ण द्वादश-स्कन्धात्मक)
५—सूरसागर (पूर्ण द्वादश-स्कन्धात्मक) वा० श्यामसुन्दर दास वाली प्रति ।

अन्य—

१—शाह केशवदास 'रईस' काशी—
सूरसागर (पूर्ण, द्वादश-स्कन्धात्मक) स० १७५३ की प्रति ।
२—जानीमल 'खजाञ्ची' काशी[2]
३—'रायकृष्णदास' काशी—
सूरसागर (पूर्ण द्वादश-स्कन्धात्मक) स० १६२६ की प्रति ।
४—गोकुलदास 'रईस'
सूरसागर (पूर्ण, द्वादश-स्कन्धात्मक)
५—प० रघुनाथ राम, गायघाट काशी[3]
सूरसागर (पूर्ण द्वादश-स्कन्धात्मक)
६—ला० रामरत्न 'छागरा' सगरा वाला, २४/२ लक्कड गली, काशी सूरसागर (पूर्ण, द्वादश स्कन्धात्मक)
७—काशीराज-राज्य-पुस्तकालय, 'सरस्वती भण्डार', रामनगर (काशी)—
सूरसागर (पूर्ण, दो खण्डो मे, द्वादश स्कन्धात्मक)

---

१ कामवन के देवकी नन्दन पुस्तकालय मे श्री सूरकृत 'गोवर्धन लीला' तथा प्रान-प्यारी (स्याम सगाई) भी है ।

२ वा० राधा कृष्णदास ने स्वसम्पादित तथा 'वेंकटेश्वर प्रेस' बम्बई से मुद्रित सूरसागर की भूमिका मे इसका नाम जानीमल खानचन्द लिखा है । दे०—वेंकटेश्वर प्रेस की प्रति सम्वत् १६५३ का सस्करण ।

३ यह प्रति बहुत सुन्दर तथा शुद्ध पाठ युक्त है, सभा ने अपना 'सूरसागर' सम्पादित कराते समय इसका प्रयोग नहीं किया है ।

किशनगढ (राजपूताना), राज्यपुस्तकालय, 'सरस्वती-भण्डार' सूरसागर (पूर्ण सग्रहात्मक)

कुचामन (राजपूताना) राज्य-पुस्तक-भण्डार—
सूरसागर (पूर्ण, सग्रहात्मक स० १६७५ की प्रति)

कोटा (राजपूताना) राज्य-पुस्तकालय 'सरस्वती-भण्डार'
१—सूरसागर (पूर्ण, सग्रहात्मक) स० १६७० की प्रति
२—सूरसागर (पूर्ण-सग्रहात्मक)
खोज-रिपोर्ट[1] (रिसर्च) के अनुसार

१—खोज रिपोर्ट सन् १६०१—४ तथा ६, (उत्तर प्रदेश द्वारा प्रकाशित)—
(क) 'सूरसागर' स० १७६२ की प्रति ।
(ख) 'सूरसागर' स० १८५३ की प्रति
(ग) 'सूरसागर' सं० १८६६ की प्रति ।
(घ) 'सूरसागर' स० १८७३ की प्रति ।

२—खोज-रिपोर्ट सन् १६०६-१० तथा ११ पृष्ठ ७-८
सूरसागर

३—खोज-रिपोर्ट सन् १६०२—
'सूरसागर के पद' (स्फुट)

४—खोज-रिपोर्ट सन् १६०६-७-८
'सूरसागर' (पूर्ण, सग्रहात्मक) स० १६६७ की प्रति

छतरपुर (बुन्देलखण्ड)—राज्य-पुस्तकालय
सूरसागर (पूर्ण, सग्रहात्मक)

जयपुर (राजपूताना) राज्य-पुस्तकालय
सूरसागर । (पूर्ण, दो खण्डो में, सग्रहात्मक) स० १८५४ की प्रति

अन्य-स्थान—गिरधारी जी का मन्दिर, जयपुर,
सूरसागर (सग्रहात्मक)

जामनगर[2] (सौराष्ट्र), "वडी हवेली" (मन्दिर)
सूरसागर (सग्रहात्मक)

जूनागढ[3] (सौराष्ट्र), 'वडी हवेली" (मन्दिर)
सूरसागर (सग्रहात्मक)

जौनपुर (उत्तर प्रदेश) प० गणेशविहारी मिश्र (मिश्रबन्धु) के पास लखनऊ—
सूरसागर (पूर्ण, द्वादश स्कन्धात्मक) सं० १८५४ की प्रति ।

---

१ खोज-रिपोर्ट के अनुसार इन सूरसागरों का ठीक-ठीक पता प्राप्त न होने से सम्पादन में किसी ने इनका उपयोग नहीं किया है। इन खोज-रिपोर्टो में पद-संग्रह (खोज-रिपोर्ट सन् १६०२ तथा १६०६) श्री वल्लभाचार्य जी के 'उत्सव पद' (खो० रि० सन् १६०२), 'कीर्तन-पद' (खो० रि० सन् १६०६) तथा इसी प्रकार 'ख्याल-टप्पा' (खो० रि० सन् १६०२) आदि संग्रह-ग्रन्थों में सूर के बहुत से पद संगृहीत हैं।

२, ३ जामनगर और जूनागढ (सौराष्ट्र) की इन हवेलियों में हिन्दी (ब्रज-भाषा) साहित्य का बहुत कुछ भण्डार है, जो दर्शनीय है।

झालरापाटन (राजपूताना) राज्य-पुस्तकालय—

१—सूरसागर (पूर्ण सग्रहात्मक) स० १६७८ की प्रति ।

२—'सूरजी के पद' (स्फुट सग्रह)

दरियावाद (लखनऊ) रायराजेश्वर वली सिंह पुस्तकालय—

सूरसागर (पूर्ण, द्वादश-स्कन्धात्मक), स० १८८२ की प्रति, लिपि 'फारसी' ।

दतिया (बुन्देलखण्ड) राज्य-पुस्तकालय—

१—सूरसागर (पूर्ण सग्रहात्मक) स० १८०९ की प्रति

२—सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक)

दिल्ली प्रो० नगेन्द्र द्वारा प्राप्त—

सूरसागर (पूर्ण, द्वादश-स्कन्धात्मक) स० १८७७ की प्रति ।

नाथद्वारा[१] (मेवाड) 'सरस्वती भण्डार', 'श्रीनाथ जी का मन्दिर'—

सूरसागर (पुर्ण, सग्रहात्मक) स० १६५८ की प्रति

पुवायाँ (शाहजहाँपुर, उत्तर प्रदेश) प० 'लालमणि पुस्तकालय'

'सूरदास' (पूर्ण, तीन खण्डो मे, द्वादशस्कन्धात्मक)

पूना—दक्खिन कालेज पुस्तकालय—

सूर-पदावली (स्फुट)

प्रयाग -

१—म्यूनिसिपल म्यूजियम (अजायवघर)—

१—सूरसागर (केवल दान के पद) व० स० २१८, पु० स० ६५ ।

२—सूरसागर (रास के पद) व० स० २१६, पु० स० ७४ ।

३—सूरसागर अपूर्ण, (पद-सख्या २०११) व० स० २१६, पु० स० ८८ ।

४—सूरसागर अपूर्ण, (पद सख्या २५१९) व० स० २१३, पु० स० १७, स० १७४३ की प्रति ।

५—सूरदास के पद (छोटा सग्रह) व० स० २०८ पु० स० ५ ।

६—सूर पदावली (खडित प्रति) व० स० २१७, पु० स० १३३ ।

७—सूरदास-भजनावली (नई प्रति) व० स० १८६, पु० स० ३५ ।

८—सूर-तुलसी भजनावली (सग्रह) व० स० २१९, पु० स० २०१ ।

२ बिहारी जी का मन्दिर (निम्वार्क-पुस्तकालय) महाजनी टोला—

सूरसागर (सग्रहात्मक, खण्डित प्रति)

३—हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन—

१—सूरसागर (पूर्ण, सग्रहात्मक) व० स० २१९, पु० स० ४७, स० १८५० की प्रति ।

२—सूरसागर (पूर्ण, सग्रहात्मक) व० स० २१९, पु० स० ३, स० १८३९ की प्रति ।

३—सूरसागर के पद (संग्रह) व० स० १४९, पु० स० २०८ ।

४—सूरदास के पद सग्रह, (फारसी लिपि) पु० स० ८९१ ।

५—सूरदास के भजन सग्रह, (लिपि फारसी) पु० स० ८५५ ।

---

१ 'नाथद्वारा' के 'सरस्वती-भण्डार' में हिन्दी (व्रज-भाषा) साहित्य का अतुल भण्डार है, जो अभी तक देखने में नहीं आया है। यहाँ के पुराने अध्यक्ष स्व० श्री रामनाथ जी देवर्षि द्वारा सूरसागर की एक ही प्रति का उल्लेख आया है। वैसे यहाँ सूरसागर की बहुत सी प्रतियाँ हैं।

वम्वई वेंकटेश्वर प्रेस

सूरसागर (पूर्ण, द्वादश स्कन्धात्मक) बा० राधाकृष्णदास, काशी की प्रति - यत्र-तत्र उन्हीं के द्वारा संशोधित।

वरौली (भरतपुर स्टेट) पो० पहाडी, ठा० रामप्रसादसिंह

सूरसागर (पुस्तक-नाम 'भागवत सूरदास कृत', पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १७६८ की प्रति।

वाजपेयी का पुरवा (बहरायच) पो० सिसिया, पं० शिवनारायण वाजपेयी—

सूरसागर (पूर्ण, द्वादश-स्कन्धात्मक) सं० १८९६ की प्रति।

विजावर (बुन्देलखण्ड) स्टेट–राज्य पुस्तकालय

सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक) सम्वत् १८७३

बीकानेर (राजपूताना) अनूप-संस्कृत लायब्रेरी

१—सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक) सम्वत् १६८१ की प्रति, बुरहानपुर, दक्षिण वाली।

२—सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक) सम्वत् १६९५ की प्रति, पं० वेली जी की लिखी।

३—सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १६९८ की प्रति, मथुरा, (केशवदेव जी का मन्दिर मल्लपुरा) के वैद्य विष्णु भट्ट की लिखी।

४—सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक) सम्वत् १७७३ की लिखी।

५—सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक)

६—सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक)

७—सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक)

८—सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक)

९—सूरसागर (खण्डित, संग्रहात्मक)

१०—सूरसागर (खण्डित, संग्रहात्मक)

सूर-छत्तीसी (छोटा संग्रह)

सूर पच्चीसी (छोटा संग्रह)

बूंदी (राजपूताना) राज्य पुस्तकालय, सरस्वती-भण्डार

सूरसागर री पोथी (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १६८१ की प्रति

वेसवाँ (अलीगढ) ठा० मतगध्वजप्रसादसिंह का पुस्तकालय

१—सूरसागर (प्रथम स्कन्ध से नवम स्कन्ध तक) सं० १८७६ की प्रति।

२—सूरसागर (दशम स्कन्ध से द्वादश स्कन्ध पर्यन्त) सं० १८७९ की प्रति।

भरतपुर स्टेट—राज्य पब्लिक लायब्रेरी

१—सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक)

२—सूरपच्चीसी (छोटा सा संग्रह)

भिनगा स्टेट (बहरायच) राज्य पुस्तकालय

सूरसागर (पूर्ण, द्वादश स्कन्धात्मक) पद संख्या २१२४।

मथुरा—

१—पं० नटवरलाल चतुर्वेदी, शीतला पाइसा, नई कोतवाली के पास

१—सूरसागर (पुस्तक नाम भागवत, सूरदास-कृत) पूर्ण, संग्रहात्मक, सं० १६८८ की प्रति तथा कुछ अंश सं० १७४५ का लिखा पृथक्।

२—सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १७४० की प्रति

२—प० गोपालशंकर नागर—विहारीपुरा (सेठ भीखचन्द की गली)

सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १७५८ की प्रति ।

३—जवाहरलाल चतुर्वेदी कुआ वाली गली—

सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १६४४ की प्रति (यह प्रति सबसे प्राचीन है) ।

महावन (मथुरा) वा० कृष्ण जीवनलाल वकील,

१—सूरसागर (पुस्तक नाम 'भागवत-पद', पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १८१० की प्रति ।

२—सूरसागर (खण्डित, स्कन्धात्मक, दशम स्कन्ध के अतिरिक्त, प्रथम स्कन्ध से द्वादश स्कन्ध पर्यन्त) सं० १८६७ की प्रति ।

३—सूर-पच्चीसी (स्फुट-पद)

मिर्जापुर (वहरायच) पो० वहरायच, विठ्ठलदास महन्त—

सूरसागर (पूर्ण, द्वादश स्कन्धात्मक) सं० १९०४ की प्रति ।

रीवाँ (बुंदेलखण्ड) राज्य-पुस्तकालय —

१—सूरसागर (पूर्ण, संग्रहात्मक) सं० १७४० की प्रति ।

२—सूरसागर (खण्डित प्रति)

रेवाडी (गुडगाँवा) पं० रामस्वरूप शास्त्री, काव्यतीर्थ, संस्कृत-अध्यापक अहीर हाई स्कूल

१—सूरसागर (पूर्ण, द्वादश स्कन्धात्मक)

२—रास-लीला (सूरदास कृत)

लखनऊ १—ला० श्यामसुन्दरदास अग्रवाल, मसकगंज—

१—सूरसागर (पूर्ण, द्वादश स्कन्धात्मक) सं० १८६६ की प्रति ।

२—प० वद्रीनाथ भट्ट, बी० ए०, प्रो० लखनऊ यूनिवर्सिटी—

१—सूरसागर (पूर्ण, द्वादश स्कन्धात्मक) ।

२—सूरसागर (खण्डित प्रति, द्वादश स्कन्धात्मक) ।

अन्य :—

१—भ्रमर-गीत—सूरदास

२—रुक्मिणी-मंगल—सूरदास

३—सुदामा-चरित—सूरदास

३—प० श्यामविहारी मिश्र (मिश्रबन्धु)

सूरसागर-सार (स्फुट पदों का संग्रह)

लवेदपुर (वहरायच) वा० पदमबक्ससिंह

सूरसागर (पूर्ण, द्वादश-स्कन्ध)

शेरगढ (मथुरा) वा० गोकुलप्रसाद सक्सेना,

सूरसागर (पुस्तक नाम—'सूरदास के पद', पूर्ण संग्रहात्मक) सं० १६८२ की प्रति ।

स्वामीदयाल का पुरवा (वहराइच) पो० सिसिया, प० स्वामीनारायण वाजपेयी—

१—सूरसागर (पूर्ण, द्वादश स्कन्धात्मक) सं० १८९९ की प्रति ।

२—भ्रमर-गीत, सूरदास, (संग्रह) सं० १८९१ की प्रति ।

अन्यत्र

भारत से बाहर अमरीका और यूरोप में भी 'सूरसागर' की प्रतियाँ मिलती हैं, जैसे, अमरीका हार्वर्ड—यूनिवर्सिटी—लायब्रेरी :—

सूरसागर (पूर्ण, सग्रहात्मक)

पेरिस (फ्रास) "पेरिस लायब्रेरी"—

१—सूरसागर-किताव (लिपि-फारसी, स्कन्धात्मक) स० १७६६ की प्रति।

लन्दन 'ब्रिटिश-म्यूजियम"

१—सूरसागर (कापी) पूर्ण, द्वादश स्कन्धात्मक, स० १७८० की प्रति।

२—भँवर-गीत, (सूरदास) स० १७६६ की प्रति, श्याम जू पाण्डे लिखित।

मुद्रित-प्रतियाँ

सूरसागर की मुद्रित प्रतियो के दो ही सस्करण—नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ और वेंकटेश्वर प्रेस, वम्बई के कहे जाते हैं, मिलते भी ये ही हैं। कलकत्ता से भी एक छोटा सा सगह "—सूर सगीतसार" नाम से प्रकाशित हुआ था। रागकल्पद्रुम में भी, जो तीन भागो में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था, ब्रजभाषा के अनेक पद-रचयिताओ के पदों के साथ सूरदास जी के भी अधिकाधिक पद छपे हैं परन्तु इन सव मुद्रित प्रतियो में नवलकिशोर प्रेस द्वारा प्रकाशित प्रतियाँ ही सवसे पुरानी हैं। नई खोज द्वारा 'सूर-सागर' की इससे भी पुरानी कुछ प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनका विवरण निम्न प्रकार है -

आगरा—

१—सूरसागर, प्र० मु०—मतवअ ईजाद प्रेस (लीथो), सन् १८६७, तीसरी वार।

२—सूरसागर, प्र० मु०—मतवअ कृष्णलाल प्रेस, सग्रहात्मक (लीथो) सन् १८८२।

कलकत्ता—

१—सूर-सगीत-सार, प्र०—अरुणोदय, मु० वगवासी प्रेस, सन् १६०२, विनय तथा वाल-लीला से लेकर भ्रमर-गीत तक के पदो का सक्षिप्त सग्रह।

२—राग-कल्पद्रुम, भाग—१, २, ३, स०—कृष्णानन्द रागसार, सँ० नगेन्द्रनाथ वसु, प्र० वगीय-साहित्य परिषद्, कलकत्ता, मु० विश्वकोष प्रेस, कलकत्ता स० १६७१-७३।

काशी—

१—"सूरसागर-रत्न" [सग्रहात्मक पूर्ण, स० रघुनाथ दास, मु० वनारस लाइट प्रेस, सन् १८६७ (लीथो)]

२—"सूरसागर", स० 'रत्नाकर', प्र० नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी, मुद्रक—इण्डियन प्रेस, वनारस शाखा, स० १६६४, आठो खण्डो में (अपूर्ण)।

३—सूरसागर ऊपरवाला, पूर्ण, दो खण्डो में प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी मु०—हिन्दी टाइम टेवुल प्रेस, स० २००५।

जयपुर (राजपूताना)

सूरसागर, पूर्ण, सग्रहात्मक, प्र० मतवअ ईजाद प्रेस (लीथो) सन् १८६५ ई०

दिल्ली—

सूरसागर (पूर्ण, सग्रहात्मक) प्र० मतवअ इलाही प्रेस (लीथो) सन् १८६०।

मथुरा—सूरसागर, (पूर्ण, सग्रहात्मक) प्र० मुदंउल-उलूम प्रेस (लीथो), सन् १८६०।

वम्बई—

१—सूरसागर (पूर्ण, बड़ा आकार, द्वादश स्कन्धात्मक), स०—बा० राधाकृष्णदास, काशी, प्र० वेंकटेश्वर प्रेस स० १६५३।

२—सूरसागर (पूर्ण, मझोला आकार, द्वादश स्कन्धात्मक) प्रकाशक वेंकटेश्वर-प्रेस सवत् १६६१।

लखनऊ—[1]

१—सूरसागर (पूर्ण, सग्रहात्मक), प्र० नवलकिशोर प्रेस, सन् १८६४, प्रथमवार (लीथो)।

२—सूरसागर (पूर्ण, सग्रहात्मक), स० प० कालीचरन प्रकाशक नवलकिशोर प्रेस (टाइप में)।

३—सूरसागर (ऊपर वाला ही), स० प० रामरत्न वाजपेयी, प्र० नवलकिशोर प्रेस, स० १८७४ (टाइप में) तथा आठवी वार स० १६०२ में।

इस तालिका में दो प्रकार की प्रतियो का उल्लेख है—१ सग्रहात्मक तथा २—द्वादश स्कन्धात्मक। दोनो सङ्कलनो में पद क्रम का भेद है। सगृहीत प्रतियों में प्राय 'सूर-सारावली' नही दी गई है किन्तु नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से 'राग-कल्पद्रुम' के आधार पर मुद्रित हुए 'सूरसागर' की प्रति में सूर-सारावली भी है तथा इसके दो भाग हैं—

१—नित्य-कीर्तन के पद, जिसमें भिन्न-भिन्न राग-रागनियो में प्रभु के कीर्तन के पद हैं।

२—लीला के पद।

कीर्तन के पदो मे सूरदास के पदो के साथ अन्य अष्टछापी कवियो के पद भी मिले हुए हैं। काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा द्वारा प्रकाशित सूरदास से पहले वेंकटेश्वर प्रेस द्वारा मुद्रित द्वादश स्कन्धात्मक प्रति ही प्रमाणित मानी जाती थी। इस प्रति के प्रारम्भ में ही 'सूर-सारावली' दी गई है, 'सूरसागर' उसके पश्चात् प्रारम्भ होता है। लखनऊ वाली प्रति में विनय के पद 'मथुरा-लीला' तथा 'भ्रमर-गीत' से पहले आते हैं तथा वम्बई वाली प्रति में 'सूर-सारावली' के पश्चात् प्रथम-स्कन्ध से पहले हैं। इन सभी प्रकार की हस्तलिखित, मुद्रित, सगृहीत और द्वादश स्कन्धात्मक प्रतियो के अवलोकन से हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं

१—सग्रहात्मक प्रतियाँ द्वादश स्कन्धात्मक प्रतियो की अपेक्षा लगभग १०० वर्ष पुरानी हैं अर्थात् उनका संग्रह १०० वर्ष पूर्व हो चुका था।

२—सग्रहात्मक प्रतियो का पाठ द्वादश स्कन्धात्मक प्रतियो की अपेक्षा अधिक शुद्ध एवं ब्रज-भाषा-व्याकरण-सम्मत है।

३—सग्रहात्मक प्रतियो में पद-क्रम प्राय पुष्टि-मार्गीय परम्परा पर अवलम्बित है।

४—इन प्रतियो में भागवत को "पद-भाषा करि गाय" के चरितार्थ करने का विषय नही बनाया गया है।

५—द्वादश-स्कन्धात्मक प्रतियो में पाठ-भेद और क्रम-भेद दोनो मिलते हैं।

---

१ नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित सभी सूरसागर राग कल्पद्रुम नाम से प्रकाशित हुए हैं। सूरसागर प्रथम अयोध्या के महाराज श्रीमान् सिंह जी उपनाम 'द्विजदेव' के तत्वावधान तथा मु शी जमना प्रसाद की देख रेख में प० कालीचरन द्वारा सशोधित होकर सं० १६२० में प्रकाशित हुआ था।

इन कारणो से हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि सग्रहात्मक प्रति द्वादश स्कन्धात्मक प्रति की अपेक्षा अधिक मान्य है। भागवत की तुलना में हम द्वादश स्कन्धात्मक प्रति को ही रख सकते हैं, सग्रहात्मक को नही। दोनो प्रतियो के विषय-क्रम तथा सम्प्रदाय मे प्रचलित नित्यकीर्तन और वर्षोत्सव के क्रम को दृष्टिकोण में रखते हुए 'सूरसागर' का 'भागवत' के साथ तुलनात्मक अध्ययन समीचीन होगा। यद्यपि प० जवाहरलाल चतुर्वेदी वाली हस्तलिखित सग्रहात्मक प्रति सबसे प्राचीन है क्योकि वह स० १६४४ की है[1] तथापि वह इतनी जीर्णशीर्ण है कि उससे विषय-क्रम का निर्धारण हो ही नही सकता, अतएव इस प्रयोजन के लिये हमें नाथद्वारे वाली स० १६५८ वि० की प्रति का ही आश्रय लेना पडेगा। वास्तव में इन दोनो प्रतियो के क्रम मे कोई अन्तर प्रतीत नही होता। इन सगृहीत प्रतियो का प्रारम्भ उस पद से होता है, जो सूरदास ने नन्दलाल की लीला' के रूप में महाप्रभु वल्लभाचार्य जी को सुनाया था :

"ब्रज भयो महरि कै पूत जब यह बात सुनी"।

सूरदास जी की वार्ता में लिखा है 'सो सुनि कै श्री आचार्य जी बहौत प्रसन्न भये और जाने, जो अब लीला को अभ्यास भयो। सो तब श्री आचार्य जी आप श्रीमुख तें सूरदास सो आज्ञा किये—जो सूर कछु नन्दालय की लीला गावो। तब सूरदास ने नन्द-महोत्सव कौ कीर्तन बरनन करि कै गायो सो 'पद ब्रज भयौ'[2] इत्यादि।" द्वादश स्कन्धात्मक प्रतियो मे सबसे प्रामाणिक प्रति नागरी-प्रचारिणी-सभा काशी द्वारा प्रकाशित 'सूरसागर' की है, जो दो भागो मे प्रकाशित हुई है। अत द्वादश स्कन्धात्मक क्रम हम इसी प्रति में से देंगे, यद्यपि इस प्रति में अनेक स्थानो पर पाठ-भेद है और ब्रज-भाषा-व्याकरण के विशेषज्ञो का यह भी दावा है कि इसमें अनेक स्थानो पर पाठ अशुद्ध हैं। वस्तुत. नागरी-प्रचारिणी-सभा का यह महान् कार्य स्तुत्य है। वर्षोत्सव तथा नित्य-कीर्तन का क्रम सम्प्रदाय की मुद्रित प्रतियो से लिया गया है, जो प्राय सभी पुस्तको में एक-सा मिलता है।

'सूरसागर' की नाथद्वारे वाली स० १६५८ की हस्तलिखित प्रति का क्रम इस प्रकार है—जन्म, पलना, ढाढी, (मास दिना, अन्न-प्राशन, कर्ण-छेदन, नाम-करण, मृत्तिका-भक्षण आदि के पद भी आ गये हैं।) बाल लीला, माखन-चोरी, गो-चारण, दान-लीला, गोवर्धन-लीला, रूप-वर्णन, गोपी-प्रेम, ध्यान-शोभा, मुरली-सवाद, ब्रज ध्यान, मुरली-विरद, दूती सवाद, यज्ञ-समय-वर्णन, विहार, रास-क्रीडा, जल-विहार, वसन्त-क्रीडा, होरी, राधिका-शृङ्गार, खण्डिता, दूती-सवाद, गूढ-भाव, मिलाप, अक्रूर-आगमन, मथुरागमन, मथुरा-प्रवेश, यशोदा-विलाप, दूती-सं'वाद, विरह-पुञ्ज, गोपी-तर्क, सुदामा-लीला, राम-जयन्ती, नृसिह-जयन्ती, वामन-जयन्ती, विनय के पद।

मुद्रित-सूरसागर (सग्रहात्मक) की प्रतियो में 'नवल किशोर' प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित प्रति की अधिक मान्यता रही है। सन् १८६४ में प्रथम बार (लीथो) यह प्रति मुद्रित हुई थी। फिर स० १८६४ में टाइप में इसकी प्रति छपी। उसका क्रम निम्नलिखित है·

सूर-सारावली	पृष्ठ १ से ५१ तक	राधाकृष्ण-प्रथम मिलन	
नित्य कीर्तन	,, ५२ से १५६ ,,	चकई भँवरा खेलना	२६६
राग-विलावल		गोवर्धन-लीला	३०६
जगाने के पद	,, १५७ से १५८ ,,	गोचरणलीला	३३७

१ यद्यपि श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी ने स० १६३६ की एक प्रति का और उल्लेख किया है किन्तु वह हमें अभी तक देखने को नहीं मिली।

२ गो० हरिरायजी कृत 'सूरदासजी की वार्ता' (अग्रवाल प्रेस मथुरा) पृ० १८

श्रीकृष्ण का अन्तर्धान होना, गोपी-गीत, रास-नृत्य तथा जल-क्रीडा, विद्याधर-शाप-मोचन, वृन्दावन-विहार, शख-चूड-वध, श्रीकृष्ण-ज्योनार गोपी-वचन मुरली के प्रति, मुरली-वचन गोपियो के प्रति, गोपी-वचन परस्पर, श्रीकृष्ण का व्रजागमन, वृषभासुर-वध, केशी-वध, व्योमासुर-वध, पनघट-लीला, दान-लीला, ग्रीष्म-लीला, यमुना-गमन, युगल-समागम, लघु-मान-लीला, नैन-समयके पद, आँख समय के पद, मान-लीला तथा दम्पती-विहार, खण्डिता-प्रकरण, राधा का मान, राधा जी का मध्यम मान, सुखमा-गृहागमन, सुखमा के घर सखियो का आगमन, वृन्दा-गृह-गमन, वृन्दा के धाम से प्रमुदा के धाम-गमन, बडी मान-लीला, दूसरी गुरु-मान-लीला, झूलना, वसन्त-लीला, अक्रूर-व्रज-आगमन, गोपिकाओ की उद्विग्नता, यशोदा-वचन श्रीकृष्ण के प्रति, यशोदा के प्रति नन्द-वचन, परस्पर गोपिका-वचन, यशोदा-विलाप, कृष्ण-वचन नन्द के प्रति, अक्रूर द्वारा कृष्ण की स्तुति, अक्रूर-प्रत्यागमन, श्रीकृष्ण का मथुरा-आगमन, रजक-वध धनुष-भग-लीला, कुवलया-वध, हस्ती-वध (सक्षिप्त) श्रीकृष्ण के मल्लो के प्रति वचन, वसुदेव दर्शन, यज्ञोपवीत-उत्सव, नन्द-विदाई, नन्द-व्रजागमन, सखी-वचन, यशोदा विलाप, व्रजवासी वचन, आगत ग्वाल वचन गोपी वचन, व्रज-दशा, परस्पर नन्द-यशोदा-वचन, पथी-वचन देवकी के प्रति, गोपी-विरह-वर्णन, स्वप्न-दर्शन, चन्द्रोपालम्भ, उद्धव-व्रज-आगमन, श्याम-रग पर तर्क यशोदा जी का सन्देश, उद्धव-आगमन, भ्रमरगीत सक्षेप, उद्धव प्रत्यागमन, श्रीकृष्ण का अक्रूर-गृह-गमन ।

दशम-स्कन्ध (उत्तरार्द्ध)

काल-यवन-दहन, द्वारका-प्रवेश, द्वारिका-शोभा, रुक्मिणी-पत्रिका-प्राप्ति, रुक्मिणी-विवाह की दूसरी लीला, प्रद्युम्न-जन्म, जाम्ववती और सत्यभामा का विवाह, शतधन्वा का वध, पञ्चपटरानी-विवाह, भौमासुर-वध तथा कल्पवृक्ष-आनयन, रुक्मिणी-परीक्षा, प्रद्युम्न-विवाह, अनिरुद्ध-विवाह, नृग का उद्धार, श्री बलभद्र का व्रज-आगमन, पौण्ड्रक-वध, सुदक्षिण-वध, द्विविध-वध, साब-विवाह, नारद-सशय, जरासन्ध-वध, राजाओ की प्रार्थना पाण्डव-यज्ञ, शिशुपाल-गति, पाण्डव-सभा, दुर्योधन का क्रोध, शाल्व वध, दन्तवक्र-वध, सुदामा-चरित, सक्षिप्त सुदामा-चरित पथिक के प्रति व्रज-नारी-वाक्य, कुरुक्षेत्र मे श्रीकृष्ण, यशोमती, गोपी-मिलन, श्रीकृष्ण का कुरुक्षेत्र-आगमन, रुक्मिणी-प्रश्न, देवकी-पुत्र-आनयन, वेद स्तुति, नारद-स्तुति, सुभद्रा-विवाह, जनक-श्रुतदेव और श्रीकृष्ण-मिलाप-भस्मासुर-वध, भृगु-परीक्षा, अर्जुन को निजरूप दिखाना तथा शङ्खचूडपुत्र-आनयन ।

एकादश स्कन्ध

नारायण-अवतार, हस-अवतार,

द्वादश स्कन्ध

बुद्ध-अवतार-वर्णन, कल्कि-अवतार-वर्णन, राजा परीक्षित हरि-पद प्राप्ति, जन्मेजय कथा—परिशिष्ट (१) परिशिष्ट (२)

इन दोनो भागो मे दिये हुए पदों की सख्या ४६३६ है और दोनो परिशिष्टो में २०३+२७०=४७३ पद हैं। इस प्रकार कुल पदो की सख्या ५४०९ है। सम्पादक की दृष्टि से परिशिष्ट-गत पद सदिग्ध हैं।

वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से स० १६८० मे प्रकाशित द्वादश स्कन्धात्मक 'सूरसागर' मे ४०३२ पद बताये जाते हैं किन्तु यह सख्या निर्भ्रान्त नही कही जा सकती क्योकि इस प्रति मे कई स्थलो पर गणना में हेर-फेर हो गया है। कई पद गणना में सम्मिलित ही नही किए गये

हैं और इसी तरह कई स्थानो पर विना पदो के ही सख्या बढा दी गई है, उदाहरणार्थ दशम-स्कन्ध में ६०० वें पद के पश्चात् १७७ वें पृष्ठ के ८ पद सख्या में जोडे ही नही गये हैं और फिर धनाश्री राग के ७३ पदो को जोडकर सख्या ६७३ मान ली गई है। पृष्ठ २६६ पर पद सख्या ६८ के पश्चात् एक पद तथा पृष्ठ ३१० की पद सख्या १७०० के पश्चात् पृष्ठ ३४१ की पद सख्या १ तक के लगभग ३०० पद-सख्या मे नही जोडे गये। कही एक ही राग के अन्तर्गत आये हुए छन्दो को कई पद मान कर सख्या में जोड लिया गया है और कही सम्पूर्ण राग को एक ही पद गिन लिया है। अस्तु, पुष्टि सम्प्रदाय की सेवा प्रणाली के रूप में प्रचलित सेवा-विधि के दो क्रम हैं—१—प्रात.काल से शयन पर्यन्त की नित्य सेवा-विधि और २—वर्पोत्सव की सेवा-विधि। नित्य सेवा-विधि में वात्सल्य-भक्ति का उद्रेक परिनिष्ठित है। इस सेवा के आठ समय निश्चित किये गये हैं, मगला, शृगार, ग्वाल, राजभोग, उत्थापन, भोग, सन्ध्या-कालीन आरती एव शयन।

वर्पोत्सव की सेवा-विधि में श्रीकृष्ण के नित्य और अवतार-लीलाओ के उत्सव, षड् ऋतुओ के उत्सव, लोक-व्यवहार और वैदिक पर्वो के उत्सव तथा अवतारो की जयन्तियाँ सम्मिलित हैं। नित्य और वर्पोत्सव दोनो प्रकार की सेवा-विधियो के तीन अङ्ग मुख्य हैं—शृङ्गार, भोग और राग। सूर का अधिकाश काव्य नित्य और वर्पोत्सव के कीर्तन-रूप में ही है।

वर्पोत्सव का क्रम ·

जन्माष्टमी से—वधाई, छठी, पलना, ढाढी, दसौंधी, मास—दिना, अन्न-प्राशन, कर्ण-वेध, नामकरण, मृत्तिका-भक्षण, करवट, ऊखल, वाल-लीला (पूतना-वध सकटासुर, वक, तृणावर्त, दावानल, कालिय-दमन आदि), चन्द्रावली जू की वधाई, ललिता की वधाई, राधिका जी की वधाई, राधिका जी की ढाढी, राधिका जी को पलना, राधिका जी की वाल-लीला, वल नागरी, दान, साझी, नव-विलास, देवी-पूजन, मुरली, करखा, दशहरा, रास, मान, पौढना, धनतेरस, रूप चौदस, दिवारी, गाय-खिलायवो, कान जगायवो, हठरी अन्नकूट, गोवर्धन-पूजा, भाई-दोज, इन्द्रमान-भग, गोचारण, देव-प्रवोधिनी व्हाह, मान, मकर-सक्राति, होरी और धमार, पाटोच्छव-सवत्सर, गनगौर, जमना जी की वधाई, शृगार व्यारू चन्दन, नरसिंह चतुर्दशी, नाव के पद, गगा दशमी, स्नान यात्रा, रथ-यात्रा, मल्हार कसूमी, छाट, घटा, चूनरी लहरियाँ, हिंडोरा पवित्रा, कूल्हे।

पुष्टि-सम्प्रदाय में इस वर्पोत्सव के क्रम के साथ-साथ ही नित्य-कीर्तन का क्रम भी चलता था। इसलिये सूर आदि आठो सखा नित्य कीर्तन के पदो की भी रचना किया करते थे। नित्य-कीर्तन का क्रम निम्नलिखित है.

वन्दना (महाप्रभु जी की, गोसाई जी की, यमुना जी के पद, गङ्गा जी के पद), जगायवे के पद, मगला आरती, नहवायवे के पद, खण्डिता ॥१॥ वहार, व्रत-चर्या हिलग (स्नान का प्रथम स्वरूप), दधि-मन्थन, शृङ्गार, पनघट ॥२॥ ग्वाल, फल-फलादि के पद, गोदोहन के पद, वैय्या के पद, माखन-चोरी, उलाहना पालना ॥३॥ भोजन वोलायवो, शीतकाल के भोजन, व्रज भक्तन के यहाँ भोजन, भोग सरावना, वीरी राजभोग ॥४॥ छाक, कुञ्ज, मानकुञ्ज उष्ण-काल के पद, नाव के पद, चन्दन के पद, खसखाने के पद, मानसागर उत्थापन ॥५॥ भोग, गाय बुलाइवे के, आवनी के, मान के ॥६॥ आरती ॥७॥ शृङ्गार उतारने के, सॉंध समय भैंया, मिस के पद, वयारू, दूध, वीरी, शयन-समय के मान छूटिवे के, मान मिलायवे के, पौढवे के ॥८॥

इस आठो समय की नित्य-सेवा के क्रम का आधार लेकर अष्ट-छाप के कवियो ने अगणित पद रचे। पद-रचना का क्रम उनके जीवन-पर्यन्त चलता रहा, अतएव यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि इन महात्माओ ने कितने विशाल साहित्य का सृजन किया होगा, जिसमें से बहुत कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो गया होगा और कुछ प्राचीन हस्तलिखित पुस्तको के रूप में सुरक्षित रहते हुये भी अप्राप्य है। साहित्य-सृजन की यह गति-विधि केवल इन कवियो तक ही सीमित नही थी, अपितु प्रत्येक कवि के साथ आठ-आठ झालरिया भी रहते थे, जो 'टेक' उठाने का काम करते थे। वे स्वय भी अच्छे कवि होते थे और सुन्दर पदो की रचना भी करते थे। अपने पदो मे अपने-प्रधान गायक की ही छाप लगा दिया करते थे। स्वय सूरदास के आठ झालरिया थे, जो सूर के अङ्ग कहलाते थे। उनके नाम इस प्रकार बताये जाते हैं —तानसेन अलीखान, जगन्नाथ कविराय हरिनारायण श्यामदास, मुरारिदास, मुकुन्ददास, जयभगवान् और कृष्णजीवन लक्ष्मीराम।

इस व्यवस्था के कारण सूर के वास्तविक पदो को निकालना दुस्तर कार्य है और यथा रूप प्राप्त सामग्री पर ही हमें सन्तोष करना पडता है। वर्षोत्सव और नित्य-कीर्तन के पदक्रम के आधार पर दोनो प्रकार की प्रतियो (सग्रहात्मक और द्वादश स्कन्धात्मक) का अध्ययन करने पर हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं

१—वर्षोत्सव तथा नित्य-कीर्तन के कई महत्वपूर्ण अगो पर सूरदास जी के पद किसी प्रति में या तो मिलते ही नही या एक-आध की ही सख्या मे प्राप्त होते हैं, जिससे स्पष्ट होता है कि सूरदास जी का बहुत सा साहित्य अतीत के अन्धकार में विलीन है।

२—नित्य-कीर्तन और वर्षोत्सव के क्रम पूर्णरूपेण सग्रहात्मक अथवा द्वादशस्कन्धात्मक किसी प्रति में नही दीख पडते। सग्रहात्मक प्रतियो मे यथाकथञ्चित् यदि वह क्रम मान भी लिया जाय तो द्वादशस्कन्धात्मक प्रतियो मे तो उसकी सगति बैठती ही नही। ऐसा प्रतीत होता है कि दोनो ही प्रतियो का सङ्कलन सूरदास जी के बहुत दिन पश्चात् हुआ होगा।

सग्रहात्मक प्रतियो का सकलन लीलापरक माना जा सकता है। लखनऊ वाली प्रति में तो 'सूर-सारावली' तथा नित्य कीर्तन के पद भी दिये हैं किन्तु अन्य सग्रहात्मक प्रतियो में ये दोनो प्रकरण नही पाये जाते। स्थूलरूप में सग्रहात्मक प्रतियो के शीर्षक इस प्रकार है ·

भगवान् कृष्ण की बधाई और उनकी बाल-लीला, व्रज की अन्य लीलायें, मुरली, रास-लीला, मथुरा-गमन लीला, बिरद-पदावली, नृसिह, वामन और राम की जयन्तियाँ एव विनय के पद। लखनऊ वाली प्रति मे विनय के पद मथुरा-गमन लीला से पहले दिये है। नृसिह जयन्ती सप्तम स्कन्ध में, वामन-जयन्ती अष्टम में तथा राम-जयन्ती नवम स्कन्ध में दी है और लीला के पद दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध मे दिये गये है। इस प्रकार सग्रहात्मक प्रतियों की तुलना में हम, सप्तम, अष्टम, नवम स्कन्ध के पद एव दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध को रख सकते है। दोनो के तुलनात्मक अध्ययन से हम स्वत इस निर्णय पर पहुँच जाते है कि इन द्वादशस्कन्धात्मक प्रतियो का स कलन स ग्रहात्मक प्रतियो के पश्चात् ही हुआ होगा। अनुसधान-क्रम में उपलब्ध हुई हस्तलिखित प्रतियाँ हमारे उक्त निर्णय को और भी दृढ कर देती हैं। परन्तु यह स कलन कब और किसने किया ? इस प्रश्न का उत्तर निश्चित रूप में नही मिलता।

तृतीय अध्याय

सूर-साहित्य की पृष्ठ-भूमि

महाकवि सूरदास के साहित्य-महोदधि का मन्थन वास्तव मे अत्यन्त दुस्तर काय है। विभिन्न युगो के अभेद्य-स्तरो के बीच से मन्द-मन्द किन्तु अव्याहत गति से बहती हुई, अनेक दिशाओ से उलटी-सीधी बहकर आने वाली विविध विचार-धाराओ को आत्मसात् करती हुई, भिन्न-भिन्न सप्रदायो की सिद्धान्त-सार-सुधा से प्राणियो के अन्त करण को तृप्त करती हुई भारतीय-साधना की मन्दाकिनी ने इस 'सागर' को ऐसा लबालब भर दिया है कि उसमें मग्न होकर भी तह तक पहुँचना सरल कार्य नही है। 'सूर-साहित्य' की पृष्ठ-भूमि भारत के मध्यकालीन युग का इतिहास है, जिसमें वह महान् और व्यापक आन्दोलन अन्तर्हित है, जिसने ऐसी अनेक भावनाओ को जन्म दिया, जो एक ओर तो मानवता के क्षेत्र को विस्तृत करने वाली हैं तथा दूसरी ओर अनेक सकीर्णताओ को उत्पन्न करती हैं। इस आन्दोलन का समुचित रूप से व्यवस्थित इतिहास उपलब्ध न होने के कारण अनेक भ्रान्त धारणाओ का प्रचार होता रहा है। भारतीय इतिहास में तो यह 'मध्यकालीन' शब्द नया-सा ही है परन्तु यूरोपीय इतिहास में Medieval Period सन् ४७६ से सन् १५५३ तक माना जाता है। इस काल में समाज में कुछ ऐसी प्रवृत्तियो का उदय हो गया था, जिनके कारण उत्तरोत्तर अन्धविश्वास का विकास और तथ्य-जिज्ञासा का ह्रास होता गया। केवल यूरोप में ही नही, विश्व के समस्त देशो में—समस्त सम्प्रदायो और समाजो में—इस मनोवृत्ति का महान् प्रभाव पडा था, जिसने इतिहास का स्वरूप ही परिवर्तित कर दिया, फिर भारत इसका अपवाद कैसे रह जाता ? भारतवर्ष के 'गुप्त-युग' को इतिहासकारो ने स्वर्ण-युग का नाम दिया ही है किन्तु खेद है कि दूसरी एव तीसरी शताब्दियो के उत्कर्ष के बहुत कम चिह्नावशेष आज प्राप्त हैं, जिससे अनेक यूरोपीय विद्वानो ने भ्रम-वश इस युग को "अन्धकार-युग" घोषित कर डाला। वस्तुत. यह नामकरण तर्कसगत नही है, क्योकि इस काल में धर्म, दर्शन, नीति और साहित्य-विषयक अनेक ग्रन्थो की रचना हुई तथा अनेक ऐसे सम्प्रदायो का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने परवर्ती भारतवर्ष को कई रूपो में प्रभावित किया। सन् ३२० में गुप्त-साम्राज्य की स्थापना के साथ भारतीय इतिहास में और भी अधिक स्फूर्ति का युग आया, सस्कृत-भाषा ने नई शक्ति प्राप्त की और समूचे देश मे एक नवीन प्रकार की जातीयता की लहर दौड गई। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ऐसी क्रान्ति हुई कि हमारे सोचने-विचारने, रहने-सहने, देखने-सुनने का ढग ही बदल गया और ऐसा बदला कि आज भी उसका प्रभाव हमारे धर्म, दर्शन, समाज, आचार-विचार और रीति-रिवाज पर स्पष्ट लक्षित होता है। बहुत से पुराण और स्मृतियो की रचना भी सम्भवत इसी युग में हुई थी।

छठी शताब्दी मे भारत में उस युग का सूत्रपात हुआ, जिसे हम यूरोपीय ऐतिहासिको की परिभाषा में 'मध्य-युग' कह सकते हैं। इस काल की धर्म साधना अनेक प्रभावो का समन्वित रूप कही जा सकती है। छठी शताब्दी से ११-१२वी शताब्दी तक का साहित्य बड़ा व्यापक है परन्तु इसमें साम्प्रदायिकता की पूरी-पूरी छाप है। जहाँ एक ओर बौद्धो और जैनो का अपने-अपने अस्तित्व के लिए भरसक प्रयास है, वहाँ दूसरी ओर ऐसे तत्वो का भी अभाव

नही, जिनका परिपाक अन्ततोगत्वा ध्वसात्मक ही होता है। वैष्णव सम्प्रदाय में भी यत्र-तत्र इस प्रवृत्ति का साक्षात्कार होता है। इन विविध-मत-मतान्तरो के झमेले में पड कर राजनीति की भी ऐसी दुर्दशा हुई कि उसका रूप तो विकृत हुआ ही, स्वतन्त्र रूप से पृथक् चला आता हुआ व्यक्तित्व भी समाप्तप्राय हो गया और वह साम्प्रदायिकता के हाथो मे खेलने लगी। इस काल मे एक ऐसी परम्परा-सी चली, जिसका आधार वैदिक और अवैदिक भावनाओ के मूल मे केन्द्रित हुआ, परन्तु जहाँ अवैदिक सम्प्रदायो मे वृद्धि हुई वहाँ वेद को ही अन्तिम प्रमाण मानने वाले धर्म-मतो और दार्शनिक सम्प्रदायो की सख्या भी एक-दो ही नही रही मत-वैभिन्य तथा विश्वास-वैचित्र्य होते हुए भी विभिन्न सम्प्रदाय अपने आपको श्रुति-सम्मत मानते थे। जिस प्रकार अद्वैत, विशिष्टाद्वैत' द्वैत, शुद्धाद्वैत, अचिन्त्यभेदाभेद आदि अनेक परस्पर विरोधी मत श्रुति को ही अपनी आधार-शिला वतलाते है, उसी प्रकार, शैव, शाक्त, पाशुपत, गाणपत्य, सौर आदि सम्प्रदाय भी अपने आपको वेद-विहित कहते हैं। दसवी-ग्यारहवी शताब्दी से लेकर सोलहवी शताब्दी तक के युग को मध्यकालीन युग का उत्तरार्द्ध कहा जा सकता है। यह युग समन्वय की भावना को लेकर चला। एक ओर तो सगुणधारा के भक्तकवियो ने विभिन्न वैष्णव-सम्प्रदायो के पारस्परिक वैमनस्य को दूर कर शैव, शाक्त आदि अन्य सम्प्रदायो से भी सम्बन्ध जोडा, दूसरी ओर सन्त कवियो ने अपनी अन्त साधना के वल पर मानव मात्र की शाश्वत् वृत्तियो का सपरिष्कार उद्रेक कर ऐहिकता की भर्त्सना की और निर्जीव हृदयो में ऐसी चेतनता भरी, जिससे निराशा के मेघ हट गये और आशा की सुनहली रश्मियो का आलोक बिखर गया। इन कवियो का व्यक्तित्व ही समन्वयात्मकता की आधार भूमि पर खडा था। अक्खडता की परिधि को छूता हुआ आत्मगौरव, दीनता के अङ्क में क्रीडा करती हुई नम्रता, ससार के कठोरतम सघर्ष से जूझने की प्रस्तरतुल्य दृढता के साथ अपनी निरीहता पर नवनीत सम पिघलने वाली कोमलता सव का समन्वय वास्तव में आश्चर्य उत्पन्न करने वाला है। जनता के हृदय का वास्तविक प्रतिनिधित्व करने वाले इन कवियो ने उनके मनोभावो को ऊँचा उठाने में नि सन्देह भगीरथ प्रयत्न किया। तेरहवी शताब्दी के अनन्तर इन सन्त भक्तो ने उत्तरी भारत में अपना प्रचार-कार्य प्रारम्भ किया और समाज की परिस्थितियो के अनुकूल १७ वीं शताब्दी तक विभिन्न प्रकार से समाज की सेवा करते रहे। हिन्दी साहित्य के इतिहास मे इस काल को भक्ति-काल की सज्ञा दी है। पाश्चात्य विद्वानो ने इस युग को भक्ति का विशिष्ट युग माना है। डा० ग्रियर्सन ने इस आन्दोलन के विषय से लिखा है कि यह आन्दोलन बिजली की चमक के समान सारे भारत में फैल गया। डा० ग्रियर्सन ने इस आन्दोलन का सम्बन्ध मध्य युग के मर्मी ईसाइयो से लगाया है और उसे ईसाइयत की देन वताया है।[1] डा० ग्रियर्सन का यह कथन स्वाभाविक ही है, क्योकि पाश्चात्य विद्वानो की प्राय: यह परम्परा रही हैं कि जो कुछ भी वे भारत में स्पृहणीय देखते है, उसका सम्बन्ध यूरोप से अवश्य जोडते हैं। इसे उनकी अहम्मन्यता अथवा विकृत देश-भक्ति ही कहा जा सकता है, अस्तु इसमें सन्देह नही कि मध्य-युग के इतिहास में यह आन्दोलन वेजोड कहा जा सकता है। यह आन्दोलन उत्तरोत्तर जोर पकडता गया और पन्द्रहवी सोलहवी शताब्दी में यह प्रवाह सिमट कर व्रजभूमि में प्रवाहित होने लगा तथा मानव मात्र के मन के मैल को काट कर अनिर्वचनीय आनन्द का प्रसार करने लगा। अतएव डा० ग्रियर्सन का यह कथन कि अकस्मात् विद्युत्-लेखा के समान यह आन्दोलन देश के एक छोर से दूसरे छोर तक फैल गया, सत्य-सा ही है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस युग को

---

1 Modern Hinduism and it's Debt to the Nestorions (ले० डा० ग्रियर्सन) Jaurnal of Royal Asiatic Society में संगृहीत।

हम भारतीय सस्कृति की पराजय का युग भले ही मानलें परन्तु मानव-सस्कृति की दृष्टि से इसके महत्व की उपेक्षा नहीं कर सकते, क्योकि इस युग में विभिन्न सस्कृतियो और धार्मिक साधनाओ का मानवता के धरातल पर समन्वय हुआ। इस विषय पर आचार्य क्षितिमोहन सेन की 'भारतीय मध्य-युगीन-साधना', डी० सी० सेन का 'वगभाषा और साहित्य' पाश्चात्य विद्वान् कर्न (Kern) का Mannual of Budhism तथा डा० ग्रियर्सन, कीथ आदि के लेख पठनीय हैं।

इस भक्ति-आन्दोलन के सूक्ष्म-अध्ययन से हमें वे सारे प्रभाव लक्षित हो जाते हैं, जो उसके मूल में हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी तथा भक्तकवि सूरदास इस युग के सामञ्जस्यवादी प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। गो० तुलसीदास ने समाज के धरातल पर मानवता का उद्घाटन किया तो सूरदास ने व्यक्तिगत साधना को महत्व देकर मानव-हृदय के चिरन्तन समान भावों का स्पर्श किया। यही कारण है कि इस आन्दोलन की प्रेरणाओ का जितना स्फुट प्रतिबिम्ब तुलसी के काव्य में लक्षित होता है, उतना सूर की कृतियो में नही। पुष्टि-सम्प्रदाय के विवेचन मे हम बतलायेंगे कि किस प्रकार इस सम्प्रदाय के आचार्यो ने लौकिक वासनाओ और ऐहिक ऐषणाओ को परब्रह्म-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण में लगाकर उन्हे पवित्र बनाने का विधान रखा था। ससार के सघर्ष से दूर, कल-कल ध्वनि से कूलस्थ कुञ्जो को निनादित करने वाली कालिन्दी के सुरम्य तट पर, करीर के कुंजो में, मन्द पवन से आन्दोलित वल्लरियो के झुरमुटो में उठती हुई मुरली ध्वनि को सुनकर, कृष्ण और राधा की कलि-केलि का साक्षात्कार करते हुये अन्धे सूरदास केवल समाज को ही नहीं, अपने अस्तित्व को भी भूल जाते थे, स्वय राधाकृष्णमय हो जाते थे, ससार में उन्हे अपने आराध्य युगल का ही रूप दीख पडता था। कबीर का 'फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना' वाला वाक्य चरितार्थ हो गया। यही कारण है कि सूर के वाक्य में सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियो का प्रभाव उतना नहीं दीख पडता, जितना तुलसी के काव्य मे। फिर भी उसका सर्वथा अभाव नही है। सूरदास जी के साहित्य का अध्ययन करने के लिये जहाँ हमें भक्ति-आन्दोलन की धार्मिक पृष्ठ-भूमि का ज्ञान अपेक्षित है, वहाँ तत्कालीन सामाजिक एव राजनीतिक परिस्थितियों की जानकारी भी उपेक्षणीय नही। १५वी और १६वी शताब्दी में भक्ति का जो समन्वित रूप जनता के समक्ष प्रस्तुत हुआ, वह अनेक प्रभावो का फल कहा जा सकता है।

वैदिक काल से चली आती हुई भक्ति की वह अजस्र धारा, जो उपनिषदो, ब्राह्मण ग्रथो, स्मृतियो और पुराणो के मार्ग से बहती हुई अपना रूप और मार्ग बदल चुकी थी, इस भक्ति आन्दोलन के महाप्रवाह मे विलीन हो गई। बौद्धो और जैनो की वह धर्मसाधना, जो अहिंसा को परम धर्म मानकर चली थी, मायिक जजालो में फँसकर अपने मूलस्वरूप को विस्मृत कर चुकी थी। बौद्धो ने तो प्रतिहिंसा के रूप में हिंसा-वृत्ति को भी अपना लिया था। धर्म-साधना के इस विकृतरूप का भी भक्ति-आन्दोलन पर विशेष प्रभाव पडा।

इसके अतिरिक्त सबसे अधिक प्रभाव इस आन्दोलन पर दक्षिण के उन आडवार भक्तो का पडा, जिनकी भक्ति-भावना सच्चे हृदय की प्रतीक थी और जो लोकगीतो और ग्रामीण भजनो में प्रस्फुटित होती हुई दक्षिण प्रान्त के दिग्गज आचार्यो के सम्प्रदायो के सिद्धान्तो का मूल कारण बनी। हम पहले कह चुके हैं कि शैव, शाक्त, पाशुपात, गाणपत्य, सौर आदि सम्प्रदाय भी अपने को वेद-विहित ही मानते थे और अपना मूल वेदो से ही सिद्ध करते थे। इन सम्प्रदायो का भी भक्ति-आन्दोलन पर पर्याप्त-प्रभाव पडा है। इन सब से बढ़कर नाथ-योगी-सम्प्रदाय, जो अपने को शैव सिद्ध करता है और इस सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक आदिनाथ

को शिव से अभिन्न मानकर उसका सम्बन्ध ऋग्वेद से स्थापित करता है, इस भक्ति-आन्दोलन की पृष्ठ-भूमि मे महत्वपूर्ण स्थान रखने वाला है। इन भारतीय सम्प्रदायो और मत-मतन्तरो के अतिरिक्त मुसलमानो—विशेषकर सूफियो—की वह एकान्त प्रेम-साधना, जो ज्ञान और उपासना का समन्वय उपस्थित करती हुई सच्चे हृदय की प्रेरणा के रूप में हमारे सामने आई, भारतीय धर्म-साधना को प्रभावित कर रही थी। इन विभिन्न प्रवाहो को आत्मसात् करता हुआ भक्ति का वह विपुल प्रवाह १६वी शताब्दी तक इतना विशाल और अतलस्पर्शी हुआ, कि इसमें सारा समाज आकण्ठ निमग्न हो गया।

वैष्णव-सम्प्रदायो का विवेचन तो हम अगले अध्याय म करेंगे, यहां हम सक्षेप से भक्ति-आन्दोलन की पृष्ठ-भूमि को प्रस्तुत करते है।

प्राचीन वैदिक वाङ्मय के अध्ययन से ज्ञात होता है कि हमारे पूर्वजो का जीवन अत्यन्त सरल और भक्ति-माग सब प्रकार के आडम्बरो से शून्य था। उनका रहन-सहन बहुत सीधा-सादा था। ब्रह्म का कोई एक स्वरूप उनके सम्मुख नही था। प्राकृतिक शक्तियो के साक्षात्कार से उनकी उनमे कुछ आस्था हुई और उन्होने अपने भय को प्रेम का रूप दे दिया। हृदय की इसी रसात्मक अनुभूति को उन्होने भक्ति का नाम दिया। उनकी पूजा भय और लोभ की प्रेरणा से न होकर प्रेम-भावना से होती थी। कुछ असभ्य जातियो मे यह पूजा आज भी भय और लोभ के कारण होती है और उनमे ग्राम-देवता, कुल-देवता आदि की कल्पना भी पाई जाती है। यहूदी जाति की एक शाखा का कुल-देवता यह्वा (Yehova) था जिसे इसराइल के वश वाले बलि चढाया करते थे। हजरत मूसा ने इसी यह्वा देवता को सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ माना, पर वेदो मे हृदय-पक्ष को महत्त्व देकर सम्पूर्ण जगत् मे कार्य करने वाली प्राकृतिक शक्तियो को देवरूप मे ग्रहण किया गया। उस समय उपास्य देव का कोई एक स्वरूप नही था। एक ही ब्रह्म के अनेक रूप थे और इस ब्रह्मवाद अर्थात् Moneism की भावना का ही प्रसार था। लोभ और भय से उपासना करने वालो की भावना एकेश्वरवाद या मोनीथीइज्म (Monetheism) की थी। वैदिक काल मे तो एक ही ब्रह्म के अग्नि, वायु, वरुण आदि नानारूप माने जा चुके थे। उपनिषदो मे इसी भावना का विशेष रूप से विवरण मिलता है। 'सर्वं खल्विद ब्रह्म', 'नेह नानास्ति किञ्चन', 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य इसी भावना के द्योतक है। जिस प्रकार यहूदी जाति के यह्वा देवता ने ईश्वर का रूप धारण किया था, उसी प्रकार काबुल की प्राचीन खाल्दी (Chaldeans) जाति का मर्दुक नामक देवता एकेश्वर-भावना का प्रतीक था। ऋग्वेद में हमें दोनो प्रकार की भावनाओ के सकेत मिलते हैं, परन्तु प्रधानता प्रेम-परक भावना की ही है। आगे चल कर इस भक्ति-भावना में यज्ञो का भी समावेश हो गया किन्तु इस भावना के साथ भक्ति का क्षेत्र कुछ सकुचित हुआ और उन सर्वव्यापक शक्तियो के अधिष्ठातृ-देवताओ की भावना नर-रूप मे होने लगी। ऋग्वेद के 'पुरुष-सूक्त' में इस भावना की ओर भी सकेत है। ब्राह्मण-ग्रन्थो में इस नराकार भावना अर्थात् Anthropomorphic को कुछ विस्तार मिला और परमेश्वर में सगुणत्व का आरोप हुआ। अब तक ब्रह्म की उपासना अन्न, प्राण मन, ज्ञान और आनन्द रूपो मे होती थी, जैसा कि तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवल्ली मे आया है, "अन्न ब्रह्मेति व्याजानात्", "प्राण ब्रह्मेति व्याजानात्", "मनो ब्रह्मेति व्याजानात्", "आनन्दो ब्रह्मेति व्याजानात्", अर्थात् भीतर और बाहर ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार किया गया था। उपनिषत्-काल में यज्ञो को प्रधानता देकर एक ओर तो हृदय-पक्ष को प्रबल किया गया है, और दूसरी ओर केवल बुद्धि और ज्ञान का विषय ब्रह्म को मानकर यज्ञादि विधानो से निवृत्ति बताई गई हैं।

इस प्रकार उपनिषदो मे हमे दोनो प्रकार के वाक्य मिलते हैं, जैसा कि इन वाक्यो से पता चलता है -

१— द्वे वा ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तञ्चैवामूर्त्तञ्च, मर्त्यञ्चामृतञ्च, स्थितञ्च, यच्च, सच्च, त्यच्च ।[1]

२—तदेजति तन्नेजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।[2]

३—अणोरणीयान् महतो महीयान् ।[3]

उपनिषत्काल मे एकेश्वरवाद की भावना का हमे पूरा आभास मिलता है, जैसा कि मैत्रायणी उपनिषद् मे लिखा है—"त्व ब्रह्मा त्वञ्च वै विष्णु त्व रुद्रस्त्व प्रजापति । त्वमग्निर्वरुणो वायुस्त्वमिन्द्रस्त्व निशाकर ॥" इत्यादि । यह भावना पैगम्बरी एकेश्वरवाद की भावना से मिलती-जुलती है । उपनिषत्काल में ज्ञान और उपासना दोनो ही रूपो में सुधार हुआ और कर्म के साथ मन का योग किया गया । यज्ञ-विद्या को भी नई दिशा दी गई और ज्ञान-यज्ञ द्रव्य-यज्ञ से श्रेष्ठ माना गया । छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार घोराङ्गिरस ऋषि ने देवकी-पुत्र कृष्ण को वह यज्ञ-विद्या बताई थी । इसका सकेत गीता मे भी है

श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञात् ज्ञानयज्ञात् परन्तप ।

यह सम्भवत विच्छृङ्खल द्रव्य-यज्ञ-परम्परा के सुधार का प्रयास हो, क्योकि लोक-मगल की भावना का समावेश हमें यही से उपासना के साथ लगा मिलता है, उपास्य देव के स्वरूप कल्पित किए गये और लोक-कल्याण-पक्ष को लेकर उस सर्व-गुण-सम्पन्न देव के अनुकरण को महत्व दिया गया । महाभारत के शान्तिपर्व मे नारायणीयोपाख्यान आया है, जिसमें इस धर्म का महत्त्व स्वीकार किया गया है । महाभारतकाल में नारायण का एक निश्चित रूप माना गया था । आगे चलकर यह भावना और भी दृढ हुई, विशेषकर सात्वत-सम्प्रदाय से इस भावना को विशेष बल मिला । महाभारत-काल से पूर्व हमें ऐसे प्रमाण नही मिलते, जिनके आधार पर यह समझा जा सके कि नारायण का कोई व्यवस्थित उपास्य रूप प्रचलित था । श्रीमद्-भगवद्गीता मे, जो महाभारत ही का एक अग है, इस कल्पना को सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप दिया गया और भगवान् के उस स्वरूप में शक्ति, शील, सौन्दर्य ऐश्वर्य आदि सब का समन्वय किया गया । इस ग्रन्थ मे केवल नारायण अथवा विष्णु के स्वरूप को कृष्ण रूप मे मानकर उपास्य माना गया है । सम्भवत इन भावना को बल पकडते हुए देखकर ब्रह्म के अन्य रूपो को भी लेकर अनेक ग्रन्थ रचे गये, जो विभिन्न पुराणो के नाम से अभिहित किये गये हैं । इसी समय अवतार-भावना को प्रश्रय मिलने के कारण भगवान् के २४ अवतारो की कल्पना की गई तथा धार्मिकक्षेत्र मे समन्वय के उद्देश्य से सभी पुराणो को एक ही व्यक्ति की रचना सिद्ध किया गया । निवृत्ति-मार्ग की व्याख्या बादरायण सूत्रो मे समन्वयात्मक रूप से की गई । इन सब प्रयत्नो के किए जाने पर भी यज्ञो के विधान में अनेक बुराइयां आ गई थी, पशु-बलि भी उनका एक आवश्यक अङ्ग बन गया था, जिसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप बौद्धमत और जैन-मत का सूत्रपात, प्रचार एव विकास हुआ, जिसका मूल आधार अहिंसा की भावना रही । कुछ विद्वानो का मत है कि गीता आदि ग्रन्थों का सम्पादन ही बौद्ध-मत की प्रतिक्रिया के कारण हुआ । कुछ भी सही, यह एक प्रत्यक्ष-तथ्य है कि पुराणोत्तर-काल भारतीय-भक्ति-

१ बृहदारण्यक ।

२ ईशावास्योपनिषद् ।

३ श्वेताश्वेतरोपनिषद् ।

साधना के क्षेत्र मे घात-प्रतिघातो का—सास्कृतिक सघर्ष का—युग रहा और बौद्ध एव जैन-मत का इस पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। ईसा-पूर्व छठी शताब्दी से लेकर ईसा की तीसरी शताब्दी तक भारतवर्ष मे बौद्ध-मत का पूर्ण साम्राज्य रहा, ब्राह्मण-धर्म ने पुनरुत्थान के लिये यथाशक्ति प्रयत्न किया किन्तु कोई विशेष सफलता न मिल सकी। गुप्त वशीय सम्राटो की छत्र-छाया मे ब्राह्मण धर्म ने पुन जोर मारा, वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा हुई किन्तु इस समय तक इस धर्म के रीति-रिवाजो पर बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रभाव पड चुका था किन्तु यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि वैदिक धर्म की जिन बुराइयो की प्रतिक्रिया मे बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव हुआ था, उनमे से अनेक बुराइयाँ इस काल तक इस धर्म मे भी प्रवेश कर चुकी थी। ईसा की तीसरी शताब्दी से १५वी शताब्दी तक यह भक्ति-आन्दोलन प्रबल वेग से बढता रहा, इसी को मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन कहा जाता है। इस युग का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ श्रीमद्भागवत है, जो अब तक भी वैष्णव-भक्ति-भावना पर अतुल प्रभाव डाल रहा है, अधिकाश पुराणो की रचना का समय भी ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से लेकर ईसा की छठी शताब्दी-पर्यन्त माना जाता है इसलिये इस युग को इतिहासकार 'पौराणिक युग' भी कहते हैं। इस युग मे वैदिक धर्म के पुनरुद्धार का अथक प्रयास किया गया और बौद्ध तथा जैन-धर्म के प्रभाव मे आकर प्राकृतिक वस्तुओ के प्रतीक देवताओ की सृष्टि हुई। तीर्थंकरो और बोधिसत्वो के अनुकरण पर भगवान् के विभिन्न अवतारो की कल्पना की गई तथा भिन्न-भिन्न देवताओ की मूर्तियो का निर्माण हुआ। इतना ही नही, इस उपासना-पद्धति मे तान्त्रिक-प्रणाली का भी समावेश हुआ और योगसाधना के भी कतिपय तत्त्व स्वीकार किये गये। भक्ति-सिद्धान्तो के निरूपण के लिये प्राकृत और पाली के स्थान मे सस्कृत का आश्रय लिया गया, अनेक सम्प्रदायो का जन्म हुआ और सबने अपने काल्पनिक सिद्धान्तो के आधार पर उन मूल ग्रन्थो पर अनेक टीकाएँ लिखकर अपनी-अपनी मान्यताओ से उनका सामञ्जस्य स्थापित किया।

इन सम्प्रदायो मे मुख्य रूप से चार-पाँच सम्प्रदाय उल्लेखनीय हैं

१ अद्वैत—प्रवर्तक शकराचार्य,
२ विशिष्टाद्वैत—प्रवर्त्तक रामानुजाचार्य,
३ द्वैत—प्रवर्तक मध्वाचार्य,
४ शुद्धाद्वैत—प्रवर्त्तक वल्लभाचार्य,
५ चिन्त्याचिन्त्य—प्रवर्तक (गौराङ्ग महाप्रभु)।

ये सम्प्रदाय दक्षिणी आचार्यो की देन कहे जाते हैं। आगे हम इस बात की विवेचना करेंगे कि दक्षिण के आचार्यो ने उत्तरी भारत के भक्ति आन्दोलन मे कितना और कैसा योग दिया ? इस विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जो भक्ति-साधना पहले सीधे-सादे स्तुति-गान और पशु-बलि से प्रारम्भ हुई थी, उसमे उत्तरोत्तर भेद की भावना दृढ होती गई और अभेद की भावना का ह्रास चलता रहा। इस विविधता का परिणाम यह हुआ कि अनेक प्रकार के वर्ग, फिर्के और सेक्ट (Sect) स्थापित हो गए तथा व्यक्ति धार्मिक बन्धनो मे इतना जकड गया कि उसे स्वतन्त्रता पूर्वक जीवनयात्रा करने में भी प्रगति करना दूभर हो उठा। उसके सकल-क्रियाकलापो पर धर्म का अकुश रहने लगा और शनै शनै अन्धविश्वासो के कारण दृष्टिकोण नितान्त सकुचित हो गया, जिससे पारस्परिक वैमनस्य, घृणा और द्वेष-भाव ही बढे। राजनीति में भी धर्म को इतनी बुरी तरह उलझाया गया कि धर्म के नाम पर वह भयङ्कर नरसहार के महापाप की भागिनी बनी, जिसके स्मरण मात्र से रोगटे खडे हो जाते हैं। विश्व के सभी देशो मे 'जिहाद' (धर्मयुद्ध) को प्रोत्साहन मिला और धार्मिक

अराजकता का ऐसा चक्र चला, जिसके नीचे निरपराध भोली-भाली जनता बुरी तरह पिस गई। आखिर हर एक वस्तु की कोई सीमा होती है, समय ने पलटा खाया, जनता अन्ध-विश्वास के वातावरण से- तथाकथित धार्मिक भावनाओ से—ऊब उठी। कुछ वेधडक साधु-सन्त समाज के उद्धार के लिये मैदान में आये। यह ध्यान रखने की बात है कि इन सन्तो मे से अधिकांश उन नीची कही जाने वाली जातियो में से थे, जो समाज की रक्त-संचारक-धमनियां कही जा सकती हैं और जिनकी त्यागमयी सेवाओं के आधार पर समाज का सांस कायम है। परिवर्तन की यह लहर दक्षिण से ही उठी थी और देखते ही देखते मध्यभारत में होकर आती हुई उत्तरी भारत में भी फैल गई। इस भावना से प्रेरित सन्त-महात्माओ ने अपनी अटपटी सधुक्कडी वाणी में अपने अनुभव जनता के सामने रखे। यद्यपि ये सन्त बडे निर्भीक और उच्चकोटि के भक्त थे, तथापि सिद्धान्तो के लिये परम्परा का सहारा इन्हें भी लेना पडा। एक ओर तो बुद्ध धर्म के ध्वंसावशेष पर अपना आधार जमाने वाले अनेक पथ एव हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय अपनी अपनी लय और तान के अनुसार राग अलाप रहे थे, दूसरी ओर प्रेम मार्गी सूफी कवियो ने भारतीय भक्ति-साधना के क्षेत्र में अपनी पीयूषवर्षिणी वाणी से वह तान छेडी, जिसके सरस-सीकरो ने नीरस मानव-मानसाम्वुज में मकरन्द का मृदु वर्षण किया। कबीर आदि अनेक कवियो ने विभिन्न मतो की कुरीतियो का भण्डाफोड कर एक सामान्य भक्ति-मार्ग प्रशस्त करके एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया था, किन्तु उनकी अटपटी वाणी में उपदेशो की भरमार, कटु आलोचना के विस्तार और तीक्ष्ण व्यग्यो की बौछार का कोई पारावार न था, अतएव उनका उपदेश अधिकाश जनता पर प्रभाव न डाल सका। प्रेममार्गी कवियो ने किसी धर्म की कुरीतियो का उद्‌घाटन न करते हुए कटु-वातावरण को सर्वदैव दूर रखने का प्रयास किया और अपनी धार्मिक-साधना को देश, काल एव समाज की आवश्यकता के अनुसार हिन्दुओ की भक्ति-साधना के सांचे में ढालकर ऐसा रूप दिया, जिसकी उपेक्षा न तो हिन्दू ही कर सकते थे और न मुसलमान ही। उस साधना-प्रतिमा में प्रेम-प्राणो की प्रतिष्ठा कर उन्होंने उसे मानव-मात्र का उपास्य बना दिया। हम पहले कह चुके हैं भक्ति-काल के पौराणिक युग में श्रीमद्भागवत एक ऐसा ग्रन्थ रचा गया था, जिसमें गीता की भांति साधना की विभिन्नताओ को दूर कर तत्कालीन प्रचलित वैदिक-साधनाओ का सुन्दर समन्वय करके एक सर्वोपयोगी पथ प्रशस्त करने का परमपुनीत कार्य किया गया है। यही कारण है कि सभी वैदिक सम्प्रदायो ने भागवत को मान्यता दी और उसके आधार पर अपनी-अपनी भक्ति-भावनाओ का प्रसार किया। इन सम्प्रदायो में अनेक सच्चे भक्त दीक्षित हुए, जिन्होंने भागवत की मान्यता को स्वीकार करते हुए तत्कालीन भक्ति-साधनाओ का समन्वय किया। इन भक्तो ने मानवता के समान धरातल पर खडे होकर भक्ति-गद्‌गद-स्वर से चर-अचर में स्पन्दन भरनेवाले जो दिव्य गीत गाए थे वे भक्ति-साहित्य के नाम से प्रख्यात हैं। पन्द्रहवी, सोलहवी और सत्रहवीं शताब्दियो में समस्त देश में इन्ही गीतो की ध्वनि गूंजती रही, जिनकी प्रतिध्वनि अब भी एकाग्रचित्त होने पर सुन पडती है। यही इस भक्ति-आन्दोलन का उत्कर्ष था। अकबर के राज्य-काल में यह आन्दोलन विशेष रूप से पनपा। उसने सब धर्मो के सिद्धान्तो का सार लेकर 'दीनइलाही' मत चलाया और धार्मिक-सामजस्य उपस्थित करने का प्रयत्न किया। यद्यपि इस कार्य में उसे सफलता नही मिली, तथापि उसकी उदारता, सहिष्णुता और सत्य-जिज्ञासा की यह भावना सराहनीय है। उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन वैदिक-काल से लेकर सूफियो तक की विभिन्न धर्म-साधनाओ का अध्ययन है, इसलिये इन सभी साधनाओ का थोडा बहुत परिचय प्राप्त करना इस आन्दोलन को समझने में सहायक होगा।

बौद्ध मत

गौतम-बुद्ध के मुख्य रूप से चार सिद्धान्त थे, जिन्हे "चत्वारि आर्य-सत्यानि" कहा गया है अर्थात् दु:ख, दु:ख-समुदय, दु:खनिरोध और दु:ख-निरोध-मार्ग।

हमारा जीवन दु:खमय है, उसमे आनन्द की इच्छा करना ही दु:ख का कारण है, अतएव उसके त्याग से ही दु:ख की निवृत्ति हो सकती है और उसका त्याग सरल जीवन व्यतीत करने से ही सभव है। तीसरे सिद्धान्त के अनुसार प्राप्त अवस्था को 'निर्वाण' कहते हैं। गौतम बुद्ध ने अपना मत अपने अनुभवो के आधार पर खड़ा किया, जिसमें आदर्श नैतिक जीवन का सचार था, व्यावहारिकता की उपेक्षा न की गई थी और वैदिक धर्म की हिंसावृत्ति की प्रतिक्रिया का सन्निधान था। उन्होने अपने सीधे-सादे मार्ग में दार्शनिक गुत्थियाँ नही रखी थी पर उनके शिष्यो में से एक ने धर्म के दार्शनिक पक्ष पर बहुत बल दिया और दूसरे ने व्यावहारिक-पक्ष पर। ये दोनो सम्प्रदाय 'महायान' और 'हीन-यान' के नाम से विख्यात हुए। 'हीनयान' में नैतिक प्रवृत्ति वाले लोग थे पर 'महायान' का विस्तार बहुत था, जो सभी वर्गो के विभिन्न लोगो को लेकर आसानी से चल सकता था। यह शाखा वैदिक-धर्म से प्रभावित होने के कारण बुद्ध के अनेक अवतारो मे विश्वास रखने लगी और इसमे मन्त्र-तन्त्र आदि का भी समावेश हो गया। इसी महायान शाखा मे से केवल मत्र-तत्रो को लेकर चलने वाली मन्त्रयान-शाखा भी चली। इन मन्त्रयानी साधको मे से कुछ ने अनेक हठयोग की क्रियाओ से प्रभावित होकर 'वज्रयान' शाखा का प्रारम्भ किया। इसी वज्रयान-शाखा के प्रचारको मे 'चौरासी सिद्धो' का भी नाम आता है। यहाँ पहुँचकर बौद्ध धर्म का स्वरूप इतना परिवर्तित हो गया कि पहचानने में भी कठिनाई पडने लगी, शून्य का स्थान 'प्रज्ञा' ने ले लिया और करुणा का 'उपाय' ने और इस प्रकार 'प्रज्ञोपाय' द्वारा ही उन्होने निर्वाण की उपलब्धि बताई। प्रज्ञा और उपाय के मिलन की अवस्था को उन्होने 'युगनद्ध' का नाम दिया। आगे चलकर प्रज्ञा स्त्री का प्रतीक बनी और उपाय पुरुप का तथा दोनो का मिलन महासुख का कारण माना जाने लगा। 'युगनद्ध' शब्द का पारिभाषिक अर्थ स्पष्ट करने के लिये स्त्री-पुरुष की मिलन-दशा की अनेक अश्लील मूर्तियां गढ़ी जाने लगी और इस सम्प्रदाय में धर्म के नाम पर व्यभिचार का ताण्डव नृत्य होने लगा। साम्प्रदायिक सकीर्णता में पड कर महान् से महान् धर्म की भी कितनी दुर्दशा हो जाती है, यह बौद्ध-धर्म की कहानी से स्पष्ट है। हठयोगियो के प्रभाव से इस शाखा में 'हठयोग' के भी कुछ पारिभाषिक शब्दो का समावेश हो गया, जैसे इडा, सुषुम्ना, पिंगला आदि। इन चौरासी वज्रयानी सिद्धो में से कुछ सिद्ध सफल साधक भी हुये हैं, जो अपनी साधना के सच्चे स्वरूप को सहज-साधना के नाम से पुकारते थे, अतएव उन्होने सहजयानी नामक एक और शाखा को जन्म दिया। इन सिद्धो का अपना विशाल साहित्य है, जिसमें अनेक साधनाओ का विस्तृत विवरण मिलता है। इस बौद्ध धर्म के साथ ही साथ जैन धर्म की भी उत्पत्ति हुई। यद्यपि बौद्ध धर्म की भाँति जैन धर्म न तो व्यापक ही था और न ही उसमे इतनी व्यावहारिकता थी तथापि इस धर्म से भी यह भक्ति-आन्दोलन बहुत कुछ प्रभावित हुआ। जैन लोग भी अपने धर्म को वैदिक-धर्म जैसा ही प्राचीन मानते हैं। हिन्दू-धर्म के नारायण की भाँति वे ऋषभदेव को अपना पुरुष-पुराण मानते हैं, परन्तु इस धर्म का क्रमबद्ध इतिहास चौबीसवें तीर्थङ्कर महावीर स्वामी से ही मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने भी वैदिक कर्म-काण्ड के विरोध में अपने अहिंसात्मक धर्म को खडा किया था। उनके उपदेशो में व्यावहारिकता की अपेक्षा आदर्शवादिता ही अधिक है। उन्होने सयमशील कठोर-जीवन पर विशेष बल दिया। इन्होंने जीव को तो शुद्ध रूप माना है और कर्म को आवरण, जिसको

उन्होने पुद्गल का नाम दिया है। इसमें कर्म को प्रधानता दी है और पुद्गल को हटा कर सच्ची स्थिति प्राप्त करना ही जीव का लक्षण बताया है। सृष्टि को इन्होने अनादि माना है तथा उसका नियन्ता कर्म को ही माना है। तीर्थङ्करो की मूर्तिपूजा का प्रचार इस मत में बहुत दिनो से है। मूर्तियो के शृङ्गारादि के विषय को लेकर इनके दो मत हुये एक श्वेताम्बर और दूसरा दिगम्बर। इनके धर्म-सिद्धान्तो की चर्चा और उनका अर्थवाद चौवीस पुराणो में विस्तार के साथ कहा गया है। कुछ लोगो की धारणा है कि हिन्दू-धर्म में मूर्ति-पूजा का समावेश और अवतार-भावना का श्री गणेश इसी मत के प्रभाव से हुआ है। नवी-दसवी शताब्दी तक जैन धर्म में भी अनेक बाह्याचारो का समावेश हो गया था और हिन्दू तथा बौद्ध पद्धतियो से बहुत कुछ प्रभावित हो गया था। बौद्ध धर्म की भाँति जैन धर्मावलम्बियो ने भी अपने धर्म में सुधार की चेष्टा की, परन्तु वह व्यर्थ रही।

नाथ योगी संप्रदाय

बौद्धो के सिद्ध-सम्प्रदाय से मिलता जुलता एक और नाथ योगी सम्प्रदाय बहुत दिनो से भारत में चला आ रहा था। इसके अनुयायी भी अपना उद्गम वेदो से सिद्ध करते हैं। डब्लू ब्रिग्स (W Briggs) ने इस सम्प्रदाय पर कुछ प्रकाश डाला है[1]। इस सम्प्रदाय में व्रत, तपश्चर्या, योग-साधन आदि पर विशेष बल दिया गया है। गौतम बुद्ध के समय मे भी इस प्रकार के कुछ योगियो का उल्लेख मिलता है। सिकन्दर भी इस सम्प्रदाय के एक योगी को अपने साथ ले गया था। पतजलि ने तो ईसा से पहले दूसरी शताब्दी में ही 'योग-दर्शन' नामक एक व्यवस्थित ग्रन्थ लिख दिया था। ये लोग अपने आपको शैव सम्प्रदाय से सबद्ध मानते हैं और शिव को ही इस सम्प्रदाय का आदि सस्थापक मानते हैं। नाथो की परम्परा मछन्दरनाथ से मिलती है, जिनके शिष्य गोरखनाथ जी हुए। गुरु गोरखनाथ ने ही कनफटे योगियो की परम्परा चलाई और इस सम्प्रदाय में हठयोग को प्रधानता दी। समस्त भारतवर्ष में पर्यटन कर उन्होंने स्थान-स्थान पर अपने सम्प्रदाय की गद्दियाँ स्थापित की। आज भी भारत में इस प्रकार की बारह गद्दियाँ विख्यात हैं। जहाँ तक इनके साहित्य का प्रश्न है, गोरखनाथ जी की बानियो' के अतिरिक्त अभी तक कोई भी रचना प्रकाश में नही आई। इनका समय ८वी ९वी शताब्दी के लगभग रहा होगा। इस सम्प्रदाय का प्रधान प्रसार-क्षेत्र नैपाल, उत्तरी भारत, आसाम तथा महाराष्ट्र रहा है। गोरखनाथ के सिद्धान्त योग-दर्शन के सिद्धान्तो के समकक्ष रखे जा सकते हैं। उनका कथन है कि यदि इस शरीर के नौ द्वारो को बन्द करके वायु के आने-जाने का मार्ग रोक लिया जाय तो उसका व्यापार ६४ सन्धियो में होने लगेगा, जिससे काया-कल्प होगा। जब साधना के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र को जगा दिया जाता है तो अनाहत नाद सुनाई देता है जो सब का सार है। गोरखनाथ के सिद्धान्तो में आत्म चिन्तन, साधना आदि का भी समावेश है। हमारे भक्ति आन्दोलन पर भी इनका पर्याप्त प्रभाव पडा है। 'गोरखनाथ' द्वारा बताई हुई निर्गुण निराकार की उपासना सूफियो के प्रेम का आधार पाकर लोकप्रिय बन गई और कबीर आदि सन्त-कवियो पर तो इसका प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता ही है। इसका विवेचन हम आगे करेंगे।

सूफी-संप्रदाय

हम पहले बता चुके हैं कि सवत् ८०० से लेकर सवत् १४०० तक का काल भारतवर्ष के इतिहास में सामाजिक और धार्मिक क्रान्ति का युग था। ८वी शताब्दी से ही भारतवासियो

1 Gorakh Nath and the Kanfata Yogies "(an article by W Briggs) published in Religious life of India Series"

का मुसलमानो से सम्पर्क हो चला था। इस्लाम धर्म के प्रवर्तक हजरत मुहम्मद साहब ने अरब वालो के भेद-भाव को दूर करके उन्हे एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया था। वे पूरे एकेश्वरवादी थे और ईश्वर की पूर्णता और न्यायशीलता मे पूर्ण विश्वास रखते थे। कोई समस्या सामने उपस्थित होने पर वे खुदा की इबादत करने के लिये बैठ जाते थे और उससे दुआयें माँगते थे। खुदा का साक्षात्कार कर वे भाव-विभोर होकर लेट जाते और गद्गद कण्ठ से अनेक वाक्य उनके मुख से स्वयमेव नि.सृत हो जाते थे। इन वाक्यो का सग्रह ही 'कुरान शरीफ' है जिसमे धर्म के विषय मे एक स्थान पर लिखा है.—'धर्म की असलियत यही है कि ईश्वर ने जो अच्छाई का रास्ता निश्चित किया है उसका ठीक ठीक अनुसरण किया जाय"[1]। मौलाना अब्दुल-कलाम आजाद का कथन है कि "कुरान शरीफ मत-भेदो को महत्त्व नही देती"[2]। स्वय कुरान शरीफ में लिखा है "मत-भेदो के पीछे न पड़ कर नेकी की राहो में एक दूसरे से आगे निकलने का प्रयत्न करना चाहिये"[3]। इसलाम धर्म के अनुसार कुछ साधनाएँ निश्चित की गई हैं जैसे—हकीकत=(ज्ञान-मार्ग) तरीक़त=(भक्ति-मार्ग) शरीयत=(कर्म-मार्ग) सूफी लोग अपनी साधना को मारफत कहते थे और इसे (Spiritual Love) आत्मिक-प्रेम की सज्ञा देते थे। चारो खलीफाओ अर्थात् अबूबकर, उमर, उसमान और अली के जमाने मे सूफियो का कोई विरोध नही हुआ। उमय्या खानदान से अब्बासी खानदान तक यह सम्प्रदाय, बसरा, बगदाद, सीरिया, मिश्र और स्पेन तक फैल गया था। 'सूफी' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में अभी विद्वानो में मतैक्य नही है। कोई इसे ग्रीक शब्द 'सोफी' से, कोई सफ यानी कतार के आधार पर, कोई 'सफा' अर्थात् सफाई के आधार पर, कोई 'सुफ्फा' यानी 'मदीना' के सामने बने हुये चबूतर से, कोई 'सूफ' यानी ऊन से निकला बताते हैं। सूफी मजहब हिन्दुस्तान मे उमय्या खानदान के जमाने में ही आ गया था। लेकिन इसका असली प्रचार 'अबुलहसन-हुज-हुज्जरी' की लिखी हुई 'कश्फुन महतूब' नामक पुस्तक के द्वारा हुआ। इसके पश्चात् अन्य कितने ही प्रसिद्ध सूफी हुए जैसे—बाबा फखरुद्दीन, सूफी सैय्यद मुहम्मद बन्दा-निवाज इत्यादि। इन सूफियो के भी चार फिर्के थे—चिश्तिया, सुहरवर्दिया, कादरिया और नक्शबन्दिया। इन चारो में कोई खास विरोध नही है। सूफी-सम्प्रदाय ने भारतीय भक्ति-साधना को बहुत प्रभावित किया है इन लोगो में कट्टरता या धर्मान्धता न थी, आचरण की विशुद्धता, पारस्परिक सहानुभूति, ईश्वर में श्रद्धा, विश्व-प्रेम आदि इनके सम्प्रदाय की विशेषताएँ थी। भारतीय साधना के लिए इन सूफियो की मुख्य देन है 'प्रेम-साधना। इन्होने हमारी भक्ति मे माधुर्य-भाव को पूर्णतया भर दिया। बसरा में रहने वाली राबिया नाम की एक दासी अपने आपको परमेश्वर की पत्नी मानती थी। इसी सम्प्रदाय में जूल-नून और मन्सूरुल-हल्लाज जैसे फकीर हुए, जो प्रेम-मदिरा में मस्त होकर हँसते-हँसते प्रभु के प्रेम के लिए प्राण तक उत्सर्ग कर गये। यह सूफी सम्प्रदाय नाथयोगी सम्प्रदाय से प्रभावित हुआ था और उन्होने अपने यहाँ चार पदो की कल्पना की थी। आलमे नासूत (भौतिक जगत्) आलमे मलकूत (चित्त-जगत्) आलमे-जबरूद (आनन्दमय जगत्) और आलमे लाहूत (सत्य जगत)। एक और भी आलम इन्होने माना था, जिसे ये आलमे हाहूत (रहस्यपूर्ण-जगत्) कहते थे। अपनी सिद्धावस्था को ये कभी 'बका', कभी 'फना' कहते थे। आगे चलकर

---

१ कुरान शरीफ, सूरा ३ आयत १८।

२ तर्जुमा-उल-कुरान (मौ० आजाद) सैयद जहीरुल-हसन द्वारा अनूदित, क। कुरान और धार्मिक मत-भेद शीर्षक लेख।

३ कुरान-शरीफ सूरा ५, आयत ४८।

इस सम्प्रदाय के कुछ सन्तो ने हिन्दी में ही रचनाएं की और भारतवर्ष की कहानियो के द्वारा अपनी प्रेम-पीर को प्रकट किया।

इन सूफियो ने भी मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन पर गहरा प्रभाव डाला है। चौदहवी-पन्द्रहवी शताब्दियो मे भक्ति-साधना का जो स्वरूप बना, उसमे इन सभी सम्प्रदायो का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। दक्षिण में तामिल प्रान्त में ऐसे भक्त प्राय दूसरी शताब्दी से अपनी प्रेम-पीर प्रकट कर रहे थे। वे भक्त आडवार' नाम से प्रसिद्ध थे तथा अपने गीतो और भजनो के द्वारा अपनी भक्ति-भावना को प्रकट किया करते थे। उनके इस प्रकार के भक्ति-परक भजनो का एक सग्रह तामिल 'प्रवन्धम्' नाम से प्रसिद्ध है। सम्भवत दक्षिण के सभी वैष्णव-आचार्य इसी 'प्रवन्धम्' से प्रभावित थे और उन आचार्यो के सम्प्रदायो का आचरण-पक्ष प्राय इसी 'प्रवन्धम्' से प्रभावित है। काश्मीर मे भी इसी प्रकार के भक्तो का एक सम्प्रदाय मिलता है, जो 'प्रत्यभिज्ञा' मत का मानने वाला था। प्रत्यभिज्ञा मत के अनुसार ज्ञान और भक्ति दोनो का समन्वय ही श्रेयस्कर है। ऐसे ही भक्तो का एक सम्प्रदाय मध्यदेश मे भी था, जो 'वारकरी" सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध था और जिसमें सन्त ज्ञानेश्वर का नाम उल्लेखनीय है। वगाल में भी एक 'सहजिया' सम्प्रदाय प्रचलित था, जिसमें 'चण्डीदास' का नाम उल्लेखनीय है। इस सहजिया सप्रदाय में भी प्रेम-पक्ष पर विशेष वल दिया गया है। इस संप्रदाय में परकीया प्रेम को महत्व दिया है। यह सहज सप्रदाय वौद्धो की सहजयान शाखा के समकक्ष रखा जा सकता है। जैसे उसमे प्रज्ञा और उपाय का "युगनद्ध" रूप सामने रखा गया था, उसी प्रकार इन्होने राधा और कृष्ण का युगल-रूप सामने रखा। राधा-कृष्ण की लीला का स्वरूप वास्तव में इसी सप्रदाय मे विशिष्ट रूप से मिलता है। धीरे-धीरे इस सप्रदाय वालो ने मानवीय प्रेम को भी दिव्यता प्रदान की और कहा कि मानव प्रेम अपनी सर्वोत्कृष्ट और शुद्ध दशा मे ईश्वरीय प्रेम वन जाता है। इस सहजिया और सूफी सप्रदाय के योग से एक और सप्रदाय का जन्म हुआ, जो 'वाउल' सप्रदाय के नाम से प्रचलित हुआ, जिसमें मानव-प्रेम को ही प्रधानता दी गई। इस प्रकार दूसरी सदी से चौदहवी सदी तक भारतवर्ष मे भक्ति ने अनेक रूप धारण किए और वहुत से सप्रदाय तथा मत-मतान्तर प्रचलित हुए। अन्त मे इन सभी का समन्वय राम और कृष्ण की भक्ति के रूप मे हुआ। राम और कृष्ण को उपास्य मानकर चलने वाले वहुत से भक्त हुए, जिनमे तुलसीदास और सूरदास का नाम उल्लेखनीय है। ये दोनो महात्मा अपने युग के प्रतिनिधि थे और किसी प्रकार के सघर्ष मे न पडकर इन्होने अपने युग का सन्देश जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया। हम अगले प्रकरण में वतलाएँगे कि किस प्रकार इस भक्ति-आन्दोलन में दक्षिण के आचार्यो ने योग दिया और भक्ति का एक समन्वित रूप जनता के समक्ष प्रस्तुत किया। सैद्धान्तिक रूप में तो उन दाक्षिणात्य आचार्यो ने अपने अलग-अलग सप्रदाय चलाये किन्तु व्यवहार-पक्ष मे भक्ति को ही सर्वोपरि रखा। वात यह थी कि भक्ति सम्वन्धी शास्त्रो का प्रणयन तो अवश्य राजनीतिक परिस्थितियो के कारण दक्षिण मे हुआ किन्तु उनका प्रचार और प्रसार उत्तरी भारत में ही सम्भव था, क्योकि उन ग्रन्थो के नायक अवतारो की जन्म और विचरण-भूमि—जिसके कण-कण में उनके कार्य-कलापो का सम्वन्ध था—उत्तरी भारत में ही थी। सौभाग्यवश इन आचार्यो को ऐसे शिष्य भी मिल गये, जिन्हे वाणी का अमर वरदान प्राप्त था और जो उनके उपदेशामृत को जनसाधारण की वाणी में ही जनता तक पहुँचा सकते थे। सूर और तुलसी उन भक्त-मणि-मालाओ के सुमेरु कहे जा सकते हैं। हमारे चरित-नायक सूर दाक्षिणात्य दिग्गज पण्डित वल्लभाचार्य द्वारा सस्थापित पुष्टि-सम्प्रदाय मे दीक्षित थे। राजनीतिक परिस्थितियाँ यद्यपि अनुकूल हो चली थीं फिर भी अभी तक क्षितिज मेघाडम्बरो से शून्य

नही था। वल्लभाचार्य के ग्रन्थो मे यत्र-तत्र उन परिस्थितियो का सकेत भी मिलता है। उस समय के जो इतिहास-ग्रन्थ है, उनसे हमे तत्कालीन परिस्थिति का परिज्ञान नही हो पाता, क्योकि उनके विवरण न तो शृङ्खलाबद्ध ही कहे जा सकते हैं और न सर्वाङ्गीण ही। आधुनिक इतिहास लेखको ने इन्ही के आधार पर कुछ विवरण प्रस्तुत किये हैं। डा० ईश्वरीप्रसाद की History of Medieval of India तथा स्मिथ की Cambridge History of India इस विषय में विशेष उल्लेखनीय हैं। Asiatic Society of Bengal के Jaurnal, Vol. I, 1935 के चौथे लेख में सन् १२०० से १५५० तक की परिस्थितियो पर प्रकाश डाला गया है, इसका सम्पादन श्री मो० अशरफ ने 'Life and Conditions of the People of Hindustan (1200 1550 A. D.)—(Mainly based on Islamic Sources) इस नाम से किया है। परन्तु इस ग्रन्थ में तुलनात्मक विवेचन न होने के कारण हमारी दृष्टि से यह अधिक उपयोगी नही है और भी जितने पाश्चात्य विद्वानो ने इस विषय पर ग्रन्थ लिखे है, उन्होंने देश की आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियो का विस्तृत परिचय नही दिया है। उस समय के भक्तो और कवियो की रचनाओ में भी तत्कालीन परिस्थितियो के सकेत हमे मिल जाते हैं। भक्ति-आन्दोलन की पृष्ठ-भूमि प्रस्तुत करने के लिये यह विषय बडा महत्त्वपूर्ण है किन्तु विस्तार-भय से हम इसकी चर्चा यहाँ न उठायेंगे हमारा विचार है कि इस विषय पर एक पृथक् ही ग्रन्थ लिखा जाय।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थो मे परम्परा के अनुसार राजनीतिक अराजकता, सामाजिक दुर्व्यवस्था और धार्मिक अत्याचारो को ही भक्ति-आन्दोलन का मूल कारण माना है जैसा कि आचार्य शुक्ल ने लिखा है.

"देश मे मुसलमानो का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह स्थान न रह गया। उनके सामने ही उनके देव-मन्दिर गिराये जाते थे, देव-मूर्तियां तोडी जाती थी और पूज्य-पुरुषो का अपमान होता था और वे कुछ भी नही कर सकते थे। ऐसी दशा मे अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न लज्जित हुए बिना सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लडने वाले स्वतन्त्र राज्य भी न रह गये। इतने भारी राजनीतिक उलट फेर के पीछे हिन्दू जन-समुदाय पर बहुत दिनो तक उदासी सी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिये भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ?"[१]

डा० ईश्वरीप्रसाद ने सुल्तान काल की हिन्दू जनता की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक दशा का वर्णन इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

"इस्लाम धर्म का प्रचार भारतवर्ष मे उसके सरल सिद्धान्तो के कारण नही अपितु इसलिए हुआ कि वह एक राजशक्ति का धर्म था, जिसका प्रचार विजित प्रजा में बलात् कृपाण और दण्ड के आधार पर किया जाता था। स्वार्थ-सिद्धि एव राज सभा में उच्च-पद प्राप्त करने के लोभ मे लोग अपने धर्म को त्याग कर इसलाम को स्वीकार कर लेते थे, किन्तु पद-प्राप्त-प्रलोभन एव राज्य की ओर से आर्थिक पुरस्कार उस वर्ग के प्रति हिन्दुओ के हृदय में कसकती हुई वैर-भावना को दबाने में कभी सफल नही हुए, जिसने उनके

१ आचार्य शुक्लकृत हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ ६०

स्वातन्त्र्य का अपहरण किया था और उनके धर्म को घृणा की भावना से देखता था। धार्मिक एव राजनीतिक दोनो ही दृष्टियो से हिन्दू सताये जा रहे थे और हिन्दुओ की ओर से भी प्रवल विरोध था। मूर्तियो को तोडना, सव प्रकार के विरुद्ध विश्वासो का हनन और काफिरो (हिन्दुओ) को इसलाम में दीक्षित करना आदि कार्य आदर्श इसलाम-राज्य के कर्तव्य समझे जाते थे। सिकन्दर लोदी के राज्य-काल में तो हिन्दुओ पर अत्याचार करने का एक आन्दोलन-सा ही चल गया था। राज्य की ओर से गैर-मुस्लिम प्रजा पर वडे प्रतिवन्ध थे उसे वलपूर्वक मुसलमान वनाना तो सामान्य वात थी। उसे एक प्रकार का कर, जो 'जजिया' कहलाता था, देना पडता था। यद्यपि कुरान में इस प्रकार की जवरदस्ती का विधान नहीं है। मुसलमान राज्यो में शाही लोगो में विलासिता का दौर था। राज्य के उच्चपद मुसलमानो के लिये सुरक्षित थे, योग्यता की पूछ नही थी, वादशाह की इच्छा ही कानून था। सुलतान की कृपादृष्टि से जिन्हे सम्पत्ति और अधिकार प्राप्त थे उनमें विलासिता और दुर्व्यसन घर कर गये थे, जिसके कारण ईसा की १४वी शताव्दी के अन्त में मुसलमानो मे शक्ति और स्फूर्ति की अवनति होने लगी। हिन्दू लोग निर्धनता, दीनता और कठिनाई का जीवन व्यतीत करते थे। उनकी आय उनके कुटुम्व के लिये मुश्किल से ही काफी होती थी। विजित प्रजा के जीवन-यापन का स्तर वहुत निम्नकोटि का था और राजकीय-कर का भार उसी को प्रधानतया वहन करना पडता था। ऐसी वुरी स्थिति में उन्हे अपनी राजनीतिक प्रतिभा के परिष्कार का अवसर भी कभी न मिल सका।"[1]

हम पहले लिख चुके हैं कि सूरदास जी का काल स० १५३५ से स० १६४० तक था। इस दीर्घकाल में दिल्ली-साम्राज्य में अनेक परिवर्त्तन हुए। दिल्ली की गद्दी पर कई मुसलमान वादशाह वैठे और उन्होने अपनी-अपनी व्यवस्था चलाई। १०० वर्ष से ऊपर के इस समय में लोदी, सूरी और मुगलवशी वादशाहो का आधिपत्य दिल्ली पर रहा तथा व्रज-प्रदेश दिल्ली और आगरे के मातहत रहा। केम्व्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया के अनुसार इन वादशाहो का समय-निर्धारण इस प्रकार है—

१—वहलोल लोदी	सन् १४५१ ई० से	१४८७ ई० तक
२—सिकन्दर लोदी	१४८९	१५१७
३—इव्राहीम लोदी	१५१७	१५२६
४—वावर	१५२६	१५३०
५—हुमायूँ	१५३०	१५३९
६—शेरशाह सूरी	१५३९	१५४५
७—इसलाम शाह	१५४५	१५५४
८—मुहम्मद आदिलशाह तथा ९—सिकन्दर शाह	१५५४	१५५५
१०—हुमायूँ (पुन.)	१५५५	१५५६
११—अकवर	१५५६	१६०५

इतिहास के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि खिलजी वश से पूर्व स्थिति चाहे जैसी रही हो परन्तु खिलजी वश का देश पर आधिपत्य होने के पश्चात् राजनीतिक भावनाओ मे क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। इस वंश का सस्थापक जलालुद्दीन खिलजी स्वय अत्यन्त कोमल

१ हिस्ट्री आफ मैडिवियल इण्डिया (डा० ईश्वरी प्रसाद) पृष्ठ ४६९-४७०

हृदय का व्यक्ति था। अलाउद्दीन ने तो अपने राजत्व का आदर्श ही बदल दिया था। उसने मुल्ला और मौलवियों के प्रभाव से राजनीति को दूर कर अपना धर्म-निरपेक्ष दृष्टिकोण घोषित किया। रजनीतिक विद्रोह को दबाने में अथवा उसके कारणों को ही दूर करने के लिये उसने अवश्य ही कठोर नीति का आश्रय लिया किन्तु उसके मूल में कोई धार्मिक भावना न थी। राजनीतिक अपराध करने पर हिन्दू और मुसलमान दोनों ही समान रूप से उसके कोप के भाजन बनते थे। इस्लाम धर्म की ओर भी कोई रियायत करने की गुञ्जाइश उसकी नीति मे नही थी। यह सत्य है कि उसके उत्तराधिकारियो की नीति ऐसी नही रही, किन्तु बीच-बीच में कोई-कोई सुल्तान अवश्य ही धार्मिक सहिष्णुता और उदारता का परिचय देते थे। मुहम्मद तुगलक के राज्य-काल में भी अलाउद्दीन की धर्मनिरपेक्ष नीति का अनुसरण किया गया। तैमूर के आक्रमण से फैली अराजकता के कारण शासन-सूत्र दृढ न रह सका और ऐसे तत्त्वों का उदय हुआ, जिनसे सामाजिक संगठन मे भी बडी ही अस्त-व्यस्तता का प्रादुर्भाव हुआ। सैयद और लोदी वंश के राज्य-काल मे भी (एक-दो शासकों के अतिरिक्त) शासकों के शासन का जैसा विवरण इतिहासो में मिलता है, उससे उनकी धार्मिक कट्टरता का ही आभास मिलता है, जिसके कारण अन्य मतावलम्बियो को अनेक कष्ट सहन करने पडे, किन्तु इस तथ्य को समस्त इतिहासकार एक स्वर से स्वीकार करते है कि अकबर के समय तक परिस्थिति बहुत कुछ परिवर्तित हो चुकी थी। शेरशाह सूरी हिन्दुओ की पाठशालाओ और मन्दिरो को भी वक्फ देता था और हिन्दू-विद्वानो को भी वजीफे दिये जाते थे[1]।

अकबर उदार प्रकृति का सम्राट् था। सत्य की उसे प्रबल जिज्ञासा थी। विभिन्न मतो के आचार्यों के वाद-विवाद सुनकर उसकी यह धारणा बन गई थी कि सभी धर्मों मे अच्छी-अच्छी बातें है, केवल अपनी धर्मान्धता के कारण मनुष्य इस भेद के मूल मे स्थित अभेदता को देख नहीं पाता। उसने अपने समय में प्रचलित समस्त धार्मिक भावनाओ का समन्वय करने का प्रयत्न किया, बौद्धिक आधार पर अपनी प्रजा में धार्मिक एकता पर जोर दिया और कट्टर मुसलमानो द्वारा घोर विरोध किये जाने पर तथा मुल्लाओ द्वारा इसलाम-धर्म से च्युत होने का फतवा पाकर भी वह अपनी नीति पर अटल रहा। अपनी धार्मिक भावनाओ को मूर्तिमान् रूप देने के लिये ही उसने 'दीने-इलाही' धर्म चलाया[2]। राजपूत राजकुमारियो से विवाह करने के पश्चात् उसकी नीति उदार होती चली गई थी। हिन्दुओ पर से 'तीर्थयात्रा का कर' और जजिया भी उसने उठा लिया था। कभी कभी वह माथे पर तिलक लगा कर सूर्य की उपासना करता था और कभी-कभी तुलादान भी।[3]

सामाजिक-स्थिति

अकबर से पूर्व अनेक सुल्तानो के शासन मे हिन्दू जनता को मुसलमानो की अपेक्षा कम राजनीतिक और धार्मिक अधिकार प्राप्त थे, यह हम ऊपर संकेत कर आये हैं। सामाजिक अधिकारो का भी हिन्दू लोग स्वतन्त्रता से उपयोग नही कर सकते थे। उनकी स्थिति डावाँ-डोल थी फिर भी आत्म-गौरव का उनमे बिल्कुल लोप न हो गया था, परन्तु विलासिता का भी अभाव न था। साधारण जनता की आर्थिक स्थिति अच्छी न थी गरीब लोगो को कठिन परिश्रम करके भी पेटभर अन्न जुटाना दूभर था किन्तु उच्च घराने के लोगो मे

१ हिस्ट्री आफ मैडिवियल इण्डिया (डा० ईश्वरीप्रसाद)

२ देखिये "अकबर दी ग्रेट मुगल" पृष्ठ १८२

३ डा० ईश्वरीप्रसाद

आभूषण, बनाव-ठनाव और ऐश्वर्य-प्रदर्शन का प्रचलन था। मुखों पर केशर मिश्रित-अङ्गराग और शीतलता के लिए शरीर पर केशर मिले उबटन का प्रयोग किया जाता था। हाथों में कंगन, गले में मोतियों की मालायें, कानों में रत्नजटित बालियाँ और केशों में पुष्प धारण करने की प्रथा थी।[1] वर्ण-व्यवस्था उतनी संगठित न रह गई थी। आध्यात्मिक एवं मानसिक शक्ति की प्रतिनिधि ब्राह्मण जाति में अनेक दुर्गुण आ गये थे, क्षत्रियों में वंश-विभाजन और भेद बढ़ते जा रहे थे। जातीयता की भावना का लोप हो गया था और व्यक्तिगत संकुचित मान-अपमान के प्रश्न पर जूझने की भावना उनमें बढ़ती जा रही थी। धोबी, मोची, जुलाहे आदि अस्पृश्य समझे जाते थे। ये लोग गाँव के भीतर नहीं रह सकते थे, अपितु बाहर झोपड़े डाल कर रहते थे। हाडी, चाण्डाल और डोम जातियों की दशा इससे भी बुरी थी वे अत्यन्त घृणित समझे जाते थे।[2] हिन्दू लोग रक्षा-बन्धन, दीवाली, होली आदि त्योहार मनाते थे किन्तु उनके ये पर्व शासक-वर्ग की सहानुभूति न होने के कारण निरापद नहीं थे। अमीर खुसरो की रचनाओं में उस काल की सामाजिक प्रवृत्तियों का सुन्दर चित्रण हुआ है, जिससे प्रतीत होता है कि लोगों में पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष बढ़ रहा था, दण्ड-विधान कठोर था और अविश्वास की भावना के साथ आशङ्का ने हृदय में स्थान बना लिया था।

अकबर के समय में हिन्दू और मुसलमान जातियों के बीच की खाई को कम करने का प्रयास किया गया। दोनों के अधिकार समान कर दिये गए, हिन्दुओं को भी राज्य में ऊँचे पद और सम्मान प्राप्त हुए। अनुचित करों को हटा देने और राज्य की नौकरियों का द्वार खोल देने से उनकी आर्थिक स्थिति भी सुधरी किन्तु सामाजिक जीवन की शताब्दियों से चली आने वाली शिथिलता का एकबारगी दूर होना कठिन था, फिर भी उसमें पर्याप्त स्फूर्ति का संचरण हुआ। परस्पर भेद-भावना, वैमनस्य आदि चलते रहे। आर्थिक स्थिति में सुधार होने से विलासिता भी बढ़ी। मदिरा, अफीम आदि मादक वस्तुओं का सेवन बढ़ रहा था। अकबर स्वयं मदिरा का प्रयोग करता था और उसके दो पुत्र अत्यधिक शराब पीने के कारण मर गये थे। अभिप्राय यह है कि सामाजिक स्थिति में सुधार होने से लोगों को कुछ राहत मिली और ललित कलाओं की ओर उनकी प्रवृत्ति हुई।

देश की सामाजिक स्थिति का ज्ञान तत्कालीन भक्त कवियों की रचनाओं के अवलोकन से प्राप्त होता है। सन्तों की वाणियों में यद्यपि निरपेक्षभाव से कहे हुए विरक्तिपरक भावों का ही बाहुल्य है फिर भी उनके पदों में सामाजिक परिस्थितियों से खिन्न अन्तरात्मा की पुकार स्पष्ट लक्षित है। कबीर ने हिन्दू मुसलमान दोनों को ही उनकी आचरण-हीनता के लिए फटकारा है। सन्तों की वाणियों में उनके आन्तरिक उद्गारों का निर्भीकतापूर्वक व्यक्तीकरण हुआ है। गोस्वामी तुलसीदास जी के काव्यों में तो तत्कालीन दुर्व्यवस्था का ऐसा संश्लिष्ट चित्रण है कि पाठक तल्लीन होकर मानो उनके सम-सामयिक समाज में सशरीर विचरण करने लगता है। यह स्मरणीय बात है कि इन सन्त कवियों का उद्देश्य किसी शक्ति अथवा व्यक्ति-विशेष पर कोई आक्षेप करने का नहीं था, इसलिये ऐतिहासिकता की दृष्टि से इनके काव्य से विशेष सहायता नहीं मिल सकती। इसके अतिरिक्त इन महात्माओं की रचनाओं के 'स्वान्तः सुखाय' तथा आत्म-परिष्कार मूलक होने के कारण उनके आधार पर किसी निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है। महाप्रभु वल्लभाचार्य जी सैद्धान्तिक रूप से ब्रह्मवाद अथवा शुद्धाद्वैतवाद की प्रतिष्ठा करने वाले थे किन्तु उन्होंने अपने मत का जो व्यावहारिक रूप रखा था, वह

[1] दे० मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था पृष्ठ ४३

पर्याप्त मात्रा मे तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियो का प्रतिफल प्रतीत होता है। इस मत के व्यावहारिक रूप पुष्टि-सम्प्रदाय का उद्देश्य जहाँ एक ओर भक्त की वासना का समुचित परिष्कार कर उसे कृष्णाभिमुख करना और फिर साधक का ब्रह्म से सम्बन्ध स्थापित करना था, वहाँ दूसरी ओर राजसी ठाट-बाट और विलासिता की सारी सामग्री का केन्द्र कृष्ण को मानकर मानव-मानस की वासना-वीचियो को मोड देना भी था। स्वय वल्लभाचार्य जी ने उत्तरी भारत की राजनीतिक और सामाजिक उथल-पुथल को देखा था। अकबर के राज्य की व्यवस्था तथा उसकी उदारता, धार्मिक सहिष्णुता, वदान्यता, साहित्य एव कला-प्रियता का साक्षात्कार वे नही कर सके थे। यही कारण है कि उनके ग्रन्थो में तत्कालीन शासन की कटु आलोचना मिलती है। उनका 'षोडश ग्रन्थ' उनके हृदय की इस भावना का पूर्णतया परिचायक है। 'कृष्णाश्रय' ग्रन्थ मे तत्कालीन परिस्थिति का चित्रण करते हुए वे लिखते हैं—

"म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु, कृष्ण एव गतिर्मम॥
गङ्गादितीर्थवर्येषु, दुष्टैरेवावृतेष्विह।
तिरोहिताधिदैवेषु, कृष्ण एव गतिर्मम॥
अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु।
तिरोहितार्थवेदेषु कृष्ण एव गतिर्मम॥"

अर्थात् सब प्रदेश प्रधान रूप से पाप मात्र के निवास-स्थान हो गये हैं, सज्जन कष्टो से सतप्त हैं, गङ्गा आदि पवित्र तीर्थ स्थान भी दुष्टो से ही आवृत हैं, अधिष्ठातृदेवता तिरोहित हो गये हैं और स्वार्थ-सिद्धि एव प्रलोभन-वश सज्जन भी पाप का अनुसरण कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में केवल कृष्ण ही मेरी गति है।[1]

वल्लभाचार्य जी के ग्रन्थो का विवेचन हम अगले अध्याय में करेंगे। जिस प्रकार आचार्य वल्लभ ने तत्कालीन परिस्थितियो का निराशापूर्ण चित्र खींचा है, उसी प्रकार अन्य भक्त कवियो ने भी अपनी कृतियो में हृदय के उद्गार प्रकट किये हैं श्री 'उमर मुहम्मद अशरफ' द्वारा सम्पादित पुस्तक "Life and conditions of the people of Hindustan" में लिखा है—

"The more important poetic activity was, however, shown in composing devotional religious songs (the Bhakti-songs), which are an extremely valuable source for the study of social conditions, Their tone in general is gloomy and their criticism of social life some what unbalanced, but they disclose a wealth of informations and reveal the deep emotions, which moved the people of that age, there are rich collections of these songs from all parts of Hindustan "[2]

१ आचार्य वल्लभकृत षोडश ग्रन्थान्तर्गत "कृष्णाश्रय" के श्लोक २, ३, ५

2 "Life and Conditions of the people of Hindustan" from the Jaurnal of the "Asiatic Society of Bengal" Letters Vol I, 1935 issued 20th Dec 1935, Page 119

इससे तो हम यही निष्कर्ष निकालते हैं कि अकबर के समय से पूर्व भारतवर्ष की सामाजिक दशा सतोषजनक नही थी परन्तु यह तथ्य भी स्मरणीय है कि हिन्दू-समाज मे व्याप्त यह असन्तोष की भावना केवल विदेशी सत्ता की परुषता के कारण ही नही थी अपितु उसके आन्तरिक सगठन में भी ऐसी कुरीतियां घर कर गई थीं कि उसका सारा कलेवर ही जर्जर हो गया था। रोग शारीरिक ही नही, मानसिक भी था, जिसका उपचार सर्वप्रथम अपेक्षणीय था। पारस्परिक वैमनस्य, साम्प्रदायिक कट्टरता, जाति-भेद और छुआ-छूत का भूत हिन्दू जनता के सिर पर बुरी तरह खेल रहा था, जिसका सम्बन्ध मुसलमानी शासन सत्ता से औचित्य-अनौचित्य की ओर से आंखें मूंद कर ही जोडा जा सकता है। मध्यकालीन सभी सन्तो और महात्माओ ने इन कुप्रथाओ को दूर से ही सकेत करके नहीं, उठा-उठा कर समाज के सामने रखा था। पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व की सूरदास जी की रचनाओ में भी इन परम्परागत बातो का उल्लेख मिलता है। नारी-निन्दा तो इन सन्तो को मानो गुरु-मन्त्र के रूप में ही मिली थी जो स्पष्ट ही ससार के मिथ्यात्व का प्रचार करने वाले शकर के दर्शन की देन थी, किन्तु आश्चर्य है कि नारी की निन्दा में अनेक दोहो और पदो का प्रणयन करने वाले, उसे ससार-सागर-सतरण के समय कण्ठ मे बँधी हुई शिला समझने वाले ये साधक स्वय नारी भावना की अवहेलना नही कर सके और प्राय नारीरूप में ही भगवान् को अपने प्रेम का पुष्पोपहार समर्पित करते रहे। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी अपने 'मानस' के बाल-काण्ड में तत्कालीन समाज का चित्र चित्रित किया है। सम्भव है कि मुसलमानी दुर्व्यवस्था और अत्याचारो के कारण ये भावनाएँ और भी दृढ हो गई हो। मुसलमानो का मजहब स्वय भी निवृत्ति-परक था, इससे सन्तो की वैराग्य-भावना को और भी प्रोत्साहन मिला। कदाचित् इसी कारण से मध्ययुग के मनुष्य में व्यक्तिवादिता का प्राधान्य रहा। समाज की सास्कृतिक और साहित्यिक प्रगति में बाधा डालकर इस व्यक्तिवाद ने उसका बहुत अहित किया। मध्ययुग के भक्ति-आन्दोलन को तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के साथ रखकर देखने से हमें बहुत-सी गुत्थियां उलझी हुई दीख पडती हैं। शान्तिप्रिय व्यक्ति ऐसे समाज को दूर से ही प्रणाम कर यदि कोलाहल की इस अवनी को त्याग कर क्षितिज के 'उस पार' जाना चाहे तो क्या आश्चर्य ? आंखें मूंद लेने पर भी जब हमारे कवि सूरदास को समार के कोलाहल ने न छोडा, तो वे समार को त्याग कर विरक्त हो गये और स्थायी रूप से लीलामय भगवान् कृष्ण के व्रजधाम में रहकर व्यक्तिगत-साधना में आत्मविभोर हो गये। फिर जीवन पर्यन्त वे व्रज से न निकले, निकले तो उस गोलोक की तैयारी करके, जिसकी प्रतिच्छाया स्वय व्रज और वृन्दावन है। सूरदास जी के दार्शनिक सिद्धान्तो और भक्ति का विवेचन करते समय हम सूर के उन विचारो का उल्लेख करेंगे, जो समार के प्रति उनकी घृणा के स्पष्ट परिचायक हैं।

साहित्यिक-परिस्थितियाँ

सूर-साहित्य की पृष्ठ-भूमि पर विचार करते समय हमें उन साहित्यिक-परम्पराओ को भी दृष्टि मे रखना चाहिये, जो सूर को अपने से पहले साहित्यकारो से नमूने के रूप में उपलब्ध हुई थीं किन्तु खेद है कि उन साहित्यिक परम्पराओ के विषय में हिन्दी के साहित्यकारो ने बहुत कम छान-बीन की है। सूरदास जी के सूर-सागर के विषय में आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं :—

"भिन्न-भिन्न लीलाओ के प्रसग लेकर इस सच्चे रस-मग्न कवि ने अत्यन्त मधुर और मनोहर पदो की झडी-सी बांध दी है। इन पदो के सम्बन्ध में ध्यान देने की बात ये पहली

सम्प्रदाय मे दीक्षित होने के पश्चात् का जो सूर का साहित्य है, उसमे सामाजिक अथवा राजनीतिक चित्रण खोजना तो आकाश-पुष्पो के प्रति लालायित होना ही कहा जा सकता है। उस साहित्य मे व्रजवासियो के आनन्द, उत्सव आदि का जो चित्रण उन्होंने किया है, उसे सामाजिक परिस्थितियो का प्रतीक माना जाय तो वह युग सतयुग से भी उत्कृष्ट ठहरेगा परन्तु इस प्रकार की अटकल लगाने से पूर्व यदि पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तो पर दृष्टि-प्रक्षेप कर लिया जाय—जिसके अनुसार गोप, राधा, कृष्ण, वृन्दावन आदि सब, इस लोक से नही, गोलोक से सम्बन्ध रखने वाली बाते है—तो ज्ञात होगा कि सूर के ये वर्णन इस भौतिक जगत् से सम्बन्ध ही नही रखते। विषय की दृष्टि से सूरदास जी मे जहाँ एक ओर पूर्ण मौलिकता है, वहाँ दूसरी ओर वे परम्परा और सम्प्रदाय दोनो से ही प्रभावित भी हैं। इस विषय में लीला-गान-परम्परा का उल्लेख हम पहले कर ही चुके हैं। उत्सवो, पर्वो आदि का वर्णन भी परम्पराओ और लोकगीतो पर आधारित कहा जा सकता है। पौराणिक कथाओ और प्रसगो का उल्लेख तथा विवरण भी किसी एक पुराण के आधार पर नही कहा जा सकता। हम आगे के प्रकरण मे बतायेंगे कि पुष्टि-सम्प्रदाय मे भागवत की मान्यता होने पर भी अन्य पुराण भी आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। सूर ने कवि होने के नाते पुराणो की कथाओ को आवश्यक परिवर्तन और परिवर्धन के साथ ग्रहण किया है, फिर भी उन पर साम्प्रदायिक प्रथाओ का ही विशेष प्रभाव कहा जा सकता है, यह हम आगे बतायेंगे।

सूरदास जी के सम्बन्ध मे यह भी विचारणीय है कि यद्यपि वे पुष्टि-सम्प्रदाय मे दीक्षित थे और जीवन-पर्यन्त सम्प्रदाय की सेवा-प्रणाली मे ही लगे रहे, फिर भी यह नही कहा जा सकता कि उनके ऊपर सम-सामयिक अन्य वैष्णव-सम्प्रदायो का प्रभाव बिलकुल नही पडा था। जहाँ एक ओर उनके साहित्य मे हमे 'नाथ' सिद्ध आदि सम्प्रदायो के सकेतो के साथ-साथ सन्तो की वाणियो में प्रचलित पारिभाषिक शब्दावली तथा दार्शनिक सिद्धान्तो के उल्लेख मिलते हैं, वहा दूसरी ओर अन्य वैष्णव सम्प्रदायो का प्रभाव भी स्पष्ट लक्षित होता है। सूर की भक्ति-भावना का विवेचन करते हुए हम देखेंगे कि वैष्णव आचार्यों के आगमन के पूर्व व्रज-भूमि में शिव-भक्ति का प्रचार था और स्वय सूरदास भी अपने सम्प्रदाय मे दीक्षित होने से पूर्व यदि शैव नही थे तो शिव-भक्ति के प्रभाव से शून्य भी नही थे। अतएव सूर-साहित्य के अध्येता के लिये सूर के समकालीन वैष्णव-सम्प्रदायो के सिद्धान्तो का थोडा-सा ज्ञान आवश्यक है। अगले प्रकरण मे वैष्णव-सम्प्रदायो का विवेचन करते हुए हम यह भी बतायेंगे कि दक्षिण का भक्ति आन्दोलन मे कहाँ तक योग है ?

चतुर्थ अध्याय

भक्ति-आन्दोलन में दक्षिण का योग
और
वैष्णव-सम्प्रदाय

हर्षवर्द्धन की मृत्यु से राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एव साहित्यिक सभी दृष्टिकोणो से हिन्दुत्व को बडा धक्का लगा। हिन्दू-साम्राज्य छिन्न-भिन्न होकर छोटे-छोटे राज्यो में विभाजित हो गया, जिनमें पारस्परिक द्वेष, कलह और ईर्ष्या की भावना ने जन्म लिया, समाज का स्तर गिरने लगा और धार्मिक-सस्थाओ के लिए कोई आश्रय न रह गया। एक राज्य-भाषा न होने के कारण साहित्य की उन्नति रुक गई, साहित्य, सगीत और कला के लिए प्रोत्साहन का नाम-निशान भी न रहा। उत्तरी भारत, जो अब तक धर्म, कला, साहित्य नीति, दर्शन आदि का केन्द्र बना हुआ था, अव्यवस्थित राजनीति के कारण छिन्न-भिन्न होने लगा। हम पहले लिख चुके हैं कि गुप्त वश का युग भारतीय इतिहास में स्वर्ण-युग कहा जाता है और उससे पहले के काल को पाश्चात्य लेखको ने अन्धकार-युग का नाम दिया है। तीसरी शताब्दी के प्रारम्भ से, जबकि शुङ्ग कण्व और सातवाहनो का पतन हुआ, राजनीतिक परिस्थितियाँ अव्यवस्थित हो गई थी। इन वशो के राजाओ के समय में ब्राह्मण-धर्म का पुनरुत्थान हुआ था किन्तु उसके अनन्तर विदेशी आक्रमणो का आरम्भ हुआ। पुराणो मे आभीर, गर्दभिल्ल, शक, यवन, वाल्हीक आदि अनेक राजवशो के वर्णन मिलते हैं। कदाचित् किसी प्रकार की व्यवस्था न होने के कारण ही पाश्चात्य ऐतिहासिको ने इस युग का नामकरण 'अन्धकार-युग' किया हो। चौथी शताब्दी के प्रारम्भ में गुप्त-वशीय राजाओ ने भारतवर्ष मे अपनी विजय-पताका फहराई और देश मे सुख-शान्ति की स्थापना कर राष्ट्रीय जीवन को प्रत्येक दृष्टि से विकास की ओर अग्रसर किया। इस युग में बौद्ध एव जैन धर्म का ह्रास प्रारम्भ हो गया था और शैव शाक्त, वैष्णव आदि वैदिक सम्प्रदाय पनपे। महाभारत, रामायण पुराण आदि धार्मिक ग्रन्थो का पुन सपादन हुआ, षड्दर्शन व्यवस्थित हुए, पाञ्चरात्र, शैवागम और तन्त्र-साहित्य का सृजन हुआ, काव्य और कला के क्षेत्र मे उन्नति हुई तथा ज्योतिष, विज्ञान, आयुर्वेद आदि वैज्ञानिक विषयो में नूतन अनुसधान किये गये।

हर्षवर्द्धन के निधन के पश्चात् पुन ह्रास का युग आया। राजनीतिक सघर्ष की विभीषिका से त्रस्त धर्म, कला एव काव्य को फिर एक बार दक्षिण में आश्रय प्राप्त हुआ। पौराणिक कथाओ के आधार पर कहा जाता है कि अगस्त्य ऋषि ने विन्ध्य पर्वत को पार कर दक्षिण मे आर्य-सस्कृति का प्रचार किया। यह बात अस्वीकार नही की जा सकती कि द्राविडो ने आर्य-सस्कृति और साहित्य के विकास मे पर्याप्त योग दिया है। पाण्ड्य, चोल, केरल और पल्लव वशीय राजाओ ने दूर दक्षिण में, एव आन्ध्र तथा चालुक्य वशीय राजाओ ने दक्षिण मे भारतीय सभ्यता, सस्कृति और साहित्य की उन्नति मे पूरा-पूरा हाथ बटाया था। अशोक की मृत्यु के पश्चात् दक्षिण का बहुत सा प्रदेश आन्ध्रवशी राजाओ के हाथ मे आ गया

सू०—११

था और उन्होने ईसा पूर्व २२५ से सन् २२५ ई० तक के समय मे इस दिशा मे जो योग दिया, वह स्मरणीय है। इस वश के शासको से पहले सातवाहन शासक भी इस क्षेत्र में प्रशसनीय कार्य कर चुके थे। आन्ध्रो के पश्चात् क्रमश वकाटक और चालुक्य राज-वशो का दक्षिण पर आधिपत्य हुआ। आन्ध्रवशीय राजा हाल की महाराष्ट्री भाषा में लिखी हुई सप्तशती अत्यन्त प्रसिद्ध साहित्यिक कृतियो मे से है। 'वृहत्कथा' की रचना 'हाल' के ही मन्त्री ने की थी। इस प्रकार जब उत्तर भारत की स्थिति विदेशी आक्रमणो से छिन्न-भिन्न हो रही थी, उस समय भी दक्षिण भारत मे साहित्य और सस्कृति का अभ्युदय हो रहा था। पाणिनि के व्याकरण मे 'चोल' और 'पाण्ड्य' तथा 'कौटल्य' के 'अर्थशास्त्र' मे 'पाण्ड्य-मुक्ता' का उल्लेख इस तथ्य का सूचक है कि ईसा से शताब्दियो पूर्व दक्षिण के राज्य व्यवस्थित रूप मे सस्कृति और साहित्य मे योग दे रहे थे। अशोक ने दक्षिण में बौद्ध-धर्म के प्रचार की पूरी-पूरी व्यवस्था की थी किन्तु छठी शताब्दी के आते-आते वह तीव्र गति से ह्रासोन्मुख हो चुका था। जैन-धर्म अवश्य किसी न किसी रूप में प्रचलित रहा किन्तु नवीं शताब्दी तक हिन्दूधर्म की इतनी अभिवृद्धि हुई कि जैन और बौद्ध दोनो ही धर्म पिछड गये।

धार्मिक दृष्टिकोण से हम कह सकते हैं कि आठवी शताब्दी से लेकर पन्द्रहवी शताब्दी तक दक्षिण ही सुधार का केन्द्र रहा है। वैष्णव और शैव सभी भक्तो ने भक्ति पर बल दिया तथा आचार्यों ने अपने-अपने दार्शनिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया। उत्तरी भारत से राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तनो के कारण धर्म की जो धारा दक्षिण मे पहुँच गई थी, वह फिर अवसर पाकर उत्तरी भारत मे पहुँची और अनुकूल वातावरण पाकर एक अत्यन्त विशाल और विस्तृत प्रवाह में परिणत हो गई। इसी तथ्य की ओर भागवतकार ने भी सकेत किया है—

"उत्पन्ना द्रविडे साह वृद्धि कर्णाटके गता।
क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णता गता॥
तत्र घोरकलेर्योगात् पाखण्डै खण्डिताङ्गका।
दुर्वलाह चिर याता पुत्राभ्या सह मन्दताम्॥
वृन्दावन पुन॰ प्राप्य नवीनेव सुरूपिणी।
जाताह युवती सम्यक् श्रेष्ठरूपा तु साम्प्रतम्॥[१]"

अर्थात् मेरा जन्म द्रविड देश में हुआ, कर्नाटक में और कभी-कभी महाराष्ट्र मे पालन-पोषण हुआ, गुजरात में जीर्णता को प्राप्त हुई, वहाँ पर पाखण्डो ने मुझे विकृताग बना दिया और मैं दुर्वलता को प्राप्त होकर पुत्रो सहित मन्दता को प्राप्त हो वृन्दावन में आई, जहाँ मैंने सुन्दर रूप प्राप्त किया, मैं युवती हुई और अब उत्कृष्ट रूप वाली हो गई।

बात यह है कि दक्षिण में अभी तक हिन्दुत्व का बोल-बाला था। बौद्ध और जैन धर्म निराश्रित हो चुके थे। उत्तरी भारत में जहाँ एक ओर हिन्दू राजाओ की शक्ति छिन्न-भिन्न हो रही थी, वहाँ दूसरी ओर एक अन्य विदेशी धर्म (इसलाम धर्म) से उसका मुकाबला था। दक्षिण में चोल और विजय-नगर के राजा अभी शक्ति-सम्पन्न थे। ईसा की पहली शताब्दी में तो शैव, वैष्णव, बौद्ध, जैन आदि सभी मत समानान्तर रूप से चलते रहे परन्तु अब निश्चित रूप से हिन्दू-धर्म का आधिपत्य पुन स्थापित हो गया था।[२]

---

१ श्रीमद्भागवत माहात्म्य अध्याय १ श्लोक ४८, ४९, ५०

२ देखिये The coming of the Brahmanism to the South of India J R A S 1912 (Govindacharya) तथा 'South Indian History' (S K Iyangar).

चौथी शताब्दी में जब गुप्त-वश के राजाओ का आधिपत्य उत्तरी भारतवर्ष में हुआ, तो दक्षिण में भी ब्राह्मण-धर्म को प्रोत्साहन मिला। ब्राह्मण-धर्म के आचार्य केरल राज्य में जाकर बसे, किन्तु सातवी शताब्दी तक, जैसा कि ह्वेनसांग के लेखो से विदित होता है, बौद्ध और जैन-धर्म अच्छी स्थिति में थे परन्तु शैव-धर्म जोर पकड रहा था। पल्लव-वश के राजाओ के द्वारा शैव-धर्म को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। हर्ष-वर्द्धन ने तो हिन्दू और बौद्ध धर्म दोनो ही को समान रूप से प्रोत्साहित किया। परन्तु पुलकेशिन् द्वितीय ने अश्वमेघ यज्ञ किया और ब्राह्मण-धर्म के पुनरुत्थान में पूर्ण योग दिया। इन्ही दिनो दक्षिण में पल्लववशीय नरसिंह वर्मा ने पौराणिक धर्म का प्रचार किया। महामल्लपुरम् के मन्दिर इसी काल में बने। सातवी और आठवी शताब्दियो में दक्षिण के चालुक्य और पल्लव-वशीय राजाओ ने हिन्दू-धर्म की उन्नति में पूरा-पूरा योग दिया परन्तु पारस्परिक कलह से दोनो वशो की जडे कमजोर हो गई, जिसके कारण चोल और राष्ट्रकूट-वशीय राजाओ ने अपना आधिपत्य जमा लिया।[1]

दक्षिण में आठवी शताब्दी राजनीतिक व धार्मिक उथल-पुथल की शताब्दी कही जाती है। भक्ति-आन्दोलन का मूल यहीं से प्रारम्भ होता है। शैव और वैष्णव धर्म के आचार्यो ने मिलकर बौद्ध तथा जैन धर्म का कडा विरोध किया। इन नास्तिक धर्मो की तुलना में उन्होंने भगवान् की सत्ता, उदारता और दयार्द्रता का प्रचार किया। वास्तव में ये प्रचारक आचार्य न होकर सन्त थे और उनके उपदेशो का माध्यम तद्देशीय भाषा थी। इसमें सन्देह नही कि हिन्दू धर्म का जो स्वरूप इस समय स्थिर हुआ, उसका बहुत कुछ श्रेय बौद्ध और जैन धर्म को ही है जैसाकि डा० ताराचन्द ने "Influence of Islam on Indian Culture" में लिखा है —

"For they took over from Budhism its devotionalism, its sense of the transitoriness of the world, its conception of human-worthlessness, its suppression of desires and asceticism as also its ritual, the worship of idols and stupas or lingams, temples, pligrimages, fasts and monastic rules and its idea of spiritual equality of all castes, from Jainism they took its ethical tone and its respect for animal life

The assimilation of these ideas into Pauranic theology and the pervasion of the whole with warm human feelings was the achievement of the saintly hymn-makers of Tamil-land The celebrated 'Adiyars' (The Saiva Saints) and the 'Alwars' (Vaisnava Saints), who flourished between the 7th and the 12th centuries "[2]

कहने की आवश्यकता नही कि सिद्धान्त रूप से तो सभी वैष्णव-सम्प्रदायो ने अपना सम्बन्ध वेदो से लगाया और थोडे बहुत अन्तर के साथ योग-दर्शन की समान रूप से व्याख्या की परन्तु भक्ति का वह स्वरूप, जो उत्तरी भारत में प्रचलित विभिन्न सम्प्रदायो में दीख पडा उसके मूल में इन्ही शैव तथा वैष्णव भक्तो की भक्ति-भावना थी। इन भक्त सन्तो के पद-सग्रह आज भी बहुत उच्चकोटि के माने जाते हैं। शैव-भक्ति-साहित्य को तन्जोर-निवासी नम्बियानदार ने चोलवशीय राजा कुलशेखर (९८५-१०१३ A. D.) के समय में ग्यारह भागो

1 "Historical sketches of Daccan" book II and III (K V Subrahmanya Aiyer)

2 Influence of Islam on Indian culture by Dr Tara Chand P. 86-87.

मे 'तिरुमुरारि' नाम से सकलित किया। इन ग्यारह भागो मे से पहले तीन तो 'तिरुज्ञान' नाम से सवन्धमूर्तिस्वामी के सग्रह हैं, दूसरे तीन तिरुनाऊकरसू के और सातवाँ सुन्दरर का। ये सात सग्रह 'देवाराम' नाम से प्रचलित हैं, जिनमे ईश्वर की प्रार्थना की गई है और जो धार्मिक कृत्यो के अवसर पर वेदो के समान पढे जाते हैं। आठवाँ सग्रह "माणिक्कवासहर" का 'तिरुवाचकम्' है जो उपनिषदो के समकक्ष माना जाता है। नवम 'तिरुइसेय्या' नाम से छोटे-छोटे कवियो के पदो का सग्रह है। दसवें भाग में 'तिरुमूलर' के पद हैं और ग्यारहवे में नक्किरार' तथा 'नम्बियानदार' आदि के पद सगृहीत हैं। ये ग्यारह सकलन तथा 'प्रिय पुराण' इन शैवभक्तो का धार्मिक-साहित्य है।

शैव-भक्तो की भाँति वैष्णव-भक्तो के भी सग्रह हैं जिनका सकलन दसवी शताब्दी में 'नाथमुनि' ने सभवत 'नम्मालवार' के सम्पादकत्व मे किया। यह सग्रह 'प्रबन्धम्' के नाम से प्रसिद्ध है और वेदवत् ही मान्य है। इन 'आलवार' भक्तो की सख्या बारह मानी जाती है, जिनमें चार पल्लव, तीन चोल, एक चेर और चार पाण्ड्य देश के कहे जाते हैं। इन के गीतो में उच्च-कोटि की भक्ति-भावना निहित है और इनकी जीवन-चर्या से प्रतीत होता है कि ये उच्च-कोटि के साधक भक्त थे, इनमें से कुछ तो अवतार रूप से माने जाते हैं। इनके पदो में वही भाव निहित हैं, जो आगे चलकर 'पुष्टि-सम्प्रदाय' और चैतन्य-सम्प्रदाय' की भक्ति-भावना के प्रेरक हुए।। Kings Bury और Phillips ने इन पदो का अँग्रेजी अनुवाद भी किया है। डा० पोप इन गीतो के विषय में लिखते हैं—

The fact of these songs—full of living faith and devotion—was great and instantaneous South India needed a 'Personal God,' an assurance of immortality and a call to prayer These it found in Manikk vashar compositions[1]

शैव और वैष्णव सन्तो के गीतो में भावो और विचारो का तो कोई अन्तर नही है केवल पृथक्-पृथक् शिव और विष्णु को प्राधान्य दिया गया है। एक और प्रधान अन्तर यह है कि विष्णु भागवान् तो गीता के इस वचन के अनुकूल

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मान सृजाम्यहम्॥

बार-बार जन्म लेते हैं परन्तु शिव इस प्रकार नही करते। इन वैष्णव-भक्तो ने भक्त और ईश्वर का सम्बन्ध स्त्री-पुरुष के मधुर सम्बन्ध के समान माना है। गोविन्दाचार्य ने अपनी "The Devine Wisdom of Dravidian Society" नामक पुस्तक में इन भक्तो के गीतो का अनुवाद किया है। 'अन्दाल' नाम की भक्तिन एक स्थान पर कहती है—
"I shall wed, if at all, none other than the Supreme Lord—

इन भक्तो के गीतो में हृदय की रागात्मिका वृत्ति से प्रेरित मानव मात्र के हृदय को स्पर्श करने वाले वे भाव थे, जिनके प्रवाह में सारा समाज बह गया और बुद्ध तथा जैन धर्म के लिए जन साधारण में कोई श्रद्धा न रह गई।

इन भक्त सन्तो के गीत स्वाभाविक और स्वच्छन्द भाव-धारा के प्रतीक मात्र थे। हृदय-मुक्ति की उस चरम सीमा पर पहुँच कर जहाँ उपासक और उपास्य एक हो जाते हैं, विश्वास सशय पर विजय पा लेता है, भावना बुद्धि के व्यापार को कुण्ठित कर समस्त वृत्तियो

1 Pope op cit page 36

को आत्मसात् कर लेती है, इन भक्त कवियो ने प्रेमा भक्ति के वे गीत गाये जिनकी मधुर धारा में तर्क, शास्त्र-ज्ञान, अविश्वास आदि के भाव विलीन हो गये और समस्त प्रदेश रस-सिक्त हो गया। उनके मानस से निकले हुए इन निर्मल-भाव मौक्तिको को अपने कण्ठ का आभरण बना कर श्रोतागण कृतकृत्य होने लगे और आनन्द का ऐसा पारावार उमडा जिसमें ऐहिक लालसाओ से समुद्भूत सताप सतोप की सुखद शीतलता में परिणत हो गया। परन्तु परवर्त्ती विद्वान् आचार्यो ने उन कोमल भावो में तर्क का पुट लगा कर तथा शास्त्रीय नियमो के साँचे में ढाल कर सिद्धान्तो की प्रतिष्ठा की और श्रुतिस्मृतियो से उनका सूत्र जोड कर अनेक सप्रदायो के रूप में प्रगति दी। यही कारण है कि हिन्दू-शास्त्रो पर अनेक टीकायें लिखी गई और प्रत्येक टीकाकार ने अपने सम्प्रदाय की मान्यताओ के अनुकूल इनका अर्थ किया। वस्तुत समस्त वैष्णव-सम्प्रदायो के मूल में इन सतो के गीतो की भाव-धारा ही रस उँडेलती दीख पडती है। हम पहले अध्याय में कह आये हैं कि इन भक्तो की गीत-परम्परा, भाव रूप में ही सही, मध्यभारत और महाराष्ट्र को अपनी ध्वनि से गुञ्जित करती हुई उत्तरी भारत की ओर प्रवृत्त हुई और आचार्यो ने उन विचारो को व्यवस्थित रूप में ढालकर प्रचार-कार्य प्रारम्भ किया। सबसे पहले आचार्य शङ्कर हुए।

विभिन्न-वैष्णव सम्प्रदाय

शङ्कराचार्य

यद्यपि आचार्य शकर के जीवन एव सिद्धातो से सबधित पर्याप्त सामग्री अधिगत है तथापि उनके काल के विपय में अभी तक कोई सर्वमान्य निर्णय नही हो पाया। श्री कृष्ण-स्वामी अय्यर ने 'Shanker and His Times' में, भाष्याचार्य ने अपनी पुस्तक 'Age of Shankar' में तथा आनदगिरि ने 'शकर-विजय' मे उनके जीवन तथा समय पर प्रकाश डाला है। उनका जन्म स० ८४५ तथा निधन स० ८७७ में माना जाता है, पर तिलक जी इस मत से सहमत न होते हुए उनका समय उक्त तिथि से एक शताब्दी पूर्व मानते हैं।[१] शकर का जन्म मलाबार प्रदेश मे मलाबार नदी के किनारे कलादि नामक एक छोटे से ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम शिवगुरु था, जो नम्बूद्री ब्राह्मण थे और माता का नाम था आर्याम्बा। ये अभी बालक ही थे कि इनके पिता का देहावसान हो गया और इनकी शिक्षा-दीक्षा का पूरा भार इनकी माता पर ही पडा। शङ्कर अलौकिक-प्रतिभा-सपन्न बालक थे, ससार की असारता से प्रभावित होकर अल्पायु में ही ये सन्यासी हो गये और नर्मदा के तट पर विचरण करने वाले गोविन्द योगी के शिष्य बने जो स्वय आचार्य गौडपाद के शिष्य थे। उन्होंने शङ्कर की विद्या, त्याग-भावना और अपूर्व प्रतिभा से प्रभावित होकर उन्हें परमहस की उपाधि दी और तत्पश्चात् शङ्कर ने अपने सिद्धान्तो का प्रचार करने के लिए देश-यात्रा प्रारम्भ की। उनके जीवन-चरित के लेखक आनन्दगिरि ने शकर की दिग्विजय का पूर्ण विवरण दिया है। दिग्विजय के पश्चात् वे कई बार अपनी जन्मभूमि में भी आये थे और वहाँ अनेक सुधारों का श्रीगणेश किया था। उन्होने स्थान-स्थान पर मठो की स्थापना की और स्त्रियो के अतिरिक्त सब जाति के लोगो को सन्यास दिया। वास्तव में आचार्य शकर पहले आचार्य थे, जिन्होंने जाति-पाँति की सकीर्ण परिधि को हटाने का प्रथम प्रयास किया, सामाजिक विपमता दूर की और बौद्ध मत के समर्थक आचार्यो को पराजित किया। उनके मनुष्य-पचक का अनुवाद करते हुए श्री कृष्णस्वामी अय्यर उनके विचारो को इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

१ देखिए तिलक कृत गीता-रहस्य का परिशिष्ट प्रकरण

"He, who has learned to look on Phenomena in this light monistic is my true Guru, be he a Chandal or a twice-born This is my Conviction"

शकर के इन विचारो का कट्टर ब्राह्मणो ने घोर विरोध किया किन्तु वे लक्ष्य-भ्रष्ट न हुए, भारतीय सस्कृति के इतिहास में शकर के प्रादुर्भाव को एक चमत्कार ही समझना चाहिए। परम्परागत दोषो को दूर कर समाज को एक नवीन आलोक दिखाने का सराहनीय कार्य शकर ने किया और अपनी अपूर्व प्रतिभा के प्रभाव से चतुर्दिक् प्रचलित बौद्ध एव जैन मत का खण्डन कर अपने मत की स्थापना की। वैदिक धर्म की रक्षा के लिए स्थान-स्थान पर समस्त भारत मे मठ बनवाये और श्रुति-स्मृति विहित वैदिक धर्म का पुनरुत्थान करके निवृत्ति मार्ग के वैदिक सन्यास-धर्म को कलिकाल में पुनर्जन्म दिया। उनके विचारो का प्रवाह देश के सभी प्रान्तो और भाषाओ मे बडे वेग से प्रवाहित हुआ, जिसमें छोटे-मोटे मत-मतान्तर डूबते-उतरात हुए अन्त मे विलीन हो गये। इस विषय में डा० ताराचन्द का कथन उल्लेखनीय है—

"Sankra's career is the great watershed in the history of Sankrit Learning Behind him lies the world of ancient ideas, half-reconciled systems, profound but scattered thoughts, rival philosophies, struggling for ascendancy, the changing pantheon and theologies in a fluid condition, a living culture almost anarchic in its exuberance, before him the medieval world of set ideas, fixed systems, scholastic ingenuity, accretion not growth, explanation not invention, commentaries not philosophies, a stereotyped uniformity The living stream of culture abandons the ancient bed of sanskrit and flows through new channels—Tamil, Telugu and Canarese in the South, Hindi, Bengali, Marathi and Urdu in the North but the abandonment is never quite complete, an increasingly thinning rill continues to linger in the old beds"[1]

शङ्कर के पश्चात् जितने आचार्य हुए, वे मूलरूप से शङ्कर के ही सिद्धान्तो को लेकर चले या तो उन्होने शङ्कर के सिद्धान्तो में कोई सुधार प्रस्तुत किया अथवा उनसे विरोध प्रकट किया। इसलिए परवर्ती समस्त वैष्णव-सम्प्रदायो पर शङ्कर का व्यापक प्रभाव कहा जा सकता है। शङ्कर का कथन था कि वास्तव में श्रुति-कथित सिद्धान्तो मे कोई विरोध नही है, केवल उनकी व्याख्या में अन्तर हो सकता है। वैदिक धर्म के उन्होंने दो स्वाभाविक विभाग 'ज्ञान और आचरण' बताए। पहले विभाग में तो ब्रह्म का स्वरूप-निर्णय कर उसका सम्बन्ध जीव और प्रकृति से लगाया जाता है और दूसरे अर्थात् आचरण-पक्ष में इस पर विचार होता है कि ससार मे मनुष्य को किस प्रकार आचरण करना चाहिए। सिद्धान्त रूप से शकराचार्य जी ने अद्वैतवाद की स्थापना की। उनके अनुसार समस्त ससार, जो मनुष्य को चर्मचक्षुओ द्वारा दीख पडता है असत्य है, सब में एक ही शुद्ध और परम ब्रह्म का अस्तित्व है और उसी की माया से भेद की प्रतीति होती है। वस्तुत जीवात्मा परब्रह्म का ही स्वरूप है। जब तक इस अभेद का अनुभव नही होता तब तक मुक्ति असम्भव है! एक शुद्ध, बुद्ध, नित्य मुक्त परब्रह्म के अतिरिक्त विश्व में कोई वस्तु स्वतन्त्र नही। माया मानवीय दृष्टि में भ्रम उत्पन्न करती है, जो मिथ्या है। शकर के अद्वैतवाद का महावाक्य "सर्व खल्विद ब्रह्म" है।

1 Influence of Islam on Hindu culture (Dr Tara Chand) P 96-97

उन्होंने ब्रह्म को निर्विशेष माना है। दृश्य का निषेध करके निषेध की सीमा मे जो अनुच्छिष्ट और शिष्ट रहता है, वही अखण्ड चिन्मात्र, एक रस, अद्वितीय ब्रह्म है। उनका निरूपण विधानात्मक शब्दो में नहीं हो सकता, वह केवल स्थूल नही है, अणु नही है, दीर्घ नही है, शब्द-स्पर्श वाला नही है, अदृश्य है, अलक्ष्य है, अलक्षण है, अग्राह्य है। इन्ही शब्दो के द्वारा उसका सकेत किया जा सकता है। परमार्थ दृष्टि से वे ब्रह्म की सगुणता स्वीकार नही करते और कहते हैं कि श्रुतियो मे जहाँ सगुण ब्रह्म का वर्णन आया है, वह केवल व्यावहारिक दृष्टि से उपासना की सिद्धि के लिये है। अत ब्रह्म का वास्तविक रूप निर्गुण ही है।

शङ्कर सम्प्रदाय का आचरण-सिद्धान्त भी बडे महत्त्व का है। उनके अनुसार स्मृति-ग्रन्थो में निरूपित आचार-व्यवहार भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योकि उसके बिना न तो चित्त-शुद्धि ही सम्भव है और न ही ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता ही प्राप्त हो सकती है। अतएव शकराचार्य जी के सिद्धान्त के इस पक्ष (आचरण पक्ष) के अनुसार कर्म करना भी अनिवार्य है किन्तु अन्त में कर्म को भी त्याग कर सन्यास लेना पडेगा क्योकि सब वासनाओ और कर्मो के छूटे बिना ब्रह्म-ज्ञान सम्भव ही नही है। इसी को शाकर मत के अनुसार निवृत्ति-मार्ग कहा गया है। इसी को सन्यास-निष्ठा या ज्ञान-निष्ठा भी कहते हैं। शकराचार्य जी ने अपने मत के दोनो ही पक्षो की सगति उपनिषदो, ब्रह्मसूत्र और गीता से लगाई है और उक्त ग्रन्थो को ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय करने वाला ही बताया है। यद्यपि शङ्कर से पहले भी इन ग्रन्थो पर सन्यास-मार्ग का विवेचन करने वाले भाष्य लिखे गये थे, परन्तु उनकी तिथि निर्णय करना कठिन कार्य है, गीता' का 'पैशाच' भाष्य हनुमान् जी कृत प्रसिद्ध है। वास्तव में यह भाष्य भागवत के टीकाकार हनुमान् पण्डित का है, पवन सुत हनुमान् का नही। आगे चलकर कुछ आचार्यो ने शङ्कर का ही अनुसरण किया।

तर्क-सम्मत और समयापेक्षित होते हुए भी शकर के इस मत को पूर्ण नही कहा जा सकता था, क्योकि इसके दोनो पक्षो में पूर्ण समन्वय का अभाव था। एक ओर तो ब्रह्म की अद्वैतता को उस अमूर्त स्थिति तक पहुँचा दिया था कि सामान्य व्यक्ति उसकी प्रक्रिया से चौंधिया जाय (यह आदर्शवाद की सीमा थी) और दूसरी ओर ससार के महत्त्व को स्वीकार करके भी उसकी नि सारता और मिथ्यात्व के प्रतिपादन द्वारा साधारण मानव-समाज की ओर से मनुष्य को विमुख कर दिया। सन्यास को आवश्यक बता कर समाज-धर्म की भी उपेक्षा की गई। फिर भी इसका बडा गहरा प्रभाव समाज पर पडा। 'अदियार' और 'आलवार' भक्तो की रागात्मिका भक्ति-भावना के ऊपर धर्म का यह बौद्धिक विश्लेषण विजय प्राप्त न कर सका और समय पाकर उस भावना का स्रोत तर्क के इन प्रस्तरो को भेद कर निर्झरिणी के रूप मे फूट निकला, जिसको आधार मान कर वैष्णव और शैवाचार्यो ने अपने-अपने सम्प्रदायो का प्रचार किया, परन्तु इसका यह अभिप्राय नही है कि भक्तो की परम्परा समाप्त हो गई। अब एक ओर तो भक्त और सन्त अपनी अटपटी बानी में अपने हृदय के उद्‌गार गीतो में प्रस्फुटित करते रहे, दूसरी ओर विद्वान् आचार्य अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन करने लगे। हम पहले सकेत कर चुके हैं कि इन सभी सम्प्रदायो का उद्देश्य एक ओर तो बौद्ध मत और जैन मत को नीचा दिखाना था और दूसरी ओर अपने-अपने सम्प्रदाय की उपयोगिता सिद्ध कर उसका जनता में प्रचार करना।

रामानुजाचार्य

वैष्णवाचार्यो मे सब से पहले नाथमुनि हुए, जो श्रीरङ्गम् में दसवीं शताब्दी में विद्यमान थे। उनके पौत्र और उत्तराधिकारी यामुन-मुनि रामानुजाचार्य के गुरु थे। यामुनाचार्य

शकर के मिथ्यात्ववाद को भक्ति का विरोधी समझते थे। इसलिये उन्होंने अपने प्रिय शिष्य रामानुज को शकर के सिद्धान्त का खण्डन करने का उपदेश दिया। रामानुजाचार्य का जन्म मद्रास के समीप त्रिपुटी नामक स्थान पर सन् १०१६ मे हुआ और मृत्यु श्रीरङ्गम् में सन् ११३७ में। उनके पिता का नाम केशव और माता का नाम कान्तिमती था। उनके प्रारम्भिक गुरु यादवप्रकाश शाकर मत के अनुयायी थे और काञ्चीवरम् मे रहते थे। अद्वैतवाद के विषय मे उनका अपने गुरु से मत-भेद था, अतएव इन्हे वहाँ से हटना पडा। फिर इन्होंने 'प्रबन्धम्' के गीतो का यथावत् अध्ययन किया। इसके अनन्तर वे यामुनाचार्य के शिष्य हुए और उन्होंने श्रीरङ्गम् मे अपने सम्प्रदाय की स्थापना की। यामुनाचार्य की मृत्यु के पश्चात् ये उनके उत्तराधिकारी हुए और इन्होने अपने भक्ति विषयक सिद्धान्तो पर अनेक ग्रन्थो का प्रणयन किया। उत्तरी भारत के तीर्थ-स्थानो की यात्रा करते हुए वे काशी भी गये थे। प्रसिद्धि है कि तत्कालीन चोलराज कुल्लोदुङ्ग प्रथम (१०९५ ई०) ने इन पर पर्याप्त अत्याचार किये क्योकि वह इनको शैव-धर्म मे दीक्षित करना चाहता था, इसलिये उस राज्य को त्यागकर इन्हे यादव वशीय होयसल राजाओ की शरण आना पडा। वहाँ इन्होने तत्कालीन राजा विट्ठलदेव को अपने सम्प्रदाय मे दीक्षित किया। यह घटना स० १०९८ ई० की है, रामानुजाचार्य के निम्नलिखित ग्रन्थ प्रसिद्ध है —

वेदान्तसार, वेदान्त-सग्रह, वेदान्त-दीप तथा ब्रह्म-सूत्र और भगवद्गीता के भाष्य। इस प्रकार अपने सम्प्रदाय को शास्त्र-सम्मत सिद्ध करने के लिये इन्होने 'प्रस्थान-त्रयी' (उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, तथा गीता) पर भाष्य लिखे। उन्होने शकर के माया, मिथ्यात्ववाद दोनो को झूठा सिद्ध किया और बताया कि यद्यपि जीव, जगत् और ईश्वर ये तीनो तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं तथापि जीव (चिद्) और जगत् (अचित्) ये दोनो एक ही ईश्वर के शरीर हैं अतएव चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर एक ही है और फिर ईश्वर-शरीर के इस सूक्ष्म चित् अचित् से ही स्थूलचित् और स्थूल अचित् (क्रमश अनेक जीव और जगत्) की उत्पत्ति हुई। यह मत तत्त्व-ज्ञान की दृष्टि से तो विशिष्टाद्वैत कहलाया, परन्तु आचरण की दृष्टि से इसमें भक्ति का ही प्राधान्य रहा। इसमें कर्म-निष्ठा को स्वतन्त्र न मानकर ज्ञान-निष्ठा की उत्पादयित्री माना गया है। इस प्रकार रामानुजाचार्य ने शकरमत के 'अद्वैत ज्ञान' के स्थान पर विशिष्टाद्वैत' और 'सन्यास' के स्थान पर 'भक्ति' की प्रतिष्ठा कर दोनो में भेद किया, परन्तु आचार-दृष्टि से भक्ति को ही अन्तिम निष्ठा अङ्गीकार किया, जिससे वर्णाश्रम-विहित सासारिक कर्म भी गौण हो गये। तात्त्विक रूप से इन्होने चित् और ईश्वर को आधार मानकर अपने मत का प्रतिपादन किया और उसकी पुष्टि उपनिषदो द्वारा की। ईश्वर को इन्होंने सर्वोपरि माना, जो सर्वगुण सम्पन्न, अनुपम, अद्वितीय और महान् है, वही सब का स्वामी है, विश्वात्म स्वरूप है, उसको 'पुरुषोत्तम' कहा गया है, वह दोषो और त्रुटियो से रहित है और अपनी इच्छाओ को पूरा करने के लिए उसकी अनन्त शक्ति है। उत्पत्ति, पालन और सहार करने की शक्ति उसी में है, उसकी सृष्टि का अभिप्राय एक स्थिति से दूसरी स्थिति का परिवर्तन है तथा कर्म और क्रिया उसी की चेष्टाएँ है। सर्वप्रथम ईश्वर एकाकी था फिर उसी से प्रकृति और जीव की उत्पत्ति हुई। यद्यपि प्रकृति और जीव दोनो सत्य हैं, फिर भी उनकी सत्ता उसी पर निर्भर है। प्रत्येक कल्प के अन्त मे प्रलय होती है और सब कुछ उसी मे विलीन हो जाता है, केवल तमस अवशिष्ट रहता है। यही ब्रह्म का शरीर है किन्तु यह इतना सूक्ष्म होता है कि इसकी सत्ता अलग कल्पित नही की जा सकती, इसीलिये यह एक है, फिर वह अपने आपको अनेक मे परिवर्तित कर लेता है और इस नामरूपात्मक जगत् की सृष्टि होती है। इस प्रकार

सृष्टि का हेतु वही है किन्तु उस हेतु का विकास ही कार्य-रूप सृष्टि है। उपासना और ध्यान के लिये उसके पाँच रूप माने गये है

(१) परब्रह्म—यह परब्रह्म स्वरूप वैकुण्ठ मे रहता है। वैकुण्ठ अनेक प्रकार की विलास-सामग्रियो से सुसज्जित है। 'श्री', 'भू' और 'लीला' नाम की स्वर्गीय स्त्रियां उसकी सेवा करती हैं। यह शख, चक्र, गदा और पद्म से सुशोभित हैं। अनन्त, गरुड, विश्वक्सेन आदि मुक्त आत्माएँ उसके साथ विहार करती हैं।

(२) व्यूह—इस स्वरूप में परब्रह्म के चार स्वरूप हो जाते हैं—वासुदेव, सकर्पण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध।

(३) विभव—यह स्वरूप भगवान् के मत्स्य, कच्छप आदि दस अवतारो से सम्बन्ध रखता है।

(४) अन्तर्यामी—इस स्वरूप मे यह योगियो के हृदय मे प्रवेश करता है और घट-घट में वास करने वाला है।

(५) अर्चा—इस स्वरूप में उपासको द्वारा इसकी अनेक मूर्तियो की कल्पना की जाती है। कुछ आचार्यों ने 'व्यूह' मे 'वासुदेव' के अतिरिक्त शेप तीन रूपो की कल्पना की है। शङ्कर ने तो आत्मा की पृथक् सत्ता स्वीकार नही की है, परन्तु रामानुजाचार्य ने आत्मा का अनेकत्व स्वीकार करके उनको तीन कोटियो में विभाजित किया है, १—वद्ध, २—मुक्त, ३—नित्य। वद्ध आत्माओ की अनेक कोटियाँ हैं, जो ब्रह्मदेव से लेकर कृमि-कीटो और वनस्पतियो तक फैली हैं। मनुष्य जातीय वद्ध-जीवात्माओ के भी दो भेद हैं'

(१) आनन्द के इच्छुक और (२) मुमुक्षु। आनन्द के इच्छुक प्राणियो मे कुछ तो भौतिक आनन्द को ही अपना लक्ष्य वनाकर उसी की प्राप्ति के हेतु द्रव्यादि-सग्रह में तत्पर रहते हैं और कुछ दिव्य आनन्द की खोज में तीर्थ-यात्रा, यज्ञ, पुण्य, जप, व्रत आदि का आश्रय लेते हैं। मुमुक्षु आत्माओ में से कुछ 'केवली' कहलाते है, जो अपनी आत्माओ को सासारिक दोपो से रहित कर लेते हैं और कुछ नित्य-आनन्द की खोज मे रहते हैं, वे भी भक्त कहलाते हैं। भक्ति के लिये कर्म-योग और ज्ञान-योग दोनो ही अपेक्षित हैं। कर्म-योग मे यज्ञ, तपस्या, तीर्थयात्रा आदि वेद-विहित सभी कर्म आ जाते है, आत्मा की शुद्धि हो जाती है और ज्ञानयोग की प्राप्ति होती है, जिसके कारण जीवात्मा अपने आपको प्रकृति से भिन्न समभता है। यही ज्ञान-योग भक्ति का हेतु है। यम नियम आदि अष्टाङ्ग योग भी भक्ति-योग मे अपेक्षित हैं। समर्पण भक्ति का सर्वश्रेष्ठ अङ्ग है, इसे प्रपत्ति कहा गया है, प्रपत्ति के अधिकारी शूद्र भी हो सकते हैं। भक्ति के इन साधनो के अतिरिक्त 'अर्थ पञ्चक' में आचार्याभिमान योग' नामक एक और साधन है जिसके अनुसार शिष्य सव कुछ गुरु को अर्पण कर देता है। भक्ति के अनेक प्रकारो का विधान किया गया है। रामानुजाचार्य ने अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तो में उपनिपद्, ब्रह्म-सूत्र पुराण आदि सभी का आधार ग्रहण किया और सृष्टि का क्रम साख्य-शास्त्र के अनुसार स्वीकार किया। वास्तव में उनका यह वैष्णव सम्प्रदाय 'पाचरात्र' के वासुदेव-सम्प्रदाय से मिलता जुलता है जिसमें नारायण और विष्णु के तत्त्वों का समावेश हो गया है और नारायण को विशेप महत्त्व मिला। इस सम्प्रदाय के उपदेशो में यह ध्यान रखने के योग्य वात है कि न तो कही गोपालकृष्ण का ही नाम आया है और न ही राम को कोई महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। भगवान् के जिन स्वरूपो का वर्णन भगवद्गीता मे

हुआ है, उन्ही का उन्होने विशेष रूप से उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने परम्परागत भक्ति को ब्राह्मण धर्म के साँचे मे ढालने का प्रयत्न किया। सब से बडे महत्त्व की बात यह है कि उन्होंने अपना भक्ति-मार्ग शूद्रो के लिये भी उन्मुक्त कर दिया। आगे चलकर स्वामी रामानन्द, नामदेव और तुकाराम ने इस पक्ष पर विशेष बल दिया। जहाँ तक प्रपत्ति का प्रश्न है, उसके सम्बन्ध मे यह भी अनुमान लगाया जाता है कि यह ईसाइयत की देन है; परन्तु यह बहुत दूर की सूझ ही प्रतीत होती है। 'रामानुज' के सम्प्रदाय का नाम 'श्री सम्प्रदाय' है। 'श्री सम्प्रदाय' में निश्चित दिनो में शूद्रो को भी मन्दिर-प्रवेश का अधिकार दे दिया गया है और कुछ शूद्र इस सम्प्रदाय में दीक्षित भी थे।

रामानुजाचार्य के सिद्धान्तो के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भक्ति-मार्ग के परिनिष्ठित स्वरूप की स्थापना सब से पहले रामानुजाचार्य ने ही की और भक्ति के इस स्वरूप ने उत्तर-भारत के भक्ति-आन्दोलन को पूर्णतया प्रभावित किया। रामानुज सम्प्रदाय के अनुयायियो की सख्या उत्तरी भारत में इतनी नही है जितनी दक्षिण भारत में। आगे वैष्णव-मत के जितने भी प्रचारक हुए सभी ने शकर के 'मायामिथ्यात्व' के सिद्धान्त का खण्डन कर भक्ति की स्थापना की, परन्तु सिद्धान्त रूप से रामानुजाचार्य का मत एक प्रकार से शकर के मत से समझौता ही था, क्योकि अन्ततोगत्वा कर्म-आचरण से चित्त-शुद्धि होने के पश्चात् ज्ञान की प्राप्ति होने पर सन्यास ग्रहण कर ब्रह्म-चिन्तन में लगा रहना (शङ्कर) या प्रेम-पूर्वक वासुदेव-भक्ति मे तत्पर रहना और ईश्वर के प्रति सर्वस्व समर्पण करना (रामानुज) दोनो ही बातें कर्म-योग की दृष्टि से एक है, और ये दोनो ही मार्ग निवृत्ति-विषयक कहे जा सकते है। इसलिये आगे के आचार्यो ने विशिष्टाद्वैत को भी अद्वैत का ही एक सुधार समझा।

मध्वाचार्य

माया को किसी रूप मे मिथ्या मानकर चलने वाले सम्प्रदायो का खण्डन कर भगवद्-भक्ति को ही सच्चा मोक्ष-साधन बतलाने वाले इस रामानुज-सम्प्रदाय के पश्चात् एक तीसरा सम्प्रदाय निकला, जिसको 'द्वैत-सम्प्रदाय' कहते है। इसके प्रवर्त्तक मध्वाचार्य थे। आचार्य मध्व का जीवन-चरित 'माधव-विजय' में, जिसका सम्पादन त्रिविक्रम के पुत्र नारायण द्वारा हुआ था, विस्तार से लिखा है। इसके अनुसार राजपीठ नामक नगर मे मध्यगेह भट्ट के यहाँ इनका जन्म हुआ। इनका जन्म-नाम वासुदेव था और ये अच्युतप्रकाशाचार्य के शिष्य थे। दीक्षित होने के पश्चात् ये बदरिकाश्रम मे गये और वहाँ से राम तथा वेदव्यास की मूर्त्तियाँ लाये। सन्यास ग्रहण करने पर इनका नाम 'आनन्दतीर्थ' हुआ। सम्प्रदाय के अनुसार इनका समय सवत् १०४० से १११९ तक माना जाता है परन्तु भण्डारकर सम्प्रदाय के इस कथन को नही मानते, उनके अनुसार मध्वाचार्य का समय वि० स० १२५४ से १३३३ तक था।[1] अपने इस कथन की सगति उन्होने आचार्य मध्व के 'महाभारत-तात्पर्य' से भी लगाई है और शिला-लेखो के भी प्रमाण दिये हैं। मध्वाचार्य ने शकर के अद्वैत और रामानुज के विशिष्टाद्वैत के विरोध मे अपने मत की स्थापना की और भागवत पुराण को अपने मत का आधार बनाया। उन्होने ईश्वर जीव और प्रकृति के पाँच-पाँच भेदो पर विशेष रूप से विचार किया—(१) ब्रह्म और जीवात्मा, (२) ब्रह्म और जड-जगत् (३) जीवात्मा और जड-जगत् (४) एक जीवात्मा और दूसरी जीवात्मा, (५) एक जड पदार्थ और दूसरा जड-पदार्थ। सृष्टि की रचना के विषय में उन्होने वैशेषिक शास्त्र को आधार माना। ब्रह्म को उन्होने असख्य गुणो का आधार माना है और उसके कार्य-विधान को आठ श्रेणियो में विभाजित किया है—उत्पत्ति,

---

1 Vaishnavism and Shaivism (R. G Bhandarkar) 1929, P 82, 83

पालन, लय, नियन्त्रण, आवरण, बोधन, बन्धन तथा मोक्ष। ब्रह्म को उन्होंने पूर्णतया स्वतंत्र तथा जीवात्मा और प्रकृति से भिन्न माना है। वह विभिन्न अवतार धारण करता है, जिनमें उसके सभी गुणों का अवतरण होता है। लक्ष्मी उससे भिन्न है किन्तु उसकी आश्रिता है और उसी के इंगित पर उसके कार्य-विधान का सम्पादन करती है। इस लक्ष्मी के अनेक रूप हैं, जैसे श्री, भू, ह्री, दक्षिणा, सीता, सत्या, रुक्मिणी आदि। ये प्रवृत्तियों को चेतन और अचेतन दो प्रकार की मानते है। जीवों की सख्या उन्होंने अनन्त मानी है, जो तीन वर्गों में विभाजित हैं

१—मुक्ति-योग्य, २—नित्य-संसारी, ३—तमो-योग्य। जब जीव मुक्त भी हो जाता है तो भी जीव-जीव में तथा ईश्वर और जीव में पार्थक्य बना ही रहता है। इन्होंने मुक्ति के चार भेद माने हैं—१–कर्म-क्षय, २–उत्क्रान्ति का लय, ३–अर्चिरादि-मार्ग तथा ४–भोग। मुक्ति-योग को वे चार प्रकार का मानते हैं—१–सालोक्य, २–सामीप्य, ३–सारूप्य तथा ४–सायुज्य। कर्म-क्षय नाम की मुक्ति में सञ्चित पाप-पुण्य का तो क्षय हो जाता है परन्तु प्रारब्ध कर्म बने ही रहते हैं। जब प्रारब्ध कर्म का भी क्षय हो जाता है तो जीव ब्रह्म-नाडी या सुषुम्ना के सहारे उत्क्रमण करता है और उसे पार करने पर अपने जीवन को भूल जाता है। उसके हृदय का द्वार खुल जाता है और हृदय-स्थित भगवान् ब्रह्म-द्वार से निकल कर उसे और ऊपर ले जाते हैं। तब वैकुण्ठ लोक में पहुँचकर जीव को भगवान् के 'तुर्य' रूप का साक्षात्कार होता है। वही उत्क्रमण-लय मोक्ष की अवस्था है। 'अर्चिरादि मार्ग मुक्ति' उन ज्ञानी भक्तों के लिये है, जिनके प्रारब्ध-कर्म का क्षय नही हुआ हो और जो सुषुम्ना की पास की नाडी के द्वारा ऊर्ध्व-गमन करते हैं तथा अर्चिरादि लोकों में पहुँचते हैं, फिर वहाँ से वायु-लोक होते हुए ब्रह्म-लोक में पहुँच जाते हैं। भोग-मुक्ति में जब ज्ञानी-भक्त के प्रारब्ध-कर्मों का क्षय हो जाता है तो वे श्वेतद्वीप में पहुँच जाते हैं, जहाँ उन्हे नारायण का दर्शन होता है, जिनकी आज्ञा से वे फिर पृथ्वी पर आकर परमानन्द का उपभोग करते हैं।

इस जगत् को उन्होंने प्रपञ्च माना है क्योंकि यह पाँच प्रकार के भेदों से युक्त है। परमात्मा के समान ही जगत् को भी वे सत्य मानते हैं और उसके पाँचों भेदों को भी। मुक्ति-प्राप्ति के लिये जीव को उन पाँचों का ज्ञान प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है। पदार्थों की सख्या उन्होंने दस मानी है—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशिष्ट, विशेष, अशी, शक्ति, सादृश्य तथा अभाव। द्रव्य पदार्थ बीस माने हैं—परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, आकाश, प्रकृति, गुणत्रय, महत्तत्त्व, अहकार, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, तन्मात्रा, भूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अन्धकार, वासना, काल और प्रतिबिम्ब। अन्य पदार्थों का भी विस्तृत, विवेचन करते हुए उन्होंने शक्ति-पदार्थ पर विशेष बल दिया है और उसके चार भेद किये हैं—(१) अचिन्त्य-शक्ति (२) आधेय शक्ति (३) सहज शक्ति, (४) पद-शक्ति। इन में अचिन्त्य शक्ति विशेष महत्त्व रखती है क्योंकि इसकी पूर्णता ईश्वर में है। भगवान् की इस अचिन्त्य-शक्ति का नाम ही ऐश्वर्य है और ईश्वर मे विरुद्ध-धर्मत्व का भी यही कारण है। आधेय शक्ति आरोपित शक्ति का नाम है। जब किसी मूर्ति में देव-शक्ति का आह्वान किया जाता है और उसमें प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है, वह आधेय-शक्ति कहलाती है। सहज-शक्ति पदार्थों के स्वभाव और प्रकृति के अनुसार नित्य और अनित्य दो प्रकार की होती है। पद और पदार्थ के सम्बन्ध को पृथक् करने वाली शक्ति पद-शक्ति होती है।

इस मत के मानने वाले अधिकतर कनाडी जिलों, बम्बई प्रान्त, मैसूर और पश्चिमी घाट में पाये जाते हैं। उत्तरी भारत में उनकी सख्या अधिक नहीं है। भारत में इस मत के

आनन्दतीर्थ ने ३७ ग्रन्थों का प्रणयन किया। उन्होंने अपने मत की पुष्टि मे पांचरात्र-संहिताओं का आधार भी ग्रहण किया है। इस सम्प्रदाय की उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें व्यूह तथा वासुदेव आदि का स्थान नही है। परमात्मा को विष्णु नाम से अभिहित किया गया है। राम और कृष्ण की उपासना भी विहित है परन्तु गोपालकृष्ण, गोप अथवा राधा का कही उल्लेख नही है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि पुराने वासुदेव धर्म और भागवत धर्म के स्थान पर इन्होंने नवीन वैष्णव-धर्म को जन्म दिया और पाँच रात्र को भी अधिक महत्त्व नही दिया। चैतन्य तथा मध्व के उपदेशो से समाज में भक्ति-भावना का प्रचार हुआ और उत्तरी भारत में भी इसकी लहर फैली। अब तक व्यवस्थित रूप से इस भक्ति-सम्प्रदाय का प्रचार उत्तरी भारत में नही हुआ था क्योंकि रामानुजाचार्य और 'मध्वाचार्य' ने दक्षिण को ही अपने प्रचार का केन्द्र बनाया था। उत्तरी-भारत में भक्ति का प्रचार करने वाले आचार्यों को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है— १—संस्कृत के माध्यम से प्रचार करने वाले और २—देश-भाषा के माध्यम से प्रचार करने वाले। संस्कृत के माध्यम से प्रचार करने वालो मे सर्वप्रथम नाम निम्बार्काचार्य का है।

निम्बार्काचार्य

निम्बार्काचार्य के समय का भी अभी तक कोई निश्चय नही हो सका है। भण्डारकर ने हस्तलिखित पुस्तको के आधार पर इनके समय का निर्धारण किया है और उनका निधन सन् ११६२ में माना है।[1] परन्तु आगे चलकर इस तिथि के विषय में भी संदेह प्रकट किया है। यदि उन्हे उक्त समय मे ही प्रादुर्भूत माना जाय तो वे 'रामानुजाचार्य' के लगभग समकालीन ठहरते हैं, वे जाति के तैलङ्ग ब्राह्मण थे और इनका जन्म वैल्लरी जिले मे निम्ब अथवा निम्बपुर ग्राम में हुआ था। इनका जन्म वैशाख शुक्ला तृतीया को माना जाता है। इनके पिता का नाम जगन्नाथ और माता का नाम सरस्वती था। इनके मतावलम्वी इन्हें विष्णु के सुदर्शन-चक्र का अवतार मानते हैं। इसकी पुष्टि में एक कथा भी प्रचलित है कि उन्होंने नीम वृक्ष पर सुदर्शन चक्र का आह्वान किया था, जिससे उसे सूर्य समझ कर उन साधको ने भी जो सूर्यास्त होने पर भोजन नही करते थे भोजन कर लिया। कहा जाता है कि तभी से इनका नाम निम्बार्क या निम्बादित्य हुआ। इससे पहले इनका नाम नियमानन्द था। इन्होंने जिस मत का प्रचार किया, उसे भेदाभेद अथवा द्वैताद्वैत कहते हैं। कुछ विद्वानो का कथन है कि भेदाभेदवादी श्री भास्कराचार्य तथा निम्बार्काचार्य दोनो एक ही व्यक्ति थे, किन्तु जैसा कि गोपीनाथ कविराज ने लिखा है, ये दोनो आचार्य पृथक्-पृथक् व्यक्ति थे,[2] निम्बार्क ने प्रपत्ति के सिद्धान्त पर विशेष बल दिया। इनके सम्प्रदाय को सनक सम्प्रदाय भी कहते हैं। यद्यपि ये दाक्षिणात्य थे तथापि अधिकतर वृन्दावन में ही रहे। जैसा कि हम पहले कह आये हैं कि ये सर्वप्रथम आचार्य थे, जिन्होंने उत्तरी भारत में राधाकृष्ण की भक्ति को महत्त्व दिया। इनके अनुयायियो की संख्या उत्तरी भारत में—विशेष कर बंगाल और ब्रज में—अधिक है। इनके अनुयायी दो श्रेणियो में विभक्त हो गये—सन्यासी और गृहस्थी। इनके दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—(१) 'वेदान्त-पारिजात-सौरभ' और (२) दशश्लोकी। एक २५ श्लोकों का स्तोत्र भी, जिसका नाम 'सविशेष निर्विशेष श्री कृष्ण स्तवराज' है, निम्बार्क द्वारा रचित बताया जाता है। 'वेदान्त-पारिजात सौरभ' ब्रह्म-सूत्रो की संक्षिप्त व्याख्या है। इस सम्प्रदाय का साहित्य बहुत अधिक नहीं है। निम्बार्क के उत्तराधिकारी श्रीनिवास ने

1 Vaishnavims and Shaivism (R G Bhandarkar) Page 88

2 'उत्तरा' अगहन, बंगाली सं० १३३२ (गोपीनाथ कविराज)

'वेदान्त-पारिजात' पर भाष्य लिखा और निम्बार्क मे ३२ वें आचार्य हरिव्यासदेव ने 'दश श्लोकी' पर। इस सम्प्रदाय के १३ वे आचार्य देवाचार्य ने सिद्धान्त जाह्नवी' नामक ग्रन्थ लिखा, जिस पर उनके शिष्य सुन्दर भट्ट ने एक टीका लिखी। इस सम्प्रदाय के ३० वें गुरु केशव काश्मीरी ने 'ब्रह्म-सूत्र' पर भाष्य लिखा।

निम्बार्काचार्य की 'दशश्लोकी' में उनके सिद्धान्तो का विवेचन हुआ है और जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, हरिव्यासदेव ने उस पर टीका लिखी है तथा सिद्धान्तो का विस्तृत विवेचन किया है। इन दस श्लोको का साराश निम्नलिखित है

१—जीवात्मा ज्ञान-स्वरूप है परन्तु हरि पर आश्रित है। वह अणुरूप है, विभिन्न शरीरों में पृथक्-पृथक् है, अनन्यविशिष्ट और ज्ञानी है।

२—यह जीवात्मा अनादि माया से बद्ध रहता है और तीन गुणो मे सयुक्त रहता है। ईश्वर की कृपा से ही उसे अपनी प्रकृति का ज्ञान होता है।

३—अचेतन पदार्थ तीन प्रकार के माने हैं—अप्राकृत प्राकृत तथा काल। प्रकृति मे उत्पन्न पदार्थों के प्राय तीन रग—रक्त, श्वेत तथा कृष्ण होते है।

४—मैं कृष्ण का ध्यान करता हूँ, जो व्यूह अवयवो वाला है और सर्वश्रेष्ठ है। सब दोषो से रहित कल्याणकारी और सर्व-गुण-सम्पन्न है।

५—मैं वृषभानु की कन्या राधिका का ध्यान करता हूँ, जो कृष्ण के वामाङ्ग में सुशोभित है, हजारो सखियो से परिसेवित हैं और सब कामनाओ को पूर्ण करने वाली हैं।

६—अज्ञानान्धकार से मुक्ति पाने के लिए प्राणियो को निरन्तर परब्रह्म की उपासना करनी चाहिये। नारद सच्चे ज्ञानी और सत्य के अन्वेषक थे। उन्हें यह ज्ञान सदानन्द आदि ने दिया था।

७—श्रुति-स्मृतियो के अनुसार सब आत्माओ का मूल स्रोत ब्रह्म है, अतएव ब्रह्म सत्य है। जो वेदो को जानते हैं, उनका भी यही सिद्धान्त है। स्मृति और सूत्रो के अनुकूल जो उसके तीन रूप बताए गए हैं, वे भी सत्य हैं।

८—कृष्ण के चरणारविन्दो को छोड कर और कोई गति नही है। ब्रह्मा शिव आदि भी उनकी वन्दना करते हैं। भक्तो की इच्छा से वे कृष्ण भक्तो के ध्यान के योग्य स्वरूप धारण करते हैं। उनकी शक्ति अचिन्त्य और अप्रमेय है।

९—उसकी कृपा का बडा महत्त्व है। दैन्य आदि भाव उसकी कृपा मे ही उत्पन्न होते हैं और उसी से प्रेम रूप भक्ति की प्राप्ति होती है। भक्त द्वारा की गई अनन्य भक्ति द्वारा ही उसकी कृपा प्राप्त हो सकती है। यह भक्ति दो प्रकार की होती है। १—परा, जो श्रेष्ठ है, २—साधना रूपा।

१०—भक्तो के लिए पांच पदार्थ जानने आवश्यक हैं, उपास्य का रूप, उपासक का रूप, कृपाफल, भक्ति-फल तथा फल-प्राप्ति के विरोधी।

निम्बार्क-सम्प्रदाय का यही सार है, इसमें ब्रह्म, जीव तथा प्रकृति का विवेचन हुआ है। इन्ही सार-सिद्धान्तो की व्याख्या हरि व्यासदेव जी ने की है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन सिद्धान्तो का मूल आधार रामानुज के ही सिद्धान्त है क्योकि इनमें शरणागति अर्थात् प्रपत्ति को विशेष महत्त्व दिया गया है। इसकी विशेषता यह है कि प्रपत्ति के साथ-साथ परमात्मा की कृपा तथा उसके प्रति प्रेम का प्राधान्य है। निम्बार्क की साधना-भक्ति में रामानुज सम्प्रदाय के सभी योग आ जाते हैं, अन्तर केवल इतना है कि रामानुजाचार्य ने तो भक्ति को उपनिषदो

मे विहित उपासना की कोटि मे रखा है और उसके मौलिक रूप को बदल दिया है, जबकि 'निम्बार्क' ने भक्ति की मूल भावना को सुरक्षित रखा है। रामानुजाचार्य के सिद्धान्तो से निम्बार्काचार्य के मत मे सब से महान् अन्तर यह है कि रामानुजाचार्य ने तो अपनी भक्ति को नारायण, लक्ष्मी, भू और लीला तक ही सीमित रखा, जबकि निम्बार्क ने कृष्ण और सखियो द्वारा परिवेष्टित राधा को ही प्रधानता दी। इस प्रकार उत्तरी भारत मे राधा-कृष्ण की भक्ति का शास्त्रीय ढग से प्रतिपादन निम्बार्क ने किया। बगाल और व्रजभूमि मे इसका विशेष प्रचार हुआ।

विष्णुस्वामी-सम्प्रदाय

पूर्वोक्त चार दाक्षिणात्य आचार्यों के अतिरिक्त विष्णुस्वामी का नाम भी उल्लेखनीय है। इनके सम्प्रदाय का नाम 'शुद्धाद्वैत' बताया जाता है, जिसे 'रुद्र-सम्प्रदाय' भी कहते हैं। इस सम्प्रदाय का कोई ऐतिहासिक विवरण नही मिलता। विष्णुस्वामी नाम के भी कई आचार्य हुए हैं। 'पद्म-पुराण' और 'भविष्य-पुराण' मे रुद्र-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक विष्णुस्वामी का उल्लेख है।[1] 'सम्प्रदाय प्रदीप' मे लिखा है कि वल्लभाचार्य के समय तक विष्णु-सम्प्रदाय के ७०० आचार्य हो चुके थे। यदि इस कथन को सत्य माना जाय तो विष्णुस्वामी का समय बहुत प्राचीन ठहरता है, परन्तु अन्य पुष्ट प्रमाणो के अभाव मे यह कथन मान्य नही हो सकता। श्रीधर स्वामी ने 'श्रीमद्भागवत' की टीका मे विष्णुस्वामी का उल्लेख किया है। श्रीधर स्वामी का समय १८ वी शताब्दी निश्चित है। इसलिये विष्णुस्वामी का समय १४ वी शताब्दी से पहले ही मानना चाहिये। भण्डारकर ने इस विषय मे नाभा जी के 'भक्तमाल' का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार विष्णुस्वामी के उत्तराधिकारी, ज्ञानदेव, नामदेव, त्रिलोचन और वल्लभ हुए हैं। इस उल्लेख के आधार पर विष्णुस्वामी का समय १३ वी शताब्दी के मध्य मे ठहरता है। 'गौडीय दशम खण्ड' के लेख मे एक अन्य विष्णुस्वामी का उल्लेख है, जिनका जन्म सन् ८३० लिखा है और जो काञ्चीनगर मे रहते थे।[2] डा० दीनदयालु गुप्त ने एक लेख के आधार पर लिखा है।

"राय बहादुर श्री अमरनाथ राय जी का इस विषय पर 'भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट-एनल्स' मे एक लेख है, जिसमें कहा गया है कि माधवाचार्य और श्री सायणाचार्य के गुरु श्री विद्याशङ्कर थे और विद्याशकर का ही दूसरा नाम 'विष्णुस्वामी' था।"[3]

इस प्रकार विष्णु-स्वामी के विषय में कुछ कहना कठिन है। वल्लभ-सम्प्रदाय' की मान्यता के अनुसार वल्लभाचार्य विष्णुस्वामी की परम्परा में ही थे और विष्णुस्वामी ने जिस भक्ति-मार्ग का प्रचार किया था, उसमें मुक्ति की अपेक्षा भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। इस सम्प्रदाय के आचार्य बिल्वमङ्गल के समय में भक्ति का विशेष प्रचार हुआ, जिन के मार्ग के आधार पर वल्लभाचार्य जी ने अपने मत को प्रतिष्ठित किया। इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त के विषय में भण्डारकर लिखते है

"The Vedantic theory of Vishnusuamin', which is the same as that of Vallabh, is as follows The one primeval soul was not joyful, because he was alone (BU I 4 3) and desiring to be many, he himself became the inanimate world, the individual soul, and the

---

१ वैष्णव धर्म · सक्षिप्त इतिहास पृष्ठ २३५

२ 'गौडीय दशम खण्ड पृष्ठ ६२४—२३

३ अष्ट छाप और वल्लभ सम्प्रदाय भाग १ पृष्ठ ४२

inward controlling soul These sprang from him like sparks from a burning fire and are his parts (MU II 1) By his own inscrutable power he rendered the properties of intelligence and joy, imperceptible in the first, and his joy alone in the second, while the third has all the attributes, perceptible in it"[1]

अर्थात् सर्वप्रथम एक ही ब्रह्म था, उसकी इच्छा हुई "एकोऽहं बहुस्याम्" और वह अचेतन जगत् मे परिवर्तित हो गया, जिसका नियन्ता वह स्वय था। जगत् के सब जीव उससे इस प्रकार उत्पन्न हुए, जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि से स्फुलिङ्ग। अपनी अनन्त शक्ति के द्वारा उसने अदृश्य बुद्धि और आनन्द को उत्पन्न किया और फिर केवल आनन्द को और अन्त में उसके सब गुण प्रकट हुए। ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप मे दृश्य आनन्द व्याप्त है।

वल्लभाचार्य

राधा और कृष्ण को आधार मानकर भक्ति का प्रचार करने वाले निम्बार्क आचार्य का उल्लेख पहले हो चुका है। उत्तरी भारत में राधाकृष्ण की भक्ति का प्रचार करने वाले दो आचार्य हुए—वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु। वास्तव मे भक्ति-आन्दोलन को इन्ही दो आचार्यों से विशेष शक्ति प्राप्त हुई। ये दोनो ही आचार्य निम्बार्क की भक्ति-परम्परा के अंतर्गत आते हैं। इन्होंने भी प्राय सस्कृत के माध्यम से ही अपने मत का प्रचार किया था। देशी भाषाओ में जिन सम्प्रदायो ने उत्तरी भारत मे अपने सिद्धान्तो का प्रचार किया, उनका उल्लेख हम आगे करेंगे। वल्लभाचार्य का जीवन चरित 'वल्लभदिग्विजय' में दिया हुआ है। इनका जन्म गोदावरी-तट पर काकरवाड ग्राम मे लक्ष्मण भट्ट नामक एक तैलङ्ग ब्राह्मण के यहाँ हुआ था। इनकी माता का नाम इल्लमागारू था। वल्लभ के जन्म के विषय मे एक कथा प्रसिद्ध है। लक्ष्मण भट्ट अपनी पत्नी सहित काशी मे रहने लगे थे, वहीं पर उनकी पत्नी ने गर्भ धारण किया। राजनीतिक परिस्थितियों के कारण जब काशी मे कुछ अराजकता फैली, तब लक्ष्मण भट्ट अपनी पत्नी और कुछ साथियो के साथ वहाँ से चल दिये। जब वे मध्यदेश के रायपुर जिले में चम्पारण्य नामक वन मे होकर जा रहे थे, तब उनकी पत्नी को प्रसव-पीडा हुई। वे वही रुक गये और उनके साथी आगे बढ गये। उनकी पत्नी ने एक शमी वृक्ष के नीचे सात मास के शिशु को जन्म दिया, जो जन्म के समय सज्ञाहीन था। मृतक समझकर वे उसे पत्तो से ढककर आगे चल दिये, परन्तु 'चौडा' नगर में पहुँच कर उन्हे ज्ञात हुआ कि काशी की स्थिति अब ठीक है, अतएव वे लौट पडे और लौटते समय बच्चे को जीवित पाया। 'वल्लभदिग्विजय' में वल्लभ का जन्म वैशाख कृष्णा एकादशी, रविवार स १५३५ और तिरोधान ज्येष्ठ १०, स० १५८७ माना है।

कहा जाता है कि वल्लभाचार्य जी ने १० वर्ष की आयु मे ही वेद, वेदाङ्ग, दर्शन, पुराणों का अध्ययन कर लिया था। स० १५४५ मे अपने पिता के निधन के पश्चात् उन्होने अपनी यात्राएं आरम्भ कीं और अपनी माता को उनके पितृ-गृह 'विद्यानगर' पहुँचा दिया। वल्लभ-दिग्विजय' मे उनकी यात्राओ का विस्तृत वर्णन है। सर्वप्रथम यात्रा उन्होंने केवल १२ वर्ष की आयु मे, सम्वत् १५४६ में की। इन यात्रा में वे दक्षिण भी गये और वहाँ वैष्णव आचार्यों के सिद्धान्तों का सम्यक् अध्ययन किया। विद्यानगर का शास्त्रार्थ भी इसी यात्रा में हुआ और व्रज की यात्रा भी उन्होंने की, जहाँ सवत् १५५० श्रावण शुक्ला एकादशी को गोकुल के ठकुरानी घाट पर श्रीमद्भागवत का साप्ताहिक परायण भी उन्होंने किया था।

1 Vaishnavism and Shaivism (R G. Bhandarker) Page 110.

उनका दूसरी यात्रा स० १५५४ मे प्रारम्भ होकर स० १५५८ मे पूरी हुई। इस यात्रा में वे गोवर्द्धन भी गये और सम्वत् १५५६ मे जब श्रीनाथ जी के स्वरूप का प्राकट्य हुआ, तो उनके मन्दिर की स्थापना की। इस यात्रा से लौटकर स० १५५८ की आषाढ़ कृष्णा पञ्चमी को उन्होंने मधुमङ्गल नामक ब्राह्मण की कन्या महालक्ष्मी से अपना विवाह किया। उनकी तीसरी यात्रा सम्वत् १५५८ से १५६६ तक चली। इसी यात्रा मे उनकी प्रेरणा से गोवर्द्धन पर्वत पर पूरनमल खत्री ने श्रीनाथ जी का मन्दिर बनवाया और वे सम्वत् १५६५ में विद्यानगर के प्रसिद्ध शास्त्रार्थ में विजयी हुए, जिसके उपलक्ष में राजा कृष्णदेवराय ने इनका कनकाभिषेक किया। इस यात्रा के पश्चात् ही उन्होंने अपना द्विरागमन किया और प्रयाग के दूसरी ओर यमुना के किनारे पर अडैल नामक ग्राम में रहने लगे। इनके दो पुत्र हुए—गोपीनाथ जी और विट्ठलनाथ जी।

अपनी तीन यात्राओं मे उन्होंने अपने मत का प्रचार किया। उनका दार्शनिक सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैत' कहलाता है और उनके मत का आचरण-पक्ष 'पुष्टि-सम्प्रदाय'। हमारे चरितनायक सूरदास इसी सम्प्रदाय में दीक्षित थे। इनके सिद्धान्तो का पूर्ण विवेचन यथा स्थान आगे किया जायेगा।

वल्लभाचार्य ने अपनी भक्ति में प्रपत्ति को विशेष स्थान दिया और गोपालकृष्ण की लीलाओं को अलौकिकता प्रदान की। लीला को वल्लभ ने बहुत उच्च स्थान दिया तथा बतलाया कि लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण भगवान् राधिका के साथ जिस लोक मे विहार करते हैं, वह विष्णु और नारायण के वैकुण्ठ से भी ऊँचा है और उसे गोलोक कहते हैं। भगवान् की लीलाओं में भाग लेना ही जीवन का सब से बडा उद्देश्य है। इसका विस्तृत विवेचन हम आगे करेंगे।

चैतन्य-सम्प्रदाय

वल्लभाचार्य के भक्ति-मार्ग मे राधा और कृष्ण के युगल रूप का इतना महत्त्व नही है, जितना चैतन्य-सम्प्रदाय मे है। वल्लभाचार्य ने तो भक्ति के विधि-विधान और बाह्यरूप पर विशेष बल दिया, जब कि चैतन्य का भाव-पक्ष प्रबल रहा। वे राधा-कृष्ण का कीर्तन करते-करते मूर्च्छित हो जाते थे। भावात्मक कीर्तन के द्वारा ही वे जनता के हृदय को आकृष्ट करने मे समर्थ हुए। चैतन्य महाप्रभु वल्लभाचार्य के ही समकालीन थे। 'Cultural Heritage of India' के अनुसार उनका जन्म सन् १४८५ मे बगाल के नवद्वीप स्थान में फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमा को हुआ था। इनका जन्म का नाम विश्वम्भर था, इनके पिता का नाम जगन्नाथ मिश्र और माता का शचीदेवी था। जगन्नाथ मिश्र पूर्वी बगाल में सिलहट में रहते थे और बाद को नदिया चले गये थे। इनके दो पुत्र थे। पहले विष्णुरूप, जो चैतन्य के इतिहास में नित्यानन्द के नाम से प्रसिद्ध है और दूसरे विश्वम्भर। विश्वम्भर को ही लोग बाद मे कृष्ण चैतन्य कहने लगे थे। उनके अनुयायी उन्हे कृष्ण का अवतार मानते है। वे गौराग और गौरचन्द के नाम से भी प्रसिद्ध है। चैतन्य महाप्रभु का जीवनवृत्त कई ग्रन्थो मे कुछ भेद के साथ उपलब्ध होता है। भण्डारकर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "Vaishnavism and Shaivism" में चैतन्य का जीवन-वृत्त इस प्रकार दिया है

"२२ वर्ष की अवस्था मे उन्होंने लक्ष्मीदेवी से विवाह किया और गृहस्थ जीवन व्यतीत करने लगे। कुछ समय बाद पूर्वी बगाल मे पर्यटन करने के लिए निकल पडे। माँगना और गाना ही उनका व्यवसाय था, जिससे उन्होंने पर्याप्त धन एकत्र कर लिया। उनकी अनुपस्थिति मे उनकी पत्नी का देहान्त हो गया और घर लौट कर उन्होंने दूसरा विवाह कर लिया।

र्ष की अवस्था में वे पिण्डदान के लिए गया गये। वहाँ से लौट कर उन्होंने अपना कार्य
। किया। धार्मिक रीति-रिवाजों और कर्म-काण्ड के आडम्बर के विरोध में उन्होंने हरि
त प्रेम और विश्वास का उपदेश दिया। जाति-पाँति का इन्होने भी खण्डन किया। कहा
है कि उनसे पहले अद्वैताचार्य ने भी इस प्रकार की भक्ति का प्रचार किया था।
। के भाई नित्यानन्द ने भी उन्हे भक्ति के प्रचार मे योग दिया। शनै शनै उनके मत
चार बढता चला गया। उस समय बगाल में शाक्तो का बडा जोर था और लोग काली
मनसा देवी की उपासना करते थे। वे चैतन्य के बडे विरोधी थे और उनका उपहास
कया करते थे और उन्हे तग भी, किन्तु धीरे-धीरे उनके कीर्तन का प्रचार बढता गया।
१५१० में चैतन्य सन्यासी हुए और उन्होंने 'केशव भारती' से दीक्षा ली। सन्यासी होने
नन्तर वे जगन्नाथ जी गये और फिर ६ वर्ष तक देश का भ्रमण किया। इसी यात्रा में
ने कुछ शास्त्रार्थ भी किये और फिर पुरी में आकर रहने लगे, जहाँ सन् १५३३ मे उनकी
हुई।"

चैतन्य के विषय मे लक्ष्य करने की बात यह है कि अन्य आचार्यों की भाँति अपने
दाय को व्यवस्थित रूप देने का प्रयास उन्होंने नही किया और न 'प्रस्थानत्रयी' पर कोई
य ही लिखा। वे उच्च कोटि के भावुक भक्त थे। उनके जीवन की घटनाओं का उल्लेख
न्य-चरितामृत' में मिलता है। श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी ने 'श्री चैतन्य-चरितावली' पाँच
डो में लिखी है, जो गीता प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित हुई हैं। इसमें चैतन्य के जीवन पर
प्त प्रकाश डाला गया है।

भगवान् के प्रेम-महोदधि में निमग्न रहने के कारण किसी ग्रन्थ आदि की रचना के
ए महाप्रभु के पास समय ही नही था। कृष्ण की भक्ति और कीर्तन के महत्त्व के प्रतिपादक
के निम्नलिखित ८ श्लोक मिलते हैं:—

चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणम्
श्रेयःकैरवचन्द्रिकावितरणं विद्या-वधू-जीवनम्।
आनन्दाम्बुधि-वर्द्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्ण सकीर्तनम् ॥१॥

जो चित्तरूपी दर्पण के मैल को मार्जन करने वाला है, ससाररूपी महादावाग्नि को
न्त करने वाला है, प्राणियो को मङ्गलदायिनी कैरवचन्द्रिका का वितरण करने वाला है,
। विद्यारूपी वधू का जीवन स्वरूप है और जो आनन्द-समुद्र को प्रतिदिन बढाने वाला है,
स श्रीकृष्ण-सकीर्तन की जय हो।

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमित. स्मरणेन काल.।
एतादृशी तव कृपा भगवन् ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुराग: ॥२॥

नाथ, तुम्हारी कृपा मे कोई कसर नही और मेरे दुर्भाग्य में कुछ सन्देह नही। तुमने
पने समस्त नामो मे पूर्ण शक्ति भरदी है, काल-पात्र आदि का कोई नियम अथवा प्रतिबन्ध
ही। यह तो मेरा ही दुर्भाग्य है कि तुम्हारे इन मधुर नामो से मेरे हृदय में अनुराग उत्पन्न
हीं होता।

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीय सदा हरि ॥३॥

अर्थात् भागवत बनने वाले को चाहिये कि तृण से भी अधिक नम्र और वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु बन कर स्वय मान की इच्छा न कर दूसरो का मान करता हुआ हरि का कीर्तन करे।

न धन न जन न सुन्दरी
कविता वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे
भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि ।।४।।

हे प्रभो, मैं धन, जन, सुन्दरी, कविता कुछ नही चाहता, बस प्रत्येक जन्म में मेरी तुम मे निष्काम भक्ति रहे।

अयि नदतनूज किंकर पतित मा विषमे भवाम्बुधौ।
कृपया तव पादपकजस्थितधूलीसदृश विचिंतय ।।५।।

हे नन्दसुत, विषम ससार मे पडे हुए मुझ सेवक को कृपा करके अपने चरण कमलो पर पडी हुई धूलि के समान समझो।

नयन गलदश्रुधारया वदन गद्-गद् रुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचित वपु कदा तव नाम ग्रहणे भविष्यति ।।६।।

हे प्रभो, तुम्हारे नाम का कीर्तन करते समय मैं किस शुभ क्षण में इस स्थिति को प्राप्त करूँगा कि मेरे नयन अश्रुधारा से, मुख गद्-गद् वाणी से तथा शरीर पुलक से व्याप्त होगा।

युगायित निमेषेण चक्षुषा प्रवृषायितम्।
शून्यायित जगत् सर्वं गोविन्दविरहेण मे ।।७।।

प्रभु के विरह मे मेरे पल युगो के समान, आँखें वर्षा के समान तथा विश्व शून्यवत् हो गया है।

आश्लिष्य वा पादरता पिनष्टु मा—
मदर्शनान्मर्महता करोतु वा।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो
मत्प्राणनाथस्तु स एव नापर ।।८।।

हे सखि, वह धोखेबाज कृष्ण उनके चरणो में रत रहने वाली मुझ (दासी) को हृदय से लगाएँ या चाहे विरह से मर्माहत कर दें, जो कुछ जी में आये, करें, मेरे प्राणनाथ तो वही हैं और कोई नही।[1]

महाप्रभु के शिष्यो ने उनके सम्प्रदाय का यथावत् प्रचार किया। श्री नित्यानन्द अद्वैताचार्य ने बगाल में तथा उनके अन्य ६ शिष्यो ने वृन्दावन में महाप्रभु के सिद्धान्तो की धूम मचा दी। महाप्रभु के इन ६ शिष्यो मे रूप गोस्वामी, सनातन गोस्वामी और जीव गोस्वामी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। नाभादास ने अपने 'भक्तमाल' में इन तीनो का वर्णन इस प्रकार किया है—

वेला भजन सुपक्व कषायन कबहूँ लागी।
वृन्दावन दृढ वास जुगल चरननि अनुरागी ।।
पोथी लेखन पान अघट अक्षर चित दीनो।
सद्ग्रन्थन को सार सर्व हस्तामलक कीनो ।।

१ श्री चैतन्य-चरितावली भाग ५ पृष्ठ २५७, २६५

सन्देह-ग्रन्थ-छेदन समर्थ, रस-रास-उपासक पद्म-धीर।
श्री रूप सनातन भक्ति-जल श्रीजीव गुसाई सर गभीर ॥[1]

इन गोस्वामियो ने कई महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की। रूप गोस्वामी के 'भक्ति-रसामृतसिंधु', 'उज्ज्वल नीलमणि' तथा 'लघुभागवतामृत'; सनातन गोस्वामी के 'श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध की टीका' तथा 'बृहद् भागवतामृत' और जीव गोस्वामी जी के 'दशम भागवत की टीका', 'षट्-सन्दर्भ' तथा 'गोपाल चम्पू' ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। चैतन्य-सम्प्रदाय के साहित्य का प्रचार सन् १६०० के लगभग श्रीनिवासाचार्य जी द्वारा हुआ १८ वी शताब्दी में इस सम्प्रदाय के आचार्य वलदेव विद्याभूषण ने ब्रह्म सूत्र पर 'गोविन्द भाष्य' लिखा। तभी से इस सम्प्रदाय की गणना अन्य परिनिष्ठित वैष्णव सम्प्रदायो में होने लगी।

इस सम्प्रदाय के मतानुसार कृष्ण ही परम तत्त्व हैं, जो अनन्त शक्ति से युक्त और अनादि हैं। उपासना-भेद से उसके अलग-अलग नाम हो गये हैं, उसकी शक्ति अचिन्त्य है। उसकी शक्ति का प्राकट्य होने पर उसे भगवान् कहते हैं अन्यथा वह ब्रह्म कहलाता है। जब उसकी कुछ शक्ति प्रकट और कुछ अप्रकट होती है तब वह परमात्मा कहलाता है। इस परम तत्त्व का भगवान् स्वरूप ही भक्ति का आलम्बन है। 'लघुभागवतामृत' में परब्रह्म के रूप का विस्तार से विवेचन है परन्तु उसका आधार श्रीमद्भागवत है, जैसा कि अगले अध्याय में प्रकट होगा। 'लघुभागवतामृत' में परब्रह्म के तीन रूप माने हैं: (१) स्वय रूप, (२) तदेकातम-रूप तथा (३) आवेशरूप। इन तीनो रूपो में कृष्ण ही स्वय रूप हैं। उनके भी तीन रूप हैं—(१) द्वारका रूप, (२) मथुरा रूप, (३) व्रज-लीला-रूप। ये तीनो रूप उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। तदेकातमरूप में वह अपनी अभिव्यक्ति दो रूप में कराता है—(१) विलास रूप में और (२) स्वाश रूप में। लीला विशेष के लिए उनकी जो अभिव्यक्ति होती है, वही विलास रूप है, परन्तु जब वे अपना अश किसी रूप में प्रकट करते हैं वही 'स्वाश' रूप कहलाता है और जब वे कुछ कलाओं के साथ विशिष्ट जीवो में प्रकट होते हैं, तब उनका 'आवेश रूप' कहलाता है। भगवान् के अवतार भी तीन प्रकार के माने गये हैं, पुरुषावतार, गुणावतार और लीलावतार। परम श्रीकृष्ण का आदि पुरुषावतार वासुदेव कहलाता है, जो तीन प्रकार का माना गया है—सकर्षण, अनिरुद्ध और प्रद्युम्न। ये पुरुषावतार ही सृष्टि के कारण हैं। गुणावतार रूप में वह विष्णु ब्रह्म और रुद्र का रूप धारण करता है। लीलावतार में परब्रह्म का तदेकातमरूप और आवेशरूप प्रकट होता है।

भगवान् की तीन शक्तियाँ मानी गई हैं, अन्तरङ्ग-शक्ति, वहिरग और तटस्थ-शक्ति। भगवान् की अन्तरग-शक्ति ही स्वरूप-शक्ति है, जिसे एन्धिनी-शक्ति भी कहते हैं। सत्-चित् आनन्द इसी का सामूहिक रूप है। वहिरग शक्ति माया कहलाती है, जिससे जड प्रकृति का उद्भव होता है। यह माया भी दो प्रकार की होती है १—द्रव्य माया और २—गुण-माया। द्रव्य-माया जगत् का उपादान कारण होती है और गुण-माया निमित्त कारण। इस वहिरग शक्ति और अन्तरग-शक्ति के मध्य की एक तटस्थ-शक्ति है, जो जीवो की उत्पत्ति का हेतु है। चैतन्य महाप्रभु के सप्रदाय में जीव को अणुरूप और नित्य माना है। भगवान् का पूर्णतम स्वरूप गोलोक में रहता है, जिसको चैतन्य-सम्प्रदाय में वृन्दावन-धाम और गोकुल कहते हैं।

जीव जड माया से मुक्त रहता है और उससे छुटकारा पाने पर भी उसे सायुज्य कैवल्य मुक्ति की प्राप्ति होती है। यह मुक्ति भक्ति के द्वारा ही सम्भव है। वह भक्ति दो प्रकार की है—वैधी और रागानुगा। भक्ति का विस्तृत विवेचन हम आगे करेंगे।

१ भक्त-माल, भक्ति-सुधा-स्वाद-तिलक, रूपकला छन्द ९३ पृष्ठ ६१६

चैतन्य-सम्प्रदाय मे कृष्ण-चैतन्य, नित्यानन्द और अद्वैतानन्द तीन प्रभु माने हैं। नित्यानन्द के अनुगामी नदिया में और अद्वैतानन्द के शान्तिपुर में निवास करते हैं। चैतन्य-सम्प्रदाय के मदिर मथुरा, वृन्दावन, तथा बगाल मे, नदिया, अम्बिका और अग्रद्वीप में हैं। अन्य स्थानो पर भी इनके मन्दिर मिलते हैं। आगे चलकर इस सम्प्रदाय के और भी कई सम्प्रदाय हुए।

सूर के सम-सामयिक अन्य सम्प्रदाय

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं। दक्षिण के आचार्यों के प्रभाव से राधा-कृष्ण की भक्ति को आधार मान कर कुछ ऐसे सम्प्रदायो का भी जन्म हुआ, जो केवल रागात्मिका भक्ति से प्रेरित होकर अपनी भावना का प्रचार जनता में कर रहे थे। इनमें से कुछ तो युगल रूप की उपासना को प्रधानता देते थे और कुछ केवल राधा की भक्ति-भावना से अनुप्राणित थे। बगाल में तो शक्ति की उपासना का पहले से ही प्रचार था और सहजिया-सम्प्रदाय मे शक्ति की उपासना का विकृत रूप भी हो चला था। हम पहले प्रकरण में बतला चुके हैं कि इस विकृत उपासना के मूल कारणो मे बौद्ध धर्म का प्रभाव भी एक कारण था। इसका वर्णन हम आगे भी करेंगे। यहाँ तो केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उपासना का वह विकृत रूप ब्रज-भूमि में भी प्रचलित हो गया था। डा० भण्डारकर ने अपने 'वैष्णविजम एण्ड शैविजम' ग्रन्थ में राधा-विषयक उपासना के इस विकृत रूप की ओर सकेत किया है। वे लिखते हैं

The worship of Radha, more prominently even than that of Krisna, has given rise to a sect, the members of which assume the garb of women with all their ordinary manners and affect to be subject even to their monthly sickness Their appearance and acts are so disgusting that they do not show themselves very much in public, and their number is small Their goal is the realisation of the position of female companions and attendants of Radha, and hence probably they assume the name of Sakhibhavas (Literally, the condition of companions) They deserve notice here only to show that, when the female element is idolised and made the object of special worship, such disgusting corruptions must ensue The worship of Durga in the form of Tripura-sundari has led to the same result 1

इन सम्प्रदायो में हरिदासी-सम्प्रदाय, जिसे सखी-सम्प्रदाय भी कहते हैं, तथा राधा-वल्लभी-सम्प्रदाय विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सखी-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक स्वामी हरिदास जी और राधावल्लभी-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक स्वामी हितहरिवशजी थे।

सखी-सम्प्रदाय :

स्वामी हरिदास जी ने सखी-भाव से राधाकृष्ण की 'युगल-उपासना' का प्रचार किया। 'भक्तमाल' में 'हरिदास' जी का उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

आसधीर उद्योतकर रसिक छाप 'हरिदास' की॥
जुगल नाम सो नेम जपत नित कुञ्ज बिहारी।

1 Vaishnavism and Shaivism, Page 122-23,

अवलोकत रहे केलि सखी सुख को अधिकारी ॥
गान-कला गन्धर्व स्याम स्यामा को तोषैं।
उत्तम भोग लगाय मोर मरकट तिमि पोषैं ॥
तपति द्वार ठाढे रहें दर्शन आसा जासु की।
आसधीर उद्योत कर, रसिक छाप हरिदास की ॥[1]

इस पद से यह ज्ञात होता है कि स्वामी हरिदास जी की छाप 'रसिक' थी। उन्होंने आसधीर का नाम प्रकाशित किया। ये सखी-भाव से राधा-कृष्ण की उपासना किया करते थे, गान-विद्या-निष्णात थे और उनकी पर्याप्त प्रसिद्धि भी थी। अकबर के दरबार का प्रसिद्ध गायक तानसेन इन्हीं का शिष्य था। तानसेन से सम्बद्ध इनकी अनेक कथायें आजकल भी प्रचलित हैं। हरिदास जी ने व्यवस्थित रूप से किसी सम्प्रदाय की स्थापना नही की। पाश्चात्य विद्वानो ने हरिदास जी के विषय में जो लिखा है, वह प्रामाणिक नही माना जा सकता, क्योंकि इस नाम के कई महात्मा हो चुके हैं और उन्होंने किसी हरिदास का सम्बन्ध सखी-सम्प्रदाय के स्वामी हरिदास से जोड दिया है। इस विषय में प्रो० विल्सन के Essays on the Religions of Hindustan, तथा ग्राउज का Muttra Memoir विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्राय: लेखको ने 'भक्तमाल' के उक्त पद के आधार पर 'आसधीर' को स्वामी हरिदास जी का पिता माना है, परन्तु सहचारी शरण ने, जो १८ वी शताब्दी के अन्तिम चरण में विद्यमान थे, इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तो की व्याख्या और आचार्यों के जीवनवृत्त का वर्णन करते हुए हरिदास को आसधीर की ही शिष्य-परम्परा में माना है। हरिदास जी ने ही सखी-सम्प्रदाय को पोषित किया था। सहचरी शरण की 'सरस-मजावली' और 'ललित-प्रकाश' दो पुस्तकें प्राप्त हैं। स्वामी हरिदास जी के पद 'हरिदास जी की वानी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। सैद्धान्तिक रूप से यह मत निम्बार्क-मत के अन्तर्गत ही आता है। हरिदास जी के अन्य दो ग्रन्थ भी प्रसिद्ध हैं। (१) साधारण सिद्धान्त और (२) रास के पद। इस सम्प्रदाय की विशेष उल्लेखनीय वात यह है कि इसमें भक्ति-भावना पर ही विशेष वल दिया गया है। स्वामी हरिदास जी उच्च कोटि के गायक थे। उन्हें सरस्वती का वरद हस्त प्राप्त था। उनकी प्रतिभा अपूर्व थी। ऐसे भावुक भक्त के लिए सिद्धान्तो का प्रतिपादन दुरूह कार्य था। सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है कि स्वामी हरिदास जी अलीगढ जिले के हरिदास पुर ग्राम में रहने वाले थे। आज भी इनकी गद्दी व्रज मे चली आ रही है। वृन्दावन में श्री वांकेविहारी जी का मन्दिर हरिदास जी के समय का ही वना हुआ है।

राधावल्लभी सम्प्रदाय

युगल-उपासना का दूसरा उल्लेखनीय सम्प्रदाय राधावल्लभी सप्रदाय कहा जा सकता है, जिसके प्रवर्त्तक गोस्वामी हितहरिवंश थे। इनके जन्म-सम्वत् के विषय में मत-भेद है। 'मिश्र-बन्धुओं' ने इनका जन्म सवत् १५३० (सन् १४७३) में माना है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इनके जन्म-काल की मान्यताओं के विषय में विचार करते हुए लिखा है—

"इस सम्प्रदाय के भक्त प० गोपालप्रसाद शर्मा ने इनका जन्म सवत् १५३० में माना है, परन्तु ओरछा-नरेश महाराज मधुकरशाह के राजगुरु हरिरामजी व्यास ने सवत् १६२२ (अर्थात् सन् १५६५ ई०) के लगभग उनसे दीक्षा ली थी। इस वात को ध्यान में रख कर

१ भक्त माल, भक्ति सुधा स्वाद पृष्ठ ६०७

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनका जन्म इसके पश्चात् समझा है। शुक्ल जी के अनुसार यह समय सम्वत् १५५६ अर्थात् सन् १५०२ ई० होना चाहिये।"[1]

इस सम्वत् की पुष्टि भगवन्मुदित नामक भक्त द्वारा लिखित 'हितहरिवश चरित' से भी हो जाती है। उसमें हितहरिवश जी के जन्म-सम्वत् का उल्लेख इस प्रकार है—

"पन्द्रह सौ उनसठ सम्वत्सर वैशाखी सुदि ग्यार सोमवार।
तहँ प्रगटे हरिवश हित, रसिक-मुकुट-मणि भाल॥"[2]

हित-हरिवश जी का जन्म सहारनपुर जिले के देववन्द ग्राम में हुआ था, इनके पिता का नाम श्रीव्यास था। किम्वदन्ती है कि पहले ये मध्व-सम्प्रदाय के अनुयायी थे परन्तु जब राधा ने इन्हे स्वप्न में दर्शन दिये तो उनके उपासक हो गये और उन्होने वृन्दावन में एक मन्दिर का निर्माण कराया। नाभादास जी के भक्तमाल' में इनका उल्लेख है, जिससे हित-हरिवश के सिद्धान्तो पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। भक्तमाल का पद इस प्रकार है

"श्री हरिवश गुसाई भजन की रीति सकृत को जानि है?
श्री राधाचरण प्रधान हृदय अति सुदृढ उपासी।
कुञ्ज केलि दम्पति तहाँ की करत खवासी।
सर्वसु महाप्रसाद प्रसिद्धता के अधिकारी।
विधि-निषेध नहि दास अनन्य उत्कट-व्रतधारी।
श्री 'व्यास' सुवन पथ अनुसरै सोई भलै पहिचानि है।
श्री हरिवश-गुसाई भजन की रीति सकृत को जानि है?"

श्री प्रियादास जी का पद यह है

'श्री हित जू की रति कोऊ लाखनि में एक जाने।
राधाई प्रधान माने पाछे कृष्ण ध्याइये।
निपट विकट भाव, होतन स्वभाव ऐसो
उनकी ही कृपा दृष्टि नेकु क्यो हूँ पाइये।
विधि औ' निषेध छेद डारे, प्रान-प्यारे हिये
जिये निजदास निस-दिन वहै गाइये।
सुखद चरित सब रसिक विचित्र नीके
जानत प्रसिद्ध कहा कहिकें सुनाइये।"[3]

इन दोनो पदो से हित हरिवश जी की विचारधारा का पता चलता है। उन्होंने कृष्ण की अपेक्षा राधा की भक्ति को विशेष महत्त्व दिया है, पर राधा को उन्होने उस रूप में नही माना है, जिसमें बङ्गाल के कुछ वैष्णव-सम्प्रदायो ने अङ्गीकार किया है। नाभादास जी ने अपने पद में स्पष्ट किया है कि दम्पति-कुञ्ज-केलि-महत्त्व साधारण व्यक्ति की बुद्धि से परे है, क्योकि जब तक हमारी बुद्धि विधि-निषेध-परक होगी, लौकिक वासनाओ से ऊपर नही उठ सकती। यह लीला तो अनन्य भक्ति द्वारा ही हृदयङ्गम हो सकती है। हित हरिवश ने अपने सम्प्रदाय में दूषित मानसिक वृत्तियो के परिष्कार का ही योग बताया है। इस योग की प्राप्ति 'श्रीमद्भगवद्गीता' के शब्दो में अभ्यास अथवा वैराग्य से ही सम्भव है। 'भक्तमाल' के पद में खवासी' शब्द का प्रयोग विशेष महत्वपूर्ण है। इस सम्प्रदाय में राधा कृष्ण-प्रेम के

---

१ हिन्दी साहित्य आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पृष्ठ १९५-१९६
२ हित हरिवंश-चरित (भगवन्मुदित भक्त, मालवीय पुस्तकालय अलीगढ)
३ भक्तमाल भक्ति सुधा-स्वाद तिलक रूपकला पृष्ठ ६०५।

संयोग पक्ष को ही लिया है और युगल-मूर्ति की कुञ्ज-लीलाओं के आनन्द को परम-रस-माधुरी-भाव' कहा है। यों तो इस मधुर-भाव की उपासना का चैतन्य-सम्प्रदाय तथा वल्लभ-सम्प्रदाय में पूर्ण-विवेचन हुआ है, फिर भी राधावल्लभी सम्प्रदाय की भावना में एक मधुर आकर्षण है। इस सम्प्रदाय की भक्ति-पद्धति से प्रतीत होता है कि यह भक्ति-भावना अन्य वैष्णव-सम्प्रदायों की भक्ति-भावना से स्वतन्त्र है। इस सम्प्रदाय का अनन्य दास भाव, कुञ्ज-केलि, सम्पति की खवासी अर्थात् दासीभाव, विधि निषेध का त्याग तथा राधिका जी को इष्ट-देवी के रूप में मानना ही विशेषताएँ हैं। श्रीकृष्ण इस सम्प्रदाय के इष्टदेव नहीं हैं, केवल राधिका के अनुपग के कारण उपास्य हैं। स्वय उनके लिये राधा की सखियाँ और दासियाँ भी अनुनय विनय के पात्र हैं। इस सम्प्रदाय से 'स्वकीया' अथवा 'परकीया' को कोई स्थान नही मिला है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी अपने 'हिन्दी-साहित्य' में इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तो के विषय मे लिखते हैं -

"निगमागम से अगोचर, सच्चिदानन्द, घन-विग्रह श्री राधाकृष्ण नित्य-किशोर युगलरूप मे श्रीवृन्दावन' में ऐसी प्रेम-क्रीडा किया करते हैं, जो स्वकीया और परकीया भाव से असंप्रज्ञात है, और यथा समय स्वेच्छा से ये युगल 'व्रजेन्द्रनन्दन' और 'श्री वृषभानुनन्दिनी' नाम से व्रज मे प्रकट होकर अपनी रहस्य लीला से निज-रसिक-जनो को आनन्द प्लावित किया करते हैं। तब श्रीकृष्ण जी विषय और राधिका सहित सब गोपियाँ आश्रय होती हैं। इसी श्रुति-गोचर व्रजलीला की उपासना तथा गान अन्य समस्त रसिको ने किया है।'[1]

वैष्णव सम्प्रदायो के इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि इनमे भक्ति की भावना उत्तरोत्तर बढती गई, भक्ति के रागात्मक पक्ष को विशेष बल मिलता गया और शास्त्रीय पक्ष का ह्रास होता गया। प्रपत्ति अर्थात् शरणागति और समर्पण की भावना को विशेष महत्त्व मिला, परन्तु भक्ति-आन्दोलन की पृष्ठ भूमि के लिए केवल इन वैष्णव सम्प्रदायों का ज्ञान अपर्याप्त ही समझना चाहिये। हम पहले कह आये हैं कि दक्षिण में वैष्णव और शैव दोनो प्रकार के भक्तो की परम्परा समानान्तर-सी चल रही थी। जिस प्रकार विष्णु-विषयक भक्ति-भावना को लेकर अनेक वैष्णव आचार्य उठ खडे हुए, उसी प्रकार शैव-भक्ति-भावना को लेकर अनेक शैव सम्प्रदाय चले, जिनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। इन शैव-सम्प्रदायों में पाशुपत-सम्प्रदाय विशेष महत्वपूर्ण है। इस सम्प्रदाय के मूल मे तीन सिद्धान्त हैं १—पति अर्थात् स्वामी, (२) पशु अर्थात् जीवात्मा तथा (३) पाश अर्थात् बन्धन। इस सम्प्रदाय के चार पाद स्वीकार किये गये हैं—विद्या, क्रिया, योग और चर्चा। इस पाशुपत सम्प्रदाय के पश्चात् शैव सम्प्रदाय का विकास हुआ, जिसके सिद्धान्त पाशुपत-सम्प्रदाय के सिद्धान्तो से सरल थे। इस सम्प्रदाय के पोषको मे शम्भुदेव और श्री कण्ठशिवाचार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। शैव-सम्प्रदायो के अन्तर्गत ही कपाल और कालामुख सम्प्रदाय आते हैं, जिनमें ऐसी अमानवीय क्रियाओ का समावेश हुआ कि जन-साधारण में शिव-भक्ति के प्रति उदासीनता के भाव जगने लगे। जिस समय दक्षिण में ये सम्प्रदाय पनप रहे थे, उसी समय उत्तर में काश्मीरी शैव सम्प्रदाय का आगमन हुआ। यह सम्प्रदाय घृणित क्रियाओ का आश्रय लेकर नहीं चला था, इसलिए यह श्रेष्ठ और तर्क-सम्मत कहा जा सकता है। इस सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक तो वसुगुप्त माने जाते हैं, किन्तु आगे चलकर यह दो भागो में विभाजित हो गया—(१) स्पन्द शास्त्र, जिसकी स्थापना कल्लट ने की और (२) प्रत्यभिज्ञा-मत, जिसका प्रणयन सोमानन्द ने किया। शङ्कर के अद्वैत-वाद के

१ हिन्दी-साहित्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ १२८।

समानान्तर इन्होंने ईश्वरद्वयवाद का प्रचार किया और मुक्ति के लिए ज्ञान एवं भक्ति दोनों का उचित सामंजस्य आवश्यक बताया।

शिव-भक्ति को आधार मानकर अन्य कई सम्प्रदाय प्रचलित हुए। इनमें लिङ्गायत शाक्त और गाणपत्य सम्प्रदाय इसी भक्ति की ही देन हैं। गाणपत्य सम्प्रदाय के छः वर्ग माने जाते हैं।

प्राचीन धार्मिक सम्प्रदायों में 'स्कन्द' और 'मौर' सम्प्रदाय भी उल्लेखनीय है। स्कन्द अथवा कार्तिकेय शिव के ही पुत्र माने जाते हैं। पतंजलि के समय से स्कन्द की पूजा का विधान मिलता है पतंजलि ने स्वयं स्कन्द, शिव और विशाख मूर्तियों का उल्लेख किया है। इसी प्रकार प्राचीन समय में सूर्य की भी देवरूप में उपासना की जाती थी और आज भी उसे वैदिक देवता स्वीकार किया जाता है। वेद में सूर्योपासना के मन्त्र भी प्राप्त होते हैं। प्राचीन शिलालेखों और ऐतिहासिक विवरणों से भी सूर्य की उपासना के प्रचार की पुष्टि होती है। तीसरी शताब्दी में सूर्योपासना एक दूसरे ही रूप में भारत में प्रविष्ट हुई, जो ईरान से आई थी। इस सम्प्रदाय का विस्तृत विवेचन भण्डारकर ने अपने Vaishnavism and Shaivism में किया है[1]।

इन सम्प्रदायों के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदाय भी प्रचलित थे। हम पहले लिख चुके हैं कि बौद्धमत सहजयान के रूप में अपने स्वरूप को बिलकुल बदल चुका था, जिसकी बहुत-सी बातें वैष्णवों ने भी अपना ली थी। वैष्णवों के एक ऐसे ही सम्प्रदाय का नाम 'सहजिया सम्प्रदाय' था, जिसका उल्लेख हम आगे करेंगे।

इन सम्प्रदायों के अतिरिक्त उत्तरी भारत में बौद्धों, जैनों और नाथों की अनेक शाखायें थीं, जो समयानुसार अपने स्वरूप में परिवर्तन करती हुई जनता में अपने मत का प्रचार कर रही थी। इन साम्प्रदायिक मत-मतान्तरों के प्रचारकों के अतिरिक्त देश में एक ऐसा भी वर्ग था, जो मनुष्य की सामान्य भाव-भूमि के आधार पर जाति-पाँति के भेद-भाव से परे, साम्प्रदायिकता के आवरण को दूर फेंक कर एक ईश्वर की निष्ठा का प्रतिपादन कर रहा था। ऐसे संत महात्मा देश के प्रत्येक भाग में वर्तमान थे। उत्तरी भारत में कबीर, नानक, दादू और दक्षिणी भारत के नामदेव, तुकाराम, एकनाथ आदि इसी परम्परा के अन्तर्गत आते हैं। यद्यपि इन महात्माओं के सिद्धान्त स्वतन्त्र थे और सामाजिक-विषमता-जन्य थे, फिर भी समाज में प्रचार के लिये प्रथा के अनुसार किसी शास्त्रीय पण्डित को गुरु बनाना उन्हें आवश्यक था। इनकी भक्ति-भावना में बाह्य आडम्बर के लिये स्थान नहीं था और न ये जाति-पाँति में विश्वास ही रखते थे। हृदय की शुद्धि, आचरण की उच्चता और ईश्वरीय-प्रेम की विह्वलता को ही प्रधानता देने वाले ये मस्त-मौला सन्त जनता की भाषा में ही अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते थे। इन्होंने अपने-अपने पन्थों में तत्कालीन प्रचलित धार्मिक भावनाओं का समन्वय किया। हेय का त्याग और आदेय का आदान इनकी सरल प्रकृति का प्रमाण है। कबीर-पंथ में हमको तत्कालीन प्रचलित सभी धाराओं का परिष्कृत और समन्वित रूप मिलता है। इसी प्रकार नामदेव और तुकाराम ने भी भक्ति का एक समन्वित रूप जनता के समक्ष प्रस्तुत किया। नामदेव ने पंढरपुर के आसपास अपने मत का प्रचार किया। पंढरपुर में बिठोवा जी का मंदिर है। विठोवा और पंढरपुर दोनों ही नाम शिव और विष्णु की भक्ति का समन्वयात्मक रूप उपस्थित करते हैं। कहा जाता

1 See. 'Vaishnavism and Shaivism' by R. G. Bhandarkar, Pages 215--221.

है कि संस्कृत नाम विष्णु कन्नडी भाषा में विट्ठु हो जाता है। इसी प्रकार भण्डारकर ने यह भी सिद्ध किया है कि पंढरपुर का यह नाम इसलिए पड़ा कि इसे पाण्डुरम् ने बसाया था और सम्भवतः इसका पहला नाम पाण्डुरगपुर था। हेमचन्द्र के अनुसार पाण्डुरम् रुद्र अथवा शिव को कहते हैं। पण्ढरपुर में आज भी एक शिव का मन्दिर है और यात्री विठोबा जी के दर्शन से पूर्व शिव के ही दर्शन करते है।

नामदेव ने अपनी भक्ति का प्रचार छोटी जाति के लोगो में विशेष रूप से किया। उनके विषय में अनेक कहानियाँ प्रचलित हैं। नामदेव के गुरु खेचर मूर्तिपूजा के घोर विरोधी थे। नामदेव ने कहा है कि व्रत, उपवास, तपस्या आदि व्यर्थ हैं, तीर्थ-यात्रा भी बेकार हैं; केवल हृदय को शुद्ध रखना और हरि का नाम जपना ही श्रेयस्कर है। योग, यज्ञ, वैराग्य आदि हरि के चरणो की प्रीति के सम्मुख निरर्थक हैं। नामदेव ने सब जाति और वर्ग के लोगो को शिक्षा दी, यहाँ तक कि मुसलमान भी उनके शिष्य थे। नामदेव की जन्म-तिथि के विषय में मतभेद है। भण्डारकर ने उनका जन्म सन् १२७० में माना है।[१]

महाराष्ट्र की इसी परम्परा में तुकाराम हुए, जो शिवाजी के समकालीन थे। भण्डारकर ने तुकाराम का जन्म सन् १६०८ में माना है। तुकाराम ने लगभग ५००० से ८००० तक अभग लिखे, जिनमें धर्म की विभिन्न समस्याओ पर विचार किया गया है। उनकी विचार-परम्परा कबीर की विचारधारा से मेल खाती है। तुकाराम निराकार परमात्मा के उपासक थे। उन्होंने कबीर की भाँति हिन्दू और मुसलमान दोनो मे एकता की भावना उत्पन्न करने के लिये प्रयत्न किया।

हम पहले कह आये हैं कि ये सन्त गुरु में विश्वास रखते थे और सौभाग्यवश इन्हे गुरु भी समन्वयवादी ही मिले। इस प्रकार के आचार्यों में स्वामी रामानन्द जी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। एक ओर तो वे रामानुजाचार्य आदि की आचार्य-परम्परा में आते हैं और दूसरी ओर कबीर आदि सन्तो की परम्परा में। उत्तर और दक्षिण की भक्ति-पद्धति का समन्वय रामानन्द का महान् कार्य है जैसा कि डा० ताराचन्द ने लिखा है —

"Rama Nand was the bridge between the Bhakti-movements of south and the north"

रामानन्द जी की जन्म-तिथि का प्रश्न भी विवादास्पद है। भण्डारकर और ग्रियर्सन ने उनका जन्म सन् १२९९ मे माना है और ये दोनो ही महानुभाव उन्हे रामानुजाचार्य से चतुर्थ आचार्य मानते हैं। डा० ताराचन्द ने रामानन्द को रामानुज की परम्परा में २२ वाँ आचार्य मानकर इनकी उत्पत्ति १४ वी शताब्दी के अन्त में मानी है। उनके मृत्यु-सम्वत् के विषय में भी इसी प्रकार मतभेद है। भण्डारकर ने इनका देहावसान सन् १४११ में लिखा है। स्वामी रामानन्द को रामभक्ति का सर्वप्रथम आचार्य माना जाता है। उनके शिष्य दो कोटि के थे—एक तो सुधारवादी और दूसरे प्राचीन भक्ति-परम्परा के भक्त। सुधारवादियो में कबीर का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

हम पहले संकेत कर चुके है कि यह भक्ति-आन्दोलन केवल भारतीय धर्म-विश्वासो तक ही सीमित नही था, विदेशी धर्म—विशेषकर ईसाई और मुसलमान धर्म— भी इनमे योग दे रहे थे। रामानुजाचार्य ने भक्ति पर विशेष बल दिया और प्रपत्ति को स्वीकार करके शरणागति के महत्त्व को समाज के सम्मुख रखा। इन्होने शूद्रो को प्रपन्न संज्ञा देकर भक्ति का अधिकारी घोषित किया। वैष्णव-भक्ति में जिन नवीन तत्त्वो का समावेश हुआ, उन्हें

१ देखिये "वैष्णविज्म एण्ड शैविज्म" पृष्ठ १२७

पाश्चात्य विद्वान् ईसाइयत की देन मानते हैं किन्तु उन्ही के कुछ भाई उनके इस कथन के विरुद्ध मत प्रकट करते है। कुछ विदेशी महानुभाव उन्हे इसलाम के प्रभाव का फल बताते है। इस विषय में डा० ताराचन्द लिखते हैं[1]

Burnell[2], Weber[3], Logan[4], Caldwell[5], Hopkisns[6] and Bhandarkar[7], along with Pope and Grierson ascribled these changes to the influence of Christian communities in the south. Barnett[8], Macnicall[9], Estlin Carpenter[10], hold more or less explicity that development was due to internal causes only, because the historical conditions necessary for Christian contact in the south were wanting Fawcett, however, in his notes on 'some of the people of Malabar,' suggested that Islam was probably the needed factor

स्वय डा० ताराचन्द भी भारतीय भक्ति-भावना में इसलामी प्रभाव को मानते हैं। अपनी पुस्तक "Influence of Islam on Indian Culture" में उन्होने इस विषय पर विस्तारपूर्वक लिखा है। वैष्णव और शैव दोनो ही सम्प्रदायो के विकास का वर्णन करते हुए वे अपना निष्कर्ष इस प्रकार देते हैं

"In short, the progress of religious thought in the south reveals a growing absorption of Muslim Ideas, into Hindu systems The philosophies of Sankar, of Ramanuja and others had their roots in the systems of the past, their presentation was original, but in the case of the latter it appears probable that they did not grow up utterly regardless of the new currents of thought, which then flowed in the country But if in their case it is only possible to give a judgment which must be largely conjectural, the evidence leaves almost no doubt that the Vir Saivas and the Siddhas were largely influenced by Islam"[11]

हमारे दृष्टिकोण से यह भक्ति-भावना न तो ईसाई धर्म से ही इतनी प्रभावित हुई और न मूसाई धर्म से ही, जितनी कि बौद्ध और जैन धर्म से। यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि ८ वी शताब्दी में ही कुछ ईसाई और मुसलमान भारत में आकर बस गये थे, तो उससे यह कल्पना भी नही की जा सकती कि उन्होने हिन्दू-धर्म को प्रभावित किया होगा,

1 Influence of Islam on Indian culture (Dr Tarachand) p. 106-107
2 Indian Antiquary Vol III P. 308, Vol IV Page 183
3 Do Vol III P 21, 47
4 See Malabar (Logem)
5 ,, A comparative Grammar of the Dravidian Languages
6 ,, India Old and New
7 ,, Vaishnavism and Sharivism
8 Heart of India
9 Indian theism
10 Theism in Medieval India
11 "Influence of Islam on Indian Culture" (Dr Tarachand) Page 128-129

क्योकि कुछ इने-गिने विदेशी धर्म-सुधारक सारे भारतवर्ष में व्याप्त उस धर्म को कैसे प्रभावित कर सकते थे ? हाँ, मुसलमानी राज्य-सत्ता स्थापित होने पर १५-१६ वी शताब्दी में सूफी-मत का प्रभाव उत्तरी भारत के भक्ति-आन्दोलन पर अवश्य पडा। विदेशी प्रभाव को स्वीकार करने वाले विद्वानो ने यह तर्क उपस्थित किया है कि भारतीय धर्म-परम्परा में प्रपत्ति, शरणागति, प्रेम-भाव तथा विश्वजनीनता का अभाव था परन्तु 'भागवत धर्म और भारतीय-भक्ति-परम्परा से परिचित विद्वान् इस भ्रमात्मक विचार को स्वीकार नही कर सकेंगे; इस विषय का उल्लेख हम आगे करेंगे। वास्तविक सत्य तो यह है कि जिन तत्वो को उक्त विद्वान् पाश्चात्य अथवा इसलामी प्रभाव के कारण समाविष्ट बताते हैं वे जैन तथा बौद्ध-धर्म के आधारभूत रहे हैं और राजनीतिक, सामाजिक आदि क्षेत्रो में हिन्दू-धर्म की सीधी टक्कर इन दोनो धर्मो से ही हुई थी।

हमारे चरित-नायक भक्त-प्रवर सूरदास इस भक्ति-आन्दोलन के अपार पारावार में डूबती-उतराती जन-साधारण की नौका के कर्णधार कहे जा सकते हैं, जिन्होंने मत-मतान्तरो के झन्झावात से डगमगाती हुई उस साधना-तरणि को प्रेमा-भक्ति के पतवारो से व्रजलोक के सुरम्य तट पर लाकर खडा कर दिया। ससार के सकीर्ण वातावरण में तडपते हुए मानव को उन्होंने उस उच्चभाव-भूमि पर लाकर बिठा दिया, जहाँ एक ओर तो वह ऐहिकता की कलुषित दुर्गन्ध से मुक्त होकर ईर्ष्या-द्वेष, छल-कपट आदि से रहित उन्मुक्त वायु में साँस ले सका और दूसरी ओर सासारिक सताप से तप्त मनुष्य की दशा पर आँसू बहाता हुआ हाथ बढाकर उसे ऊपर उठने में सहारा दे सका। जनता की कुत्सित मनोवृत्तियो का परिष्कार कर उन्हें ब्रह्ममय कृष्ण की ओर उन्मुख करके सूर ने लोक-कल्याण का बडा भारी कार्य किया।

पञ्चम अध्याय

पुराण-साहित्य और कृष्ण का विकास

महाकवि सूरदास ने अपने साहित्य का आधार यद्यपि श्रीमद्भागवत को ही रखा है किन्तु अन्य पुराणो की कृष्ण-विषयक कथाओ का आश्रय लेने के लोभ को भी वे सवरण नही कर सके हैं। अतएव सूर के विद्यार्थी के लिये यह जानना आवश्यक हो जाता है कि लीला-पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण के जीवन का विकास किस प्रकार हुआ और किन-किन पुराणों में उनका चरित दिया हुआ है ? यहाँ हम इसी पर विचार करेंगे।

भारतीय-वाङ्मय की तिथि और क्रम के निर्धारण के विषय में अनेक भारतीय और अभारतीय मत प्रचलित हैं। वेदो को प्राय सभी ने ससार का सर्वप्राचीन साहित्य स्वीकार किया है, किन्तु उनकी उत्पत्ति कब और कैसे हुई, इस प्रश्न का एक निश्चित उत्तर नही मिल सका है। पाश्चात्य विद्वान् वेदो की उत्पत्ति ईसा से सात-आठ सहस्र वर्ष पूर्व से पहले नही मानते परन्तु वेदो के अन्त साक्ष्य के अनुसार वेदो की उत्पत्ति सृष्टि के साथ ही सिद्ध होती है, जैसा कि ऋग्वेद में लिखा है ·

"तस्मात् यज्ञात् सर्वहुत ऋच सामानि यज्ञिरे
छदासि यज्ञिरे तस्माद्यजु तस्मादजायत ॥

(ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ९०)

इसी प्रकार यजुर्वेद और अथर्ववेद मे भी ऐसे मत्र हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि चारो वेद परमपुरुष यज्ञ भगवान् से सृष्टि के साथ ही उत्पन्न हुए। ज्योतिष् के अनुसार यह गणना विक्रमीय सम्वत् के सौर वर्ष १९९२ की समाप्ति तक १९५५८८५०१७ (एक अरब पिचानवें करोड, अट्ठावन लाख पिचासी हजार, सत्रह) सौरवर्ष और ५६ दिन होती है। पाश्चात्य विद्वान् तो उपलब्ध भौतिक पदार्थों के आधार पर ही अनुमान लगाते हैं। वेदो के अतिरिक्त उपवेद, वेदाङ्ग, स्मृति, दर्शन, इतिहास, पुराण, तन्त्र आदि के विषय में भी अनेक कल्पनायें हैं। इस भौतिक युग के जडवादी पुरुष के लिये आप्त-प्रमाण तो कल्पना ही है। केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने वाला जडवादी व्यक्ति 'अनुमान' और 'उपमान' तक भी अपने बुद्धि-व्यापार को नही ले जा सकता। इतना हम अवश्य मानते हैं कि इस वैदिक-साहित्य का सकलन और विभाजन कई बार हुआ है और यही कारण है कि उसके बहुत से सस्करण और पाठान्तर आज हमें मिलते हैं, पुराणो से यह बात स्पष्ट हो जाती है। मत्स्य-पुराण के अनुशीलन से पता चलता है कि द्वापर युग के अन्त में वेदव्यास जी ने वेदो का सकलन किया। महाभारत के शल्य-पर्व में एक कथा है, जिसका साराश है कि एक बार जब वृष्टि न होने से ऋषि लोग बारह वर्ष तक बाहर घूमते रहे तो वे वेदो को भूल गये, तब दधीचि और सरस्वती के पुत्र सारस्वत ने वेदो को पढाया। दत्तात्रेय द्वारा वेदो के उद्धरण की कथा तो प्रचलित है ही।

हमारे पाश्चात्य अभिभावक जब वेदो को ईसा से ७-८ हजार वर्ष पूर्व से अधिक पहले के मानने के लिये प्रस्तुत नही हैं, तो यदि वे पुराणो को १६-१७ वी शताब्दी की रचना

करार दें तो आश्चर्य ही क्या ? हमारा तो यह अनुमान है कि पुराणो की स्थिति, चाहे किसी रूप में ही क्यो न रही हो, वैदिक काल में भी थी। इसके प्रमाण हमें वैदिक-साहित्य में मिलते भी हैं। अथर्ववेद में लिखा है।

"ऋच सामानि छन्दासि पुराण यजुपा सह [अथर्ववेद ७१।७।२४] शतपथ ब्राह्मण में भी लिखा है कि अध्वर्यु पुराणो का कीर्तन करते रहते हैं।[1] वृहदारण्यक में तो स्पष्ट ही उल्लेख है कि जिस प्रकार गीला लकडी से धुआँ निकलता रहता है, उसी प्रकार महत्तत्त्व से निश्वास के रूप में वेद, पुराण आदि नि सृत होते हैं।[2] इन उक्तियो से इतना तो अवश्य ही सिद्ध होता है कि पुराण इतने अर्वाचीन नही हैं, जितना उनको बताया जाता है। हाँ, यह बात अवश्य है कि जिस रूप में हमें पुराण आज उपलब्ध होते हैं, उस रूप में प्राचीन काल में न रहे होंगे। पुराणो का विषय प्राय सृष्टि-प्रकरण ही रहता था। इतिहास और पुराणो का भेद हमारे वाड्मय में प्रसिद्ध ही है। स्वय पुराणो में ही पुराण के ये पाँच लक्षण बताये हैं — १–सर्ग अर्थात् सृष्टि का विज्ञान, २–प्रतिसर्ग, अर्थात् सृष्टि का विस्तार-लय और फिर से सृष्टि, ३–सृष्टि की आदि वशावली, ४–मन्वन्तर, ५–वशानुचरित। पुराणो के प्रायः ये ही पाँच विषय रहे भी हैं, हाँ, श्रीमद्भागवत में अवश्य दस विषयो का वर्णन है·

सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोपण, ऊति मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय।[3] इनका विवेचन तो हम यथाप्रसङ्ग करेंगे, यहाँ तो केवल पुराण के सामान्य विषय की बात है। प्राचीन पुराण किस रूप में रहे होंगे, इसका आज कुछ पता नही चलता और न उनके प्रणेता की ओर ही कोई सकेत है। हो सकता है कि पुराण भी ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थो की भाँति ऋषि-प्रोक्त रहे हो। मनु-सहिता, आश्वलायन गृह्य-सूत्र और महाभारत सभी से यह पता चलता है कि पुराण सख्या में कई रहे होंगे। वेदव्यास जी ने जब वेदो के चार विभाग किये तो उन्होंने पाँचवें वेद पुराण का भी सग्रह किया। प्राय पुराणो की सख्या १८ गिनाई गई है। इन १८ पुराणो के अतिरिक्त कुछ उपपुराण भी प्रसिद्ध है। आगे चल कर तो यह निश्चय करना भी कठिन होगया कि कौन महापुराण है और कौन उपपुराण हैं ? पुराणो के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सब पुराणो में प्राय. एक ही विषय की पुनरावृत्ति की गई है और किन्हीं पुराणो के तो श्लोक भी ज्यो के त्यो मिल जाते हैं, किन्तु प्रत्येक पुराण का उद्देश्य पृथक् प्रतीत होता है क्योकि प्रत्येक में कोई न कोई प्रसङ्ग विशेप रूप से कहा गया है। पुराणो का मुख्य विपय सम्प्रदाय-प्रचार ही प्रतीत होता है, जैसा कि उनके विविध नामो से ही प्रकट होता है। सम्प्रदाय-साहित्य होने के कारण यह हो सकता है कि उनमें परिवर्त्तन और परिवर्द्धन बराबर होते रहे हों। हिन्दू-पुराणो के आधार पर अनेक जैन और बौद्ध-पुराणो की भी रचना हुई। जैन लोग अपने पुराणो का अस्तित्व हिन्दू-पुराणो से पहले मानते हैं, परन्तु यह धारणा असगत है, क्योकि बौद्ध और जैन पुराणो में शिव, ब्रह्मा आदि के उल्लेख हुए हैं। जैनो के २४ पुराण और बौद्धो के ६ पुराण प्रसिद्ध हैं।

जैसा कि हम आगे भक्ति-प्रकरण मे बतायेंगे, वेदो के सभी भाष्यकार इस बात को मानते हैं कि चारो वेदो में मुख्य रूप से तीन ही विषयो का प्रतिपादन हुआ है—कर्म-काण्ड, ज्ञान-काण्ड और उपासना-काण्ड। भारतीय भक्ति-पद्धति और उपासना ब्रह्म के

---

१ शतपथ-ब्राह्मण १०।४।३।१२

२ वृहदारण्यक २।४।१०

३ श्रीमद्भागवत द्वि० स्कं० अध्याय १० श्लोक १, २

अमूल्य निधि है क्योंकि इन मे तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियो का पूरा-पूरा चित्रण हुआ है। सारा ही वैदिक-साहित्य किसी न किसी रूप में इन पुराणो में आगया है। ऐसा प्रतीत होता है कि पुराणो के आकार मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई, यही कारण है कि अनेक पाश्चात्य विद्वान् पुराणो को अधिक पुरानी रचनाएँ मानने के लिये प्रस्तुत नही हैं। पुराणो की श्लोक-सख्या मे उत्तरोत्तर वृद्धि होन की पुष्टि इस बात से भी होती है कि विविध पुराणो मे अन्य पुराणो के श्लोको की जो सख्या दी गई है, वह सर्वत्र एक सी नही है। पुराणो की जो प्रतियाँ आज उपलब्ध हैं, उनसे भी यही बात स्पष्ट होती है।

यो तो पुराणो के नाम से ही उनके विषय विशेष का आभास मिल जाता है परन्तु फिर भी हम यहाँ कतिपय विशिष्ट पुराणो की विशेषताओ का सक्षेप मे उल्लेख करेंगे। ऊपर जिन २० पुराणो का उल्लेख हुआ है वे ये हैं—ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव, श्रीमद्भागवत, वायु, नारदीय, अग्नि, ब्रह्म-वैवर्त, वराह, स्कन्द, मार्कण्डेय, वामन, कूर्म, वत्स, गरुड, ब्रह्माण्ड, देवी भागवत, लिङ्ग और भविष्य। इनमे महपुराण और उपपुराण विषयक झगडा वायुपुराण और शिवपुराण के बीच, श्रीमद्भागवत और देवी भागवत के बीच तथा चारों भविष्य पुराणो के बीच है।

ब्रह्म-पुराण

ब्रह्म-पुराण मे कृष्ण की कथा विस्तारपूर्वक दी गई है, शिव और राम की कथाएँ भी हैं। चौथे और तेतीसवें अध्याय में ब्रह्म का विशेष रूप से उल्लेख है, परन्तु सारे जगत् की उत्पत्ति सूर्य के द्वारा ही बताई गई है और उसे ही सब देवताओ से अधिक महत्त्व दिया गया है। अन्तिम अध्याय के २० वें श्लोक मे इस पुराण को वैष्णव-पुराण माना गया है। इसमें वैष्णव अवतारो की विशेषता का प्रतिपादन किया भी गया है और जगन्नाथ जी के माहात्म्य का कथन भी है। इसकी श्लोक-सख्या किसी पुराण मे १० हजार और किसी में १३ हजार लिखी है।

पद्म-पुराण

इस पुराण में पांच खण्ड हैं—सृष्टि-खण्ड, भूमि-खण्ड, स्वर्ग-खण्ड, पाताल-खण्ड और उत्तर-खण्ड। पाताल-खण्ड में श्रीकृष्ण-चरित दिया हुआ है और उत्तर-खण्ड में अवतारो के वर्णन, अनेक माहात्म्य और फिर कृष्ण-चरित दिया गया है। इस पुराण मे ५५ हजार श्लोक हैं, सृष्टि की उत्पत्ति हिरण्मय-पद्म से बतलाई है। इस मे वैष्णव-सम्प्रदाय की विशेषताओ का भी उल्लेख है। इसके दो मुख्य सस्करण मिलते हैं—(१) गौडीय और (२) दाक्षिणात्य—जिनके विषय-क्रम में कुछ अन्तर है। शैव, पाशुपत, बौद्ध और जैन मतो की इसमें निन्दा की गई है और अठारह पुराणो का तामस, राजस, सात्विक रूप से विभाजन किया गया है।

विष्णु-पुराण

इसमे ६ अश हैं और उनके पश्चात् धर्मोत्तरखण्ड है। चौथे अश के १५ व अध्याय में श्रीकृष्ण के जन्म का उल्लेख है और पांचवें में श्रीकृष्ण की लीलाओ का वर्णन। इसकी श्लोक संख्या २३००० है।

शिव-पुराण

शिव-पुराण सात सहिताओ में विभाजित है। इस में प्राय शिव के उपाख्यानो का ही सग्रह है। रुद्र-सहिता के ५४ वें अध्याय, शतरुद्र-सहिता के २६, २७ और ४१ वें अध्याय

मे तथा उमा-सहिता के प्रथम तीन अध्यायो में साधारण रूप से कृष्ण का उल्लेख है, जो प्राय शिव-भक्ति के प्रसङ्ग मे ही आ गया है। वायवी-सहिता में भी इसी प्रकार पुत्र-प्राप्ति की कामना से शिव के पास कृष्ण के जाने का उल्लेख किया गया है। इसमे २४००० श्लोक हैं और इस का प्रतिस्पर्धी वायु पुराण है।

श्रीमद्भागवत-महापुराण

इस मे १८ हजार श्लोक हैं, पाद्म-कल्प की कथा कही गई है। इसका प्रतिस्पर्धी पुराण 'देवी भागवत' पुराण है। इसका विशेष विवेचन हम आगे करेंगे।

वायु-पुराण

वायु-पुराण में ११२ अध्याय और १०६५१ श्लोक हैं इस में देश-देशान्तर और अनेक द्वीपो का वर्णन है। बहुत से राजवशो का वर्णन इसमे किया गया है। ९६ वे और ९७ वें अध्याय में श्रीकृष्ण के वश का वर्णन है। अन्त के अध्यायो में गया का माहात्म्य वर्णित है।

अग्नि-पुराण

इस पुराण में प्राय सभी विषयो पर लिखा गया है अतएव यह एक महत्वपूर्ण पुराण है। धनुर्वेद, गान्धर्व वेद, आयुर्वेद, अर्थशास्त्र वेदान्त तथा १८ विद्याओ का इसमे वर्णन किया गया है। रामायण, महाभारत हरिवश और इतिहास के विषयो का सार भी दिया है। 'कौमार व्याकरण' के नाम से एक व्याकरण, एकाक्षर कोष, लिङ्गानुशासन तथा अन्त मे काव्याङ्ग-वर्णन इसमें प्राप्त होते हैं। हिन्दू-साहित्य, संस्कृति और सभ्यता के दृष्टिकोण से यह पुराण बहुत ही महत्व का है। इस पुराण में ३८३ अध्याय हैं और १५ हजार से अधिक श्लोक हैं। १२ वें अध्याय में कृष्णावतार की कथा दी गई है।

ब्रह्म-वैवर्त-पुराण

इस पुराण के भी दाक्षिणात्य और गौडीय दो पाठ मिलते हैं। कुछ पुराणो में इसे सौर-पुराण कहा गया है किन्तु विषय की दृष्टि से तो यह वैष्णव-पुराण ही प्रतीत होता है। मत्स्य, शिव और नारदीय पुराणो मे इस पुराण के विषयो का जो क्रम दिया गया है, वह इसके क्रम मे मेल नही खाता। ऐसा ज्ञात होता है कि उत्तरोत्तर परिवर्तन और परिवर्धन के कारण इस पुराण का स्वरूप ही बदल गया। इसके लगभग आधे भाग मे ब्रह्म-खण्ड, प्रकृति-खण्ड तथा गणपति-खण्ड नाम के तीन खण्ड हैं तथा आधे से कुछ अधिक भाग में श्रीकृष्णजन्म-खण्ड का पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध हैं। ब्रह्म-खण्ड मे श्रीकृष्ण को परमात्मा और सारे जगत् का कारण माना है, फिर कृष्ण-जन्म-खण्ड मे कृष्ण की लीलाओ का वर्णन है।

स्कन्द-पुराण

महापुराणो में यह सब से बडा पुराण है, इसमे ८१ हजार १ सौ श्लोक बताये जाते हैं। इसकी अनुक्रमणिका 'नारदीय पुराण' में मिलती है, इसमे कई सहिताएं सम्मिलित हैं तथा इसके कई विभाग हैं। प्राचीन भारतवर्ष का बडा ही सुन्दर वर्णन इसमे मिलता है जो इसे भौगोलिक दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रमाणित करता है। इस में असख्य तीर्थो का वर्णन दिया हुआ है। नारदीयादि पुराणो के अनुसार यद्यपि यह शैव-पुराण है तथापि इसमे अन्य सम्प्रदाय वालो का भी योग है। इस पुराण में अनेक माहात्म्य भी सम्मिलित हैं। स्कन्द

पुराण का दक्षिण मे बडा प्रचार है, जहाँ स्कन्द भगवान् 'सुब्रह्मण्य' के नाम से पूजे जाते हैं। प्रसिद्ध सत्य-नारायण-कथा-माहात्म्य इसी पुराण के रेवाखण्ड मे दिया हुआ है।

मार्कण्डेय-पुराण

इस पुराण के ६००० श्लोक बताये जाते हैं किन्तु उपलब्ध प्रतियो में ६६०० से अधिक नही मिल सके हैं। 'नारदीय पुराण' मे जो इसकी विषय-सूची दी गई है, उसके अनुसार ३१ वें अध्याय के अनन्तर इक्ष्वाकु-चरित, तुलसी-चरित, राम-कथा, कुश-वंश, सोम-वंश, पुरुरवा, नहुष और ययाति का वर्णन, यदुवंश, श्रीकृष्ण की लीलाएँ, द्वारिका-चरित और मार्कण्डेय-चरित होने चाहिये, परन्तु प्राप्त पोथियो में इनका अभाव है। इस पुराण की विशेषता यह है कि यह साम्प्रदायिक प्रभावो से मुक्त है। इस पुराण का मुख्य अंश 'दुर्गा-सप्तशती' है, जिसकी मान्यता हिन्दू—धर्म मे बहुत अधिक है।

वामन-पुराण

इस पुराण मे ६५ अध्याय और १० सहस्र श्लोक हैं। 'मत्स्य-पुराण' के अनुसार इस पुराण मे शिव कल्प का वर्णन और त्रिविक्रम वामन के उपाख्यानो का सग्रह है। इसमे विशेष कर दुर्गा, पार्वती और शिव के उपाख्यान हैं।

गरुड़-पुराण

गरुड-पुराण भी एक लोक-प्रिय पुराण है। किसी व्यक्ति की मृत्यु के अवसर पर इसका पाठ किया जाता है और इसका सुनना श्राद्ध-कर्म का ही एक अङ्ग माना जाता है। इसकी श्लोक सख्या १८ या २० हजार होनी चाहिये किन्तु आजकल इसकी प्रामाणिक प्रतियाँ भी अप्राप्य हैं। इस पुराण मे प्रेत-कर्म, प्रेत-योनि, प्रेत-श्राद्ध यम-यातना, नरक आदि का वर्णन है।

ब्रह्माण्ड-पुराण

इसका महत्व रामायणी कथा के कारण है। विश्वकोषकार ने लिखा है कि इस पुराण की रामायणी कथा ही अध्यात्म-रामायण के नाम से अलग कर ली गई है। मत्स्य-पुराण के अनुसार इसकी श्लोक सख्या १२ हजार दो सौ और अन्य पुराणो के अनुसार १२००० है। इसमे १०६ अध्याय हैं और २० वें अध्याय मे कृष्ण के आविर्भाव का वर्णन है।

देवी-भागवत

इस पुराण मे भागवत के ही समान १२ स्कन्ध तथा १८००० श्लोक हैं। पुराणो के साक्ष्य पर तो देवी-भागवत उपपुराण ही ठहरता है, परन्तु शाक्त और तन्त्र-ग्रन्थो में देवी-भागवत को महापुराण बताया गया है। इस पुराण में परमात्मा की पराशक्ति का उत्कर्ष प्रतिपादित किया है, जब कि 'श्रीमद्भागवत' में वैष्णव-भक्ति का प्रतिपादन किया गया है। इस पुराण के चौथे स्कन्ध में कृष्ण की कथा आई है।

भविष्य-पुराण

'भविष्य-पुराण' भी महत्वपूर्ण पुराणो मे से है। 'विश्वकोष' मे चार भविष्य पुराणो का जिक्र है। नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से मुद्रित 'भविष्य-पुराण' में पहले और चौथे 'भविष्य-पुराण' का सग्रह है, 'नारद-पुराण' में इसकी श्लोक-सख्या १४००० बतलाई है और अन्य पुराणो में १४५००। इस पुराण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें

शाकद्वीपी मग-ब्राह्मणो का वर्णन है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह पुराण बड़े महत्व का है। मग-ब्राह्मणो का रहन-सहन और रीति-रिवाज फारसी साहित्य के पीरेमुगा से मिलता-जुलता है। तीसरे 'भविष्य-पुराण' में उद्भिज्ज विद्या का वृत्तान्त है। इस पुराण मे अनेक माहात्म्य और अनेक प्रकार के दान का विधान है।

हरिवंश पुराण

हरिवंश-पुराण महाभारत का परिशिष्ट है। आधुनिक आलोचक इसे महाभारत के बाद की रचना मानते हैं। इस पुराण में कृष्णावतार की कथा और विष्णु भगवान् का चरित है। इसमे हरिवंश-पर्व, विष्णु-पर्व और भविष्य-पर्व नामक तीन पर्व हैं। हरिवंश-पर्व के ३४वें अध्याय में वृष्णि-वंश-वर्णन है और ३५वें मे फिर कृष्ण-जन्म-वर्णन हुआ है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इसकी गणना उप-पुराणो में ही है।

इस विवेचन से हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं:

पुराणो का सम्बन्ध वैदिक साहित्य से है। वेदो मे यद्यपि पुराणो का नामोल्लेख नही है तथापि पौराणिक कथाओ का सूत्र विद्यमान है। ब्राह्मण-ग्रंथो में तो ये कथाएँ और भी विस्तार से दी गई हैं और कई स्थलो पर अवतारो की चर्चा भी मिलती है। उपनिषद् ज्ञानपरक होने के कारण पौराणिक कथाओ के लिये उपयुक्त नही समझे जा सकते थे। हाँ, यत्रतत्र पौराणिक पात्रो के सकेत फिर भी उनमें मिलते हैं। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि पौराणिक-साहित्य का प्रणयन किसी न किसी रूप में वैदिक काल में ही होगया होगा, परन्तु उस समय पुराणो का न तो इतना विस्तार हुआ होगा और न ही वे साम्प्रदायिकता मे इतने प्रभावित हुए होंगे। वैदिक-साहित्य में जो कथाएँ सूत्र रूप से दी गईं थी उनका विस्तार आवश्यक था और इसी आवश्यकता की पूर्ति के प्रयास में सभवत पुराणो की रचना हुई।

जैसे-जैसे हमारे वाङ्मय का सकलन और सम्पादन होता गया, वैसे-वैसे ही पुराण-साहित्य विस्तृत होता गया और उसमें नई-नई कथाओ का समावेश, वशो का वर्णन और सिद्धान्तो का सकलन होता गया। आगे चलकर जब कई धार्मिक सप्रदायो का जन्म हुआ तो उन्होने पुराणो को अपने प्रचार का साधन बनाया। जिस रूप में पुराण आज हमें उपलब्ध हैं, उसमें उनके मौलिक रूप का अनुसन्धान असम्भव है। महाभारत के पश्चात् पुराण-लेखन-प्रवृत्ति ने और भी बल पकडा और इसमें सन्देह नहीं कि यह प्रवृत्ति मध्ययुग के अन्तकाल तक चलती रही। रूपक की प्रवृत्ति ने वास्तविकता को और भी अन्धकार में धकेल दिया और वह आलङ्कारिकता के नीचे दबकर साधारण मनुष्यो की दृष्टि से ओझल हो गई।

यह सब कुछ होते हुए भी पुराणो के महत्त्व को कम नही किया जा सकता क्योकि पुराणो में भारतीय सभ्यता, सस्कृति धर्म और इतिहास का वर्णन तो है ही साथ ही काव्य-शास्त्र, कला-साहित्य आदि के भी दर्शन होते हैं। सामाजिक परिस्थितियो के सर्वाङ्गीण चित्र पुराणो में स्थान-स्थान पर उपलब्ध होते हैं। धार्मिक-विकास की दृष्टि से तो पुराणो का स्थान अद्वितीय है, किन्तु खेद है कि इन पुराणो का तिथि-निर्णय अत्यन्त दुस्तर कार्य है। अन्त साक्ष्य के आधार पर यदि इसका कुछ प्रयत्न किया भी जाय तो अन्य पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाणो के अभाव में वह निष्फल ही रहेगा।

पुराणो के अध्ययन से यह स्पष्ट झलक जाता है कि भारतवर्ष में उत्तरोत्तर विष्णु की भक्ति का विकास और महत्त्व बढता गया और वासुदेव, नारायण, कृष्ण आदि विष्णु के ही अवतार स्वीकार किये गये। आगे चलकर "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" हुए और १४वी-१५वीं

शताब्दी तक आते-आते प्राय राम और कृष्ण ही इष्टदेवो के रूप मे समाज मे प्रतिष्ठित हो गये। आगे के पृष्ठो मे हम कृष्ण के विकास पर विचार करेंगे।

कृष्ण का विकास

वैदिक काल से लेकर आज तक कृष्ण-काव्य विकसित होता चला आ रहा है और तब से लेकर अब तक के काव्य मे किसी न किसी रूप में कृष्ण का चरित अवश्य पाया जाता है। कृष्ण मे अनक भारतीय तथा अभारतीय भावनाओ का समावेश है। इस चरित्र के सर्वव्यापी विकास को देखकर आधुनिक आलोचको को उसकी ऐतिहासिकता मे सन्देह होने लगता है और बहुत से पाश्चात्य विद्वानो ने तो कृष्ण को केवल भाव-पात्र ही माना है। आंग्ल-भाषा-विशारद अनेक भारतीय विद्वान् भी उन्ही के पद-चिह्नो पर चलने मे अपना सौभाग्य समझते हैं और बहुत-सी भारतीय वस्तुओ को अभारतीय कहने मे नही हिचकते। प्रामाणिक तिथियो के अभाव में हमारा वाङ्मय ही अन्धकार के गर्त मे है और जब कभी भूगर्भ से ऐसे पदार्थ निकल पडते है, जिनकी प्राचीनता पाश्चात्य विद्वान् भी प्रमाणित कर देते है, तो हम अपनी ऐतिहासिक तिथियो को उन्ही के अनुसार घटा बढा लेते हैं। इसमें तो कोई सन्देह नही कि उत्तरोत्तर कृष्ण को देवत्व प्राप्त होता गया है किन्तु केवल इसी बात के आधार पर उन्हे ऐतिहासिक न मानने मे कोई तुक प्रतीत नही होती। कौन जानता है कि आगे की शताब्दियो मे आज के राष्ट्र-पिता महात्मा गांधी भी देवत्व को प्राप्त करलें और उनकी भी ऐतिहासिकता मे जडवादियो को सन्देह होने लगे। यही बात कृष्ण के सम्बन्ध मे भी लागू हो सकती है।

वैदिक साहित्य में जिस रूप मे कृष्ण का उल्लेख मिलता है, उसमें उन्हे न तो हम अवतार की ही सज्ञा दे सकते है और न देवता की ही। महाभारत मे भी कृष्ण का अवतार रूप से अधिक वर्णन नही हुआ है। जिन स्थलो पर उनका अवतार रूप से उल्लेख है उन्हे आधुनिक विद्वान् प्रक्षिप्त मानते है, परन्तु महाभारत के अनन्तर तो कृष्ण का रूप ही बदल गया और उनकी गणना पूर्ण-अवतारो में होने लगी। 'गोपाल' रूप मे उनकी उपासना पौराणिक-काल की ही देन है परन्तु सभी कृष्ण-विषयक पुराणो ने न तो उनके गोपाल रूप की कल्पना है और न ही उनकी लीलाओ का विशद वर्णन है। कुछ ही पुराण ऐसे हैं, जिनमें उनके इस रूप का वर्णन हुआ है। श्रीकृष्ण 'भागवत धर्म' के इष्टदेव के रूप मे हमारे सामने आये हैं और 'भागवत-धर्म' का सर्वप्रथम वर्णन महाभारत के नारायणीय उपाख्यान में हुआ है, इसलिये अपने विषय की दृष्टि से महाभारत को हम बहुत महत्व-पूर्ण समझते हैं। श्री बंकिमचन्द्र चटर्जी ने अपने कृष्ण-चरित' नामक ग्रन्थ में 'कृष्ण' की ऐतिहासिकता पर पर्याप्त प्रकाश डाला है और उनकी ऐतिहासिकता मे सन्देह करने वालो को मुँहतोड उत्तर दिया है।

भागवत धर्म का व्यवस्थित रूप से विवेचन भागवत और श्री मद्भगवद्गीता मे हुआ है। श्री मद्भगवद्गीता का प्रयोजन तो इस धर्म को व्यवस्थित रूप देना ही था। हम पहले कह चुके हैं कि वैदिक काल मे ही विष्णु की प्रधानता स्थापित हो चुकी थी। ब्राह्मण-काल के अन्त तक विष्णु के नारायण रूप को परमदैवत माना जाने लगा। इस काल की उपासना में मनुष्य को अखिल व्यापक परोक्ष शक्ति के स्वरूप का अधिक परिचय मिला और उपासना-पद्धति में व्यक्तित्व का तथा हृदय का सयोग हुआ। नारायण को नर-प्रकृतिस्थ सगुण ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया जाने लगा और नारायण एव विष्णु की एकता की स्थापना हो गई। आगे चलकर भगवान् का जो स्वरूप नर नारायण के रूप मे प्रकटित हुआ वह दूसरे कल्प में वासुदेव कृष्ण के रूप मे प्रकट हुआ। इस प्रकार विष्णु, नारायण और वासुदेव कृष्ण एक

ही शक्ति के, युग विशेषो मे, अलग-अलग नाम हुए। निश्चित प्रमाणो के अभाव में यह नहीं कहा जा सकता कि यह विकास किस काल में हुआ, किन्तु बौद्ध कालीन ग्रन्थो में इस विषय मे जो संकेत मिलते हैं, उनके आधार पर कम से कम इतना मानना तो तर्क संगत ही है कि ईसा से ६०० वर्ष पहले वासुदेव-कृष्ण की उपासना परब्रह्म के रूप मे होने लगी थी। बौद्ध-धर्म के पाली-ग्रन्थ 'निद्देश' के उल्लेखो से पता चलता है कि ईसा पूर्व चौथी शताब्दी मे वासुदेव बलदेव, मणिभद्द, अग्गी, सूर्य, इन्द्र, ब्रह्म, देव दिशा आदि के उपासक थे।

पातञ्जल महाभाष्य मे पतञ्जलि ने स्पष्ट लिखा है कि पाणिनि के सूत्र मे उल्लिखित 'वासुदेव' केवल क्षत्रिय वंशीय राजा ही नहीं, उच्चकोटि के उपास्य भी हैं। 'वासुदेव के साथ 'अर्जुन' शब्द इस बात की पुष्टि करता है कि वासुदेव कृष्ण का ही नाम है।[1] डा० बाबूराम सक्सेना पाणिनि मुनि के समय के विषय मे लिखते हैं

"अंग्रेज विद्वान् उनका काल ईसवी पूर्व चौथी शताब्दी मे और जर्मन तथा भारतीय मनीषी ई० पू० ५०० से पूर्व छठी या सातवी शताब्दी मे मानते हैं।"[2]

आर० जी० भण्डारकर ने अपने 'वैष्णविज्म एण्ड शैविज्म' में कुछ शिलालेखो का उल्लेख किया है जिनमें वासुदेव का उल्लेख है। उनका विवरण हम नीचे देते हैं

"राजपूताने में घोसुण्डी नामक स्थान मे जीर्ण-शीर्ण दशा में एक शिला लेख प्राप्त हुआ है। इस शिलालेख की ब्राह्मी लिपि से पता चलता है कि यह कम से कम ईसा से २०० वर्ष पूर्व लिखा गया होगा। इसमे संकर्षण और वासुदेव के पूजागृह के आसपास एक दीवार बनाने का उल्लेख है।

एक दूसरे शिलालेख मे, जो बेसनगर से प्राप्त हुआ है, इस बात का उल्लेख है कि 'हेलियो दोरा' ने 'सर्वेश्वर वासुदेव' भगवान् के मन्दिर पर गरुडध्वज-स्तम्भ का निर्माण कराया है। 'हेलियो दोरा' ने अपने आप को भागवत लिखा है और तक्षशिला निवासी 'दिय' का पुत्र बतलाया है। हेलियोदोरा यवनो का राजदूत था और अन्तालिका से पूर्वी मालवा के राजा भागभद्र के यहाँ आया था। इस लेख से प्रतीत होता है कि यह ईसा से २०० वर्ष पूर्व का है। उस समय वासुदेव की पूजा 'सर्वेश्वर' के रूप मे होती थी और उसके उपासक 'भागवत' कहे जाते थे।

नानाघाट के प्रथम शिलालेख में संकर्षण' और 'वासुदेव' का नाम द्वन्द्व समास में प्रयुक्त हुआ है। यह शिलालेख ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी का प्रतीत होता है।"[3]

इन प्रमाणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि ईसा पूर्व छठी शताब्दी में भागवत-धर्म' का पूर्ण प्रचार था और ई० पू० पहली दूसरी शताब्दी मे तो उसकी महत्ता इस कोटि तक पहुँच चुकी थी कि विदेशी भी उसे स्वीकार करने मे अपना गौरव समझते थे। खेद है कि हमे इस काल से पूर्व के लिखित प्रमाण प्राप्त नहीं होते, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि भागवत धर्म उससे पहले प्रचलित था ही नहीं। हम आगे यह देखेंगे कि 'भागवत धर्म' के उपास्य श्रीकृष्ण किस प्रकार विभिन्न रूपो में होते हुए इस रूप तक आये।

---

१ वासुदेवार्जुनाभ्या वुन् ४ ३।९८

२ सामान्य भाषा विज्ञान पृष्ठ २४८

३ वैष्णविज्म, शैविज्म, 'भाण्डारकर' पृष्ठ ४५

किन्तु उसके पश्चात् यह ग्रन्थ नष्ट हो जायेगा।" यह कह कर नारायण तो अन्तर्हित हो गये और चित्रशिखण्डियो ने इसका प्रचार किया। आगे वसुउपरिचर का विस्तार से वर्णन है, फिर नारद की कथा का प्रारम्भ होता है। नारद नारायण की स्तुति करते है और नारायण प्रसन्न होकर उन्हे अपना विश्वरूप दिखलाते है और फिर उन्हे पाञ्चरात्र-मत के सिद्धान्तो का उपदेश देते हैं, जिनका साराश यह है

'जो नित्य अजन्मा और शाश्वत है, जिसे त्रिगुणो का स्पर्श नही, जो आत्मा प्राणिमात्र में साक्षी रूप से रहता है, जो चौबीस तत्त्वो से परे पच्चीसवाँ पुरुष है, जो निस्पृह होकर ज्ञान से ही जाना जा सकता है उस सनातन परमेश्वर को वासुदेव कहते हैं। वह सर्वव्यापक है। प्रलयकाल मे पृथ्वीजल मे लीन होती है, जल अग्नि मे, तेज वायु मे, वायु आकाश में और आकाश अव्यक्त प्रकृति में और अव्यक्त प्रकृति पुरुष में लीन होती है। फिर उस वासुदेव के सिवा कुछ भी नही रहता। पच महाभूतो का शरीर बनता है और उसमे अदृश्य वासुदेव सूक्ष्म रूप से तुरन्त प्रवेश करता है। यह देहवर्ती जीव महासमर्थ है और शेष तथा सकर्षण उसके नाम है। इस सकर्षण से मन उत्पन्न होकर सनत्कुमारत्व अर्थात् जीवन्मुक्तता पा सकता है।

उस मन को प्रद्युम्न कहते हैं। इस मन से कर्त्ता, कारण और कार्य की उत्पत्ति होती है और चराचर जगत् का निर्माण होता है, इसी को अनिरुद्ध कहते हैं और यह ईशान भी कहलाता है। सब कामो मे व्यक्त होने वाला अहङ्कार यही है। निर्गुणात्मक क्षेत्रज्ञ भगवान् वासुदेव जीव रूप मे जो अवतार लेता है, वह सकर्षण है। सकर्षण से जो मन रूप मे अवतार होता है, वह प्रद्युम्न है और प्रद्युम्न से जो उत्पन्न होता है, वह अनिरुद्ध है और वही अहकार और ईश्वर है।"

जब वासुदेव कृष्ण के रूप मे वासुदेव का अवतार माना गया तो प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और सकर्षण अर्थात् बलराम क्रम से मन, अहकार और जीव के अवतार के रूप मे समझे गये। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि 'श्रीमद्भगवद्गीता' मे 'वासुदेव' अवश्य परमात्मा के लिये आया है परन्तु उसमे चतुर्व्यूह सिद्धान्त का वर्णन कही नही है। एक दूसरी बात विचारणीय यह भी है कि 'श्रीकृष्ण' के साथ सकर्षण अर्थात् 'बलदेव' का सम्बन्ध तो और भी कई स्थलो पर है और बलदेव को श्रीकृष्ण के ही समान विष्णु का अवतार भी माना गया है,[1] परन्तु प्रद्युम्न और अनिरुद्ध का कृष्ण से सम्बन्ध केवल पाञ्चरात्र-मत मे ही दिखाया है। इस 'चतुर्व्यूह' की कल्पना वेदान्त, साख्य और योग मतो से भी भिन्न है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह कल्पना सात्वत-सम्प्रदाय की ही थी। 'सात्वत' लोग श्रीकृष्ण के ही वश के थे और सम्भवत यह मत श्रीकृष्ण के समय मे ही सात्वत लोगो में फैला इसी से इस मत को 'सात्वत' कहते हैं। इस मत का उल्लेख विशेष रूप से भीष्म-स्तव मे हुआ है। शान्तिपर्व के ३३९ वें अध्याय मे इस चतुर्व्यूह के अवतारो की चर्चा है और आगे हस, कूर्म, मत्स्य, वाराह, नृसिह, वामन, राम, दाशरथि राम, सात्वत और कल्कि अवतारो की चर्चा है और फिर ३४० वें अध्याय में साख्य और वेदान्त के तत्वो के मेल से सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। ३४१ और ३४२ वें अध्याय मे नारायण के नामो की उत्पत्ति लिखी है। पहले श्रीकृष्ण ने शिव और विष्णु के अभेद का वर्णन किया है फिर आगे बताया है कि .

"रुद्र नारायण स्वरूप ही है, अखिल विश्व का आत्मा मैं हूँ और मेरा आत्मा रुद्र है। मैं पहले रुद्र की पूजा करता हूँ, आप अर्थात् शरीर को ही नारा कहते हैं, सब प्राणियो का

१ महाभारत आदि पर्व अध्याय १९७।

शरीर मेरा 'अयन' अर्थात् निवास-स्थान है, इसलिये मुझे नारायण कहते हैं। सारे विश्व को मैं व्याप लेता हूँ और सारा विश्व मुझ में स्थित है इसी से मुझे वासुदेव कहते हैं। मैंने सारा विश्व व्याप लिया है, अतएव मुझे विष्णु कहते हैं। पृथ्वी और स्वर्ग भी मैं हूँ और अन्तरिक्ष भी मैं हूँ, इसी से मुझे दामोदर कहते हैं। चन्द्र, सूर्य, अग्नि, की किरणें मेरे बाल हैं, इसलिये मुझे केशव कहते हैं। गो अर्थात् पृथ्वी को मैं ऊपर ले गया, इसी से मुझे गोविन्द कहते हैं। यज्ञ का हविर्भाग मैं हरण करता हूँ इसी से मुझे हरि कहते हैं, सत्वगुणी लोगो में मेरी गणना होती है इसी से मुझे सात्वत कहते हैं। लोहे का काला फाल होकर मैं जमीन जोतता हूँ और मेरा रंग काला है, इसी से मुझे कृष्ण कहते हैं।"

३४२ और ३४३ वें अध्यायो में श्वेतद्वीप से लौट आने पर नर और नारायण का जो सवाद हुआ, उसका वर्णन है। इसमें वेदो का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है और मुक्ति की प्रक्रिया बताई है। आगे के अध्यायों में श्राद्ध इत्यादि कई प्रकार की धार्मिक क्रियाओ का विवेचन है। फिर सात्वत धर्म का वर्णन आया है। इस धर्म को निष्काम भक्ति का पथ बतलाते हुए उसे ऐकान्तिक विधि कहा है, फिर अन्त में भागवत धर्म की परम्परा का वर्णन है जिसका साराश है कि त्रेता युग में विवस्वान् मनु और इक्ष्वाकु की परम्परा से यह धर्म चला।[१] इस परम्परा का उल्लेख श्रीमद्भगवद्गीता में भी इसी प्रकार से हुआ है

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्। गीता ४।१

इन अन्तिम अध्यायो मे सात्वत और ऐकान्तिक धर्म समानार्थक कर दिये हैं और साख्य; योग और वेदान्त के तत्वज्ञान का अभेद बताया है। ३४९ वें अध्याय में अपान्तरतमा के पूर्व-काल का वृत्तान्त है और फिर अन्त में पाञ्चरात्र मत के सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए परमात्मा के समन्वित रूप की व्याख्या की है

'जो जीव शान्त वृत्ति से अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, सकर्षण और वासुदेव के अधिदैव चतुष्टय का अथवा विराट्, सूत्रात्मा, अन्तर्यामी और शुद्ध ब्रह्म के अध्यात्म चतुष्टय का अथवा विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय के अवस्था चतुष्टय का क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म में लय करता है, वह कल्याण पुरुष को पहुँचता है। योगमार्गी उसे परमात्मा कहते हैं, साख्य वाले उसे एकात्मा कहते हैं और ज्ञानमार्गी उसे केवलात्मा कहते हैं।

वसु उपरिचर के कथानक में विशेष रूप से उल्लेखनीय बात यह है कि उन्होंने यज्ञो में पशु-बलि का निषेध किया और भक्ति-भावना पर विशेष बल दिया। यह धार्मिक सुधार का श्रीगणेश कहा जा सकता है। नारद और नारायणीय सवाद से भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भगवान् भक्ति से प्राप्य है। नारद की भक्ति से प्रसन्न होकर नारायण ने प्रकट होकर पाञ्चरात्र धर्म का तत्त्व नारद को समझाया और अपने अवतारो का विस्तार से वर्णन किया। वसु उपरिचर के कथानक में हरि का विशेष महत्त्व प्रतीत होता है और नारद-सवाद में चतुर्व्यूह भगवान् का। यह भक्ति का सिद्धान्त गीता में विशेष रूप से

---

[१] त्रेता युगादौ च ततो विवस्वान् मनवे ददौ।
मनुश्च लोकभृत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ।
इक्ष्वाकुना च कथितो व्याप्य लोकानवस्थित।
महाभारत शान्ति पर्व ३४८, ३५१, ३५२

प्रतिपादित हुआ है और जब कृष्ण के साथ उसके भाई संकर्षण, पुत्र प्रद्युम्न और पौत्र अनिरुद्ध का सम्बन्ध स्थापित हुआ तब भक्ति-भावना का विशेष रूप से प्रचार सात्वतो मे हुआ।

इस प्रकार नारायणीय उपाख्यान के आधार पर कृष्ण का सम्बन्ध सात्वत, वासुदेव, नारायण और विष्णु से स्थापित किया जा सकता है। महाभारत के आदि पर्व में वासुदेव को सात्वत कहा गया है।[1] द्रोण-पर्व ६७-३६ में सात्यकि और उद्योग पर्व ७०-७ मे जनार्दन कहा गया है। भीष्म-पर्व मे लिखा है कि यह रहस्यात्मक नित्य-स्वरूप भगवान् वासुदेव ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रो के द्वारा विभिन्न विधियो से पूजा जाता है। द्वापर के अन्त और कलियुग के आरम्भ मे इसकी पूजा सात्वत विधि से होती है।

विष्णु-पुराण में यादवो और वृष्णियो के वश का वर्णन करते हुए लिखा है कि सत्वत 'अंश' का पुत्र था और उसकी संतान सात्वत कहलाई। 'श्री मद्भागवत' (१–१४–२५) तथा (३–१–२६) में सात्वतो का वर्णन यादववंशीय अन्धको और वृष्णियो के साथ किया है और (६–६–४६) में उनको उच्च कोटि का भागवत ब्राह्मण और वासुदेव बतलाया है तथा (१०–५८–४२ और ११–२७–५) मे वासुदेव को सात्वतर्षभ कहा है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पतञ्जलि ने वासुदेव और बलदेव को वृष्णिवंशीय लिखा है। मेगस्थनीज ने, जो चन्द्रगुप्त 'मौर्य' के दरबार मे मकदूनिया का राजदूत था, सात्वतो और वासुदेव कृष्ण का स्पष्ट उल्लेख किया है।

भण्डारकर ने अपनी पुस्तक 'वैष्णविज्म ऐण्ड शैविज्म' में वासुदेव कृष्ण और वृष्णि वंश पर विशेष रूप से विचार किया है और उन्होने महाभाष्य और बौद्ध ग्रन्थो से उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि वैदिक काल के विष्णु देवता ही पौराणिक काल में कृष्ण रूप मे स्वीकार किये जाने लगे थे। अब प्रश्न यह है कि वासुदेव शब्द के साथ कृष्ण का सम्बन्ध कैसे हुआ ? वासुदेव वृष्णिवंशीय माने गये हैं। 'महाभाष्य' में पतञ्जलि ने भी वासुदेव को वृष्णिवंश का ही माना है और 'वासुदेव' शब्द का चार बार उल्लेख किया है, जब कि कृष्ण शब्द का प्रयोग केवल एक बार किया है। बौद्धो के 'घटजातक' में 'उपसगर' और 'देवगब्भा' के पुत्रो का नाम वासुदेव और बलदेव लिखा है। काण्हा और केशव नाम भी बीच-बीच मे गद्य भाग में उपलब्ध होते हैं। इन शब्दो की टीका में काण्हा को काण्हायन गोत्र का बताया गया है तथा 'महाभाग' जातक की व्याख्या में काण्हा और वासुदेव शब्दो से इसकी पुष्टि भी की गई है। इससे प्रतीत होता है कि वासुदेव काण्हायन अथवा कृष्णायन गोत्र के थे। महाभारत मे वासुदेव की व्याख्या वासुदेव का पुत्र ही की गई है, वसुदेव का पुत्र नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि जब वासुदेव को उपास्य रूप में ग्रहण किया गया तो वैदिक पात्र कृष्ण—जिसका उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं—के सब गुणो का आरोप वासुदेव मे हो गया। काण्हायन गोत्र वाली बात इस बात से भी सिद्ध होती है कि पाणिनि ने ४।१।९६ और ४।१।९९ सूत्रो के अनुसार 'कृष्णायन' को कृष्णगोत्रोत्पन्न स्वीकार किया है। यह एक ब्राह्मण गोत्र था, जो वशिष्ट के वर्ग का था। मत्स्य-पुराण, अध्याय २०० मे कृष्णायन गोत्र को पाराशर वर्ग का भी बताया है। ब्राह्मण और पाराशर वर्ग से सम्बन्ध रखते हुए हम उसे क्षत्रिय गोत्र मान सकते है, क्योकि आश्वलायन गृह्य सूत्र १२।१५ के अनुसार क्षत्रियो के गोत्र भी ब्राह्मण-गोत्रो के अनुसार होते थे। कृष्ण, कृष्णायन गोत्रोत्पन्न होने के कारण ही कृष्ण कहलाये और फिर छान्दोग्योपनिषद् मे उल्लिखित घोर आङ्गिरस ऋषि के शिष्य और देवकी के पुत्र कृष्ण से उसका सम्बन्ध जोड दिया गया।

---

१ आदिपर्व अध्याय २१८ श्लोक १२

सभा-पर्व में भीष्म कृष्ण के विषय में कहते हैं कि कृष्ण को सब से अधिक आदर इसीलिये दिया गया है कि वे वेद और वेदाङ्गों के ज्ञाता हैं और ऋत्विग् भी हैं।[1]

वासुदेव और नारायण के सम्मिश्रण के सम्बन्ध में भी भण्डारकर ने निर्देश किया है। हम पहले कह चुके हैं कि महाभारत का नारायणीय उपाख्यान नारायण और विष्णु में एकता स्थापित करने का अच्छा प्रयत्न है। नारायण शब्द की व्याख्या भी इस उपाख्यान में की गई है। 'नार' जल को भी कहते हैं। ऋग्वेद में इस बात का संकेत है कि सृष्टि से पहले सब जगह जल ही जल था; फिर नारायण की नाभि से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई, जिसने सृष्टि की रचना की।[2] शतपथ ब्राह्मण में भी नारायण का उल्लेख हुआ है।[3] ऋग्वेद में पांचरात्र-सत्र का प्रयोजक पुरुष 'नारायण' को ही तथा पुरुष-सूक्त का कर्त्ता भी उसे ही बताया गया है।[4] तैत्तिरीयारण्यक १०।११ में भी नारायण को सर्व-गुण-सम्पन्न कहा गया है। महाभारत के नारायणीय उपाख्यान के अनन्तर तो नारायण सर्वेश्वर के रूप में प्रस्तुत हुए। महाभारत के वन-पर्व अध्याय १८८, १८९ में वर्णित प्रलय के प्रसङ्ग में लिखा है कि जब प्रलय होने पर चारों ओर जल ही जल था, तो एक न्यग्रोध वृक्ष की शाखा पर शंख पर बैठा हुआ एक बालक ही अवशिष्ट रहा। उसने अपना मुख खोला और मार्कण्डेय उसके मुख में चले गये। वे वर्षों तक वहीं भ्रमण करते रहे और जब बालक ने उन्हें मुख से बाहर निकाला तो उन्होंने आश्चर्य-चकित होकर बालक से पूछा कि आप कौन हैं ? तब नारायण ने अपना स्वरूप उन्हें बताया। मार्कण्डेय ने महाभारत में युधिष्ठिर को यह कथा सुनाई और कहा कि तुम्हारे सम्बन्धी जनार्दन ही स्वयम् नारायण हैं। नारायण की कथा पुराणों में भी आती है और 'नारायण' नाम की अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है। महाभारत में कई स्थलों पर वासुदेव और अर्जुन को नर और नारायण बताया गया है।[5] इस प्रकार महाभारत काल में ही नारायण का सम्बन्ध वासुदेव से हो गया था।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि वैदिक काल में विष्णु को प्रधानता मिलने लगी थी। ऐतेरेय ब्राह्मण में तो विष्णु को सर्वोपरि देव माना है।[6] शतपथ ब्राह्मण और तैतिरीयारण्यक में भी विष्णु के वैशिष्ट्य की कथाएँ आती हैं।[7] मैत्रेय उपनिषद् और कठोपनिषद् ३।९ में विष्णु की महत्ता स्पष्टतः प्रकट की गई है तथा विष्णु के स्थान को 'परमं पदम्' कहा है किन्तु विष्णु का वासुदेव से सम्बन्ध महाभारत-काल में ही जोड़ा हुआ प्रतीत होता है, भीष्म-पर्व के ६५-६६ वें अध्याय के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। आश्वमेधिक पर्व में एक कथा आती है जो इस प्रकार है

महाभारत युद्ध के पश्चात् जब कृष्ण द्वारका से लौट रहे थे तो मार्ग में भृगुवंशीय उत्तंक नाम के मुनि मिले। उत्तंक ऋषि ने कृष्ण से पूछा कि क्या आपने कौरवों और पाण्डवों में शान्ति स्थापित कर उनमें मेल करा दिया है ? कृष्ण ने उत्तर दिया कि कौरवों का नाश हो गया है और पाण्डवों का एकच्छत्र राज्य। इस पर ऋषि बड़े क्रुद्ध हुए और

---

1 महाभारत सभापर्व ३८

2 ऋग्वेद १०।८२।५ तथा १०।८२।६

3 शतपथ ब्राह्मण १३।३।४

4 ऋग्वेद १२।६।१ तथा १३।१०।९०

5 वनपर्व १२।४७ तथा उद्योग पर्व ४९।१

6 ऐतेरेय ब्राह्मण १।१

7 शतपथ १।२।५ और १४।१।१

कृष्ण से बोले कि यदि तुम अध्यात्म-दर्शन की ठीक-ठीक व्याख्या न कर सकोगे तो मैं तुम्हें शाप दे दूँगा। कृष्ण ने उन्हे अध्यात्म-दर्शन समझाकर अपना विराट् रूप दिखाया। यहाँ इस रूप को वैष्णव-रूप कहा गया है।[1] शान्ति-पर्व में भी कृष्ण को विष्णु का रूप बताया गया है।[2]

महाभारत के सूक्ष्म अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महाभारत काल में कृष्ण का वासुदेव नारायण और विष्णु के रूप मे स्वीकरण सर्वसाधारण न था। कुछ स्थलो को छोडकर महाभारत में कृष्ण एक उच्चकोटि के राजनीतिज्ञ क्षत्रिय योद्धा के रूप में चित्रित किये गये हैं और यदि हम उन स्थलो को पाश्चात्य विद्वानों की उक्ति के अनुसार प्रक्षिप्त मानलें तो महाभारत में कृष्ण को भगवान् मान लेने की आधार शिला ही गिर जाती है, परन्तु महाभारत के अन्त-साक्ष्य और वाह्य-साक्ष्य के आधार पर इस बात को स्वीकार नही किया जा सकता। विण्टरनिट्ज ने अपने सस्कृत-साहित्य के इतिहास में महाभारत के तीन सस्करण माने हैं। पहले सस्करण में ८८०० के लगभग श्लोक, दूसरे में २४००० और तीसरे में एक लाख हैं। हरिवश पुराण को वे महाभारत से अलग ही स्वीकार करते हैं। महाभारत के कुछ अशो को प्रक्षिप्त मानकर यदि यह कल्पना कर भी ली जाय कि महाभारत काल में कृष्ण को साधारण राज-पुत्र के रूप में ही स्वीकार किया गया है तो श्रीमद्भगवद्गीता के आधार पर—जो अन्त और वाह्य-साक्ष्य के आधार पर महाभारत काल की ही रचना ठहरती है और जिसमे अधिक अश प्रक्षिप्त नही हैं—यह मानना पडेगा कि महाभारत काल में ही कृष्ण मे अवतारत्व का आरोप होने लगा था। महाभारत के विषय मे एक बात और भी उल्लेखनीय है। वह यह कि इस 'भागवत' ऐकान्तिक अथवा 'पाञ्चरात्र धर्म' का विशेष प्रचार सात्वतो' के द्वारा हुआ, जो योग्य और वीर क्षत्रिय योद्धा थे। यही कारण है कि उनके समय तक इस धर्म मे क्षात्र बल का प्राधान्य रहा, परन्तु पौराणिक युग में विष्णु, नारायण और वासुदेव की त्रिवेणी सम्मिलित होकर बहने लगी, जिसका प्रवाह भक्ति-सलिल से परिपूर्ण था। आगे चलकर यह प्रवाह वैष्णव-भक्ति की विशाल सरिता में परिणत हो गया, जिसकी अनेक शाखा-प्रशाखाओ ने जनता को जीवन प्रदान किया और वह आनन्द-रस में निमग्न हो गया।

कृष्ण के जिन स्वरूपो का हमने अब तक विवेचन किया है, उनका हमारे भक्तिकालीन साहित्य से साक्षात् सम्बन्ध नही है क्योकि हिन्दी के कृष्ण-भक्ति-साहित्य के चरित-नायक व्रजविहारी लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हैं, जिनका लीलाधाम व्रज है और गोप-गोपियो से सीधा सम्बन्ध है। प्रेमा-भक्ति के आलम्बन, गोप-गोपियो के सर्वस्व, राधावल्लभ, नटनागर, गोपाल-कृष्ण का समावेश हमारे वाङ्मय मे कब से हुआ, यह एक दुस्तर समस्या है। पौराणिक-साहित्य का विवेचन हम पहले कर चुके हैं। कई पुराण तो ऐसे हैं, जिनमे कृष्ण-चरित सक्षेप में दिया गया है किन्तु कुछ पुराणो में कृष्ण की लीलाओ का विस्तार से वर्णन है। कृष्ण-चरित-सम्बन्धी पुराण ये हैं

पद्म-पुराण, वायु पुराण, वामन-पुराण, कूर्म-पुराण, ब्रह्म-वैवर्त पुराण और हरिवश पुराण। इनका उल्लेख हम आगे करेंगे। यहाँ तो हम यही देखने का प्रयास करेंगे कि गोपाल कृष्ण की कथा के अन्य कौन से सूत्र हैं? जिन शिला-लेखो का पहले उल्लेख हुआ है, उनमें गोपाल कृष्ण का कोई सकेत नहीं मिलता। 'नारायणीय उपाख्यान' मे वासुदेव अवतार

१ आश्वमेधिक पर्व अध्याय ५१-५४

२ शान्ति पर्व अध्याय ४८

का वर्णन करते हुए यह लिखा है कि वासुदेव ने कंस के वध के लिये अवतार लिया। 'सभा-पर्व' में शिशुपाल ने व्यंग्य में कृष्ण को गोकुल में पूतना आदि का संहारक बताया है और भीष्म द्वारा की गई कृष्ण की प्रशंसा को झूठी प्रशंसा कहा है। ३८ वें अध्याय में जहाँ भीष्म ने कृष्ण की प्रशंसा की है, वहाँ यह उल्लेख नहीं है, इसलिये भण्डारकर ने इस पद को प्रक्षिप्त मानते हुए लिखा है:

"The southern recension of the Mahabbharat contains many interpolations.... . Thus attempts have always been made to bring by means of interpolations, the stories told in the Mahabbharat to the form, which they subsequently assume "[1]

महाभारत के इस संस्करण में कृष्ण की गोकुल वाली कथाओं का समावेश है। उत्तरी भारत में पाई जाने वाली महाभारत की प्रतिलिपियों में इस प्रकार के श्लोक नहीं हैं। कृष्ण के गोविन्द नाम का सम्बन्ध 'गोपाल कृष्ण' से जोड़ा जाता है। 'गोविन्द' एक पुराना नाम है और इसका उल्लेख 'श्रीमद्भागवत' और 'महाभारत' दोनों में हुआ है परन्तु महाभारत में 'गोविन्द' शब्द का सम्बन्ध 'गोपाल कृष्ण' से नहीं लगाया गया है। आदि पर्व में गोविन्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है कि भगवान् का नाम 'गोविन्द' इसलिये है कि उन्होंने 'वाराहावतार' में 'गो' अर्थात् पृथ्वी की रक्षा की थी।[2] शान्ति-पर्व में भी इसी प्रकार व्याख्या की गई है।[3] भण्डारकर ने गोविन्द की उत्पत्ति गोविद् से बतलाई है, जो ऋग्वेद में इन्द्र के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है और 'केशिनिसूदन' के विषय में भी उन्होंने यही लिखा है कि यह भी इन्द्र का विशेषण था और बाद में ये दोनों विशेषण कृष्ण के साथ जोड़ दिये गये।[4] ऋग्वेद में हमें ऐसे मन्त्र अवश्य मिलते हैं, जिन में गो, वृष्णि, राधा, व्रज, गोप, रोहिणी और अर्जुन आदि नाम आये हैं उनमें से कुछ मन्त्र निम्नलिखित हैं:

१—ता वा वास्तून्युष्मसि गमध्यै। यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयास.।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्ण. परम पदमवभाति भूरि॥[5]

२—स्तोत्र राधाना पते ऋ० १। ३०। २९

३—गवामपव्रज वृधि ऋ० १। १०। ७

४—दासपत्नी अहिगोपा अतिष्ठत। ऋ० १। ३२। ११

५—त्व नृचक्षा वृषभानुपूर्वी कृष्णास्वाग्ने अरुषो विभाहि। अथर्व० ३। १५। ३

६—तमेतदाधार य कृष्णासु रोहिणीषु। ऋ० ८। ९३। १३

७—कृष्णारूपाणि अर्जुना विवो मदे। ऋ० १०। २१। ३

इन मन्त्रों में जो नाम आये हैं, उनका यद्यपि गोपाल कृष्ण से कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार वैदिक कृष्ण का सम्बन्ध महाभारत के कृष्ण से जोड़ दिया गया, उसी प्रकार इन सभी नामों का उपयोग पौराणिक युग में कृष्ण से सम्बद्ध कर लिया हो।

---

1 Vaishnavism and Shaivism (Page 50 foot note)

२ आदि-पर्व (महाभारत) २१-२२

३ शान्ति-पर्व ३४२-७०

4 Vaishnavism and Shaivism (Bhandarker) Page 51

५ ऋग्वेद १। १५४। ६

हम पहले बता आये हैं कि 'घटजातक' में वासुदेव और बलदेव का उल्लेख है, वह कथा इस प्रकार है

"वासुदेव और उसके भाई देवगब्भा और उपसागर के पुत्र थे। उन्हें देवगब्भा ने अपनी सेविका नन्द गोपा और उसके पति अन्धक को वेणु के सुपुर्द कर दिया था।" इस कथा से पता चलता है कि इस जातक की रचना के समय गोपाल कृष्ण वाली कथा प्रचलित थी, किन्तु अतर्क्य प्रमाणों के अभाव में इस जातक का समय-निर्धारण अत्यन्त कठिन समस्या है।

पुराण और कृष्ण-चरित

गोपाल कृष्ण सम्बन्धी सबसे अधिक कथाएँ हरिवंश पुराण में हैं। इस पुराण में कृष्ण के चरित को गोपियों के साथ सम्बद्ध कर लिया है। 'विष्णु पर्व' के १२८ अध्यायों में कृष्ण-जीवन की पूरी कथा दी गई है और कृष्ण के सौन्दर्य का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है, पूतना-वध, शकट-वध, यमलार्जुन-पतन, माखन-चोरी, कालिय-दमन, धेनुक-वध, प्रलम्ब-वध गोवर्द्धन-धारण आदि सभी लीलाओं का इसमें विशद वर्णन है, बीच-बीच में प्रकृति का भी बड़ा ही सुन्दर चित्रण है। पाश्चात्य विद्वानों ने हरिवंश-पुराण का रचनाकाल ईसा की पहली शताब्दी के लगभग माना है और अपने कथन की पुष्टि में हरिवंश पुराण में आये हुए 'दीनार' शब्द को रखा है। हरिवंश पुराण में ३८०८ श्लोक हैं। श्रीकृष्ण इन्द्र की पूजा का निषेध कर नन्द को गोवर्द्धन की पूजा का विधान बताते हैं और गउओं को ही अपना सर्वस्व कहते हैं। ३५२२ संख्या वाले श्लोक में 'घोष' का उल्लेख है और यह बतलाया है कि गोप ब्रज को छोड़ कर वृन्दावन चले आये। 'घोष' का दूसरा नाम 'आभीरपल्ली' बताया है। हरिवंश-पुराण में आभीरों का विस्तार मथुरा के निकट महावन से लेकर द्वारका के पास अनूप और आनर्त देश तक बताया गया है।[1]

महाभारत के 'मौशल-पर्व', अध्याय ७ में आभीरों के सम्बन्ध में एक कथा आती है, जिसके अनुसार अर्जुन वृष्णि वंश के समाप्त हो जाने पर उस वंश की स्त्रियों को जब द्वारका से कुरुक्षेत्र लेजा रहे थे, तो आभीरों ने उनके ऊपर आक्रमण कर दिया। आभीर लुटेरे और म्लेच्छ बताये गये हैं, जो पंचनद-प्रदेश में रहते थे। विष्णु पुराण में आभीरों को कोंकण और सौराष्ट्र के निवासी बताया गया है। पहले तो आभीर चरवाहे थे, फिर वे पञ्जाब से मथुरा, सौराष्ट्र और काठियावाड़ तक फैल गये। आजकल 'अहीर' शब्द 'आभीर' का ही बिगड़ा हुआ रूप है। ऐतिहासिक प्रमाणों से ज्ञात होता है कि आभीरों ने मराठा देश के उत्तर में अपना राज्य भी स्थापित किया था। नासिक में एक शिलालेख भी मिला है, जिसमें आभीर शिवदत्त के पुत्र ईश्वरसेन के राज्य के नवम वर्ष का उल्लेख है। इस शिलालेख से पता चलता है कि यह तीसरी शताब्दी का लिखा हुआ है। वायु पुराण में अभीरों के एक राज्यवंश का वर्णन है, जिसमें १० राजाओं का वर्णन हुआ है।[2] काठियावाड़ के एक अन्य उत्कीर्ण लेख (Inscription) में, जो गुण्डा स्थान में मिला है, रुद्रभूति के दान का वर्णन है। रुद्रभूति आभीर था। यह शिलालेख रुद्रसिंह नामक क्षत्रप ने लिखवाया था, जिसका समय ई० सन् १८० के आसपास था।

आभीरों के इस इतिहास से आधुनिक विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि 'गोपाल कृष्ण' तथा 'बालकृष्ण' वाली कथाओं का समावेश 'वासुदेव' के साथ इन आभीरों द्वारा किया

१ हरिवंशपुराण ५१६१-५१६३ श्लोक

२ वायु पुराण, खण्ड २ अध्याय ३७

गया। आभीरो में 'बालदेवी' और 'बालदेवता' की उपासना प्रचलित है। 'बालदेवता' के विषय में यह भी कहा जाता है कि उसका जन्म नीच घराने में हुआ और पालन-पोषण एक दूसरे कल्पित पिता के यहाँ हुआ, जिसे यह ज्ञान था कि वह उसका अपना बच्चा नहीं है और उसके बहुत से निरीह भाइयों की हत्या हो चुकी है। धेनुक-वध आदि की कथाएँ भी इन्हीं आभीरों के द्वारा कृष्ण-कथा में स्थान पा गईं।[1] भण्डारकर ने इसी मत की पुष्टि करते हुए निर्णय किया है.

"The alliance of Krisna with cowherdesses, which introduced an element in consistent with the advance of morality into the 'Vasudeva' religion, was also an after-growth, consequent upon the freer intercourse between the wandering Abhiras and their more civilised Aryan neighbours took advantage of its looseness Besides, the Abhiran women must have been fair and handsome as those of the Ahir Gavaliyas or cowherds of the present day are."

इस विषय में 'इण्डियन एण्टिक्वेरी' के लेख तथा "एन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन एण्ड एथिक्स" के लेख विचारणीय हैं। कैनेडी ने अपने लेख में जाट, गूजरों को आभीरों की ही सन्तान माना है। वेबर और ग्रियर्सन भी ईसा के पश्चात् ही आभीरों के देवता बाल कृष्ण का होना सिद्ध करना चाहते हैं। ऐसा सिद्ध करने से उनका अभिप्राय यह है कि बालकृष्ण का कथायें ईसा की कथाओं का रूपान्तर है। ग्रियर्सन ने लिखा है कि ईसा की दूसरी शताब्दी में ईसाइयों का एक दल सीरिया से आकर मद्रास के दक्षिण में आबाद हो गया था। इन ईसाइयों की भक्ति-भावना का पूरा-पूरा प्रभाव हिन्दुओं पर पडा और क्राइस्ट से क्रिस्टो तथा फिर कृष्ण उनका उपास्य बन गया। वैष्णवों की दास्य-भक्ति, प्रसाद, पूतना-स्तन्य-पान आदि को ग्रियर्सन ईसाइयत की ही देन बताते हैं। उनका कथन है कि पूतना बाइबिल की 'वर्जिन' है, प्रसाद 'लवफीस्ट' और दास्य-भक्ति पाप-पीडित-मानवता का करुण क्रन्दन है। इन लेखों के आधार पर ईसा के पश्चात् ही बालकृष्ण की कथाओं का समावेश सिद्ध होता है किन्तु यह बात वायुविकारजन्य प्रलाप से अधिक महत्त्व नहीं रखती। कीथ, मैकडोनल आदि विद्वानों ने इस मत का खण्डन किया है। अन्य प्रमाण भी उक्त कल्पना के विरोध में उपस्थित किये जा सकते हैं। हम बता आये हैं कि ईसा से बहुत दिन पहले ही बालकृष्ण की कथायें प्रचलित थी और आभीर जाति कही बाहर से नहीं आई थी। सक्षेप में हम निम्नलिखित युक्तियाँ इन विषय में उपस्थित कर सकते हैं:

१—महाभारत, वायुपुराण और हरिवंश पुराण में आभीरो का उल्लेख है।

२—काठियावाड़ में पाये जाने वाले शिलालेख के अनुसार आभीरो का राज्य-काल ईसा से पहले ठहरता है।

३—आभीरों का द्रविड-शब्द से सम्बन्ध, जिसका विवेचन राय चौधरी ने 'Early History of Vaishnavism' में किया है। द्रविड-भाषा में आभीर का अर्थ 'गोपाल' है।

४—महाकवि भास के 'बाल चरित', 'दूत वाक्य' और 'दूत घटोत्कच' नाटकों में वर्णित कृष्ण का चरित।

५—गाथा-सप्तशती में राधा-कृष्ण की लीलाओं का उल्लेख।

---

1 Journal of the Royal Asiatic Society for 1907 Page 981

६—बालकृष्ण की ईसा-निरपेक्ष बहुत-सी कथाओ का अस्तित्व ।

'श्री कृष्ण चरित का पूर्ण विवेचन करने वाला दूसरा पुराण 'ब्रह्म-वैवर्त पुराण' है, जिसके कृष्ण-जन्म-खण्ड में कृष्ण विषयक सामग्री दी हुई है। पहले अध्यायो में कृष्ण-जन्म का कारण, चौथे में गोलोक का और पांचवें में राधा के मन्दिर का वर्णन है। छठे अध्याय में अशावतारो का वर्णन करते हुए राधा और कृष्ण के सम्बन्ध को स्पष्ट किया है। फिर सातवें अध्याय में श्रीकृष्ण-जन्माख्यान, आठवें अध्याय में श्रीकृष्ण जन्माष्टमी-व्रत का वर्णन है। नवें अध्याय में बलदेव का जन्म और नन्द के पुत्रोत्सव का वर्णन है। आगे कृष्ण की लीलाओ का वर्णन हुआ है। बीच-बीच में और भी बहुत से उपाख्यान आये हैं। फिर उत्तरार्द्ध में, जो ५५ वें अध्याय से प्रारम्भ होता है, श्रीकृष्ण-प्रभाव-वर्णन तथा अन्य उपाख्यानो के अनन्तर कस की कथा और श्रीकृष्ण का मथुरा-गमन दिया हुआ है। अध्याय ९१ मे कृष्ण उद्धव को व्रज में जाने की आज्ञा देते हैं और उद्धव वहाँ जाकर राधा और गोपियो से वार्तालाप करते हैं। ९८ वें अध्याय मे उद्धव मथुरा वापस आते हैं। आगे राधा-कृष्ण सम्बन्धी अनेक वृत्तान्त हैं, साथ-साथ में और भी बहुत से आख्यान हैं। ब्रह्मवैवर्त में बहुत-सी स्तुतियाँ दी गई हैं और अनेक स्थलो पर उच्च कोटि के शृङ्गारिक वर्णन है। ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दी के कवियो ने बहुत कुछ सामग्री ब्रह्म-वैवर्त पुराण से ली है। ब्रह्म-वैवर्त में राधा का जो वर्णन है, उसका उल्लेख हम आगे करेगे। इस पुराण में कृष्ण की लीलाओ का वर्णन हरिवश पुराण के वर्णनो की अपेक्षा अधिक शृ गारिक और विस्तृत है।

पद्म-पुराण

इस पुराण के पाताल-खण्ड में कृष्ण-चरित का विवेचन है। अध्याय ६९ से ७२ तक तो श्रीकृष्ण के माहात्म्य का वर्णन है और अध्याय ७३ से ८३ तक वृन्दावन आदि का माहात्म्य और श्रीकृष्ण की लीला का विवेचन है। गोपियो के अध्यात्म-पक्ष और उनकी उत्पत्ति के विषय में भी विस्तार से वर्णन किया गया है, जिसका विवेचन हम आगे करेंगे। इस पुराण में वृन्दावन द्वारका, गोकुल, मथुरा आदि का बडा सुन्दर वर्णन हुआ है और द्वादश वनो का भी उल्लेख है।[1] श्लोक ८८ से १०२ तक श्रीकृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन है। सूर-साहित्य पर इस पुराण का पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है। पुष्टि-सम्प्रदाय में पद्म पुराण की बहुत-सी बातें ज्यों की त्यो अपनाई गई हैं।

वायु-पुराण

वायु-पुराण के द्वितीय-खण्ड अध्याय ३४ में विस्तार पूर्वक स्यमन्तक मणि की कथा लिखी है और फिर श्रीकृष्ण के जन्म का वर्णन है। इसके अनन्तर कृष्ण की १६ सहस्र पत्नियो और उनके पुत्रो आदि का वर्णन है। इस पुराण के विषय मे विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें कृष्ण की गोप-लीलाओ और राधा की केलि का वर्णन नहीं हैं। अध्याय ४२ में कुछ श्लोको में गोलोकवासी भगवान् कृष्ण का उल्लेख करते हुए राधा और गोप-लीलाओ का उल्लेखमात्र है।

वामन-पुराण

इसमें केवल केशी, मुर और काल-नेमि के वध की कथा है।

कूर्म पुराण

इसमें भी केवल यदुवश का वर्णन, श्रीकृष्ण द्वारा महादेव की आराधना और श्रीकृष्ण के पुत्रों की कथा है।

---

१ पद्म-पुराण, पाताल खण्ड अध्याय ६६

गरुड़-पुराण

गरुड-पुराण में कृष्ण की लीलाओं का उल्लेख है, जो अध्याय १४४ में हुआ है। इसमें पूतना वध, यमलार्जुनोद्धार, गोवर्द्धन-धारण, केशी-चाणूर इत्यादि का वध, कालिय-दमन और शकटासुर-वध का उल्लेख है। कृष्ण का सान्दीपनि गुरु से शिक्षा प्राप्त करने का भी उल्लेख है। कृष्ण की रुक्मिणी, सत्यभामा आदि ८ पत्नियों का तथा गोपियों का उल्लेख तो है, परन्तु राधा का नाम नहीं है। यह गरुड-पुराण के आचार काण्ड में है। ब्रह्म-काण्ड में हव्यवाह की कन्या नीला, भद्रा, मित्रविन्दा, कालिन्दी, जाम्ववन्ती, सोम-पुत्री आदि की तपस्या का वर्णन है।

विष्णु-पुराण

इस पुराण के चौथे अंश के १५ वें अध्याय में शिशुपाल की मुक्ति का कारण बतलाते हुए श्रीकृष्ण-जन्म का उल्लेख हुआ है। पाँचवें अंश में कृष्ण का चरित्र विशेष रूप से दिया हुआ है तथा कृष्ण की लीलाओं के साथ रास का भी वर्णन है। वास्तव में इसी अंश में कृष्ण के चरित्र का विस्तृत अङ्कन है।

कृष्ण-विषयक पुराणों के विषय और भाषा पर दृष्टि डालने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ये पुराण विभिन्न कालों की रचनाएँ हैं और बराबर इनके संस्करण होते रहे हैं। आज भी हमें इनके कई-कई संस्करण उपलब्ध होते हैं। हो सकता है कि साम्प्रदायिक आचार्यों ने अपनी-अपनी परम्पराओं के अनुकूल इन पुराणों में घटा-बढ़ी कर ली हो। मध्यकालीन भक्ति-साहित्य पर सभी पुराणों का प्रभाव पड़ा है और कृष्ण के रूप ने अनेक प्रकार की विचार-धाराओं को पार कर वर्तमान स्वरूप को धारण किया है। हम डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के इस मत से पूर्णतया सहमत हैं

"कृष्ण का वर्तमान रूप नाना वैदिक, अवैदिक, आर्य, अनार्य धाराओं के मिश्रण से बना है। परन्तु फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि कृष्ण ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं है। अवतारत्व का आरोप हो जाने पर बहुत-सी अतिमानवीय घटनाओं से अवतार का जीवन घुल-मिल जाता है।"

कृष्ण के विकास का जो विवेचन हमने ऊपर किया है, उससे यह निष्कर्ष निकलता है.

१—महाभारत में जिस कृष्ण का वर्णन हुआ है, वह वासुदेव का ही रूपान्तर है और वह पूर्णतया ऐतिहासिक व्यक्ति है। महाभारत काल में ही श्रीकृष्ण में ईश्वरत्व का आरोप हो चुका था और इनसे वैदिक कालीन श्रीकृष्ण का सम्बन्ध भी स्थापित किया जा चुका था। महाभारतीय कृष्ण का सम्बन्ध मथुरा और द्वारका दोनों से था एव शिशुपाल की बातों से यह भी आभास मिलता है कि ब्रज से भी कृष्ण का कुछ सम्बन्ध रहा होगा। कृष्ण कृष्ण गोत्रोत्पन्न थे।

२—कृष्ण-कथा में बाल लीलाओं का समावेश अवश्य ही आभीर जाति के कारण हुआ। ईसाइयत से उसका कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि वह ईसा से बहुत पहले हो चुका था।

३—पुराणों में साम्प्रदायिकता की छाप स्पष्ट दीख पड़ती है और उनकी भाषा और विषय से परिवर्तन एवं परिवर्द्धन के चिह्न भी उनमें खोजे जा सकते हैं। अत. यह भी निश्चित है कि पुराणों की रचना किसी एक काल की नहीं है, विभिन्न सम्प्रदायों के आचार्यों ने उनमें अदल-बदल अवश्य की है।

भागवत के श्रीकृष्ण

श्रीकृष्ण के चरित के सम्बन्ध में अब तक हमने श्रीमद्भागवत का उल्लेख नहीं किया है। यद्यपि श्रीमद्भागवत में राधा का उल्लेख नहीं है, तथापि कृष्ण-भक्ति का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ श्रीमद्भागवत ही कहा जा सकता है। महाभारत से लेकर पौराणिक युग तक जितना भी कृष्ण का विवेचन हुआ है, वह सब समन्वित रूप में श्रीमद्भागवत में मिल जाता है। भागवतकार ने अवतारो का वर्णन करते हुए "एते चाशकला. पु स. कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" कहा है। महाभारत में कृष्ण के जिस नारायण रूप का उल्लेख हुआ है. उसको भागवतकार ने इस प्रकार लिखा है कि नारायण के कृष्ण और शुक्ल-स्वरूप असुर-मर्दित पृथ्वी का भार उतारने के लिए कृष्ण और बलराम के रूप में आविर्भूत हुए।[१]

श्रीमद्भागवत में नारायण को पुरुषावतार या आदि अवतार कहा है। "भगवान् ने आदि में लोक-सृष्टि की इच्छा से महत्तत्त्वादि सम्भूत षोडशकलात्मक पुरुषावतार धारण किया।"[२] "भगवान् ने ही पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इन पाँच भूतो की अपने आपसे अपने आप में सृष्टि की है। इन तत्त्वो के द्वारा जब वे विराट् शरीर ब्रह्माण्ड का निर्माण करके उसमें लीला से अपने अश अन्तर्यामी रूप से प्रवेश करते हैं तब उन आदि देवनारायण को 'पुरुष' नाम से कहते हैं। यही उनका प्रथम अवतार है।"[३] भागवत के अन्तर्गत ब्रह्म-स्तुति मे कहा गया है "हे अधीश, क्या आप नारायण नही हैं ? आप अवश्य ही नारायण हैं क्योकि आप ही सब जीव-समूहो के आत्मा और अखिल साक्षी हैं।"[४] इसी प्रकार अन्य पुराणो में भी 'नारायण' और 'वासुदेव कृष्ण' की सगति लगाई गई है, यह हम पहले कह चुके हैं। वैकुण्ठवासी चतुर्भुज नारायण (महाविष्णु, श्वेत-द्वीप-पति विष्णु), नारायण ऋषि तथा वासुदेवनन्दन श्रीकृष्ण तथा वृन्दावनविहारी नन्दनन्दन एक ही भगवान् के विभिन्न रूप बताये गये हैं। श्री जीवगोस्वामी ने लघुभागवतामृत' के पूर्व-पटल में इसका सामञ्जस्य स्थापित किया है और कहा है कि "पुराणो में कोई श्रीकृष्ण को नारायण ऋषि, कोई वामन, कोई क्षीरोपशायी कोई सहस्र शीर्षा और कोई वैकुण्ठनाथ नारायण कहते हैं।" ब्रह्माण्ड पुराण में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है—"जो वैकुण्ठ में चतुर्भुज नारायण, जो श्वेत-द्वीप-पति नर-नारायण ऋषि हैं, वे ही वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण हैं।"

ऊपर के विवेचन से ज्ञात होता है कि श्रीमद्भागवतकार ने कृष्ण के व्यापक रूप को लिया है। सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महाभारत, गीता और श्रीमद्भागवत मे कृष्ण के रूप का उत्तरोत्तर विकास होता गया है। महाभारत एक ऐतिहासिक ग्रन्थ है, इसके आख्यानो मे ही भगवत्तत्त्व-निरूपण हुआ है। यदि उन आख्यानों को पृथक् कर दिया जाय तो श्रीकृष्ण का मानवीय रूप ही हमारे सामने आता है, यही कारण है कि पाश्चात्य विद्वानो ने महाभारत में बहुत से अश प्रक्षिप्त माने हैं, किन्तु उन आख्यानों में भागवत-धर्म और उसके तत्त्व का निरूपण बड़ा महत्वपूर्ण है। उसी तत्त्व का वैज्ञानिक समन्वय श्रीमद्भगवद्गीता में हुआ है। भागवत में भक्ति की दृढ़ता के लिये

---

१ श्रीमद्भागवत २।७।२६

२ श्रीमद्भागवत १।३।१

३ वही ११।४।३

४ श्रीमद्भागवत १०।१८।१४

उसी तत्व की व्याख्या की गई है। इसके अन्तर्गत पृथु, प्रियव्रत, प्रह्लाद आदि भक्तो की कथाएँ तथा निष्काम कर्म के वर्णनों से यह बात भली भाति प्रकट होजाती है कि महाभारत का 'नारायणीय-धर्म' और श्रीमद्भागवत का 'भागवत धर्म' आदि में एक ही हैं पर दोनो ग्रन्थो में प्रधानता भिन्न-भिन्न सिद्धान्तो की है। उसमें श्रीकृष्ण का रूप लोक-रक्षक भी हैं और लोक-रञ्जक भी, फिर श्री मद्भगवद्गीता में महाभारत के सिद्धान्तो की ही व्याख्या की है। गीता महाभारत का ही एक भाग है, दोनो ग्रन्थो को आद्योपान्त पढने से यह विदित हो जाता है। निष्कामकर्म-युक्त प्रवृत्ति-तत्त्व का ही दोनो में विवेचन हुआ है। सम्भवतः भागवत की रचना इसीलिये हुई और यह सिद्ध किया गया कि भक्ति के बिना निष्काम कर्म सम्भव नही है। भागवत का मुख्य उद्देश्य भक्ति का प्रतिपादन ही है।

भगवद्गीता में भगवान् को प्रकृति और पुरुष से भी परे एक सर्व व्यापक, अव्यक्त और अमृत तत्त्व माना गया है और परम पुरुष कहा गया है, जिसके स्वरूप हैं—व्यक्त और अव्यक्त। अव्यक्त के भी 'सगुण', 'सगुण-निर्गुण' और 'निर्गुण' तीन भेद किये हैं। कृष्ण उस परम पुरुष के मूर्तिमान् अवतार हैं, यही कारण है कि गीता में भगवान् कृष्ण ने अपने विषय में पुरुष का निर्देश अनेक स्थानो पर किया है।[1] गीता में भगवान् ने अपना विश्वरूप अर्जुन को दिखाया है और यही उपदेश दिया है कि अव्यक्त से व्यक्त रूप की उपासना करना अधिक सहज है। इसी प्रकार विश्व-रूप का वर्णन महाभारत में नारद-प्रसङ्ग में भी आया है।[2] इससे स्पष्ट ज्ञात होजाता है कि सिद्धान्त रूप से महाभारत, गीता और भागवत मे परब्रह्म को एक ही रूप दिया गया है परन्तु इतना अन्तर है कि महाभारत में कृष्ण का परब्रह्म से वैसा व्यापक तादात्म्य स्थापित नही किया गया, जैसा भागवत और गीता में। महाभारत में पाण्डव अवश्य ही उन्हे विष्णु का अवतार मानते हैं परन्तु यह बात सामान्य रूप से स्वीकृत न हो पाई थी। भागवत में भी कृष्ण का वह स्वरूप नहीं है, जो गीता में है। गीता में ज्ञान, कर्म और उपासना का सामञ्जस्य स्थापित किया गया है और साथ ही साथ पिण्ड-ब्रह्माण्ड के ज्ञान सहित आत्म-विद्या के गूढ़ और पवित्र तत्त्वो को भी समझाया गया है, किन्तु श्री मद्भागवत में इन सब का निरूपण विशेष रूप से करके भक्ति को सर्वोपरि ठहराया गया है। भागवत में अनेक अवतारो का वर्णन है, परन्तु अन्य अवतारो को ब्रह्म का अंश रूप मानकर कृष्ण को ही पूर्ण ब्रह्म माना है।[3] पुराणो में अवतारो की विस्तृत व्याख्या की गई है और तीन प्रकार के अवतार माने गये हैं— १—पुरुषावतार २—गुणावतार और ३—लीलावतार। भगवान् के चार व्यूह माने हैं, श्री वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। गुणावतारो में विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र माने हैं तथा लीलावतार २५ माने हैं। इसके अतिरिक्त १४ मन्वन्तरावतार होते हैं, जो स्वायम्भुव आदि १४ मन्वन्तरो में प्रकट होते हैं। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण को अवतार ही माना है। देवकी श्रीकृष्ण की स्तुति करती हुई कहती है:

"हे आद्य, जिसके अंश (पुरुषावतार) का अंश प्रकृति है, उसके अंश (सत्वादि गुण) के भाग (परमाणु आदि) द्वारा इस विश्व की सृष्टि, स्थिति और प्रलय हुआ करती है। मैं आपकी शरण हूँ।"[4] गीता मे कई स्थलो पर इस प्रकार के वाक्यो को दुहराया

---

१ देखिये गीता, ६।८, १५।७, १०।२०, १०।४१, ६।३४

२ महाभारत, शान्तिपर्व अध्याय ३३६ श्लोक २१-२८

३ एते चांशकला॰ पुंस॰ कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। श्रीमद्भागवत १।३.२८

४ श्रीमद्भागवत १०।८५।३१

गया है।[1] इस प्रकार गीता और भागवत दोनो में भगवान् श्रीकृष्ण को ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज इन ६ गुणो से विशिष्ट माना है। श्रीमद्भागवत में कुन्ती द्वारा की गई कृष्ण की स्तुति मे कृष्ण का स्वरूप एव भगवान् के अवतार का प्रयोजन बताया गया है। अन्त में कुन्ती कहती है "हे भगवन्, कोई लोग कहते हैं कि आपने पुण्य श्लोक राजा युधिष्ठिर का यश बढाने के लिये ही यदुवश मे जन्म लिया" ... । "जो लोग आपकी प्रेम तथा भक्ति-भावना से भरी हुई अद्भुत लीलाओ को वक्ताओं से सुनते हैं, श्रोताओ को सुनाते हैं तथा स्वय गाकर और स्मरण करके आनंदित होते हैं, वे शीघ्र ही इस जन्म-मरण-रूपी सासारिक प्रवल प्रवाह को शान्त करने वाले आपके श्रीचरणकमलो का दर्शन प्राप्त करते हैं।"[2]

भागवत में कृष्ण के सभी रूप आगये हैं, जैसे (१) अद्भुतकर्मा असुरसहारक कृष्ण, (२) बालकृष्ण, (३) गोपीविहारी श्रीकृष्ण (४) राजनीतिवेत्ता, कूटनीति-विशारद श्रीकृष्ण, (५) योगेश्वर श्रीकृष्ण, (६) परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण। मुख्य रूप से हम कृष्ण के तीन रूप देखते हैं, (१) महाभारत के कृष्ण, (२) गीता के कृष्ण तथा (३) भागवत के कृष्ण। भगवान् के वीरत्व-विधायक स्वरूप के दर्शन महाभारत मे, परब्रह्म स्वरूप के गीता मे और रसिकेश्वर के भागवत में होते हैं। वैसे तो भागवत में कृष्ण के प्राय सभी रूपो का विवेचन हुआ है परन्तु प्राधान्य रसिकेश्वर-स्वरूप का ही है। भगवान् के असुरसहारक, राजनीति वेत्ता तथा कूटनीतज्ञ स्वरूप का वर्णन भागवत के दशम स्कन्ध के उत्तरार्द्ध में हुआ है। दशम-स्कन्ध के पूर्वार्द्ध मे निबद्ध कृष्ण के बाल्यकाल की, असुरो के वध से सबद्ध कथाएँ भगवान् के बालरूप की कहानियाँ होने के कारण उनके अलौकिक चरित्र में आती हैं। कस-वध तक की लीलाएँ बाल लीलाएँ हैं, इनमें किशोरावस्था की भी क्रियाएँ आती हैं। उनके राजा पद की प्रतिष्ठा जरासन्ध के युद्ध के अनन्तर द्वारका-दुर्ग-निर्माण-काल से होती है और यही से गीता की "परित्राणाय साधूनाम्" वाली उक्ति की चरितार्थता प्रारम्भ होती है। इस स्कन्ध में कृष्ण के पराक्रम की निर्दशिका वीर-रस-मयी अनेक रोमाञ्च-कारिणी घटनाएँ हैं किन्तु बीच-बीच मे अलौकिकता का भी समावेश है। बाल-लीलाओ को छोडकर कृष्ण के शेष जीवन-चरित की दृष्टि से भागवत को चार भागो में विभाजित किया जाता है—(१) घटनात्मक, (२) उपदेशात्मक, (३) स्तुत्यात्मक तथा (४) गीतात्मक।

घटनात्मक

(१) श्रीमद्भागवत के वे स्थल घटना-प्रधान स्थल हैं, जो ऐतिहासिक घटनाओ का वर्णन करते हैं परन्तु जैसे गोस्वामी तुलसीदास जी मर्यादापुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी के चरित्र को चित्रित करते हुए 'राम चरित मानस' में ग्रन्थ के प्रधान सूत्र भक्ति को नही छोडते और उसी भावना से अभिभूत होकर अनजाने में ही राम के चरित्र में अलौकिकता का समावेश कर जाते हैं, उसी प्रकार व्यास जी का लक्ष्य भी भागवत तत्त्व-निरूपण द्वारा भक्ति-रस का परिपाक करना है। अतएव भागवतकार ने घटनात्मक स्थलो पर भी भगवान् के दिव्य मगल-स्वरूप की कई बार स्तुति कराई है—जैसे भौमासुर-वध के समय, बाणासुर-सग्राम के समय तथा वेद-स्तुति आदि। इन घटनाओ में अलौकिक घटनाओ का भी सम्मिश्रण है, जैसे स्वर्ग से कल्प-वृक्ष लाना, देवकी के मृतक पुत्रो को लाना आदि। ऐसे स्थलो पर

१ यथा विष्टभ्याहमिद कृत्स्नमेकाशेन स्थितो जगत्, गीता १०।४२
तथा मत्त परतह नान्यत् निञ्जिदस्ति धनञ्जय ७।७

२ भागवत १।८।३२।३५

कवि की प्रतिभा सजग हो उठती है और वह भगवान् के स्वरूप में इतना तन्मय हो जाता है कि अन्य सब भाव अभिभूत हो जाते हैं तथा हृदयानुभूति रागात्मिका वृत्ति के साथ उन स्तुतियो और स्तोत्रो के रूप में साक्षात् रूप धारण कर लेती है। श्रीमद्भागवत मे जहाँ-जहाँ भी इन घटनाओं का उल्लेख है, वहीं-वहीं कवि की इस अनुभूति का परिचय मिलता है। इस घटनात्मक भाग में भागवतकार का उद्देश्य भी भक्ति की दृढ़ता ही है।

(२) उपदेशात्मक

भागवत के उपदेशात्मक भाग मे हमें श्रीकृष्ण योगेश्वर, उपदेष्टा तथा विज्ञानी के रूप में मिलते हैं। श्रीमद्भागवत में दो प्रकार के उपदेश हैं—साधारण तथा विशेष। साधारण उपदेश वे उपदेश हैं, जो साधु महात्माओ, गुरुजनो या मित्रो ने दिये हैं। इन उपदेशो का अभिप्राय कर्त्तव्यकर्म का अनुष्ठान करते हुए भगवद्भक्ति करना है। विशेष उपदेशो के रूप में वे स्थल आते हैं, जहाँ उपदेश किसी व्यक्ति विशेष को विशेष रूप से दिये गये हैं, जैसे—उद्धव के प्रति भगवान् के उपदेश, ध्रुव को नारद का उपदेश, चतुश्लोकी भागवत तथा कपिलगीता आदि। ये उपदेश वडे महत्त्वपूर्ण हैं क्योकि इनमें दो वातो की व्याख्या हुई हैं—१—परमतत्त्व की और २—ज्ञान-भक्ति-कर्म की।

(३) स्तुत्यात्मक

भागवत का स्तुत्यात्मक भाग भी वडा महत्वपूर्ण है क्योकि इसके द्वारा भी कृष्ण के वास्तविक रूप की व्याख्या की गई है। ये स्तुतियाँ दो प्रकार की हैं—सकाम और निष्काम। सकाम स्तुतियो वे हैं, जो किसी कामना से प्रेरित होकर की गई है; कारागार से मुक्त होने के लिये, किसी आपत्ति या दैहिक, दैविक, भौतिक तापो की निवृत्ति के लिए की गई हैं। निष्काम स्तुतियाँ दो प्रकार की होती हैं—एक तो वे, जिनमे तत्व-ज्ञान की प्रधानता है और दूसरी वे, जिनमें साधन की प्रधानता है। वेद-स्तुति तत्त्व-ज्ञान-प्रधान स्तुति कही जायगी, क्योकि इसमें सव तत्त्वो का पर्यवसान एक ही तत्त्व मे दिखाया गया है। प्रह्लाद, अम्वरीष, ब्रह्मा, ध्रुव आदि की स्तुतियाँ साधन-प्रधान कही जायेंगी क्योकि इनमे भक्त मुक्ति का इच्छुक न होकर केवल भगवान् के रूप तथा लीला के स्मरण-कीर्तन मे आनन्द लेता है। गीता प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित 'भागवत-स्तुति' मे इस प्रकार की स्तुतियो का सग्रह है।

(४) गीतात्मक

श्रीमद्भागवत का चौथा भाग गीतात्मक है। इन गीतो मे ग्रन्थकार का हृदय साक्षात् रूप से द्रवित होता हुआ प्रतीत होता है। उसकी अन्तरात्मा इन गीतो में पूर्णरूपेण प्रस्फुटित है। ये हृदय के वे स्वत. प्रवाही स्रोत हैं, जिनका अवरोध कवि के वश की वात नहीं थी। उसकी आत्मा की व्यथा एव अन्तर्वेदना के ये गीत साकार प्रतिविम्व हैं। प्रेम और विरह की भावना से ओत-प्रोत इन गीतो की सख्या अधिक नहीं है। पाँच गीत गोपियो के तथा एक द्वारका की कृष्ण पत्नियो का है। ये छ: गीत दशम स्कन्ध मे आये हैं। एकादश स्कन्ध मे भी दो गीत आये हैं—एक पिंगला का और दूसरा एक भिक्षुक ब्राह्मण का। पिंगला का गीत निर्वेद-गीत है, जो ससार के कटु अनुभवो से उत्पन्न अन्तर्वेदना का अभिव्यजन करता है। सात्विक और सदाचारी होने पर भी दुनिया के हाथो अपमानित होने वाले ब्राह्मण भिक्षुक के गीत मे भी वेदना की झलक है। कृष्ण की पत्नियो का गीत दशम स्कन्ध के ९० वें अध्याय मे है। उनका मन भगवान् की लीला में इतना तन्मय हो जाता है कि वे अपने को भूल जाती हैं। सासारिक अनुभवो का ज्ञान लुप्त हो जाता है और आत्म-विभोरता की

अनिर्वचनीय दशा में उनके हृदय-ह्रद से अनायास ही भावधारा वह निकलती है। समस्त प्रकृति उन्हे कृष्णमयी लगती है और वे प्रकृति के सब पदार्थों को सम्बोधित करके उनका कृष्ण से सम्बन्ध स्थापित करती हैं। वे यहाँ तक भूल जाती हैं कि कृष्ण उनके समीप हैं।

गोपी-गीतो का वर्णन तो वर्णनातीत है। उनके पाँचो गीतो में अनुपम प्रेम की झलक है। प्रतीत होता है हृदय वाणी के साथ लिपटा हुआ चला आया है। गोपियो के गीत मे जो रस है वह अनुवाद में कभी नही आ सकता। उसकी अनुभूति सहृदय व्यक्ति मूल पाठ में ही यथार्थ रूप में कर सकते हैं।

श्रीमद्भागवत में "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" तथा 'जन्म कर्म च मे दिव्यम्" आदि की चरितार्थता पूर्णतया हुई है। इस विषय को लेकर पण्डितो ने बडे विश्लेषण और विवेचन किये हैं तथा गीता एव भागवत के कृष्ण में अभेद स्थापित किया है। विभिन्न पुराणो में श्रीकृष्ण का पूर्ण अवतारत्व सिद्ध होता है और भगवान् शब्द के लक्षणो की सगति पूर्णरूपेण घटित हुई है। कृष्ण शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है—

कृषिर्भूवाचक शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचक ।
विष्णुस्तद्भावयोगाच्च कृष्णो भवति सात्वत ॥

श्रीमद्भागवत पुराण में, महाभारत, गीता तथा कृष्ण-सम्बन्धी अन्य सभी ग्रन्थो मे दिये हुए भावो का समन्वय कर लिया है। श्रीमद्भागवत के कृष्ण पाण्डवो के सखा हैं, जो कुरुक्षेत्र महायुद्ध में नियामक थे और जिनका वीर रूप महाभारत मे यत्रतत्र बिखरा हुआ है। वे गीता के उपदेष्टा श्रीकृष्ण हैं, जो साधुओ के परित्राण, पापियो के विनाश और धर्म की स्थापना के लिये प्रत्येक युग में प्रकट होते हैं और जो गीता में भक्ति, ज्ञान और कर्म का सामञ्जस्य स्थापित कर निष्काम कर्मयोगी के रूप में उपस्थित हुए हैं। वे मथुरा और द्वारका के महावीर, महायोद्धा, राजराजेश्वर कृष्ण भी हैं और गोकुल, ब्रज और वृन्दावन में विहार करने वाले, नन्द-नन्दन रसिक शिरोमणि गोपाल कृष्ण भी हैं।

हमने पीछे श्रीकृष्ण के 'योगेश्वर' विशेषण का उल्लेख किया है। गीता में तो इस शब्द की आवृत्ति अनेक बार हुई है किन्तु श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण का योगेश्वर-रूप पूर्णतया चित्रित भी हुआ है। महाभारत के द्रोण-पर्व में सञ्जय के प्रति धृतराष्ट्र की जो उक्ति है, उसे पढने से भागवत और महाभारत के कृष्ण की एकता स्थापित होती है परन्तु वह स्थल अधिकाश विद्वानो ने प्रक्षिप्त माना है। जहाँ तक योगेश्वर शब्द का सम्बन्ध है, उस पर किसी की ननु-नच करने की गुञ्जाइश ही नही है क्योकि हम श्रीकृष्ण के योगेश्वरत्व का सम्बन्ध उनके परब्रह्मत्व से स्थापित करते हैं। श्रीमद्भागवत में 'योगेश्वर' शब्द की आवृत्ति कई बार हुई है। भगवान् की रासलीला को कामलीला न मानकर पवित्र योगमयी लीला ही माना गया है। महारास के प्रारम्भ मे ही लिखा है कि 'सम्पूर्ण योगियो के स्वामी श्रीकृष्ण दो-दो गोपियो के बीच में प्रकट हो गये तथा उनके गले में अपनी भुजा डाल दी।'[1] यह उनकी योगमाया का ही फल था कि ब्रज के गोप यह समझते रहे कि हमारी पत्नियाँ हमारे पास ही हैं और श्रीकृष्ण ने अपने योगबल से हजारो स्थूल और हजारो सूक्ष्म शरीर बना लिये। योग दर्शन, उपनिषदो, एवं अन्य योगपरक ग्रन्थो में इस प्रकार की योग-शक्तियो का वर्णन है कि स्वरूपस्थ जीवन्मुक्तयोगी यदि अपने प्रारब्ध कर्म को शीघ्र भोगकर समाप्त करना चाहे तो अनेक स्थूल और अनेक सूक्ष्म शरीर धारण करके भोग सकता है। श्रीमद्भागवत में भी

१ श्रीमद्भागवत स्कध १० अध्याय ३३

राजा परीक्षित ने शुकदेव जी से रासलीला के प्रसङ्ग में यही प्रश्न किया है, हे ब्रह्मन्, श्रीकृष्ण धर्म-मर्यादा के बनाने वाले और उपदेशक थे फिर उन्होंने धर्म के विपरीत पर-स्त्रियों का स्पर्श कैसे किया ?" श्री शुकदेव जी ने परीक्षित को यही उत्तर दिया है कि भगवान् कृष्ण अपने भक्तों की इच्छा से अपना चिन्मय श्रीविग्रह प्रकट करते हैं। उनमें कर्म बन्धन की कल्पना नहीं की जा सकती।[1] श्वेताश्वतर उपनिषद् में ब्रह्म का निरूपण इसी प्रकार से किया गया गया है कि तुम स्त्री हो, पुरुष हो, कुमार हो या कुमारी हो अर्थात् तुम्हारे विभिन्न स्वरूप हैं। भगवान् कृष्ण के योगेश्वर रूप के दर्शन हमे उस स्थल पर भी होते हैं, जब उन्होंने स्वय अपने वश को पाप से आवृत देखकर नाश करा दिया। योगेश्वर मोह से आच्छन्न नहीं होता, उसकी तो मानसी सृष्टि होती है।[2] भगवान् कृष्ण भागवत के अनुकूल अनन्तकर्म अनन्तचेष्टा तथा अनन्त लीलाओं के भीतर भी श्री भगवान् पूर्ण निश्चित, पूर्ण निर्लिप्त रहे और वही उनका योगेश्वरेश्वर पूर्ण स्वरूप है, जिसको जानकर मुमुक्षुगण ससार-सिन्धु-सन्तरण कर सकते हैं।

महाभारत में भगवान् कृष्ण के राजनीतिज्ञ स्वरूप का विशेष विवेचन किया गया है परन्तु श्रीकृष्ण की राजनीति दूसरे प्रकार की थी। उनकी राजनीति धर्म का स्वरूप था अर्थात् जो पापी हैं, नराधम है, नृशस है वह दण्ड का पात्र है, फिर चाहे वह अपना भाई ही क्यो न हो। महात्मा गान्धी ने भी एक बार कहा था, "यदि आवश्यकता पडे तो मैं अपने लोगो से भी असहयोग करूँगा।" वास्तव में जो पुरुष प्रकृति के मार्ग मे रोडे अटकाता हो, जो व्यक्ति मानव-कल्याण का घातक हो, उसे दूर रखना ही श्रेयस्कर है। श्रीकृष्ण ने राजनीति का उपयोग राजधर्म को निबाहने के लिये किया। वह राज-धर्म न्याय और सत्य का पोषक था। यही कारण था कि उन्होंने अपने कुटुम्बियो का भी घोर विरोध किया। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण के चरित्र को इस प्रकार तो चित्रित नहीं किया गया, जैसे महाभारत मे किया गया है परन्तु भक्ति का पुट देकर और कृष्ण को सर्वेश्वर तथा योगेश्वर मानकर राजनीति के विषयो का उल्लेख किया गया है।

श्रीमद्भागवत में वर्णित कृष्ण के जिन स्वरूपों का वर्णन हमने ऊपर किया है, उनमें सूरदास जी का मन नहीं रमा है। उन्होंने तो भगवान् कृष्ण की बाल तथा किशोर लीलाओं को ही लिया है। भागवत के द्वितीय स्कन्ध के सप्तम अध्याय में भगवान् के लीलाअवतारो की कथा है तथा २६ वें श्लोक से कृष्ण और बलराम के अवतारो की ओर सकेत किया गया है। भगवान् की बाल-लीलाओं की सूची तृतीय स्कन्ध के द्वितीय अध्याय में तथा अन्य लीलाओ का वर्णन तृतीय अध्याय में किया है। इस प्रकार सूक्ष्म रूप से दी हुई लीलाओं का विशद वर्णन दशम-स्कन्ध में है, विशेषकर दशम स्कन्ध-पूर्वार्द्ध श्रीकृष्ण के बाल-चरित्र, गोपी-विहार का स्थल माना जाता है। श्रीमद्भागवत का बालकृष्ण सब कलाओं में पूर्ण है। वेदान्त सुनाता हुआ भी असुरो का सहारक है, क्षात्र-तेज धारण करता हुआ भी मोहन है; गम्भीरता का समुद्र होते हुए भी मुरली बजाता, नाचता, गाता हँसता, है। न जाने कितने भक्त उसकी इस अनोखी बाल-छवि पर मुग्ध हैं और उसके एक-एक स्वरूप की झाँकी पर अपना सब कुछ समर्पित किये हुए हैं ? उनके भक्तो को उनका मथुरा वाला किशोर रूप उतना प्रिय नहीं, जितना ब्रज का बाल पौगण्ड रूप। इसी रूप में उनको परम आसक्ति है। वास्तव मे बात यह है कि भक्त-ब्रह्मानन्द से भी ऊँची कक्षा का आनन्द—परमानन्द चाहता

१ श्रीमद्भागवत स्कन्ध १०, अध्याय ३३

२ मनसा प्रजा ससृजन्न

है। ससार मे सब से निकृष्ट आनन्द विषयानन्द है, उससे ऊपर विद्यानन्द है और उस से अधिक महान् आत्मानन्द है। आत्मरति, आत्मकाम, आत्मतृप्त यतिराट् जिस अखण्ड सच्चिदानन्द को अहर्निश प्राप्त करता है, वह ब्रह्मानन्द है। यही पराकाष्ठा परागति और मुक्ति मानी गई है किन्तु भगवान् के निष्काम उपासक अनन्य-प्रेमी-भक्त भगवदानन्द की खोज करते हैं, जो केवल आत्मा से ही नही, बल्कि बुद्धि, मन, तन और रोम-रोम से अनुभूति में आता है, और इसीलिये परमदयालु, प्रेमबन्धन, परब्रह्म परमात्मा सगुण साकार होकर अवतार धारण करता है, जिसके साक्षात्कार से ब्रह्म सुख सर्वाङ्गीण होकर प्राप्त होता है। इसी लिये यह आनन्द परमानन्द है और ब्रह्मानन्द से भी विलक्षण है। भागवत का बालकृष्ण ही परमानन्द है, या यह कहिये कि व्रज का ब्रह्म ही परमानन्द है। जैसे जगत् की चौरासी लाख योनियो मे ब्रह्म व्यापक है, वैसे ही चौरासी कोस युग में वेदान्त का परम सिद्धान्त ब्रह्मानन्द नाच रहा है, जिसकी ओर भागवत में कई स्थलो पर सकेत हुआ है। इस परमानन्द की प्राप्ति भक्त को प्रभु से पृथक रहकर सबके रूप से ही होती है। इसी से वह कैवल्य-मुक्ति स्वीकार न करके भजनानन्दी ही बना रहता है। भागवत में वर्णित भगवान् कृष्ण की लीला में आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक—सभी भाव भरे हैं, परन्तु मुख्य रूप से भगवान् के प्रेम-विह्वल भक्तो की परमानन्दता ही है।

सूरदास जी पर भागवत का पूरा प्रभाव है, परन्तु जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, उन्होने अन्य पुराणो से भी कथाओ के सूत्र लिये हैं। अगले प्रकरण मे कथावस्तु की दृष्टि से हम सूरसागर और भागवत की तुलना करेंगे।

षष्ठ अध्याय

श्रीमद्भागवत और सूरसागर

सूर के आधुनिक आलोचको ने उनकी विवेचना करते हुए इस विषय पर विचार किया है, परन्तु वह विचार साधारण रूप से कथावस्तु की दृष्टि से हुआ है। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने अपने लेख सूरसागर और श्रीमद्भागवत' में कई पक्षो पर प्रकाश डाला है। डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने अपने प्रबन्ध 'सूरदास' मे भी इस पर विचार किया है। सूर-विषयक अन्य ग्रन्थो में भी इस पर प्रकाश डाला गया है किन्तु वह तुलनात्मक विवेचन सर्वाङ्गीण नहीं कहा जा सकता। किन्ही दो ग्रन्थो अथवा लेखको की तुलना करने के लिए यह आवश्यक है कि उनके विषय के अतिरिक्त काल, सिद्धान्त आदि पर भी विचार होना चाहिए। सूरसागर की द्वादश-स्कन्धात्मक प्रतियो में आये हुए "व्यास कहे सुकदेव सो द्वादश स्कन्ध बनाय, सूरदास सोई कहै पदभाषा करि गाय" आदि पद इस धारणा को जन्म देते रहे कि सूरसागर भागवत का अनुवाद है। इस बात को निश्चित करने के लिए दोनो का गहन अध्ययन आवश्यक है। श्रीमद्भागवत एक महापुराण है और "विद्यावता भागवते परीक्षा" वाली उक्ति के अनुसार प्रकाण्ड पण्डितो के लिए भी यह विषय बडा गूढ है। भारतीय साहित्य मे निर्माण-तिथि देने की परिपाटी न होने के कारण साहित्य का बहुत-सा अश आज भी अन्धकार के गर्त में पडा हुआ है। श्रीमद्भागवत की रचना-तिथि के विषय में निश्चय-पूर्वक तो कुछ नहीं कहा जा सकता परन्तु अन्त एव बाह्य-साक्ष्यो के आधार पर यह हम अवश्य कह सकते हैं कि श्रीमद्भागवत का वर्तमान सस्करण दक्षिण में हुआ और दाक्षिणात्य पण्डितो के द्वारा ही इसका प्रचार प्रारम्भ हुआ। यह तो हम पहले ही बता आये हैं कि पुराणो के कई सस्करण सम्भावित हैं और उनमे प्रक्षिप्त अशो की भी भरमार है परन्तु श्रीमद्भागवत हमें आज जिस रूप में उपलब्ध होता है उसे देखकर यह अवश्य कहा जा सकता है कि यह किसी एक व्यक्ति द्वारा ही किया गया सस्करण है। अन्य पुराणो में श्रीमद्भागवत का उल्लेख मिलता है परन्तु देवी-भागवत से इस ग्रन्थ की स्पर्धा किसी प्रकार के निश्चय में और भी बाधा उत्पन्न करती है। अब हम श्रीमद्भागवत के स्वरूप-निर्धारण और प्राचीनता के विषय में सक्षेप मे विचार करेंगे।

स्वरूप-निर्धारण

आज श्रीमद्भागवत हमें जिस रूप मे उपलब्ध होता है, उसमें १२ स्कन्ध, ३३५ अध्याय और १४६१५ श्लोक हैं। श्रीमद्भागवत का उल्लेख तथा विवरण विशेष रूप से श्री नारदीय पुराण, पद्म-पुराण, स्कद पुराण, कौशिक सहिता, गौरी तत्र, सात्वत तन्त्र तथा पाञ्चरात्र निबन्ध आदि-आदि ग्रन्थो में हैं। प्राय. सभी ग्रन्थो में भागवत के १२ स्कध, ३३५ अध्याय और १८००० श्लोक-सख्या मानी है। मत्स्य पुराण में श्रीमद्भागवत का जो उल्लेख है उसके अनुसार भागवत में शारद्वत कल्प की कथा का वर्णन है परन्तु प्रचलित श्रीमद्भागवत में शारद्वत कल्प का प्रसग नही मिलता किन्तु उसी के प्रमाण से पाद्म-कल्प की कथा का वर्णन है।

इस उल्लेख से तीन प्रकार के अनुमान सम्भव हैं –(१) मत्स्य-पुराण में शारद्वत-कल्प की कथा प्रक्षिप्त है, (२) शारद्वत और पाद्म एक ही कल्प के दो नाम हैं (३) मत्स्य-पुराण में वर्णित भागवत प्रचलित श्रीमद्भागवत नही है। यह एक गम्भीर विषय है और इस पर स्वतन्त्र विचार की आवश्यकता है। पद्म-पुराण मे श्रीमद्भागवत के १२ स्कन्धो का भगवान् के १२ अङ्गो के रूप में वर्णन किया गया है और फिर उसी का विवेचन करते हुए लिखा है

"द्वात्रिंशत्त्रिशत च यस्य विलसच्छाखा ।[१]

अर्थात् भागवत पुराण की ३३२ शाखाएँ सुशोभित हैं। भागवत के प्राचीन टीकाकर चित्सुखाचार्य ने भी अपनी टीका के अन्त में लिखा है—

'द्वात्रिंशत्त्रिशत पूर्णमध्याया"।

अर्थात् श्रीमद्भागवत के ३३२ अध्याय पूरे हुए। सम्भवत. इसी आधार पर श्रीवल्लभाचार्य आदि ने भागवत के तीन अध्याय प्रक्षिप्त माने हैं परन्तु श्री जीव गोस्वामी 'श्रीभागवतषट्-सदर्भ' मे लिखते हैं, "जो इन अध्यायो को प्रक्षिप्त मानते हैं, उनके वैसा मानने का कोई कारण नही है क्योकि सब देशो मे वे प्रचलित हैं और वासना भाष्य, सम्बन्धोक्ति, विद्वत्कामधेनु, शुक-मनोहरा परमहसप्रिया आदि प्राचीन एव आधुनिक टीकाओ में इनकी व्याख्या की गई है। यदि अपने सम्प्रदाय मे अस्वीकृत होने के कारण ही वे उन्हे अप्रामाणिक मानते हैं तो दूसरे सम्प्रदायो में स्वीकृत होने के कारण प्रामाणिक ही क्यो नही मानते ?"[२] 'द्वात्रिंशत्त्रिशत च' का द्वन्द्वैक्य स्वीकार करके पण्डितो ने ३३५ अध्यायो की सगति लगाई है अर्थात् 'द्वात्रिंशत् च त्रिशतं च त्रयञ्च शतानि च' इस व्याख्या से ३३५ अर्थ हो जाता है। श्लोक-सख्या का सामाधान पण्डितो ने इस प्रकार किया है कि श्रीमद्भागवत एक मन्त्रात्मक ग्रन्थ है और इसके एक-एक श्लोक, एक-एक पद और एक-एक शब्द का मन्त्र की भाँति पाठ किया जाता है। इसलिये मन्त्र-ग्रन्थ होने के कारण प्रत्येक 'उवाच' को एक श्लोक एव अध्याय की पुष्पिका को डेढ श्लोक मानने पर श्लोक-सख्या पूरी हो जाती है। दुर्गासप्तशती की भाँति भागवत के पाठ में 'इति' 'अथ' आदि को जोडा नहीं जाता। भागवत की 'अन्वितार्थप्रकाशिका' टीका के रचयिता गङ्गासहाय जी 'जरठ' महोदय लिखते हैं

'मैंने तीन बार 'श्रीमद्भागवत' का अक्षर-अक्षर गिना है। उसमें सत्रह हजार नौ सौ साढे अट्ठानवे श्लोक गिने हैं। इस प्रकार जो डेढ श्लोक की कमी बैठती है, वह उवाच आदि के पाठ-भेद के कारण हो सकती है।"

श्रीमद्भागवत की प्राचीनता के विषय में भी मत-भेद है। इसे प्राय. विभिन्न कालो की रचना बतलाया जाता है। 'रासलीला' के आधार पर तो पाश्चात्य विद्वान् इसे १६ वीं शताब्दी की रचना बताने में भी नही हिचकते। उन्होने अपने इस अनुमान का आधार बोपदेव के 'हरिलीलामृत' ग्रन्थ को माना है, जो आजकल अप्राप्य है, परन्तु हम इस अनुमान से सहमत नही हैं। बोपदेव हेमाद्रि के समकालीन थे और कहा जाता है कि उन्ही की प्रसन्नता के लिए बोपदेव ने अनेक ग्रन्थो का प्रणयन किया था। भारतीय इतिहासो के आधार पर हेमाद्रि देवगिर के यादव राजा रामचन्द्र के मन्त्री बताये जाते हैं, जिनका राज्य-काल सन् १२७१ ई० से १३०९ ई० तक माना गया है। इस प्रकार बोपदेव का काल १३ वी शताब्दी ठहरता है परन्तु तेरहवीं शताब्दी से पहले श्रीमद्भागवत-विषयक अनेक

[१] पद्म-पुराण उत्तर-खण्ड, अध्याय १८९

२ श्री भागवत षट् सन्दर्भ अध्याय १२

उल्लेख हैं, इसलिए वोपदेव से श्रीमद्भागवत का सम्बन्ध लगाना भागवत के प्रति अन्याय करना ही नही, ऐतिहासिक प्रमाणों की भी अवहेलना करना है। द्वैतवाद के प्रसिद्ध आचार्य श्री मध्वाचार्य का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। श्री मध्वाचार्य १२ वी शताब्दी में विद्यमान थे और उन्होंने श्रीमद्भागवत पर 'भागवत-तात्पर्य-निर्णय' नामक टीका लिखी। विशिष्टाद्वैत एव श्री-सम्प्रदाय के आचार्य श्री रामानुज की भागवत पर कोई टीका तो उपलब्ध नही है किन्तु उनके सिद्धान्त बहुत कुछ भागवत पर आधारित हैं। वेदार्थ-सग्रह' नामक निबन्ध में भागवत की गणना सात्विक पुराणो में की गई है। श्रीमद्भागवत के प्रसिद्ध टीकाकार श्री श्रीधर स्वामी का उल्लेख हेमाद्रि ने किया है और श्रीधर जी ने अपनी टीका में हनुमान और श्री चित्सुख आचार्यों का भागवत के पहले टीकाकारो के रूप में उल्लेख किया है परन्तु खेद है कि ये टीकाएँ अब उपलब्ध नहीं हैं। चित्सुखाचार्य अद्वैत-सम्प्रदाय में शकर से तीसरे आचार्य माने जाते हैं। बनारस के 'सरस्वती-भवन' पुस्तकालय में श्रीमद्भागवत की एक हस्तलिखित प्रति सुरक्षित है, जिसमें उसका लेखन-काल १२ वी शताब्दी लिखा है, इसलिए इसमें कोई सन्देह नही कि श्रीमद्भागवत की रचना इस रूप में भी वोपदेव से बहुत पहले हो चुकी थी। हमारा अनुमान है कि भागवत के रचनाकाल को नवी शताब्दी से आगे नही खीचा जा सकता। इसमें तो कोई सन्देह नही कि श्रीमद्भागवत नाम का पुराण प्राचीन काल से ही अस्तित्व मे रहा है परन्तु जिस रूप मे वह आज उपलब्ध है, वह अवश्य ही बाद का सस्करण है।

श्रीमद्भागवत में राधा का अभाव अनेक प्रकार के सन्देहो को जन्म देता है। राधा के विकास मे हम इस पर विशेष प्रकाश डालेंगे। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, राधा का समावेश 'भागवत-धर्म' में आभीरो के ससर्ग से हुआ जान पडता है, जो ईसा से बहुत पूर्व हो चुका था। इस युक्ति के आधार पर यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि श्रीमद्भागवत की रचना राधा के समावेश से पहले ही हो चुकी थी परन्तु श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण की बाल-लीलायें इस अनुमान में बाधा उपस्थित करती हैं। दाक्षिणात्य आचार्यो ने वृन्दावन को भक्ति के प्रचार का केन्द्र नवी शताब्दी के अनन्तर ही बनाया था। शकराचार्य जी ने श्रीमद्भागवत का उल्लेख अपने किसी भी ग्रन्थ में नही किया है किन्तु उनकी गुरु-परम्परा में श्री गौडपादाचार्य द्वारा साधारण रूप में भागवत का उल्लेख हुआ है। हम उस उल्लेख को किसी प्राचीन सस्करण वाले भागवत के अस्तित्व का साधक मान सकते हैं, वर्तमान भागवत के अस्तित्व का नही। क्योकि भागवत जैसे उच्च कोटि के ग्रन्थ के होते हुए यह सम्भव नही था कि उसका विशिष्ट रूप मे उल्लेख न हो। हो सकता है कि भागवत के प्राचीन सस्करण के पर्याप्त अश वर्तमान सस्करण मे ले लिये गये हो क्योकि कई प्राचीन ग्रन्थो में श्रीमद्भागत के श्लोक ज्यो के त्यो मिलते हैं। 'साख्य-कारिका' पर माठराचार्य की जो टीका है, उसका अनुवाद परमार्थ नामक बौद्ध पण्डित ने सन् ५५७ और ५५९ ई० के मध्य किया था, उसमें भागवत के पहले स्कन्ध के छठे अध्याय का पैंतीसवाँ श्लोक और आठवें अध्याय का ५२वाँ श्लोक ज्यों का त्यों दिया हुआ है।

श्रीमद्भागवत के वास्तविक रचयिता का पता लगाना दुस्तर कार्य है क्योंकि सारे भारतीय वाङ्मय में व्यास जी का एक ऐसा व्यापक नाम है कि किसी भी ग्रन्थ के रचयिता के रूप मे उनका नाम लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त परम्परा के अनुसार 'व्यास' नाम 'गद्दी' से चलता है। आज के कथावाचक भी व्यास कहलाते हैं। पौराणिक-गाथा के अनुसार प्रत्येक द्वापर युग के अन्त में भगवान् विष्णु व्यास रूप में अवतीर्ण होते हैं और

जन-साधारण के हितार्थ वेदो के चार भाग कर देते हैं। इस प्रकार प्रत्येक मन्वन्तर और प्रत्येक द्वापर में भिन्न-भिन्न व्यास होते हैं। वैवस्वत मन्वन्तर के २८ वें द्वापर मे महर्षि पाराशर के पुत्र कृष्णद्वैपायन ही व्यास हुए हैं।[1]

यदि श्रीमद्भागवत पुराण को हम नवीं शताब्दी की रचना मानें और उसको दक्षिण देश मे लिखा हुआ स्वीकार करें तो उस समय की धार्मिक परिस्थितियो के ठीक मेल में श्रीमद्भागवत का विषय उतरता है। श्री शकराचार्य जी का अद्वैत-मत प्राचीन भागवत-धर्म का पोषक था। भक्ति-पद्धति में जिन नवीन तत्त्वो का समावेश आलवार और अडियार भक्तो के सम्पर्क से बढ़ रहा था, उनको शकराचार्य जी ने अपने मत मे कोई स्थान नही दिया और न ही उन्होने भक्ति को सर्वोपरि माना। श्रीमद्भागवत पुराण में इसके विरोध में ही भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है। श्रीमद्भागवत पुराण में इस बात का उल्लेख है कि कलियुग मे नारायण के भक्त कही-कही होंगे, परन्तु द्रविड देश में, जहाँ कि ताम्रपर्णी, कृतमाला, कावेरी और महानदी नदियाँ बहती हैं, विशेष रूप से होगे। इन नदियो के जल का पान करने वालो के हृदय शुद्ध होगे।[2] इसमे पता चलता है कि भागवत-पुराण की रचना के समय तामिल देश में कृष्ण-भक्ति का पर्याप्त प्रचार हो चुका था। श्रीमद्भागवत में अवतारो का विषय भी अन्य पुराणो से भिन्न है। हरिवश पुराण में ६ अवतार, वायु-पुराण में दस अवतार, वाराह-पुराण में दस अवतार तथा अग्नि-पुराण में भी दस अवतार माने गये हैं। भागवत पुराण में तीन स्थलो पर अवतारो की सख्या गिनाई है—प्रथम स्कन्ध के तीसरे अध्याय में २२, द्वितीय स्कन्ध के सातवें अध्याय में २३ और ग्यारहवें स्कन्ध के चौथे अध्याय में १६। इस विषय में उल्लेखनीय बात यह है कि भागवतकार ने 'सनत्कुमार', 'नारद', 'कपिल', 'दत्तात्रेय' 'ऋषभ' और 'धन्वन्तरि' को भी अवतार माना है। इससे पता चलता है कि भागवतकार ने सभी सम्प्रदायो का सामञ्जस्य अपने भक्ति-सिद्धान्त में करने की चेष्टा की है। यह भक्ति-स्रोत, जिसका उद्गम श्रीमद्भागवत कहा जा सकता है, सूरदास जी के समय तक आते-आते विपुलप्रवाह में परिवर्तित हुआ। भागवत एक महापुराण है, जिसके आदि एव अन्त मे वैराग्योत्पादक आख्यान हैं। भगवान् की बाल-लीलाओ की कथाओ के अमृत से सन्त और देवताओ को आनन्द देने वाला है। समस्त वेदान्तो का सार ब्रह्म और आत्मा की एकता रूपी अद्वितीय वस्तु इसका प्रतिपाद्य है। कैवल्य मुक्ति ही इसके निर्माण का प्रयोजन है।[3] इस प्रकार भागवत श्रौत-अर्थ का प्रतिपादक एक पूर्ण ग्रन्थ है। इसे वेदरूप कल्पवृक्ष का सुस्वादु रस रूप फल बतलाया है। श्रुतियो के अनुसार श्रीमद्भागवत के तीन अर्थ किये गये हैं—यज्ञ, दैवत और अध्यात्म। यही कारण है कि वैष्णव-सम्प्रदायो के आचार्यो ने अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुकूल भागवत की टीकाएँ की हैं।

पुष्टि-सम्प्रदाय में भागवत की विशेष मान्यता है और उन्होने इसे चौथा प्रस्थान माना है। सूरदास जी इसी सम्प्रदाय में दीक्षित थे और वार्त्ता-साहित्य से यह पता भी चलता है कि वल्लभाचार्य जी ने 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' को सुनाकर सूरदास जी के हृदय में श्री भागवत की लीला का स्फुरण कराया था। "ता पाछे श्री आचार्य जी ने सूरदास कूँ पुरुषोत्तम सहस्रनाम सुनायौ, तब सगरे श्रीभागवत की लीला सूरदास के हृदय में स्फुरी, सो सूरदास

१ विष्णु पुराण ३-३

२ श्रीमद्भागवत ११ ५।३८-३९-४०

३ भागवत, स्कन्ध १२ अध्याय १३ श्लोक ११-१२

में प्रथम स्कन्ध श्रीभागवत सो द्वादस स्कन्ध पर्यन्त कीर्तन वर्णन किये। तामें अनेक दानलीला, मान-लीला आदि वर्णन किये हैं।"[1]

सूर-साहित्य के विषय का विवेचन हम पहले कर चुके हैं। अब हम सूरसागर के अन्त: साक्ष्य के आधार पर यह देखेंगे कि इसमें भागवत के अनुसरण वाली युक्ति कहाँ तक चरितार्थ होती है। सूरसागर की संग्रहात्मक प्रतियों में तो भागवत के अनुसरण का उल्लेख नहीं है, हाँ द्वादश स्कन्धात्मक प्रतियों में इस प्रकार की उक्तियाँ हैं। इसलिए अन्त साक्ष्य के लिए हम द्वादश स्कन्धात्मक प्रति का अनुसरण करेंगे। नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित सूरसागर ही द्वादश-स्कन्धात्मक की मान्य प्रति है। उसमें जहाँ-जहाँ श्रीमद्भागवत का उल्लेख हुआ है, वे स्थल इस प्रकार हैं—

श्री मुख चारि, श्लोक दए ब्रह्मा को समझाइ
ब्रह्मा नारद सो कहे, नारद व्यास सुनाइ।
व्यास कहे सुकदेव सों, द्वादस-स्कन्ध बनाइ
सूरदास सोई कहे पद-भाषा करि गाइ।[2]

× × ×

व्यास देव जब सुकहिं पढायो सुनि कै सुक सो हृदय बसायो।
सुक सों नृपति परीक्षित सुन्यो तिनि पुनि भली भाँति करि गुन्यो।
सूत सौनकादि सों पुनि कह्यो विदुर सो मैत्रेय पुनि लह्यो।
स्तुति भागवत सबन सुख पायो सूरदास सो बरन सुनायो॥[3]

× × ×

कहौं सुकथा सुनो चित धारि, सूर कहै भागवत विचारि।[4]

× × ×

कहौ सुकथा सुनो चित धारि सूर कह्यो भागवत अनुसारि।[5]

× × ×

'सूर' कहौ क्यों कहि सकै, जन्म-कर्म-अवतार।
कहे कछुक गुरु कृपा तें श्री भागवत अनुसार॥[6]
सुकदेव कह्यो जाहि परकार सूर कह्यो ताही अनुसार।[7]

× × ×

तिन हित जो जो दिये अवतार, कहौ सूर भागवत अनुसार।[8]

× × ×

तहँ कियो जज्ञ पुरुष अवतार सूर कह्यो भागवत अनुसार।[9]

× × ×

पारवती-विवाह व्यवहार सूर कह्यो भागवत अनुसार"[10]

× × ×

---

१ सूरदास की वार्ता अग्रवाल प्रेस मथुरा, प्रसंग १ पृष्ठ १०
२ सूरसागर १। २२५
३ वही १। २२७
४ वही १। २६०
५ वही १। २८५
६ वही २। ३७६
७ वही ३। ३८७
८ वही ३। ३९०
९ वही ४। ३९८
१० वही ४। ४०१

कह्यौ सो कथा सुनौ चित धारि सूर कह्यौ भागवतऽनुसार।[१]

× × ×

यों भयो ध्रुववर देनऽवतार सूर कह्यौ भागवतऽनुसार।[२]

× × ×

सुक ज्यों राजा कौ समझायौ सूरदास त्यौ ही कहि गायौ।[३]

× × ×

बरन्यौ रिषभ-देव अवतार सूर कह्यौ भागवतऽनुसार।[४]

× × ×

ज्यो सुक नृप कौं कहि समुझायौ, 'सूरदास' त्यौं ही कहि गायौ।[५]

× × ×

सुकदेव ज्यो दियौ नृपहि सुनाइ, सूरदास कह्यौ ताही गाइ।[६]

× × ×

ज्यों सुक नृप सो, कहि समुझायौ, सूरदास त्यो ही कहि गायौ।[७]

× × ×

सुक ज्यो नृप कौं कहि समझायो, सूरदास-जन त्यो ही गायौ।[८]

× × ×

सुक नृपति पाहि जिहिं बिधि सुनाई, सूरजन हू तिहि भाँति गाई।[९]

× × ×

सुक जैसे नृप को समुझायौ, सूरदास त्यो ही कहि गायौ।[१०]

× × ×

जैसे सुक नृप कौं समुझायो, सूरदास त्यों ही कहि गायौ।[११]

× × ×

सुक जैसे वेद अस्तुति गायो, तैसे ही मैं कहि समुझायौ।[१२]

× × ×

पुनि भयो नारायण अवतार, सूर कह्यौ भागवतऽनुसार।[१३]

× × ×

या विधि भयो बुद्ध अवतार, सूर कह्यौ भागवतऽनुसार।[१४]

× × ×

सुक नृप सो कह्यौ जा परकार, सूर कह्यौ ताही अनुसार। [१५]

× × ×

सूत शौनकनि कहि समुझायौ, 'सूरदास' त्यो ही कहि गायौ।[१६]

---

१ सूरसागर ४-४०२
२ वही ४-४०३
३ वही ५-४०६
४ वही ५-४०६
५ वही ५-४१०
६ वही ५ ४११
७ वही ६-४१३, ४१८, ४१६
८ वही ७-४२६
९ वही ८-४३८
१० सूरसागर ६-४४६, ४४७, ४५२, ४५३, ४५६ ६१७, ६१८
११ वही स्कन्ध १० पूर्वार्द्ध, पद ६२०
१२ ,, ,, १० उत्तरार्द्ध पृष्ठ ५६४ पद १३८
१३ ,, ,, ११ पृष्ठ ५६८, पद ५
१४ ,, ,, १२ पृष्ठ ५६६ पद २
१५ ,, ,, १२ पृष्ठ ६०० पद ३
१६ ,, ,, १२ पृष्ठ ६०० पद ५

इस प्रसग में निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—

१—प्रत्येक स्कन्ध में एकाधिक बार भागवत के अनुसार कथा-वर्णन करने की बात को दुहराया गया है। यह आवृत्ति प्रथम, चतुर्थ तथा नवम स्कन्धो मे सबसे अधिक हुई है। दशम स्कन्ध मे तो यह आवृत्ति सात बार हुई है परन्तु दशम-स्कन्ध-पूर्वार्द्ध में यह प्रतिज्ञा केवल एक आध बार ही दुहराई गई है।

२—इस आवृत्ति मे कहीं अनुवाद की बात नहीं कही गई है। केवल भागवत-अनुसार को बार-बार कहा गया है।

३—भागवत के अनुसरण की प्रतिज्ञा कर बनाये हुए ये पद स्कन्ध-परक नहीं है अपितु कथा-परक हैं अर्थात् किसी कथा-विशेष का वर्णन करता हुआ कवि उसके आधार का परिचय-मात्र देता है।

इसलिये अन्तः और वाह्य साक्ष्य के बल पर यह तो हमे मानना ही पड़ेगा कि सूरदास जी ने अवश्य अपने पदों की रचना मे श्रीमद्भागवत का आधार बनाया होगा किन्तु यह मान्यता कि उन्होंने भागवत का अनुवाद किया था, पर्याप्त प्रामाणिक सामग्री के अभाव मे विवाद-ग्रस्त ही है। आकार-विस्तार एव विषय की दृष्टि से यदि हम इन दोनो ग्रयो की तुलना करते हैं तो अनुवाद वाली बात असगत ही प्रतीत होती है। दोनो ग्रन्थो का आकार-विस्तार इस प्रकार है—

भागवत			सूर-सागर	
स्कंध	अध्याय	श्लोक स०	स्कंध	पद-सख्या
१	१९	१६६२	१	३४३ (विनय के पदो स०)
२	१०	३९२	२	३८
३	३३	१५०२	३	१३
४	३१	१४०७	४	१३
५	२६	६६६	५	४
६	१९	८५१	६	८
७	१५	७५०	७	८
८	२४	९३१	८	१७
९	२४	९६३	९	१७४
१० पूर्वार्द्ध	४९	१९३५	१० पूर्वार्द्ध	४१६०
१० उत्तरार्द्ध	४१	१५१६	१० उत्तरार्द्ध	१४९
११	३१	१३७४	११	४
१२	१३	५६६	१२	५
१२	३३५	१४६१५	१२	४९३६

इस तालिका से विदित होता है कि सूरसागर के अन्य सारे स्कन्ध मिलकर दशम-स्कन्ध पूर्वार्द्ध की पद-सख्या के लगभग आठवें अश के बराबर हैं और यदि पद-सख्या को दृष्टि

में न रखकर पृष्ठ-सख्या के अनुसार विचार किया जाय तो पाँचवें भाग के बराबर ठहरते हैं, कारण यह है कि अन्य स्कन्धो मे लम्बे पदो की सख्या छोटे पदो की सख्या से अधिक है। यदि विनय के पदो को निकाल दिया जाय तो नवम स्कन्ध के पदो की सख्या सबसे अधिक बैठती है। श्रीमद्भागवत में भी दशम-स्कन्ध पूर्वार्द्ध अन्य स्कन्धो की अपेक्षा आकार में बडा है और सब स्कन्धो का यह छठा भाग है, परन्तु भागवत के स्कन्धो की श्लोक-सख्या का अनुपात इतना विषम नही है, जितना सूरसागर के पदो का है। श्रीमद्भागवत के अन्य स्कन्धो की श्लोक-सख्या तथा सूरसागर के स्कन्धो की पद-सख्या देखते हुए यह बात कि सूरसागर भागवत का अनुवाद है या उसमें भागवत के अनुसार सब विषयो का वर्णन है, बडी असङ्गत सी लगती है। हाँ, केवल दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध के विषय में यदि यह बात कही जाय तो आकार-विस्तार को देखकर यह विचारणीय हो सकती है। यह तो हुई आकार-विस्तार की बात, अब हम विषय की दृष्टि से दोनो ग्रन्थो पर विचार करेंगे। दोनो ग्रन्थो की सूची से यद्यपि कुछ आभास हो जाता है परन्तु हमें तो यह देखना है कि कौन सी घटनाएँ तथा विषय दोनो ग्रन्थो में एक है तथा उनमे कौन-कौन विषय हैं। दोनो ग्रन्थो की सूची का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि श्रीमद्भागवत में विषय क्रम से रखे हैं तथा सूरसागर मे उनका कोई क्रम नहीं है। उनमे बराबर क्रम-परिवर्तन तथा हेर-फेर होता रहा है।

प्रथम स्कन्ध

नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित सूरसागर मे विनय के पद प्रथम-स्कन्ध में ही लिये हैं, किन्तु भागवत से तुलना करते हुए हमें उन्हे पृथक् करना पडेगा और इस प्रकार इस स्कन्ध के पदो की सख्या १२० रह जावेगी। इस स्कन्ध मे भागवत के सब प्रसङ्गो का समावेश नही हुआ है तथा कुछ प्रसङ्ग ऐसे भी आगये हैं, जो भागवत में नही मिलते, जैसे शुकदेव-जन्म की कथा, विदुर और द्रौपदी की कथाएँ खट्वाङ्ग राजा का प्रसङ्ग भी श्रीमद्भागवत में इस स्कन्ध में नही है। इसी प्रकार श्रीमद्भागवत के बहुत से प्रसङ्ग तथा कथाएँ इस स्कन्ध में नही हैं। अवतारो की गणना भागवत धर्म का विस्तार आदि भागवत के विषय भी छोड दिये गये हैं। बीच-बीच मे सूर के जो भक्ति-विषयक पद हैं, वे तो कवि की अनुभूति के विषय हैं। कवि ऐसे स्थलो पर अन्तर्मुखी हो जाता है तथा भागवत आदि कोई विषय कवि की दृष्टि में नहीं रहता। इस स्कन्ध को हम भागवत के स्कन्ध पर आधारित मान सकते हैं परन्तु अनेक स्थलो को या तो कवि छोडता चला है अथवा वे पद अब अप्राप्य हैं।

द्वितीय स्कन्ध

सूरसागर के इस स्कन्ध में केवल ३८ पद हैं, जिनमें अधिकतर भक्ति-माहात्म्य, नाम-महिमा, हरि-विमुख-निन्दा, भक्ति-साधना आदि विषय हैं। इस स्कन्ध का प्रारम्भ तो भागवत के अनुसार ही किया गया है, परन्तु इसके पश्चात् केवल मुख्य-मुख्य प्रसगो का ही उल्लेखमात्र कवि ने किया है, जैसे, भगवान् के विराट् स्वरूप का वर्णन केवल एक पद मे हुआ है।

तृतीय स्कन्ध

सूरसागर में यह स्कध भी बहुत संक्षिप्त है, इसमें केवल १३ पद हैं। भागवत के बहुत से प्रसङ्ग, जैसे कृष्ण की व्रज और द्वारका से सम्बन्धित कथाएँ सूरसागर मे नही हैं। भागवत का यह स्कध उद्धव और विदुर की भेंट से प्रारम्भ होता है, परन्तु सूरसागर में उद्धव के पश्चात्ताप से इसका प्रारम्भ किया गया है। सूरसागर में दी हुई विदुर-जन्म की कथा

श्रीमद्भागवत में नही है। भागवत के बहुत से प्रसङ्ग सूरसागर में छोड दिये गये हैं। सृष्टि की कथा बहुत ही सक्षेप में दी गई है और इसी प्रकार हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष की कथाएँ भी बहुत सक्षिप्त हैं। हिरण्याक्ष द्वारा पृथ्वी को जल में छुपाने का प्रसङ्ग भागवत में नही है। श्रीमद्भागवत के और भी बहुत से महत्त्वपूर्ण प्रसङ्ग सूरसागर में छूट गये हैं, जैसे 'देवहूति और कपिल-प्रसङ्ग', जिसमें भक्ति-योग की महिमा का वर्णन, महदादि विभिन्न तत्त्वो की उत्पत्ति, प्रकृति-पुरुप-विवेक, अष्टाङ्ग-योग-विधि, भक्ति का मर्म, जीव की गति आदि बहुत से विपय आ गये हैं। सूर ने इस स्कध में चतुर्विध-भक्ति का वर्णन, हरि-विमुख-निंदा और भक्ति-महिमा से स्कध की समाप्ति की है।

चतुर्थ स्कन्ध

इस स्कन्ध मे केवल १३ पद हैं। श्रीमद्भागवत में यह स्कन्ध बडा महत्त्वपूर्ण है, क्योकि इसमें बडी लम्बी-लम्बी वशावली, लम्बे-लम्बे स्तोत्र, लाक्षणिक और आध्यात्मिक सकेतो के साथ कथाओ के विवरण, तथा तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियाँ, ब्राह्मणो की दीन अवस्था, शैवो का पतन आदि के चित्र दिये हुए हैं। सूरसागर में इन विपयो का स्पर्श भी नहीं किया गया है। यज्ञ-पुरुप के अवतार के प्रसङ्ग में शिव-पार्वती का प्रसग सूरसागर में स्वतन्त्र रूप से वर्णित है। 'पुरञ्जन' की कथा 'सूरसागर' में बहुत ही सक्षिप्त है। उसके अन्तर्गत जो इन्द्रिय-निग्रह-विपयक रूपक है, वह भी स्पष्ट नही है।

पचम स्कन्ध

चतुर्थ स्कन्ध की भाँति भागवत का पञ्चम स्कन्ध भी अनेक ऐतिहासिक कथाओ, सामाजिक सकेतो, धार्मिक उपदेशो तथा नाना-द्वीपो और लोको के वर्णनो से परिपूर्ण है, जो सूरसागर मे छोड दिये गये हैं। सूरसागर मे तो केवल ऋपभदेव और जडभरत की दो कथाएँ हैं और वे भी वर्णनात्मक शैली में हैं। भागवत का यह स्कन्ध भौगोलिक और ऐतिहासिक दोनो ही दृष्टियो से बडा महत्त्वपूर्ण है। इसके वर्णन अत्यन्त रोचक, भाव-पूर्ण एव कवित्वमय हैं।

षष्ठ स्कन्ध

अन्य स्कन्धो की भाँति सूरसागर के इस स्कन्ध में भी भागवत की कथाओ के विवरण, स्तोत्र, देवताओ की वंशावली तथा ऐतिहासिक विवरण छोड दिये गये हैं। इस स्कन्ध में दो पदो में गुरु के प्रति भक्ति-भाव दिखाया गया है। अजामिल उद्धार से प्रारम्भ करके सूरसागर में सुरगुरु बृहस्पति, विश्वरूप और वृत्रासुर की कथाएँ सक्षेप में दी हैं।

सप्तम स्कन्ध

सूरसागर के इस स्कन्ध में सक्षेप मे केवल तीन कथाएँ दी गई हैं—नृसिंह-अवतार, त्रिपुर-वध तथा नारद उत्पत्ति। ये तीनो कथाएँ बहुत सक्षिप्त और एक-दूसरी से स्वतन्त्र हैं। भागवत मे ये कथाएँ दृष्टान्त रूप से आई हैं; तभी वहाँ कथाओं के विवरण के साथ-साथ भक्ति की व्यापकता, भागवत-धर्म की महत्ता, शिव की अपेक्षा विष्णु-महिमा का वैशिष्ट्य तथा मानव-धर्म, वर्ण-धर्म, स्त्री-धर्म आदि का विस्तृत विवेचन है। सूरसागर के इस स्कन्ध में राम-नाम की महिमा विशेप रूप से गाई गई है।

अष्टम स्कन्ध

सूरसागर के इस स्कन्ध में कथाएँ संक्षिप्त तो हैं ही, उनमें कुछ हेर-फेर भी हैं, जैसे सुन्द-उपसुन्द की कथा का निर्देश श्रीमद्भागवत के इस स्कन्ध में नही है। मत्स्य अवतार का कारण भी भागवत से भिन्न कल्पित किया गया है, राजा सत्यव्रत का नाम न देकर उसे केवल नृपति शब्द से निर्दिष्ट किया है। हयग्रीव के स्थान पर शखासुर नाम आया है। वामन-अवतार की कथा अत्यन्त सक्षिप्त है तथा अनेक ऐतिहासिक विवरण, तत्त्व-चिन्तन, धर्मोपदेश आदि सूरसागर में छोड दिये गये हैं।

नवम-स्कन्ध

इस स्कन्ध में १२२४ पद हैं। इसमें भी श्रीमद्भागवत के बहुत से प्रसङ्ग छोड दिये गये हैं। सूरसागर की पहली पाँच कथाएँ भागवत के आधार पर ही सक्षेप से दी गई हैं। ये पाँच कथाएँ ये हैं—(१) पुरुरवा की कथा, (२) च्यवन ऋषि की कथा, (३) हलधर विवाह की कथा, (४) अम्बरीप की कथा, और (५) सौभरि ऋषि की कथा। भागवत में वर्णित हरिश्चन्द्र की कथा सूरसागर में नहीं है। गङ्गा-आगमन और परशुराम-अवतार की कथाओ के पश्चात् सूरसागर में राम-कथा का वर्णन है, जो भागवत की राम-कथा की अपेक्षा अधिक भावपूर्ण और विस्तृत है। अन्य कथाओ की भाँति यह कथा वर्णनात्मक नही है, अपितु भावात्मक शैली में वर्णित है। मगलाचरण के अतिरिक्त समस्त पद गेय हैं। कथा का क्रम व्यवस्थित तो नही है फिर भी मार्मिक स्थल सभी आ गये हैं, जिनसे कवि की अनुभूति का परिचय मिलता है। अपनी दिव्य-प्रतिभा के बल पर कवि ने सारी कथा को एक गीति-काव्य का रूप दे दिया है। कवित्त्व की दृष्टि से यह स्थल बहुत ही उच्च कोटि का है। कच और देवयानी की कथा भी सूरसागर मे कुछ भेद के साथ दी गई है और भागवत की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र एव विस्तृत रूप में कही गई है। अन्य स्कन्धो की भाँति इस स्कन्ध में भी भागवत के सामाजिक, ऐतिहासिक और आध्यात्मिक पक्ष को छोड दिया है।

नवम स्कन्ध के पश्चात् हम सूरसागर के एकादश एव द्वादश स्कन्ध पर विचार करेंगे, क्योकि ये दोनो स्कन्ध भी अत्यन्त सक्षिप्त हैं और तुलनात्मक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण भी नही हैं। केवल दशम स्कन्ध ऐसा है, जिसका विशेष विवरण अपेक्षित है। उसे हम अन्त में लेंगे।

एकादश स्कन्ध

सूरसागर के इस स्कन्ध में केवल चार पद हैं। भक्ति-भाव का प्रदर्शन करने के पश्चात् 'नारायण' और 'हस' अवतारो का 'वर्णन अस्पष्टता और शैथिल्य के साथ हुआ है। अन्त में आध्यात्मिक विचार प्रकट किये गये हैं। श्रीमद्भागवत का यह स्कन्ध बडा ही महत्वपूर्ण है, क्योकि इसमें कर्म-ज्ञान और भक्ति का विस्तृत विवेचन करके भक्ति का महत्व प्रदर्शित किया गया है तथा योग और सांख्य की व्याख्या की गई है। इसमें वर्णाश्रम धर्म का भी निरूपण हुआ है। दार्शनिक दृष्टिकोण से भागवत का एकादश स्कन्ध उच्च कोटि का है।

द्वादश स्कन्ध

सूरसागर का यह स्कन्ध भी अत्यन्त सक्षिप्त है, इसमे केवल पाँच पद हैं। बहुत ही सक्षेप से बुद्धावतार, कल्कि-अवतार, राजा परीक्षित की हरि पद-प्राप्ति तथा जनमेजय के

यज्ञ का उल्लेख है। श्रीमद्भागवत का भी यह स्कन्ध छोटा है, परन्तु सूरसागर का स्कन्ध तो उसकी छायामात्र भी नहीं कहा जा सकता। ऐतिहासिक तथा धार्मिक कथाओं के अतिरिक्त इसमें सम्पूर्ण भागवत की एक रूपक की भाँति व्याख्या की है।

दशम स्कन्ध (पूर्वार्द्ध)

सूरदास जी का उद्देश्य कृष्ण की लीलाओं का ही गान करना था, यह बात हमें उनकी रचनाओं से भी झलकती है। वार्त्ता-साहित्य के अनुसार श्रीवल्लभाचार्य जी का भी यही आदेश था। हम पीछे नित्य कीर्तन और वर्षोत्सव का क्रम दे आये हैं, जो भगवान् कृष्ण की जीवन चर्या से सम्बद्ध है और जिसमे उनकी अनेक लीलाओं का समावेश है। वल्लभ-सम्प्रदाय में भगवान् का स्वरूप सयोग-वियोगात्मक शृङ्गार रसरूप माना है और वही ब्रह्म श्रीनन्द-यशोदोत्सगलालित रूप में महा-अलौकिक रमण-स्थली श्री व्रजभूमि में नाना प्रकार की अद्भुत लीलाएँ करने के लिये अवतीर्ण हुआ। उनकी लीलाओं का गान ही भक्त का चरम उद्देश्य है। श्रीमद्भागवत का दशम स्कन्ध ही इस प्रकार की लीलाओं का प्रधान-स्थल है; अतएव पुष्टि-मार्ग मे दशम स्कन्ध का बहुत महत्व है। श्री वल्लभाचार्य जी ने अपनी सुबोधिनी मे दशम स्कन्ध की व्याख्या मे विशेष रुचि दिखाई है। बहुत सम्भव है कि श्रीवल्लभाचार्य जी ने दशम स्कन्ध की लीलाओं का गान करने के लिये ही सूर को आदेश दिया हो। सूर ने भागवत की समाधि-भाषा का आश्रय लेकर भगवान् की लीलाओं का विस्तार किया है। उन्होंने सम्भवतः भागवत के ऐतिहासिक वर्णन, वंशानुक्रम; धार्मिक तथा आध्यात्मिक विषयो को अनावश्यक समझा। भागवत तो एक महापुराण है, जिसमें महापुराण के सभी लक्षण वर्तमान हैं परन्तु सूर ने भगवान् के लीला-परक लोकरञ्जक रूप को ही लिया है और भक्ति को दृढ़ करने के लिये उसमें अलौकिकत्व का समावेश किया है। इसका विस्तृत विवेचन हम आगे करेंगे। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि परिभू, स्वयम्भू रूप महाकवि सूरदास जी का हृदय विभिन्न अनुभूतियो का विशद क्षेत्र था, जो संस्कार के आवरण से कुछ धूमिल था। श्री वल्लभाचार्य जी के सम्पर्क से वह आवरण उच्छिन्न हो गया और वे सारी अनुभूतियाँ प्रकाश में आ गई।

कर्मयोग पुनि ज्ञान-उपासन सब ही भ्रम भरमायो।
श्री वल्लभ-गुरु तत्त्व सुनायो लीला भेद बतायो।
ता दिन ते हरि-लीला गाई एक लक्ष पद-बन्द।
ताको सार सूर-सारावलि गावत अति आनन्द ॥

—सूरसागर, वेंकटेश्वर प्रेस।

भारतीय कथाओं के सूक्ष्म सूत्रों से रससिद्ध कवि सूर ने न जाने कितने नयनाभिराम स्वरूपो का विस्तार किया है? सूरसागर की सूची में हमने उन स्वरूपो और विषयो की ओर सकेत किया है। भगवान् के जन्मोत्सव, हर्षोद्रेक आदि का गीति-शैली मे जैसा भाव-पूर्ण विशद और अनुभूतिमय वर्णन सूर ने किया है और जो नवीन उद्भावनाएँ की हैं, उनमे उनकी प्रतिभा की मौलिकता और दिल की ताजगी सर्वत्र देखी जा सकती है। भागवत मे इन प्रसङ्गो की ओर सकेत भी नहीं किया गया है। श्रीमद्भागवत की भाँति सूरसागर मे भी कृष्ण-चरित के दो स्वरूप मिलते हैं। एक तो उनके व्रज के क्रीडामय जीवन से सम्बद्ध और दूसरा उनकी अलौकिक लीलाओं से; जिसके अन्तर्गत कस द्वारा प्रेषित असुरो का सहार

तथा अन्य अलौकिक कर्म करते हैं। सूर के काव्य मे यह वैशेष्य हैं कि उन्होने कृष्ण की अलौकिक क्रीडाओ की पृष्ठ-भूमि समुचित कारणो पर आधारित रखी है। उदाहरणार्थ कृष्ण के गोकुल मे पोषित होने की आशका से कस को इतना त्रस्त चित्रित किया है कि उसे कर्त्तव्य-विवेक ही नही रहता। पूतना-वध के पश्चात् श्रीधर-अग-भग की घटना श्रीमद्भागवत मे नही है। तृणावर्त्त, शकटासुर और कागासुर की कथाएँ भागवत में सक्षिप्त हैं; परन्तु सूर ने गेय-शैली में इनका वर्णन किया है। कृष्ण के सस्कारो का वर्णन भी सूर ने अपने ढंग से किया है। श्रीमद्‌भागवत में साधारण रूप से उनका विवेचन हुआ है, कही-कही अलौकिक रूप भी दे दिया गया है—परन्तु सूर के वातावरण मे महान् अन्तर है। उन्होंने इन सस्कारो के विशेष वातावरण ही उत्पन्न नही किये, बल्कि अनेक स्वतन्त्र कल्पनाएँ भी का हैं, जैसे—अन्न-प्राशन, वर्ष-गाँठ कर्ण-छेदन आदि प्रसग सूर की मौलिक कल्पना के प्रतीक हैं। हो सकता है यह विस्तार साम्प्रदायिक तथा सामयिक प्रभावो का फल हो। सूर की बाल-लीला का तो ससार के साहित्य में कोई जोड है ही नही। मौलिकता और विस्तार दोनो की दृष्टि से सूर की बाल-लीला अपने समान आप ही है। महराने पांडे की घटना को सूर ने मौलिक रूप दिया है, परन्तु कुछ कथाएँ सूरसागर में बडे ही सक्षिप्त रूप में हैं, जैसे—वत्सासुर, अघासुर और बकासुर की कथाएँ। यमलार्जुन-उद्धार की कथा भी सूरसागर में बडे गौण रूप से दी है। वास्तव में तथ्य तो यह है कि सूरसागर में भगवान् की लीलाओ का क्रम नित्य-कीर्त्तन वाला क्रम है और उस क्रम की सगति में ये अलौकिक घटनाएँ इतनी नही आती, जितनी भगवान् की बाल-चरित लीलाएँ। कृष्ण के सोने, जागने, खाने, रूठने, गायें चराने आदि के अनेक भावात्मक विवरण सूरसागर के मौलिक चित्रण हैं। एक बात यह भी है कि सूर का उद्देश्य श्रीमद्‌भागवत की भाँति अलौकिकता तथा भक्ति से पुष्ट आध्यात्मिकता का प्रदर्शन नही है, उनकी भक्ति में तो सख्य-भाव और वात्सल्य-भाव की प्रधानता है। गोपालकृष्ण के गोपरूप का चित्रण तथा सखाओ के स्वाभाविक, निर्मल प्रेम का अभिव्यञ्जन ही सूर का प्रमुख विषय था, उदाहरणार्थ—बाल-वत्स-हरण की लीला भागवत में ब्रह्मा के मोहनाश के लिये दी गई है, परन्तु सूर ने सखाओ के पारस्परिक स्नेह-सवर्धन के लिये ही इस कथा को विशेष रूप से रखा है और तीन बार इसकी आवृत्ति की है। इसमें घटना-वैचित्र्य, नाटकीयता, स्वाभाविकता और सखाओ के सरस-स्नेह की भाव-सवलित व्यजना कवि की प्रतिभा की उपज है।

सूर ने राधा के प्रथम मिलने का जो चित्रण किया है वह तो सर्वथा भागवत-निरपेक्ष, मौलिक है। इस प्रसग से सम्बद्ध अनेक मौलिक उद्भावनाएँ सूर ने की हैं, जो एक ओर तो राधा और कृष्ण के प्रेम को स्वाभाविक विकास का अभिव्यञ्जन करती हैं और दूसरी ओर नन्द-यशोदा और वृषभानु एव उसकी पत्नी के वात्सल्य का चित्रण करती हैं। इसके पश्चात् गोचारण का प्रसग है, जिसमें सूरदास का मन बहुत रमा है। इस स्थल पर सहृदय सूर ने मानवीय तथा बाह्य प्रकृति का इतना सुन्दर समन्वय किया है कि आश्चर्य होता है। पशु-प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण और उनकी चेष्टाओ का यथार्थ वर्णन कर सूर ने अनेक मौलिक चित्र सूरसागर में प्रस्तुत किये हैं। धेनुक-वध, कालिय-मर्दन आदि का वर्णन सूर ने भागवत के आधार पर ही सक्षेप में किया है, परन्तु वृन्दावन-प्रवेश का वर्णन बडा ही सजीव है। सूरसागर का अध्ययन करते समय हमे इस बात को नही भूलना चाहिये कि कृष्ण की नैत्यिक दिन-चर्या का वर्णन ही कवि का प्रमुख उद्देश्य है, यही कारण है कि तत्सम्बन्धी

पदो की इस स्कन्ध में वार-वार आवृत्ति होती है। 'गोपाल' नाम की सार्थकता के उद्देश्य से कवि को गोचारण का विषय भी अत्यधिक प्रिय रहा है। यही कारण है कि भागवतीय लीलाओ के चित्रण में कवि वीच-वीच मे गोचारण-चित्र की स्पष्ट रेखाएं सूरसागर में उभारता हुआ चलता है और उनमे अपनी कल्पना का ऐसा रग भरता है कि चित्र लगते हैं—मानो अब वोले। इस प्रकार भागवतीय लीला-चित्रो मे यत्र-तत्र पर्याप्त व्यवधान सूरसागर मे परिलक्षित होता है। श्रीमद्भागवत मे कालिय-दमन का प्रसग कालिय-दह-जलपान से सम्बद्ध है, पर सूरसागर में इन दोनो प्रसगो में यथेष्ट व्यवधान है। सूर ने प्राय. ऐसी घटनाओ को लेकर उन्हें एक स्वतन्त्र खण्ड-काव्य का रूप दे दिया है और ऐसे कथानको का सूर ने इसी रूप से वर्णन किया भी है। तदनन्तर दावानल-पान एवं प्रलम्ब-वध-वर्णन भागवतानुसार ही है. केवल थोडा-सा अन्तर है। हम पहले कह चुके हैं, सूर की रुचि इन वर्णनो की अपेक्षा, गोचारण की विविध क्रीडाओ, कृष्ण के मनोहर सौन्दर्य, उनकी चेष्टाओ और क्रिया-कलाप आदि के सजीव चित्र प्रस्तुत करने में पर्याप्त रूप से रमी है। भागवतकार ने लीलाओ में कृष्ण के देवत्वविशिष्ट रूप पर अधिक वल दिया है, पर सूर ने नरत्व में ही देवत्व की प्रतिष्ठा की है। गोचारण और कृष्ण की दैनिक-चर्या से मुरली का नित्य सम्बन्ध है, अतएव मुरली-स्तवन सूर का प्रमुख विषय है। यद्यपि श्रीमद्भागवत के 'वेणुगीत' का भी वडा भारी महत्व है, परन्तु उसका महत्व आध्यात्मिक होने के कारण जन-साधारण का विषय नही है। सूर की रागिनी में जव हम कृष्ण की चर-अचर-सम्मोहिनी मुरली की तान सुनते हैं, तो निर्वेद और हर्ष का, स्वर्ग और धरा का, श्रेय और प्रेय का ऐसा समन्वय देखते हैं कि आत्म-विस्मृत हो जाते हैं। ऐसी न जाने कितनी रागिनियाँ सूर ने गाई हैं न जाने कितने पदो की रचना की है? मुरली-वादन का प्रभाव और उसकी मनोहारिता सूर की अपनी मौलिकता है, जिसमें उनकी कवित्व शक्ति और भक्ति-भावना का भी अच्छा प्रस्फुटन हुआ है। दूसरी वार राधा-कृष्ण-मिलन का वर्णन है, जिसमें पूर्व-परिचय और साहचर्य के कारण प्रेम की प्रगाढता ही नही, अनन्यता भी स्पष्ट रूप से भासित होती है। प्रेम के घात-प्रतिघातो का इसमें मनोवैज्ञानिक वर्णन है। भागवत जैसे दार्शनिक ग्रन्थो में इतनी सरलता भला कहाँ सम्भव है? इसके पश्चात् चीर-हरण की प्रसिद्ध लीला है। यद्यपि इस लीला का सूत्र श्रीमद्भागवत ही है, तथापि दोनो में महान् अन्तर है। भागवतकार ने इस लीला का वर्णन करते हुए वर्षा और शरद् का सुन्दर वर्णन किया है और प्रकृति के अनेक सुरम्य चित्र उपस्थित किये हैं, परन्तु सूर ने इस लीला का उद्देश्य प्रेम का मनोवैज्ञानिक विकास रखा है। आत्माभिव्यजक तथा अनुभूत्यात्मक होने के कारण इस लीला में कई विवरणात्मक भेद भी आ गये हैं। श्रीमद्भागवत में नग्न-स्नान के औचित्य-अनौचित्य की विवेचना के साथ सयम और मर्यादा से वर्णन किया गया है, किन्तु व्यक्तिगत-साधना-रत सूर औचित्य-अनौचित्य आदि के प्रश्न से दूर थे। भागवत की गोपियाँ भद्रकाली, कात्यायनी देवी का पूजन एक मास तक करती हैं और सूर की गोपियाँ व्रजवल्लभ, श्यामसुन्दर पति की कामना से नित्य-नियम से यमुना स्नान और रवि एव शिव की एक वर्ष तक उपासना करती हैं। यही कारण है कि यमुना स्नान के समय कृष्ण जल के भीतर प्रकट होकर नग्न गोपियो की कटि मीजते और उन्हें सुख देते हैं। इस प्रकार सूर ने भक्ति-साधना-समन्वित गोपियो की साधना-पूर्ति कर भगवान् कृष्ण के सान्निध्य का लाभ कराया है, जिसके होने पर कुलकानि, मर्यादा, लाज और सकोच आदि व्यवधान उत्पन्न कर ही नही सकते। वकटेश्वर प्रेस, वम्बई की प्रति में

इसके पश्चात् पनघट-लीला है, जो नागरी-प्रचारिणी-सभा वाली प्रति में रासलीला के पश्चात् आती है। यह लीला श्रीमद्भागवत से स्वतन्त्र है। प्रेम के विकास में इसका वडा महत्त्व है और उस विकास-क्रम मे इसे हम तीसरी कोटि में समझते हैं। इसमें राधा का भी उल्लेख है, जो गोपियो में प्रमुख दिखाई गई है। वह खुल्लम-खुल्ला छेड-छाड की लीला है और अब गोपियाँ कृष्ण से खुलकर प्रेम करने का निश्चय करती हैं। माधुर्य भाव की पुष्टि इसी लीला से विशेष रूप से होती है। इससे आगे जो यज्ञ-पत्नी-लीला है, वह भी भागवत के आधार पर ही है, परन्तु सूर का दृष्टिकोण व्यास के दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न था। इस लीला के द्वारा भी भक्त ने उस मधुरा भक्ति का पोषण किया है, जहाँ कुल-मर्यादा तथा लौकिक धर्मों की अवहेलना स्वतः ही हो जाती है। सूर की गोवर्द्धन लीला भी एक स्वतन्त्र खण्ड-काव्य कही जा सकती है। श्रीमद्भागवत की गोवर्द्धन-लीला तथा सूर की लीला में कई मौलिक अन्तर हैं—जैसे, १—श्रीमद्भागवत की लीला का वातावरण धार्मिक तथा दार्शनिक है। यहाँ कृष्ण के द्वारा कर्म-मार्ग का विस्तृत उपदेश दिलाया गया है, परन्तु सूर ने जो वातावरण उपस्थित किया है, वह अत्यन्त सरल, स्वाभाविक तथा मनोहर है और उसमें दार्शनिकता की गध भी नही है। २—श्रीमद्भागवत के कृष्ण दार्शनिक तर्कों के आधार पर व्रजवासियो को इन्द्र-पूजा से विरत करते हैं, परन्तु सूर के कृष्ण ऐसा नही करते। वे तो सीधे-साधे अहीरो को अपने सपने का हाल सुनाते हैं, जिसमें किसी चतुर्भुज अवतारी पुरुष ने उन्हें गोवर्द्धन की पूजा के लिए कहा था। ३—श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व और योगेश्वरत्व पर विशेष वल दिया है, परन्तु सूर ने कृष्ण का मानव रूप ही चित्रित किया है। ४—गोवर्द्धन-पूजा का आकार-प्रकार श्रीमद्भागवत से भिन्न है। इसका कारण तत्कालीन प्रचलित प्रथाएँ भी हो सकती हैं। ५—सूरसागर का इन्द्रकोप वडा भावात्मक और चित्रात्मक है, उसमें जल-वर्षण के सुन्दर चित्र उपस्थित किये गये हैं, किन्तु भागवत में साधारण वर्णनात्मक ढग से इस विषय का वर्णन किया गया है। ६—इन सवसे मौलिक तथा भागवत निरपेक्ष वात जो हमें 'सूरसागर' में मिलती है, वह है ललिता, चन्द्रावली राधा तथा वृषभानु की सेविका 'वदरौला' का उल्लेख। राधा और कृष्ण की तो रस केलि का भी सकेत किया गया है। गोवर्द्धन-धारण का भी वडा सुन्दर वर्णन सूर ने किया है। यद्यपि यह वर्णन वर्णनात्मक ही है, तथापि वीच-वीच में गेय पदो का समावेश भी हुआ है। इसी प्रसंग में अत्रि-स्तुति तथा कृष्णाभिषेक भी हैं।

नन्द-हरण का प्रसग यद्यपि भागवत के ही आधार पर है, तथापि उसमें कुछ परिवर्तन भी लक्षित होता है, जैसे—इस प्रसग में सूर ने गङ्गा के द्वारा नन्द को कृष्ण के ब्रह्मत्व की सूचना दिलाई है। श्रीमद्भागवत में यह वात गोवर्द्धन-लीला में ही आ गई है। दूसरे, भागवत में श्रीकृष्ण ने व्रजवासियो को अपने सगुण और निर्गुण रूप को दिखाया है, परन्तु सूरसागर में इसका उल्लेख नही है।

श्रीमद्भागवत में नन्द-हरण के पश्चात् रास-लीला का आरम्भ होता है। 'सभा' के सूरसागर में भी यही क्रम रखा गया है, परन्तु वेंकटेश्वर वाली प्रति में नन्द-हरण के पश्चात् दान-लीला का प्रसग है। 'सभा' वाली प्रति में पनघट-लीला और दान-लीला के प्रसङ्ग व्योमासुर के पश्चात् दिये हैं, परन्तु यह क्रम ठीक प्रतीत नही होता। वास्तव में पनघट-लीला और दान-लीला रास से पहले ही आनी चाहिए, क्योकि रास तो भक्ति-साधना का चरमोत्कर्ष

है और पनघट-लीला तथा दान-लीला उस मधुरा भक्ति की विभिन्न कोटियाँ हैं, जिनको पार करता हुआ भक्त भगवान् का सान्निध्य प्राप्त करता है।

पनघट-लीला की भाँति दान-लीला भी सूर की मौलिक उद्भावना है। इस लीला में सूर की वृत्ति इतनी रमी है तथा उन्होंने इसका इतने विस्तार के साथ वर्णन किया है कि यह प्रसंग भी एक पृथक् खण्ड-काव्य का रूप धारण कर लेता है। घटना बडी साधारण-सी है, परन्तु इसमें सूर का वाग्वैदग्ध्य पूर्णतया प्रतिफलित हुआ है। मथुरा को दधि बेचने के लिए जाने वाली गोपियो से दधि-दान की माँग ही इस घटना का विषय है, परन्तु इसी के वर्णन में सूर ने अपनी प्रबन्धात्मकता, भावप्रवणता तथा अनुपम व्यग्य शैली का पूर्ण परिचय दिया है। कवित्व एव भक्ति-भाव दोनो की दृष्टि से यह प्रसङ्ग बडा ही आकर्षक है। इसमें भौतिकता एव आध्यात्मिकता का अपूर्व समन्वय है। पुष्टि-सम्प्रदाय की दृष्टि से तो यह और भी महत्वपूर्ण है, क्योकि इसमें भगवान् को भक्ति-भावमय रूप देकर भक्ति-भावापन्न भक्तो के साथ उसका सम्बन्ध कराया गया है और गीता की "ये यथा मा प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" उक्ति को पूर्णरूपेण चरितार्थ किया गया है। यह प्रेमोन्माद की दशा का चित्रण है। कृष्ण के प्रति गोपियो का प्रेम प्रगाढ़तम हो जाता है परन्तु इसे वासनामय प्रेम के रूप में देखना भूल होगी। यह तो मधुरा-भक्ति के क्रमिक-विकास की लीला है। कृष्ण और राधा का अभेदात्मक युगलत्व यही से प्रारम्भ हो जाता है। सभी गोपियो में राधा का प्रेम चरमोत्कर्ष पर पहुँचा प्रतीत होता है। सूर ने राधा-कृष्ण के चिर-सयोग के अनेक पद गाये और युगल-स्वरूप को भक्ति का आश्रय घोषित कर दिया। राधा के रूप-चित्रण-प्रेम की प्राय. सब दशाएँ इस वर्णन मे आ गई हैं। राधा-कृष्ण-विहार का यह पहला स्थल है, जहाँ वे युगल रूप में भक्त के सम्मुख उपस्थित होते हैं।

वेंकटेश्वर प्रेस की प्रति में राधा-कृष्ण के इसी विहार के साथ-साथ ग्रीष्म-लीला, अनुराग-समय, नैनन-समय तथा अँखियान-समय के पद दिये हैं, जिनमें राधा और कृष्ण की रूप माधुरी का बडा प्रभावोत्पादक सूक्ष्म तथा विस्तृत वर्णन हुआ है। वस्तुत इन अशो को पृथक्-पृथक् खण्ड-काव्य का रूप दिया जा सकता है और इस रूप में पद प्राप्त होते भी हैं। 'सभा' की प्रति में पनघट-लीला के पश्चात् अक्रूर-ब्रज-आगमन तक इन सब घटनाओ का क्रम रखा गया है।

श्रीमद्भागवत में नन्द-अपहरण के पश्चात् रास का वर्णन प्रारम्भ होता है। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि भागवतकार ने नन्द-अपहरण के प्रसग मे गोपियो को निर्गुण और सगुण रूप के दर्शन कराकर रास की पृष्ठ-भूमि प्रस्तुत की है। 'रास पञ्चाध्यायी' भागवत का एक महत्त्वपूर्ण प्रकरण है और इसी के आधार पर रास-विषयक अनेक पुस्तको की रचना हुई है, किन्तु सूरदास की 'रास पञ्चाध्यायी' में भागवत की अपेक्षा कई मौलिक उद्भावनाएँ हैं—जैसे १—गोपियो में राधा का उल्लेख, कृष्ण के साथ उनका विवाह तथा राधा और कृष्ण के विहार का चित्रण। भागवत के अनुसार कृष्ण पहले किसी गोपिका के साथ अन्तर्हित हो जाते हैं और फिर उसका गर्व नष्ट करने की इच्छा से उसे भी अकेली छोड देते हैं। सूरसागर में गोपियो के प्रेम का स्पष्ट उल्लेख नहीं है और उस विशिष्ट गोपी को, जिसे कृष्ण अपने साथ लेकर अन्तर्हित हो गये थे, स्पष्ट रूप से राधा नाम दिया गया है। इसी प्रकार राधा-विषयक अन्य घटनाएँ भी भागवत में नही हैं। २—भागवत के कृष्ण

अन्तर्धान होने के पश्चात् जब लौटते हैं तो गोपियो के समक्ष दार्शनिकता से ओतप्रोत एक लम्बी-चौडी वक्तृता झाड देते हैं और आत्माराम, आप्तकाम, कृतघ्न आदि भावो की व्याख्या करके उन्हें समझाते हैं। सूरसागर मे ये वातें नही हैं। वहाँ तो प्राकृत-मानव के समान ही आचरण करते हुए वे पुन, रास प्रारम्भ कर देते हैं। ३—श्रीमद्भागवत में गोपियो की रति-क्रीडा और रमण का वर्णन करने के पश्चात् उसकी व्याख्या की है, किन्तु सूर ने उस व्याख्या अथवा स्पष्टीकरण की आवश्यकता ही नही समझी। ४—श्रीमद्भागवत मे रास के अन्तर्गत उसी शरद्-रात्रि को यमुना मे जल-विहार का भी सक्षिप्त वर्णन है, परन्तु सूरसागर में जल-विहार दूसरे दिन प्रात काल कराया गया है। ५—सूरसागर में रास के अन्त में गोपियो के विषय में वामन-पुराण का उल्लेख है। सूर ने ब्रह्मा और भृगु के सम्वाद के रूप में बताया है कि गोपियाँ वास्तव मे श्रुतियाँ थी, जो कृष्ण के सगुण रूप मे उनके सयोग का आनन्द लेने के लिये व्रजबालाओ के रूप में प्रादुर्भूत हुई थी। वास्तव में श्री वल्लभाचार्य जी ने लीला का क्रम तथा स्वरूप वामन पुराण के अनुसार ही लिया है। इस प्रसग के पश्चात् सूरसागर में राधा-कृष्ण के सयोग और रति-सम्बन्धी वर्णन हैं, जिनके पश्चात् केवल दो पदो में शाप-मोचन का उल्लेख करके फिर राधा-कृष्ण के वृन्दावन-विहार के दृश्य सम्मुख आते हैं। भागवतानुसार शँखचूड दैत्य का उल्लेख एक ही पद में कर दिया गया है और तदनन्तर सूर अपने भागवत-निरपेक्ष स्वतन्त्र विषयो को लेकर चल दिये हैं, जैसे—कृष्ण को जगाना, कलेऊ, भोजन के नाना व्यञ्जन, सखाओ के साथ गोचारण तथा वशी-वादन आदि। मुरली का विषय भी सूर का एक स्वतन्त्र विषय है, जिसको लक्ष्य करके न जाने कितने नवीन-नवीन भावो की मनोवैज्ञानिक उद्भावनाएँ सूर ने की हैं ? मुरली के विषय में भी उनका एक पृथक् ही काव्य बन सकता है। श्रीमद्भागवत के पैंतीसवे अध्याय में इस बात का उल्लेख है कि जब कृष्ण गो-चारण करने के लिये समस्त दिन बन में रहते थे तो गोपियाँ उनके विरह में किस प्रकार व्यथित रहती थी और उनके रूप-सौन्दर्य, मुरली-वादन आदि की चर्चा से अपना दिन विताती थी। इसको भागवतकार ने युगल-गीत का नाम दिया है। इस युगल-गीत में तन्मनस्क गोपियो का बडा ही सुन्दर चित्रण हुआ है। सूरसागर मे यह विषय अधिक विस्तार और भावपूर्ण ढग से कहा गया है तथा कृष्ण के व्रज आने की शोभा का बडा सुन्दर वर्णन कवि ने किया है। भागवत में आये हुए वृषभ, केशी और व्योम नामक राक्षस के वध का वर्णन सूर ने बहुत सक्षेप में किया है।

श्रीमद्भागवत में अरिष्ट-वध के पश्चात् ही नारद-सम्मति से कस अक्रूर को भेजने का निश्चय करता है, परन्तु सूरसागर में यह प्रसग बहुत पीछे है। हम पहले कह चुके हैं कि वेंकटेश्वर प्रेस की प्रति तथा 'सभा' की प्रति के क्रम में कुछ अन्तर है। 'सभा' की प्रति मे व्योमासुर-वध के पश्चात् उन लीलाओ को लिया गया है, जो सूर की मौलिक तथा भागवत-निरपेक्ष लीलाएँ कही जा सकती हैं। पनघट-लीला, दान-लीला, ग्रीष्म-लीला, मान-लीला, नैनन-समय, अँखियान-समय, खण्डिता-प्रकरण, राधा का मान तथा खण्डिता नायिकाओ का विशद वर्णन है। इसी खण्डिता-प्रकरण में ललिता, चन्द्रावली, सुषमा, राधा, वृन्दा, प्रमदा आदि के साथ कृष्ण की प्रेम-क्रीडाओं का विशद वर्णन है। राधा की मान-लीलाओ का वर्णन करके कवि ने उसके चरित्र का पूर्ण चित्रण किया है तथा जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास की राधा से अपनी राधा का पृथक् व्यक्तित्व रखा है। इस प्रकरण मे राधा के भाव की स्थापना तथा राधा एव कृष्ण के चिर सयोग का प्रतिपादन किया गया है।

इसके पश्चात् सूरसागर में झूलने और वसन्त-लीला के प्रकरण हैं। झूलन का प्रकरण वेंकटेश्वर प्रेस की प्रति मे विद्याधर-शाप-मोचन से पहले दिया है, परन्तु 'सभा' की प्रति में राधा की मान-लीला के पश्चात् झूलना और वसन्त, दोनो प्रकरण दिये हैं। ये दोनो ही प्रकरण भागवत-निरपेक्ष एवं वर्षोत्सव-क्रम में आये हुए महत्वपूर्ण विषय हैं। वस्तुत पुष्टि-सम्प्रदाय में गाये जाने वाले पदो का विषय नित्य-कीर्त्तन और वर्षोत्सव ही है। जब वर्षोत्सव के पद अधिक भारी होने लगे तो उनके दो भाग कर दिये गये। होली और धमार नाम से एक भाग अलग कर लिया गया और शेष पद दूसरी प्रति मे अलग रखे गये। सम्प्रदाय मे इन दो भागो के होने का एक यह भी कारण बताया जाता है कि वसन्तोत्सव के समय सारी पुस्तक को पाठ के लिए रखना उसके बिगडने के भय से खाली नही था, क्योंकि इस उत्सव में रगरेलियां और मस्ती ही मुख्य विषय रहता है। व्रज की होरी और झूला बहुत प्रसिद्ध हैं और दीर्घकाल से उत्साह पूर्वक मनाये जाते रहे हैं। पुष्टि-सम्प्रदाय मे इन उत्सवो का बडा महत्त्व है। सूरसागर मे तो होरी को लेकर बडा सुन्दर रूपक बांधा गया है। नित्य-वृन्दावन का मनोहर चित्रण करके कवि ने कृष्ण और गोप-गोपियो की सम्मिलित आनन्द-क्रीडा का होरी के रूप में वर्णन किया है जिसमें किसी प्रकार का सकोच नही रहता और सारा व्रज अनुराग एव हर्ष के रग मे डूब जाता है।

कृष्ण को गोकुल से मथुरा लाने के लिये कस द्वारा अक्रूर को भेजने का प्रसग सूर ने भागवत के आधार पर ही दिया है, किन्तु कुछ परिवर्तन के साथ। सूरसागर मे नारद स्वय कृष्ण की सम्मति से कस को कृष्ण और बलराम के बुलाने का परामर्श देने जाते हैं। सूरसागर मे कस के दु स्वप्नो का जो वर्णन है, वह भागवत मे नही हुआ है। अक्रूर के मथुरा से व्रज पहुँचने पर सूर ने व्रज का जो करुण-दृश्य चित्रित किया है वह नि सन्देह बेजोड है। व्रजवासियो, गोपियो तथा यशोदा की विरह-वेदना के काले मेघ उमड-घुमडकर व्रज पर छाये हुए हैं। उनको देखकर व्रजवासी जन-गिरिधर की याद में और भी अधिक सुध-बुध खो बैठते हैं, उनके मूक-क्रन्दन की करुण-रागिनी मिलनयाम के समय प्रणय-पूर्ण वार्तालाप से मुखरित, मुरली की मधुर-स्वर-धारा से सिक्त और व्रज-वल्लभ एव उनकी वल्लभाओ की स्मित-प्रभा से आलोकित कुञ्जो मे सन्नाटा भर रही है। कालिन्दी का कौतुकमय कूल, व्रज की एक-एक सरणि, वृन्दा-विपिन की विस्तृत वीथिकाएँ वियोग की वह्नि मे झुलस गई हैं। व्रज-जनो की दशा को देखकर "अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्", के अनुसार शिला भी रोने लगती है और पत्थर का भी हृदय फटने लगता है तो फिर अक्रूर तो रक्त-मांस-निर्मित सहृदय व्यक्ति ठहरे। वे कैसे बच सकते थे ? वे बहक से जाते हैं, इसीलिये कृष्ण अपने ब्रह्मत्व का आभास देकर उनका अज्ञान दूर करते हैं। फिर सूरदास ने मथुरा पहुँचने पर मथुरा के नागरिको तथा कस पर उनके द्विविध प्रभाव का वर्णन किया है। इस प्रसङ्ग मे श्रीमद्भागवत में बहुत-सी कथाओ का उल्लेख है। सूर ने उनमे से कुछ कथाएँ सक्षेप से कही हैं। जैसे—रजक-वध, दर्जी, माली, कुब्जा का उल्लेख, धनुर्भंग, कुवलयापीड हाथी, मुष्टि और चाणूर मल्लो का वध। मल्ल-युद्ध का वर्णन सूरसागर में नही है। कस-वध की कथा सूरदास ने वर्णनात्मक ढग से न देकर स्तुति के रूप में दी है तथा उसके सहयोगियो के वध का उल्लेख मात्र किया है। भागवत के ४५ वें अध्याय मे श्रीकृष्ण और बलराम के यज्ञोपवीत और गुरुकुल-प्रवेश का वर्णन है। श्रीकृष्ण अपनी योगमाया से अपने माता-पिता के स्व-ब्रह्म-

विषयक ज्ञान को आवृत कर लेते हैं। सूर ने भी कस-वध के पश्चात् वसुदेव-देवकी की मुक्ति, उनके हर्पोल्लास, उग्रसेन का राज्याभिषेक और कुब्जा को पटरानी बनाने का उल्लेख किया है। इसके पश्चात् नन्द आदि गोपो को व्रज के लिये विदा करने का वर्णन है। जिसमें कवि की प्रतिभा और भावुकता पुन सजग, सचेष्ट हो उठती है और तन्मयता के साथ ऐसे चित्र उपस्थित करती है, जो विरह-जन्य करुणा और वात्सल्य के चित्र कहे जा सकते हैं। अनेक छोटे-छोटे सदर्भो की कल्पना की गई है। व्रज लौटने पर नन्द और यशोदा का वार्तालाप होता है, वहाँ कवि की भावुकता पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है। इस स्थल पर सूर के कोमल हृदय से जो उद्‌गार निकले हैं, उनमे मातृत्व का इतना स्पष्ट चित्र उतरा है, जितना विश्व-साहित्य में कदाचित् ही कही मिल सके। ग्वालो का करुण-क्रन्दन, व्रज की दयनीय दशा आदि का वास्तव में सूर ने ऐसा चित्रण किया है, जिससे भवभूति के "एकोरस करुण एव" वाले कथन मे कोई भी अत्युक्ति या असगति नही दीख पडती। सूरदास के ये सब वर्णन पूर्णरूपेण मौलिक हैं।

उद्धव की व्रज-यात्रा में सूर ने फिर भागवत का अनुसरण किया है, परन्तु जहाँ भागवत में उद्धव को व्रज भेजने का उद्देश्य केवल नन्द-यशोदा को सदेश देकर सुखी करना और गोपियो को सान्त्वना देना बतलाया गया है, वहाँ सूर ने उद्धव के पाण्डित्य एव ज्ञान-गर्व को खण्डित कर उन्हे प्रेमाभक्ति में दीक्षित करना ही उद्देश्य माना है। इसके अतिरिक्त सूर ने और कई कल्पनाएँ की हैं, जो सर्वथा मौलिक और भागवत से स्वतन्त्र हैं, जैसे—कृष्ण का अपने माता, पिता और गोपियो को पत्र लिखना, कुब्जा का राजा को सदेश, तथा उद्धव और व्रजवासियो की भेंट। उद्धव के व्रज आने पर तो मानो सूर की कल्पना पख लगाकर उडने लगी है। श्रीमद्भागवत में ४७वें अध्याय मे उद्धव और गोपियो की बातचीत और भ्रमर-गीत का वर्णन है। भ्रमर-गीत का प्रसङ्ग सूर ने भी रखा है। सूर का भ्रमर-गीत सगुण-भक्ति का पोषक एक अकाट्य शास्त्र है, जिसमें भक्ति और ज्ञान का सन्तुलन करके भक्ति को सर्वोपरि बतलाया है और योग तथा कर्म-काण्ड का व्यङ्ग्यात्मक रूप से खण्डन किया है। यद्यपि श्रीमद्भागवत में भी भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है, किन्तु दूसरे ढँग से। वहाँ सुलभता और प्रेयता के कारण भक्ति को श्रेष्ठ बतलाया गया है। वहाँ उद्धव का ज्ञानोपदेश सुनकर गोपियो पर विरुद्ध प्रतिक्रिया नही होती, किन्तु यहाँ का तो दृश्य ही भिन्न है। इसलिये भक्ति की श्रेष्ठता के प्रतिपादन में भागवत के भ्रमर-गीत की अपेक्षा सूर के भ्रमर-गीत का अधिक महत्त्व है। कवि की सहृदयता और वाग्विदग्धता का सुन्दर सामञ्जस्य इस प्रसङ्ग में लक्षित होता है। उसके कवित्व का चरमोत्कर्ष इस स्थल पर दीख पडता है। परिपाटी के अनुसार सूर ने भ्रमर-गीत की पुनरावृत्ति भी की है—उनके उद्धव गोपियो के भक्ति-प्रवाह में ज्ञान की 'गुरु गठरी' गँवाकर मथुरा लौट आते हैं। इसके पश्चात् एक ही पद में कृष्ण का अक्रूर के घर जाने का उल्लेख है।

दशम स्कन्ध (उत्तरार्द्ध)

श्रीमद्भावगत के इस स्कन्ध में ४१ अध्याय हैं, जिनमें बहुत-सी कथाएँ पूरे-पूरे अध्यायो में दी हुई हैं। कथा-विवरणो के साथ-साथ ऐतिहासिक, धार्मिक और दार्शनिक सामग्री भी पर्याप्त मात्रा मे है, परन्तु सूरसागर में ये कथाएँ बहुत सक्षेप में दी गई हैं। रुक्मिणी का पत्र-लेखन, भक्ति-भाव और विवाह का वर्णन भागवत की अपेक्षा सूरसागर

मे अधिक भावात्मक है। बलभद्र के व्रज-आगमन का वर्णन भी सूर ने विशेष रुचि से किया है, कालिन्दी और वारुणी को उन्होंने व्यक्तियो की भाँति चित्रित किया है और इस प्रकार थोडा-थोडा सा अन्तर कर दिया है। पौण्ड्रक राजा का नाम सूर ने पुण्डरीक लिखा है। सुदामा और कृष्ण की कथा श्रीमद्भागवत के इसी स्कन्ध में ८०वें और ८१वें अध्याय में आई है। सूरदास ने इस कथा को लेकर भगवद्भक्ति-विषयक अनेक पदो की रचना की हैं। उनका हृदय मानो व्रज के वियोग से तडप रहा है, इसलिये वे इस प्रसङ्ग के पश्चात् पुन. व्रज लौटने की मौलिक कल्पना करते हैं। सूर ने यहाँ एक सन्देश-वाहक की मौलिक कल्पना की है, जिसके द्वारा व्रज-नारियाँ श्याम के पास सन्देश भेजती हैं, जिसके मिलते ही कृष्ण की स्मृति हरी हो जाती है और वे रुक्मिणी से राधा और गोपियो के प्रेम की चर्चा चलाते हैं। इस स्थल पर कवि का व्रज-विषयक प्रेम शत-शत धाराओ में फूट निकला है।

इसी प्रकार कुरुक्षेत्र मे कृष्ण और व्रजवासियो की भेंट का वर्णन भी सूरदास जी ने विशिष्टता के साथ किया है। सूर का वर्णन सर्वथा मनोवैज्ञानिक तथा आत्मीयता से परिपूर्ण है। कृष्ण के दूत के पहुँचने से पहले ही गोपियो को शुभ शकुन होते हैं, जो उनके भग्न हृदयो का आधार वन कर उन्हे आश्वासन देते हैं। फिर कृष्ण-दूत पहुँचने पर भ्रमर-गीत जैसे वातावरण की आशङ्का होने लगती है।

कुरुक्षेत्र में कृष्ण, यशोदा और गोपियो का मिलन भी एक अलौकिक घटना है, जिसका वर्णन सूर ने वडी ही गम्भीरता और भावात्मकता के साथ किया है। राधाकृष्ण की अन्तिम भेंट मे उन्होने वडी तन्मयता दिखाई है और ऐसा प्रतीत होता है कि इस मधुर-मिलन की मादकता में ही वे कुरुक्षेत्र-यज्ञ को भी भूल गये। इस स्कन्ध की शेष कथाएँ सूर ने केवल खानापुरी करने के लिये रखी हैं।

द्वादश-स्कन्धात्मक सूरसागर से 'श्रीमद्भागवत' की तुलना करने पर हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

१—दशम-स्कन्ध को छोडकर अन्य स्कन्धो में भागवतानुसरण की वात-मात्र ही दुहराई है, अनुसरण नही किया गया है। अन्य स्कन्धो मे केवल वे ही स्थल आये हैं, जहाँ भगवान् के यश का वर्णन, हरि-भक्ति की महिमा अथवा भक्त-गुण-गान है। भागवतानुसरण वाली वात वर्णनात्मक प्रसङ्गो तक ही सीमित है। गेय पदो में उसका अनुसरण नही मिलता।

२—पौराणिक तथा ऐतिहासिक आख्यानो की पूर्ण उपेक्षा की गई है और कथाओ में पारस्परिक सम्वन्ध भी नही है। पद भरती के से प्रतीत होते हैं।

३—भागवत के दार्शनिक पक्ष को भी 'सूरसागर' में प्रश्रय नही दिया गया है। स्तोत्रो और प्रवचनो के रूप में भागवत में दार्शनिक सिद्धान्तो की जैसी विस्तृत व्याख्या मिलती है, उसका लेश भी सूरसागर में नही है।

४—सूरसागर में वर्णनात्मक तथा गेय-पद-शैली, ये दो प्रकार की शैलियाँ दीख पडती हैं। ऐतिहासिक उपाख्यान अथवा पौराणिक कथाओ के उल्लेख में कवि ने वर्णनात्मक-शैली को और हरि-लीला-गान मे गेय-पद-शैली को अपनाया है।

५—जिस स्थल पर 'सूरसागर' में भागवत के वर्णन को ज्यो का त्यो अपनाने का प्रयास किया है, वहाँ उसमें शिथिलता आ गई है और वर्णन मे अस्वाभाविकता-सी प्रतीत

होती है। ऐसे प्रसङ्गो मे कवि का कथन नीरस और केवल कथा-पूर्ति हेतु किया हुआ प्रतीत होता है। ऐसे स्थानो में कही तो वर्णनात्मक शैली के दर्शन होते हैं और कही ऐसी अस्पष्ट समास-शैली मिलती है कि ज्ञात होता है मानो कवि को कथाओ का भार ढोना पड रहा है। अनुवाद की तो बात दूर रही, कथाओ का सार भी पदो में नहीं आ पाया।

६—सूरदास में चार प्रकार की हरि-लीलाओ का गान हुआ है—

(अ) वे लीलाएँ, जिनका आधार पूर्णतया श्रीमद्भागवत है। ऐसी लीलाएँ केवल दशम स्कन्ध मे हैं किन्तु उनका क्रम भागवत से भिन्न है।

(ब) वे लीलाएँ, जिनका सूत्र तो कवि को भागवत से ही प्राप्त हुआ, किन्तु 'सागर' मे कवि ने उनकी विस्तृत व्याख्या की है। उन प्रसगो के वर्णन में सूर की दृष्टि भागवत पर नही जमती, अपितु भावना के विस्तृत प्राङ्गण मे चौकडी भरती हुई दीख पडती है। ऐसे स्थलो पर कवि भागवत के कथा-स्रोत को केवल मोड ही नही दे देता, अपितु एक बाँध-बाँधकर स्वत प्रवाहिनी कल्लोलिनी की ओर उन्मुख कर देता है। ऐसे स्थलो पर कवि की गाम्भीर्य-पूर्ण-तन्मयता एव परिपक्व शैली के दर्शन होते हैं। ये रचनाएँ खण्ड-काव्य की कोटि तक पहुँच जाती है।

(स) सूरसागर में कुछ ऐसी लीलाएँ भी हैं, जिन्हे हम पूर्णतया मौलिक, स्वतन्त्र और भागवत-निरपेक्ष कह सकते हैं; जैसे—राधा-कृष्ण-मिलन, पनघट-प्रस्ताव, दान-लीला आदि।

(द) सूरसागर मे कुछ ऐसी लीलाएँ भी हैं, जिनका स्रोत भागवत पुराण न होकर अन्य पुराण हैं।

उक्त विवेचन से हम सहज ही इस प्रश्न का उत्तर खोज सकते हैं कि सूरसागर कहाँ तक श्रीमद्भागवत का अनुवाद है, और कहाँ तक उसमें भागवत का अनुसरण किया गया है? इस विषय पर हिन्दी के कुछ विद्वानो ने विचार भी किया है। डा० व्रजेश्वर वर्मा का मत है—

"अनुमान तो यह होता है कि भागवत की कथा को सुनकर कवि ने दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध के अतिरिक्त अन्य स्कन्धो पर अपने भाव के अनुकूल, कभी प्रबन्धात्मक और कभी स्फुट-रीति से पद-रचना की। इस पद-रचना को स्कन्धो के कथा-क्रम से सग्रह करके देखने से जहाँ कथा सूत्र छूटे हुए पाये गये वही वे पूर्तिमात्र के विचार से वर्णनात्मक शैली में रख दिये गये। यह भी सन्देह हो सकता है कि ये वर्णनात्मक अश स्वय हमारे कवि सूरदास जी की रचना भी हैं या अन्य किसी ने सूरसागर को भागवत का वाह्य रूप दे दिया"[१]।

डाक्टर वर्मा के अनुसार सूर ने भागवत के दशम स्कन्ध (पूर्वार्द्ध) पर पूर्णतया नियमित रूप से तथा अन्य स्कधो पर कभी-कभी रचना की और फिर कथा-सूत्र जोडने के लिए सूर ने अथवा और किसी कवि ने कुछ पदो की रचना की। श्री द्वारकादास परीख और प्रभुदयाल मीतल ने इस विषय में लिखा है

"उपलब्ध मुद्रित एव हस्तलिखित प्रतियो के अध्ययन से यह नि सकोच कहा जा सकता है कि यह श्रीमद्भागवत का न तो अनुवाद है और न इसमे उसकी प्रथम स्कन्ध से

१ व्रजेश्वर वर्मा 'सूरदास' पृष्ठ ८०

द्वादश स्कंध की कथाओं का पूर्ण समावेश ही हुआ है। फिर भी हमें इस विषय पर सूरसागर में सूरदास का निम्न कथन मिलता है :

व्यास कहे सुकदेव सों द्वादश स्कंध बनाइ।
सूरदास सोई कहै पदभाषा करि गाइ॥
—सूरसागर, स्कं० १ पद २२५

इस उल्लेख से जान पड़ता है कि सूरदास ने द्वादश-स्कंध-पर्यन्त की कथाओं को, जो व्यास जी द्वारा कथित हैं, गाया है।"[1]

इन दोनों विरुद्ध कथनों का एक अविरुद्ध निष्कर्ष यह हो सकता है कि श्री वल्लभाचार्य जी ने व्यास जी की 'समाधि' भाषा को प्रमाण रूप माना है और उसी का गायन किया है। श्री वल्लभाचार्य जी के अनुसार श्रीमद्भागवत में तीन प्रकार की भाषा है—लौकिकी, परमत और समाधि। लौकिकी भाषा उसे कहते हैं, जो ऐतिहासिक-चरित्र-रूप में सूत जी द्वारा कही गई थी। परमत भाषा उसे कहते हैं, जो अन्य ऋषि-मुनियों के विभिन्न मतों के रूप में उपस्थित की गई है और समाधि-भाषा उसे कहते हैं, जो स्वयं व्यास जी को समाधि में जो कुछ प्रत्यक्ष अनुभव हुआ था उसका वर्णन करती है और व्यास-शुकदेव द्वारा कही हुई है। इसी समाधि भाषा को महाप्रभु ने 'प्रमाण-चतुष्टय' में स्वीकार किया है। यह भाषा भक्ति-मार्ग का मूल है। इसी के आधार पर चारों भक्ति-सम्प्रदायों की विविध भावनाओं का विस्तार हुआ है। सम्भव है सूरदास ने अन्य भाषाओं की अनावश्यक कथाओं आदि पर ध्यान न दिया हो और इसी प्रकार परमत-स्वरूप कर्म-ज्ञान वाले वर्णनों की भी उपेक्षा की गई हो। भक्ति में आवश्यक ऐसे कर्म-ज्ञान का तो सूरदास जी ने वर्णन किया ही है, जिनके फलस्वरूप ईश्वर में प्रेम बढ़ाने वाले कर्म और ब्रह्म के माहात्म्य-सूचक अनेक प्रसङ्ग और वर्णन प्राप्त होते हैं। सूरदास का उद्देश्य श्रीमद्भागवत-वर्णन से भगवान् की भक्ति और उनकी अनेक लीलाओं का कथन करना ही था। ऐसा ज्ञात होता है कि इसीलिये सूरसागर की कथाओं में स्कन्धानुक्रम होते हुए भी प्रत्येक प्रसङ्ग या अन्य वर्णनों का भागवत-क्रम पूर्णत अपेक्षणीय नहीं समझा गया।"[2]

"दूसरा विकल्प यह भी हो सकता है कि जब सूरसागर के प्रारम्भ में सूरदास जी स्पष्ट कहते हैं कि—

व्यास कहे सुकदेव सों द्वादश स्कन्ध बनाइ।
सूरदास सोई कहे पद भाषा करि गाइ।

तब सम्भव है उन्होंने समस्त भागवत का ही अनुवाद किया हो और उनके सहस्रावधि पद होने के कारण आद्योपान्त प्रतिलिपि न हो सकने से, मुख्य-मुख्य अंशों को किसी ने संगृहीत कर लिया हो और उसी से फिर अनेक प्रतिलिपियाँ होती रही हों, जो आजकल उपलब्ध हैं।"[3]

"जो भी हो, 'सूर-सारावली' वाले उल्लेख से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि—

१—सूरदास ने अपने गुरु श्रीवल्लभाचार्य से श्रीमद्भागवत-तत्त्व का उपदेश प्राप्त कर उसकी अनेक-विध हरि-लीलाओं को गाया था, जिनके आधार श्रीमद्भागवत और उसके अनुकूल अन्य पुराण, महाभारत, रामायण, पाञ्चरात्र और संहितादि रहे हैं। ये लीलाएँ

१ 'सूर-निर्णय' प्रथम-सं० सं० २००६, (अग्रवाल प्रेस मथुरा) पृष्ठ १६१
२ सूर-निर्णय (संस्करण सम्वत् २००६) पृष्ठ १६१
३ वही „ „ पृष्ठ १६२

कथात्मक शैली मे हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि इनको उन्होंने अपने सेवको के लिए उपदेशार्थ गाया था।

२—सम्प्रदाय की नित्य तथा वर्षोत्सव की लीलाओ को प्रति वर्ष नवीन भाव, छन्द और वर्णन के भेद की दृष्टि से सूरदास ने श्रीनाथ जी के सम्मुख गाया होगा। सम्भव है कि ये दोनो सग्रह प्रारम्भ में भिन्न रूप में लिखे जाते हो और पीछे किसी ने उन्हें एक कर दिया हो, जो आज द्वादशस्कन्धात्मक और दशम पूर्वार्द्ध के रूप मे उपलब्ध होते हैं।"[1]

ये दोनो लेखक न तो सूरसागर को श्रीमद्भागवत का अनुवाद मानते हैं और न सर्वांश में श्रीमद्भागवत को सूरसागर का आधार ही मानते हैं, परन्तु 'श्रीमद्भागवत-तत्त्व' को अवश्य आधार मानते हैं तथा यह भी सम्भावना करते हैं कि नित्य-कीर्त्तन और वर्षोत्सवो के पदो में से ही पीछे से किसी ने सूरसागर को दो रूप दे दिये हो।

डा० मुन्शीराम शर्मा का मत भी यहाँ उल्लेखनीय है। वे लिखते हैं —

"इन कथनो के होते हुए भी सूरसागर को भागवत का अविकल अनुवाद नही कहा जा सकता। वह एक स्वतन्त्र रचना है। बालिका राधा, बालक कृष्ण के सग खेलने के प्रसंग और 'भ्रमर-गीत' की व्यग्यमयी उक्तियाँ भागवत में ढूँढने पर भी नहीं मिलेंगी। भागवत में उद्धव की कथा आती है, परन्तु उनके गोकुल पहुँचने पर गोपियाँ उन्हें चिढाती नही। वे जो कुछ कहते हैं उसे चुपचाप सुन लेती हैं। उद्धव द्वारा कृष्ण का सन्देश पाकर उनकी विरह-व्यथा शान्त हो जाती है। कृष्ण के प्रति दिये गए उनके उलाहने भी इतने तीव्र नही हैं। निर्गुण और सगुण का झमेला भी भागवत में दिखाई नही देता, जो सूरसागर के भ्रमर-गीत का प्रधान अंश है। कृष्ण लीलाओ का स्मरण करती हुई एक गोपी अपने सामने गुनगुनाते हुये भ्रमर को आया देखकर कुछ चटपटी बातें अवश्य कह जाती है। भागवत के भ्रमर-गीत में सूरसागर जैसा भावनाओं का उफान कही भी दृष्टिगोचर नही होता। इसके अतिरिक्त भागवत सर्ग-विसर्ग आदि दस विषयो का वर्णन करती हुई भक्ति को मूर्धन्य स्थान देती है पर सूरसागर में मुख्य रूप से राधा-कृष्ण लीला को ही प्रधानता दी गई है। भागवत जहाँ निवृत्ति-मूलक साधना का उपदेश करती है, वहाँ सूरसागर की राधा-कृष्ण लीला मनुष्य को प्रवृत्ति-मार्ग में लगाने वाली है। अत सूरसागर भागवत का अक्षरश अनुवाद नही है।"[2]

डा० मुन्शीराम शर्मा केवल भ्रमर-गीत और दो-चार उनकी बातो को लेकर इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि सूरसागर भागवत का अक्षरश अनुवाद नही है, पर उनके इस कथन से स्पष्ट ही यह ध्वनि निकलती है कि 'भावात्मक अनुवाद अवश्य है'—आधार तो निश्चय रूप से है ही।

इन तीनों ही ग्रन्थो में श्रीमद्भागवत को आधार अवश्य स्वीकार किया है। डा० ब्रजेश्वर वर्मा, कवि द्वारा द्वादशस्कन्धात्मक रूप दिये जाने में सन्देह करते हैं। डा० मुन्शीराम शर्मा जी ने इस विषय पर अधिक विवेचन नही किया और इसीलिए वे सन्देहात्मक निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। श्री द्वारिकादास परीख ने दो विकल्प रखे हैं और पहले विकल्प में ही भागवत के आधार की ओर सकेत किया है। इन सब कथनो को दृष्टिकोण मे रखते हुए हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं

---

१ वही (सस्करण सम्वत् २००६) पृष्ठ १६२-१६३

२ डा० मुन्शीराम शर्मा सोम— सूरसौरभ - दूसरा भाग, पृष्ठ ११ (दूसरा संस्करण)

१—यों तो सभी वैष्णव सम्प्रदायों में श्रीमद्भागवत की मान्यता है, परन्तु पुष्टि सम्प्रदाय में तो इस महापुराण को चतुर्थ प्रमाण माना है और वेद, उपनिषद एव गीता के समकक्ष रखा है। 'तत्त्वदीप-निबन्ध' में श्री वल्लभाचार्य ने भागवत की प्रामाणिकता पर बल देते हुए कहा है—

"समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाण तच्चतुष्टयम्।"

अर्थात्—व्यास की समाधि भाषा अन्य तीन प्रमाणों के समान ही प्रमाण स्वरूप है।

इस सम्प्रदाय की आधार-भित्ति ही भागवत है। अतएव सूरदास ने अपने गुरु वल्लभाचार्य जी से अवश्य ही भागवत तत्त्व सुना होगा। वैसे भी सम्प्रदाय की बैठकों में भागवत की कथाएँ हुआ करती थीं और पुराणों का आश्रय लेकर धार्मिक वाद-विवाद भी होते थे, अतएव यह तो निश्चय ही है कि सूरदास जी को श्रीमद्भागवत का ज्ञान था और वे उसके महत्त्व को भी समझते थे, किन्तु उन्होंने यथावत् उसका अध्ययन किया हो, इसका कोई प्रमाण नहीं।

२—महात्मा सूरदास सिद्ध कवि थे और अपने ही समय में प्रसिद्ध भी बहुत हो गये थे, जिसका पर्याप्त प्रमाण वार्त्ता-साहित्य से मिलता है। बिजली के तार की भाँति स्पर्श मात्र से ही उनकी प्रतिभा देदीप्यमान हो उठती थी, जिसका वार्त्ता-साहित्य में उल्लेख भी है। सिद्ध कवि अपनी प्रतिभा और कवित्व शक्ति से नूतन-सृष्टि-सृजन में समर्थ होते हैं। लीलाओं के स्फुरण का उल्लेख भी सूर के विषय में वार्त्ता-साहित्य में कई बार आया है। भागवत के विषय में भी सूरदास के सम्बन्ध में यही लिखा है—"पुरुषोत्तम सहस्रनाम सुनने के पश्चात् सम्पूर्ण भागवत की लीला सूरदास के हृदय में स्फुरी और सूरदास जी ने प्रथम स्कन्ध से द्वादश-स्कन्ध-पर्यन्त कीर्त्तन वर्णन किये।"[1]

यदि हम वार्त्ता के कथन को प्रामाणिक मानें तो दो बातें उल्लेखनीय हैं। पहली—'सूरदास के हृदय में भागवत की लीला स्फुरी', और दूसरी—'कीर्त्तन वर्णन किये।' अनुवाद वाली बात कहीं है ही नहीं।

श्री वल्लभाचार्य ने भागवत की (सुबोधिनी) टीका केवल उन्हीं स्कन्धों पर की, जिनकी सगति उन्हें अपने सिद्धान्तों से लगानी थी। उन्हें दशम स्कन्ध ही बहुत प्रिय था और उनके ८७ अध्यायों की रूपक बाँध-बाँध कर उन्होंने विस्तृत व्याख्या की है। इनसे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सभवत सूर ने भी भागवत के दशम स्कन्ध तक ही अपने वर्णन को सीमित रखा हो। इसकी पुष्टि इन बातों से भी होती है :

१—सूरदास जी के दशम-स्कन्ध सम्बन्धी ग्रन्थों का उल्लेख, जैसे—दशम स्कन्ध टीका, दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध आदि।

२—केवल दशम-स्कन्ध वाली सूरसागर की प्रतियों की प्राप्ति।

३—किसी-किसी संग्रहात्मक प्रति में भी दशम स्कन्ध का उल्लेख।

परन्तु इन स्कन्धात्मक प्रतियों में क्रम उलट-पलट है। अतएव यह कथन कि सूर के जीवन काल में ही इस प्रकार की कोई स्कन्धात्मक प्रति बन गई होगी, युक्ति-सगत प्रतीत नहीं होता। हम 'सूर्य निर्णय' में दिये हुए इस कथन से पूर्णतया सहमत हैं कि—"सम्प्रदाय की नित्य और वर्षोत्सव की लीलाओं को प्रतिवर्ष नवीन भाव, छन्द और वर्णन की विभिन्नता

---

१ सूरदास की वार्त्ता प्रसंग १

से 'सूरदास' ने 'श्रीनाथ जी' के सम्मुख स्वत उद्‌गार रूप से गाया था। पीछे किसी ने इन्ही पदो मे से दो सग्रह कर दिये—सग्रहात्मक तथा द्वादश स्कन्धात्मक।"[1]

दशम स्कन्ध के अतिरिक्त द्वादश स्कन्धात्मक सभी प्रतियो के कुछ गेय पदो को छोड़कर अन्य पद प्रक्षिप्त से प्रतीत होते है। सम्भवत गेय पदो की रचना सूरदास ने की हो। सग्रहात्मक तथा द्वादश-स्कन्धात्मक प्रतियो के विषय मे हम पहले ही लिख चुके हैं कि सग्रहात्मक प्रतियो का सकलन १०० वर्ष पूर्व का मिलता है तथा उनमें पाठ भी अपेक्षाकृत शुद्ध है। इसलिये हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि सूर के पदो का सग्रहात्मक-सकलन ही पहले हुआ था। उन पदो मे १—नित्य-कीर्त्तन और वर्षोत्सव के पद थे, २—विनय के पद थे, जो सूर ने पुष्टि-सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पहले रचे थे, ३—अन्य पद भी, जो सूर यथावसर रचते थे, उस सकलन मे रहे होगे।

विषय की दृष्टि से इन सारे पदो को हम तीन भागो मे विभाजित कर सकते हैं

(१) ऐतिहासिक तथा वर्णनात्मक

इनका आधार, भागवत के अतिरिक्त हरिवश पुराण, विष्णु-पुराण, पद्म-पुराण, वायु पुराण तथा देवी भागवत आदि हैं। सूरदास जी को इन पुराणों के सम्यक् अध्ययन का अवसर प्राप्त हुआ होगा, इसकी तो कोई सम्भावना ही नही, परन्तु तत्कालीन व्रज के सन्त-समाज मे अनेक विद्वान् रहते थे, जो अपने साम्प्रदायिक मन्तव्यो को सिद्ध करने के लिये अनेक ग्रन्थो का आश्रय लिया करते थे। उसी श्रुति के आधार पर ही सूरदास ने बहुत से पदो की रचना की होगी।

(२) लीला-परक

इन पदो का आधार प्रधानतया श्रीमद्भागवत है, क्योकि पुष्टि-सम्प्रदाय में सारस्वत-कल्प की लीला मानी जाती है, जिसका वर्णन वामन-पुराण में है तथा जिसका उल्लेख सूर ने किया है। इसलिये वामन पुराण भी उसका आधार था। कुछ लीलाएँ ब्रह्म-वैवर्त-पुराण से ली गई हैं, विशेपतया राधा का विस्तृत वर्णन इसी पुराण मे मिलता है। कुछ लीलाओ की उद्‌भावना सूर ने स्वतन्त्र रूप से की है जो तत्कालीन प्रचलित सामाजिक प्रथाओ एव लोक-गीतो से सम्बन्ध रखती है।

(३) भक्ति तथा दार्शनिक-सिद्धान्त-विषयक पद

सूर का लक्ष्य न तो भक्ति का विवेचन था और न दार्शनिक-सिद्धान्तो का विश्लेपण, किन्तु कवि भावुकता की अथाह धारा मे बहता हुआ अनजाने ही कुछ ऐसी बातें कह जाता है, जिनका सम्बन्ध दार्शनिक जगत् से जोड़ा जा सकता है। सूर के पदो के हमें कई रूप स्पष्ट लक्षित होते है -

१—पुष्टि-सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पहला रूप।

२—दीक्षित होने के पश्चात् का रूप।

३—सामयिक प्रभाव से प्रभावित रूप।

---

१ सूर-निर्णय पृष्ठ १६१

सूर से पहले की पाँच-छै शताब्दियाँ देश के धार्मिक क्षेत्र में बडी उथल-पुथल की शताब्दियाँ थी। सिद्धो और नाथो के नाना सम्प्रदाय, कबीर आदि सन्तो के पन्थ तथा अनेक वैष्णव सम्प्रदाय अपने-अपने सिद्धान्तो का प्रचार कर रहे थे। सूरदास यद्यपि एक विशेप सम्प्रदाय मे दीक्षित थे, परन्तु अपने युग के धार्मिक आन्दोलनो को सहृदय व्यक्ति तमाशबीन की तरह नहीं देख सकता। इसलिये जहाँ सूर के साहित्य में सम्प्रदाय के सिद्धान्तो का प्रतिपादन हैं, वहाँ तत्तत् सामयिक परिस्थितियो की ओर भी सकेत है।

"निरकुशा हि कवय" उक्ति के अनुसार कवि की कल्पना निस्सीम आकाश मे उडा करती है। कवि बन्धन मे बँध कर नही रह सकता। उसका मानसिक विकास उस स्थिति तक पहुँच जाता है, जहाँ उसके लिये कोई वस्तु अगम्य, अबोध्य और अलक्ष्य नही रहती। सभी उच्च कोटि के कवियो मे ये गुण पाये जाते हैं। फिर रससिद्ध भक्त शिरोमणि सूरदास का तो कहना ही क्या? सूर ने कही शब्दो के साथ खिलवाड की है, कही वाणी का विस्मय-कारक विलास दिखाया है और कही हृदय-रत्नाकर के अमूल्य भाव-रत्नो को मनमौजी तौर से लुटाया है।

अन्त में हम श्रीमद्भागवत के उन चार श्लोको का अनुवाद प्रस्तुत करते हैं, जिनको पद-भाषा मे गाने की प्रतिज्ञा सूरसागर मे मिलती है। भागवत के द्वितीय स्कन्ध के नवम अध्याय में भगवान् ने ब्रह्मा को स्वय अपने रूप का ज्ञान दिया है। जिन चार श्लोको में इस स्वरूप का वर्णन है, वे भागवत मे 'चतु श्लोकी' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

सृष्टि के पूर्व केवल मैं ही मैं था। मेरे अतिरिक्त न स्थूल था और न सूक्ष्म तथा न दोनो का कारण अज्ञान ही था। जहाँ यह सृष्टि नही है, वहाँ भी मैं ही मैं हूँ और इस सृष्टि के रूप मे जो भी प्रतीत हो रहा है, वह भी मैं ही हूँ तथा जो कुछ बच रहेगा वह भी मैं हूँ। वास्तव में न होने पर भी जो कुछ अनिर्वचनीय वस्तु मेरे अतिरिक्त मुझ परमात्मा में दो चन्द्रमाओ की तरह मिथ्या ही प्रतीत हो रही है अथवा विद्यमान होने पर भी आकाश के नक्षत्र-मण्डल मे राहु की भाँति जो मेरी प्रतीति नही होती, उसे मेरी माया समझना चाहिये। जैसे प्राणियो के पञ्चभूत-रचित छोटे-बडे शरीरो मे आकाशादि पञ्च-महाभूत उन शरीरो के कार्यरूप से निर्मित होने के कारण प्रवेश करते भी हैं और पहले से उन स्थानो और रूपो मे कारण रूप से विद्यमान रहने के कारण प्रवेश नही भी करते, वैसे ही उन प्राणियो के शरीर की दृष्टि से मैं उनमें आत्मा के रूप से प्रवेश किये हुए हूँ और आत्म-दृष्टि से अपने अतिरिक्त कोई वस्तु न होने के कारण उनमे प्रविष्ट नही भी हूँ। 'यह ब्रह्म नही है, यह ब्रह्म नही है'—इस प्रकार की निपेध-पद्धति से और 'यह ब्रह्म है, यह ब्रह्म है'—इस अन्वय-पद्धति मे यही सिद्ध होता है कि सर्वातीत एव सर्वस्वरूप भगवान् ही सर्वदा और सर्वत्र स्थित है। वही वास्तविक तत्त्व है। जो आत्मा और परमात्मा का तत्त्व जानना चाहते हैं, उन्हे केवल इतना ही जानने की आवश्यकता है।[1]

---

१ श्रीमद्भागवत स्कन्ध २, अध्याय ६, श्लोक ३२-३३-३४-३५।

सप्तम अध्याय

सूरदास के कृष्ण और गोपियाँ

पिछले अध्याय मे कथावस्तु की दृष्टि से हमने श्रीमद्भागवत और सूरसागर की संक्षिप्त तुलना की है, जिससे पता चलता है कि महाकवि सूरदास ने अपनी कथाओ का सूत्र तो विशेष रूप से श्रीमद्भागवत से तथा कही-कही अन्य पुराणो से अवश्य ग्रहण किया है, परन्तु उनके ग्रथन की विधि उनकी अपनी है और कृष्ण चरित-माला को उन्होंने एक मौलिक रूप प्रदान किया है। हम पहले कह चुके हैं कि पुष्टि-सम्प्रदाय में भागवत पुराण की विशेष मान्यता है और भक्ति-प्रतिपादन का यह एक अलौकिक ग्रन्थ है, परन्तु हमारे चरित-नायक सूरदास श्रीमद्भागवत के गीतात्मक भाग की भावात्मकता से ही विशेष प्रभावित दीख पडते हैं। जहाँ तक कृष्ण—गोपियो के चरित्र-चित्रण का प्रश्न है, वह सूरदास जी का अपना है। उन्होने अपने सभी पात्रो का केन्द्र राधा और कृष्ण को बनाया है। उनके सभी चरित्र राधा और कृष्ण के सम्बन्ध से ही विकसित होते हैं। श्रीमद्भागवत में तो राधा का उल्लेख ही नही है। गोपियो और कृष्ण का चरित्र चित्रण ही अति मानवीय और रहस्यात्मक ढग से हुआ है। श्रीमद्भागवत की रचना एक विशेष उद्देश्य से हुई थी, इसीलिए उसमें कृष्ण का अवतार चतुर्व्यूह रूप मे लिया है और बलदेव का प्राय उनके साथ सयोग रहा है वास्तव में भागवतकार का उद्देश्य कृष्ण-चरित को चित्रित करना नही है बल्कि उसके द्वारा कृष्ण का परम पुरुषत्व सिद्ध करना है, जो उसका प्रतिपाद्य विषय है। चाहे उसे कोई कृष्ण कहे, ब्रह्म कहे या भगवान् कहे उसके निर्विशेष, सविशेष, निराकार और साकार सभी रूपो का समन्वय प्रस्तुत किया गया है। श्रीमद्भागवत की गोपियो का वर्णन भी शास्त्रीय ढग का है, जिसके कारण उनके प्रेम की धाराओ मे स्थान-स्थान पर बाँध से लगे प्रतीत होते हैं। और यदि हम 'रासपचाध्यायी' को प्रक्षिप्त मानें तो गोपियो का चरित्र ही विकलाङ्ग हो जाता है। इसमें राधा का नाम तो नही आता, परन्तु गोपियो और गोपालो की प्रेम-चर्चा का विस्तार है। गोपालो के तो नाम भी गिनाये हैं, जैसे—श्रीदामा, सुदामा भद्रसेन अशु, अर्जुन आदि। यशोदा मे यद्यपि वात्सल्य भाव के दर्शन होते हैं परन्तु उस वात्सल्य का चित्रण इतना थोडा है कि उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व सम्मुख नही आता। भागवतकार यशोदा के पूरे जन्म की कथा पर जोर देकर तथा यशोदा पर कृष्ण की अलौकिकता प्रकट करके उस स्वाभाविक-वात्सल्य में ठेस-सी पहुँचा देता है। यशोदा के चरित्र का इतना मनोवैज्ञानिक विस्तार भी नही है, जितना सूर ने किया है। यशोदा की अपेक्षा नन्द के वात्सल्य का वर्णन कुछ विस्तार के साथ है।

सूरसागर के प्रधान पात्र भागवत की भाँति श्रीकृष्ण हैं किन्तु भागवत में तो लम्बे-लम्बे प्रसगो, ऐतिहासिक वर्णनो तथा अन्य विवरणो के कारण श्रीकृष्ण बहुत काल तक पाठको की दृष्टि से ओझल हो जाते हैं किन्तु सूरदास जी श्रीकृष्ण को क्षण भर भी अपनी

दृष्टि से ओझल नही करते। जिन प्रसङ्गो मे श्रीकृष्ण का सम्पर्क नही है, वे सूरदास को नही रुचते और उनका वर्णन उन्होने वर्णन की दृष्टि से ही कर दिया है। वास्तव मे सूरदास का सारा काव्य कृष्णमय है। यद्यपि सूरदास ने कृष्ण के सभी रूपो पर प्रकाश डाला है, फिर भी नन्द-नन्दन बालकृष्ण सूर-साहित्य मे बेजोड है। यशोदोत्सग-लालित बालकृष्ण ग्वाल-बालो के सखा रूप मे अनेक प्रकार की लीलाएँ करते हैं, फिर वे ही रसिक-शिरोमणि, रतिनागर गोपियो के सर्वस्व बनते हैं और राधावल्लभ के रूप मे व्रज मे विहार करते है। मथुरा पहुँचने पर उनके निष्ठुर और नीरस रूप के दर्शन होते हैं। जहाँ तक श्रीकृष्ण के असुर-सहारन, भक्त उद्धारण, अविनाशी पूर्ण ब्रह्म रूप का प्रश्न है, सूर ने भागवत की भाँति उन्हे परब्रह्म, पुरुपोत्तम, घट-घट के व्यापक, अन्तर्यामी, अज, अनन्त और अद्वैत माना है। उन्होंने अपने भगवान् को प्राय हरि नाम से सम्बोधित किया है। पुष्टि-सम्प्रदाय के अनुकूल उन्होंने परमानन्द स्वरूप ब्रह्म को वृन्दावन मे नित्य लीला करने वाले के रूप मे देखा है। सूरसागर मे स्थान-स्थान पर हमें इस प्रकार के सकेत मिलते हैं, जहाँ सूर ने कृष्ण और ब्रह्म की एकता स्थापित की हैं, परन्तु सूर का मन उस प्रकार के विवेचन मे अधिक नही रमा है। नन्द-नन्दन गोपाल कृष्ण ही उनके इष्टदेव हैं और उसी के वर्णन मे कवि की तल्लीनता और भावात्मकता के दर्शन होते हैं। विशेषकर विनय के पदो मे, जिनकी रचना सूरदास जी ने सम्भवत. सम्प्रदाय मे दीक्षित होने से पूर्व ही की थी, उन्होंने भगवान् के उस रूप को लिया है जो भक्त की दास्य-भाव की वैराग्य पूर्ण भक्ति का आलम्बन है। इन पदो मे भगवान् की भक्त-वत्सलता तथा दयालुता और भक्त की आतरिक वेदना तथा निराश्रितता प्रकट की गई है। दैन्य और दास्य-भाव की दृष्टि से सूर के विनय के पद गोस्वामी तुलसीदास की 'विनय पत्रिका' की तुलना के साथ रक्खे जा सकते हैं।[१] विनय के पदो में भगवान् के उस रूप की ओर संकेत है, जो आगे चलकर अनेक प्रकार की अलौकिक लीलाएँ करता है तथा जो असुरो और दुष्टो का सहारक, भक्तो और साधुओ का रक्षक है। इन पदो मे सूर के हरि—विष्णु, राम और कृष्ण के पर्यायवाचक हैं।

सूर के कृष्ण चरित्र मे एक बात यह भी लक्ष्य करने की है कि भागवतकार की भाँति भगवान् की लीलाओ का गान करते हुए सूर अपने इष्ट के अलौकिक रूप को नहीं भूलते। उनके अगम, अगोचर लीलाधारी परब्रह्म स्वरूप भगवान् व्रज मे उस रस का प्रवाह करने आये हैं, जो ब्रह्मा आदि के लिए दुर्लभ है।[१] कृष्ण की इस अलौकिकता का सूरदास जी बार-बार वर्णन करते हैं। जन्मोत्सव के विभिन्न अवसरो पर आनन्द-बधाइयों के बीच भी सूर कृष्ण के इस अलौकिक रूप को नहीं भूले हैं। आगे चलकर वत्सहरण लीला के समय कालिय-दमन, गोवर्द्धन धारण, दान-लीला इत्यादि सभी अवसरो पर सूरदास जी भगवान् के इस रूप का ध्यान दिलाते हैं। परन्तु सूरदास जी का मुख्य उद्देश्य भागवतकार की भाँति कृष्ण के चरित्र की अलौकिकता चित्रित करना नही है, उन्होंने तो कृष्ण के मानव रूप को ही प्रधानता दी है। यही कारण है कि सूर के चित्रण मे कृष्ण के अति-प्राकृत और लोकातीत तथा मानवीय रूप की दो धाराएँ समानान्तर रूप से बहती हुई चलती हैं। आगे चलकर मानवीय रूप की स्वाभाविकता के कारण अति-प्राकृत स्वरूप की धारा दबी-सी लगने लगती है। पूतना-वध से लेकर भौमासुर-वध तक कृष्ण की बाल लीलाओ में जितने अलौकिक कृत्य हैं, सभी मे भगवान् के असुर सहारक और भक्त उद्धारक रूप के दर्शन होते

१ सूरसागर, सभा पद ६२१

है। इन स्थलो के चित्रण मे भी सूर ने यह विशेपता रक्खी है कि दुस्तर से दुस्तर कार्य करने में भी समर्थ श्रीकृष्ण सुकुमार कोमल और मधुर बने रहते हैं। कालीय-दमन लीला के अवसर पर उरगनारी कृष्ण की कोमलता को देखकर अकुला उठती है और बार-बार कृष्ण को सम्बोधित करती हुई कहती है, "अरे तू किसका बालक है ? तू यहाँ से भाग जा। यदि वह जाग उठेगा तो तुझे भस्म कर देगा।"[1] इस प्रकार के भाव सूर ने प्राय प्रत्येक असुर सहार लीला के अवसर पर प्रकट किए हैं। हमें कृष्ण का एक भी ऐसा चित्र नही मिलता, जो कृष्ण की सुकुमारता तथा कोमलता का व्यजक न हो।

सूरसागर में कृष्ण के बाल रूप का जैसा चित्रण हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। चरित्र चित्रण की दृष्टि से नन्द-नन्दन बाल कृष्ण के वर्णन को हम चार भागो में विभाजित कर सकते हैं—

१—रूप-सौदर्य वर्णन, २—कृष्ण की क्रीडा और चेष्टाओ का वर्णन, ३—विभिन्न सस्कारो, उत्सवों और समारम्भो का वर्णन ४—भगवान् का अलौकिक चरित्र। ये सूर के चारो ही प्रकार के वर्णन पूर्ण हैं। श्रीमद्भागवत तथा अन्य पुराणो में भी ये वर्णन सूक्ष्म रूप से मिलते हैं, परन्तु सूर ने अपनी कल्पना के योग से इन वर्णनो में विशेप स्वाभाविकता, मनोवैज्ञानिकता और भावात्मकता भर दी है। व्रज में प्रकट होते ही कृष्ण अपने अनुपम सौन्दर्य से सारे व्रज को आकृष्ट कर लेते हैं—

व्रज भयो महर के पूत जब यह बात सुनी।
सुनि आनन्दे सब लोग, गोकुल गनक गुनी।।
... [2]

कवि ने बालक के एक-एक कृत्य को लेकर बडे विस्तार के साथ वर्णन किया है। नेग लेने वालो का झगडना, नार छेदन में बिलम्ब, ग्राम के गोपो की चर्चा आदि सभी विपयो को सूर ने लिया है। कृष्ण का जन्मोत्सव तो और पुराणो में भी आया है, परन्तु सूर ने इस वर्णन में मनोवैज्ञानिकता के साथ अपने समय की प्रचलित प्रथाओ का समावेश करके उसे अधिक सजीव और प्रभावोत्पादक बना दिया है और अपनी प्रतिभा के बल से बडे-बडे सुन्दर चित्र उपस्थित किये हैं। पालने में झूलना, अँगूठा चूसना, लोरियो के साथ सोना और प्रभातियो के साथ जागना आदि शैशव सम्बन्धी प्रत्येक बात का कवि ने बडे विस्तार और सूक्ष्म से सूक्ष्य ब्यौरे के साथ वर्णन किया है। सूर ने कृष्ण के शैशवकालीन स्वाभाविक क्रिया-कलापो की इतनी प्रचुरता कर दी है कि उनके अलौकिक और अति-प्राकृत कृत्य प्राकृत बाल-चरित्र को अभिभूत नही कर सके हैं। अनेक सस्कारो तथा उनके जागने से लेकर सोने तक की अनेक क्रियाओ का वर्णन सूर ने बडे विस्तार से किया है। प्रत्येक पद में नये भाव और नई व्यजना है। सूर के इस स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक चित्रण को देखकर पाठक सन्देह मे पड जाता है कि क्या कोई अन्धा व्यक्ति इस प्रकार के वर्णन कर सकता है। कृष्ण की सहार-लीलाओ में भी सूर ने विशेष सहृदयता का परिचय दिया है, क्योकि सूर ने पूतना आदि की आपत्ति उपस्थित होने पर माता-पिता तथा ग्वाल-बालो की मानसिक विह्वलता का बडा सुन्दर वर्णन किया है। पूतना-वध के अनन्तर कवि कहता है

१ सूरसागर सभा पद ११६८
२ सूरसागर सभा पद ६४२

जसुमति विकल भई छिन कल ना।
लेहु उठाय पूतना उर तें मेरो सुभग सांवरो ललना ।।[1]

यहाँ ललना शब्द में कितनी गहरी व्यंजना है। ऐसे आपत्-काल में मातृ-हृदय मे कल का क्या काम। सभी राक्षसो के वध के समय सूरदास जी ने सगे सम्बन्धियों की इसी प्रकार की आतुरता और विह्वलता का वर्णन किया है। साम्प्रदायिक दृष्टि से भक्ति नामक भाव को चरमोत्कर्ष पर पहुँचा कर भक्ति-रस में परिणत करना ही इन स्थलो का उद्देश्य है। भारतीय भक्ति परम्परा के अनुकूल भगवान् के दिव्य मगल स्वरूप को तीन गुणों से विभूषित किया जाता है—अनन्त शक्ति, अनन्त सौन्दर्य तथा अनन्त शील। सूरदास जी की वृत्ति अनन्त सौन्दर्य की ओर ही विशेष रमी है। भक्ति का आधार श्रद्धा है। श्रद्धा का पूर्व भाव आकर्षण है, जिसका स्थैर्य सौन्दर्य पर अवलम्बित है। परन्तु सौन्दर्य मे वाह्य और अन्त: दोनो का सामञ्जस्य होना चाहिए। यही सौन्दर्य सच्चे प्रेम को जन्म देता है जो भक्ति नामक भाव का स्तम्भ है। इसलिए यदि सौन्दर्य को भक्ति का प्रथम सोपान कहे तो अत्युक्ति न होगी। प्रेम नामक भाव सौन्दर्य से ही जाग्रत होता है और यदि वह सौन्दर्य आनत्य विशिष्ट है तो प्रेम की सत्ता स्थिर हो जाती है। प्रेम नामक भाव में आत्म समर्पण का भाव निहित है और सौन्दर्य में नव-नव भावोन्मेषपशालिता। इसीलिए रमणीयता का रूप "क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूप रमणीयताया" बताया है। कृष्ण की सुन्दरता भी अद्वितीय है। कवि ने अनेक पदो में उनकी सुन्दरता का वर्णन किया है.

सोभा सिन्धु न अन्त रही री।
नन्द-भवन भरि पूरि उमँगि चलि, व्रज की वीथिनि फिरति वही री।[2]

वास्तव में व्रज में शोभा का ऐसा समुद्र उमड पडा, जिसके एक-एक बिन्दु का सौन्दर्य विचित्र है। कृष्ण की घुँघराली अलकें, दूध की दँतुलियाँ, काजर का डिठौना वडे ही मनोहारी हैं। उनके इस अनुपम सौन्दर्य पर समस्त व्रज-नारियाँ लट्टू हैं।[3]

वच्चे के विकास के साथ साथ माता-पिता के हृदय की कामनावल्लरी भी विकसित होती है। माता-पिता की यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि वालक कव वडा हो! दूध के दाँतो ने वच्चे के विकास की सूचना दे दी है। यशोदा मैया फूली नहीं समाती :

सुत मुख देखि यशोदा फूली।
हर्षित देखि दूध की दतियाँ प्रेम-मगन तन की सुधि भूली।[4]

'श्रीमद्भागवत' में भी दशम-स्कन्ध के आठवें अध्याय के २१ से २८ तक के श्लोको में इस वाल-लीला का वर्णन हुआ है, परन्तु उस वर्णन में सूर के इस विस्तृत और मनोवैज्ञानिक वर्णन की आंशिक शोभा भी नहीं लक्षित होती। घुटनो चलने का उल्लेख भागवत में भी है और वहाँ श्याम तथा वलराम का वडा ही सुन्दर चित्र दिया भी है। परन्तु सूर ने इस अवसर पर न जाने कितने कल्पनात्मक चित्र उपस्थित किये हैं। मणिमय आङ्गन में बालक कृष्ण का घुटनो चलना सूर के मन में ऐसा वसा है कि उन्होंने अनुपम अप्रस्तुत-योजना के वल पर इस घटना को अत्यन्त सुन्दर ढँग से चित्रित किया है। वच्चे को लक्ष्य करके माता-पिता में जो होड होती है, उसका सजीव और स्वाभाविक चित्र देखिये.

---

१ सूरसागर 'सभा' पद ६७२
२ सूरसागर 'सभा' पद ६४७
३ वही पद ७०८-७११
४ वही पद ७००

इततें नन्द बुलाइ लेत हैं, उततें जननि बुलावै री।
दम्पति होड करत आपुस में, स्याम खिलौना कीन्हौ री ॥[1]

सचमुच बालक माता-पिता का सजीव खिलौना होता है और फिर तीनो लोको की की सुन्दरता के सार चपलता के पारावार कृष्ण जैसे बालक का तो कहना ही क्या! कृष्ण और बडे हुए, डरते-डरते से खडे होने लगे, यशोदा उन्हे भुजा पकड कर चलाती है, पर उन्हे तो ठीक से खडा होना भी नही आता, चलें कैसे? लडखडा कर गिर पडते हैं और फिर क्रम-क्रम से भुजा टेक कर दो दो पग चलते हैं।[2] माता की स्वाभाविक उत्सुकता होती है कि उसका बालक शीघ्र से शीघ्र उठना, बैठना, चलना, बोलना सीख ले। उसके लिए वह अनेक प्रयत्न करती है। इसी प्रवृत्ति का सुन्दर चित्रण इस पद में हुआ है और जब कृष्ण चलना सीख लेते हैं तो यशोदा को कितना हर्ष होता है? सूर ने इसका सुन्दर वर्णन किया है।[3] लडखडा कर दो पग टेकने वाला बच्चा और बडा होता है, चपलता बढ जाती है, हठ जोड पकडती है, चलने में जो लडखडाहट थी, वह दूर हो गई, आँगन में दौड लगाने लगे और फिर तो—

आँगन स्याम नचावही जसुमति नँदरानी।
तारी दै दै गावही, मधुरी मृदु बानी ॥[4]

पर नाँचने वाले कृष्ण हठ पर उतरते हैं तो जननी को भी नाच नचा देते हैं। अब वे बोलने भी लगे। तोतली बोली में जब वे नन्द को बाबा, यशोदा को मैया और हलधर को भैया कहकर माता-पिता के कर्ण-कुहरो में सुधा-सीकर की मधुर वर्षा करने लगे। चपलता और बढी और उसके साथ ही विनोद-प्रियता और रूठना भी। दधि-घट मे अपना प्रतिबिम्ब देखा तो बिगड गये, यशोदा क्या करे? उसे उसी उपाय का आश्रय लेना पडा जो प्रत्येक नारी का मातृत्व उसे सिखा देता है, कृष्ण को बहका दिया—दधि-पात्र में हाथ डालकर हिला दिया और प्रतिच्छाया गायब, कृष्ण प्रसन्न हो गये।[5] यह सब चेष्टाएँ बालक और माँ के हृदय को कितने स्पष्ट रूप से सामने रख देती हैं? कैसा मनोवैज्ञानिक वर्णन हैं? कितना भावात्मक? ऐसे दृश्य देखने हो तो 'सूरसागर' के पन्ने पलटिये और फिर देखिये वात्सल्य और बाल भावों का कितना सुन्दर अलबम आपके सामने है। कृष्ण दूध नही पीते, हठ करते हैं, माखन और रोटी के लिए। परन्तु माँ अपने लाल को बिना दूध' कैसे रहने दे, नही तो वह बढेगा कैसे? पुष्ट कैसे होगा? यशोदा फिर उसी उपाय का आश्रय लेती है—

कजरी को पय पियहु लला तेरी चोटी बढै।

इन बाल-सुलभ एव जननी-सुलभ चेष्टाओ के बीच-बीच में कनछेदन आदि अनेक सस्कारो का कवित्वमय वर्णन हुआ है। प्रात काल ही कृष्ण को जगाने के प्रयत्न, कलेवा-वर्णन, खेल की योजनाएँ आदि कवि की अपनी कल्पना है। भागवत मे ये प्रसग नही हैं। सूर के कृष्ण की प्रत्येक गति, प्रत्येक कर्म, प्रत्येक चेष्टा मे अद्भुत चपलता है। अजीब बाँकपन है।

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद ७१६
२ वही पद ७३०
३ वही पद ७५१
४ २ वही पद ७५
५ वही पद ७७५

कुछ और बडे होने पर कृष्ण ग्वालो के साथ खेलने के लिये उत्सुक होते हैं। इन बाल क्रीडाओ के अन्तर्गत बच्चो की मनोवृत्तियो का—आपस में एक-दूसरे को खिजाना, चिढाना, शिकायत करना—जैसा क्रमबद्ध वर्णन सूर ने किया है, वैसा कोई अन्य कवि नही कर पाया। प्रज्ञाचक्षु सूर की तीव्र दृष्टि से वे सूक्ष्म भाव और दृश्य भी नही बच सके हैं जो यथार्थ होते हुए भी बडे-बडे कवियो की नजरो से ओझल हुए रहते हैं। इन सब विषयो को देखकर सूर की प्रतिभा पर आश्चर्य होता है। स्तन्य छुडाने की चेष्टा मे यशोदा का यह कथन कितना स्वाभाविक है –

"ब्रज लरिका तोहि पीवत देखत हसत लाज नहिं आवत।"

इतनी बात का कदाचित् बालक पर असर न हो, इसलिये उसकी सुन्दर प्रिय वस्तु के खराब हो जाने की आशका का भी वह उपयोग करती है—

"जैहैं बिगरि दांत यह आछे ताते कहि समझावति।"

परन्तु माया से ससार को भुलावे मे डालने वाले ब्रह्म स्वरूप कृष्ण को क्या भुलावे में डाला जा सकता है, देखिये, यशोदा की बातो को सुनकर क्या कर रहे हैं—

"सूर श्याम यह सुनि मुस्काने, अञ्चल मुखहि लुकावति।"[१]

कृष्ण का मुस्काकर यशोदा के आंचल में मुख छिपा लेना भी क्या भुलाया जा सकता है? हर्ष, स्नेह,, गर्व, आदि भावो के साथ बौद्धिक-विकास का तथ्य भी कितने आकर्षक रूप से व्यञ्जित हुआ है। यह यशोदा और कृष्ण का नही, मां और बच्चे का भावात्मक स्निग्ध चित्र है।

ग्वाल-बालों के साथ खेलने के अनेक चित्र सूर ने उपस्थित किये हैं। बाल-स्वभाव जन्य धृष्टता, कौतुक-प्रियता, चतुरता आदि सब गुण कृष्ण मे हैं। इन सब गुणो का भी क्रमश विकास हुआ है। माटी-भक्षण प्रसङ्ग में कृष्ण की जो 'लॅगराई' देखी गई थी वह 'माखन-चोरी' मे पराकाष्ठा पर पहुँच गई।[२] अब तक कृष्ण का सौन्दर्य ही गोप-गोपिकाओ को लुभाता रहा और अपनी चेष्टाओ के कारण वे माता-पिता के वात्सल्य के आलम्बन बने किन्तु आगे चलकर सूर न कृष्ण की उन चेष्टाओ को भी लिया है जो गोपियो के प्रेम का आधार बनी। माखन-चोरी का प्रसङ्ग भागवत के नवें अध्याय में भी उखल-प्रसङ्ग में आया है परन्तु सूर के वर्णन में जो सजीवता है, भागवत में उसका लेश भी कहां? बाल-सुलभ उपायो की कल्पना में सूर जितने चतुर हैं, उनके आराध्य उतने ही उन उपायो की योजना में। कृष्ण की 'माखन-चोरी' सारी ब्रज-नारियो की चर्चा का विषय बन गई, उनकी 'नाक में दम' आ गया, कृष्ण उनके लिये समस्या बन गये; ऐसी समस्या, जिसमे बौद्धिक विचारणा की आवश्यकता को श्रम नहीं करना पडता, अपितु हृदय के उन्मुक्त होन का साधन प्राप्त होता है, जिसे सुलझाने की अपेक्षा उलझाने का ही प्रयत्न किया जाता है और जो उत्तरोत्तर जटिल होती हुई भी हृदय में ऋजुता और हर्ष का सचार करती है। वे कृष्ण पर क्रोध करती हैं, उन्हे माखन-चोरी से विरत करने के लिये नहीं, अपितु प्रोत्साहन देने के लिये। अपना पीछा छुडाने के लिये नही, हृदय को प्रेम-बन्धन मे बँधवाने के लिये। यशोदा के पास ऐसी ही बनावटी शिकायत भी गई, जैसा गोपियो को क्रोध आता

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ८८०
२ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ८८२ से ६५८ तक

था, परन्तु यशोदा अपने ५ वर्ष के साँवरे को कैसे दोषी स्वीकार करे ? उसका तनक-सा गोपाल चोरी कर सकता है ? यह बात उसके गले ही नही उतर पाती।[1] कृष्ण अपनी कला में पूरे हैं। जब कभी पकड़े भी जाते हैं, तो—

'मुख तनि चितै, विहँसि हरि दीन्हौ, रिस तब गई बुझाई।"

फिर यह स्वाभाविक ही था—

"लियौ स्याम उर लाइ ग्वालिनी सूरदास बलि जाई।"[2]

कृष्ण की यही चतुराई उनकी चोरी को दबा देती है और चतुराई भी ऐसी है कि—

"चोरी अधिक चतुरई सीखी जाइ न कथा कही।"[3]

यशोदा के विश्वास को दृढ़ करने के लिये वे कृष्ण चमत्कारपूर्ण कृत्य भी कर लेते हैं। गोपियाँ उन्हे चोरी के अपराध मे सप्रमाण पकड कर यशोदा के पास लाईं, पर उल्टी गोलियाँ खानी पडी, क्योकि कृष्ण बहुत देर से यशोदा के सम्मुख ही खेल रहे थे।[4] इसी प्रकार जब कोई गोपी कृष्ण को पकड लाती है तो यशोदा के सामने आकर उसे पता चलता है कि वह कृष्ण के धोखे में किसी गोा-कन्या को ही ले आई।[5]

धीरे-धीरे कृष्ण के उत्पात इतने बढ जाते हैं कि यशोदा को विश्वास करना पडता है कि कृष्ण चोरी अवश्य करता है। वह उन्हे समझाती है, कभी डांटती है और कभी बाँधकर साँटी की पहुनाई करने की धमकी भी देती हैं। बेटा घर का माखन छोडकर बाहर चोरी करता फिरे और माँ को खीझ न आए यह हो तो नही सकता।[6] गोपियाँ भी कहाँ तक सहे ? बात बढती ही जाती है और यहाँ तक नौबत पहुचती है कि गोपियाँ यशोदा पर भी व्यग्य करती हैं—

अपनो गाँऊ लेहु नन्दरानी।
बडे बाप की बेटी पूतहि भली पढावति बानी॥

गोपियो की यह उक्ति भी कितनी मर्मस्पर्शी है।

'यशोदा तू बडी कृपण है परमात्मा का दिया हुआ दूध-दही—सब कुछ तेरे पास है, बुढापे मे तेरे एक बेटा हुआ है, उससे तू दूध-दही छिपाकर रखती है।[7]

यशोदा इन सब उलाहनो से तग आ गई है और इधर कृष्ण अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिये विभिन्न उपाय काम में लाते जाते हैं। दोने को पीठ पीछे छिपा लेना तथा अपनी माता की सहानुभूति प्राप्त करने लिये नई-नई कहानियाँ गढ लेना आदि नित्यप्रति की क्रिया हो गई और अन्त में जब किसी गोपी की शिकायत पर यशोदा ने कृष्ण को ऊखल से बाँध ही दिया और पीटने को तुल ही गई तो गोपियो का बनावटी क्रोध काफूर हो गया और वे कृष्ण का पक्ष लेने लगी। ऐसी स्थिति मे यशोदा का चिढ जाना स्वाभाविक ही था। वे गोपियो की निष्ठुरता के लिये उन्हे खरी-खोटी सुनाती है और कृष्ण के प्रति उनका वात्सल्य सजग हो उठता है। वे कहती हैं—

कहन लगीं अब बढ़ि-बढि बात।
ढोटा मेरो तुमहि बँधायो, तनकहि माखन खात॥[8]

---

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ६१०-११-११
२ सूरसागर पद ६१५
३ सूरसागर पद ६०६
४ वही पद ६२६
५ वही पद ६३३
६ वही पद ६४७-६४८
७ वही पद ६४३
८ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ६७३

'ढोटा' और 'तनकहि माखन' शब्द यहाँ यशोदा के मातृ-हृदय को खोलकर रख देते हैं। मक्खन तो क्या, संसार का समस्त वैभव भी कल्याणकारिणी जननी अपने वात्सल्य पर वार सकती है। यशोदा बहुत खीझ गई हैं तभी तो कृष्ण के प्रति इतनी निष्ठुर बनी। कृष्ण ढीठ भी बहुत हो गये, दिन निकलते ही उलाहने आने प्रारम्भ हो जाते हैं। जब बलराम कृष्ण को खुलवाने के लिए अनुनय-विनय करते हैं तो यशोदा यही उत्तर देती हैं :

कहा करौं हरि बहुत खिझाई।
सहि न सकी, रिस ही रिस भरि गई, बहुतै ढीठ कन्हाई।
मेरौ कह्यौ नैंकु नहिं मानत करत आपनी टेक।
भोर होत उरहन लै आवति, ब्रज की वधू अनेक।[1]

अन्त में कवि इस घटना में अलौकिकता का पुट देकर समाप्त करता है। यशोदा की ममता उभर आती है। वह अपने आप को ही कोसने लगती हैं, "बरैं जेवरी जिन तुम बाँधे परैं हाथ भहराइ।"

धीरे-धीरे कृष्ण गो-दोहन योग्य हो जाते हैं और ग्वालिनो से ही गो-दोहन क्रिया सीखते हैं। बाल-क्रीडाओं में ही कृष्ण के प्रति गोपियों का पूर्ण आकर्षण हो चुका है, जिसका आभास कवि कृष्ण के ही भोले कथन में देता है :

मोहि कहत जुवती सब चोर।
× × × ×
बोलि लेति भीतर घर अपनैं, मुख चूमति भर लेति अँकोर।
माखन हेरि देति अपनै कर, कछु कहि विधि सौं करति निहोर।
जहाँ मोहिं देखति तहँ टेरति, मैं नहिं जात दुहाई तोर।[2]

और तभी माता यशोदा कृष्ण को गले से लगाकर कहती हैं, "वै तरुनी कहँ बालक मोर।"

कृष्ण का यह बाल-चरित हर प्रकार से पूर्ण है। इस चित्रण की विशेषता यह है कि बालकृष्ण एक ओर तो रति-भाव के आलम्बन हैं और दूसरी ओर भक्ति-भाव के वात्सल्य-भाव के चित्रण में कृष्ण एक साधारण बालक के रूप में ही हैं। इन दोनों प्रकार के भावों का सामञ्जस्य सूर ने बडे मनोवैज्ञानिक ढग से किया है। भक्ति-भाव के आलम्बन कृष्ण भक्तो के सर्वस्व, अनन्त-शील, शक्ति और सौन्दर्य के आगार हैं। प्राकृत और भौतिक रूप में यशोदा, नन्द, एव गोपियों के लिए जो वात्सल्य है, वही भक्तो के लिए भक्ति-रस है। यही कारण है कि सूर जब कृष्ण के मनोमुग्धकारी सौन्दर्य, उनकी लीलाओं, चाञ्चल्य आदि का मनोवैज्ञानिक एव अनुभूतिगम्य वर्णन करने लगते हैं तो भगवान् का वह दिव्य-मंगलमय स्वरूप उनके सामने उपस्थित हो जाता है, जिसमें तन्मय होकर वे भक्ति के आवेश में कृष्ण के अलौकिक स्वरूप का वर्णन करने लगते हैं। इसे यदि हम वात्सल्य रस में अद्भुत-रस का समावेश मानें तो अनुचित न होगा।

कृष्ण के गोपाल-रूप के दर्शन उनकी बाल-क्रीडाओं से ही होने लगते हैं। जब वे गो-दोहन-योग्य हो जाते हैं, उसी समय नन्द वृन्दावन को प्रस्थान करते हैं। नन्द-नन्दन

---

१ सूरसागर पद ६६५
२ वही पद १०१६

ने नन्दालय मे वडी लीलाएँ की और सूर ने वडी तन्मयता से उनका गान किया है। इसके पश्चात् वृन्दावन की लीलाएँ प्रारम्भ होती हैं। अब तक की कृष्ण की चेष्टाएँ वात्सल्य भाव की उद्दीपक ही कही जायेंगी। शृङ्गारिक आचार्य इन वाल-लीलाओ में भी शृङ्गार का ही दर्शन करने की चेष्टा करते हैं और गोपी-कृष्ण का शृङ्गार माखन प्रसग से ही मानते है। उलूखल-लीला को भी वे शृङ्गारिक-लीला ही मानते हैं, क्योंकि कृष्ण के बाँधे जाने पर वे ही गोपियाँ उन्हे छुडाने का प्रयत्न करती हैं, परन्तु हम इस मन्तव्य से सहमत नही हैं, क्योंकि यह सव अनुनय-विनय वात्सल्य-भाव मे भी सम्भव है। दूसरे, गोपियो का क्रोव और शिकायत कृत्रिम थे और वे उस दण्ड के लिए अपने आप को अपराधिनी मानती थीं।

गोचारण के प्रसग मे भी सूर ने अनेक रम्य चित्र उपस्थित किय हैं। प्रात काल ही गोचारण के लिए जाना, माता का व्यग्रता-पूर्वक प्रतीक्षा करना और शाम को घर आने के वाद भी दूसरे दिन जाने की उत्सुकता के कारण सोना तक नहीं आदि, ऐसी घटनाएँ हैं, जो स्वाभाविक, मनोवैज्ञानिक एव याथार्थ्य युक्त हैं। प्रथम दिन के गोचारण का अनुभव करने पर नित्य प्रति गो चराने जाने की भूमिका कृष्ण इस प्रकार वांधते हैं -

मैं अपनी सव गाइ चरैहौं।
प्रात होत वल के सग जैहो तेरे कहे न रैहो।
ग्वाल-वाल गाइनि के भीतर, नेंकहु डर नहि लागत।
आज न सोवौं नन्द दुहाई रैनि रहोगो जागत।[1]

भला यह कैसे हो सकता है कि अन्य ग्वाल-वाल गायें चरायें और कृष्ण घर पर वैठे रहे।[2] यह स्वाभाविक है कि वच्चा उसी के साथ रहना चाहता है, जो उससे सहानुभूति और स्नेह प्रदर्शित करता है। खिजाने और चिढाने वालो के साथ जाना वह पसद नहीं करता, यही कारण है कि कृष्ण रैंता, पैंता, मना, मनसुका आदि गोप-वालको के साथ न जाकर दाऊ के साथ ही जाना पसंद करते हैं।[3] यद्यपि इन प्रसङ्गो में भी हमें यत्र-तत्र भगवान् के अलौकिक चरित्रो का चित्रण मिलता है, परन्तु अधिकांश वर्णन इसी मानवीय धरातल पर स्वाभाविकता के साथ हुए हैं। वन मे गोपो का परस्पर मिलकर भोजन करना, अलग-अलग वनो को वांटना, वारी-वारी से गौओ को घेर कर लाना आदि घटनाएँ मानव-जीवन से ही सवद्ध हैं। इन प्रसङ्गो मे कवि वात्सल्य-रस के उन पीयूप विन्दुओ को ढालना नही भूला है, जो स्वाभाविक स्नेहवश उद्गार के रूप मे माता-पिता के हृदय से निकलते हैं। जो ग्वाले छाक लेने के लिये घर जाते हैं, उनसे यशोदा अपने 'कान्हा' की वात अवश्य पूछती और उत्सुकता से सुनती है। गोचारण प्रसङ्ग में ग्राम्य-जीवन के सरल, सरस चित्र हैं, साधारण ग्वालो की दैनिक-चर्या का विवेचन है, जिसमे आडम्वर का लेश नहीं, ढोग का निशान नही और कृत्रिमता का नाम नही। मानव-जीवन एव वाह्य-प्रकृति के तादात्म्य का जैसा अनुभव इन प्रसङ्गों में हो सकता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। यह प्रसङ्ग सरल भारतीय जीवन का सुन्दर विश्लेषण करता है और उन्मुक्त प्रकृति के अचल से झाँकते हुए विराट् पुरुप की झाँकी का अवसर प्रदान करता है। यही कारण है कि भारतीय साहित्य मे गोचारण,

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद १०३८ से १२८६ तक
२ वही पद १०३८
३ वही पद १०४२

वन-गमन, आश्रम-स्थान, आदि का वर्णन विशेष रूप से प्रतिष्ठित हुआ है और साहित्यिक आदर्श माना गया है, क्योकि प्रकृति के अङ्क में क्रीडा करने वाले कलाकार ही उसके समर्ग से उपलब्ध भाव-सुमनो से कविता-कामिनी का समुचित शृङ्गार कर सकते हैं। प्रकृति का अनन्त वैभव उनके मानस की सकीर्णता को दूर कर उन्हे असीम चिर सत्ता के अस्तित्व का आभास देकर उनके हृदय को सासारिक बधनो से मुक्त कर काल और देश की परिधि के बाहर ले जाता है और 'विश्वकवि' के आसन पर बिठा देता है। सूर का गोचारण उनके हृदय की विशालता, कोमलता, प्रकृति-प्रेम, सरलता और पवित्रता का परिचायक है। प्राचीन समय में दूसरे देशो के साहित्य में भी इस प्रकार के दृश्यो को प्रधानता मिली थी। इस 'गोचारण' प्रसङ्ग से कृष्ण के 'गोपाल' नाम की सार्थकता मे कोई सशय ही नही रहता।

कृष्ण कोरे गोप नही हैं, न अबोध बालकृष्ण ही। प्रकृति के मुक्त वातावरण में उनके अङ्गावयवो के विकास ने शरीर को और भी सुन्दर बना दिया। सिर पर मोर के पखो का मुकुट आया और अधरो पर मुरली ने आसन जमाया। नटवर की सारी चेष्टाएँ उन्होने अपना ली। गोपियो के साथ उनका शिशुता से ही साहचर्य था। वे उन पर तभी से मुग्ध थी, परिचय स्नेह में और स्नेह प्रेम में परिणत होता हुआ प्रणय-पद की ओर अग्रसर होने लगा। सुन्दर रूप का मोहक प्रभाव और चपलता, चतुरता एवं औदात्य से परिपूर्ण विनोद-क्रीडाएँ ही गोपियो को कृष्ण के प्रति आकृष्ट करने के लिये पर्याप्त थे। तिस पर उनकी चर-अचर-मोहिनी मुरली ने तो गजब ही कर दिया। उसकी स्वर-लहरी ने उन्हे 'आरज-पथ' त्यागने के लिये विवश कर दिया। उन्हे कृष्ण के प्रेम-जजाल में फँसा कर मुरली उनके लिये ववाले-जान ही साबित हुई। मुरली का उल्लेख कवि ने अनेक बार किया है[1]। उसका प्रभाव व्यापक है, स्थावर-जङ्गम, पवन, यमुना-जल सब उससे प्रभावित हैं। फिर प्रकृति से ही भावुक श्याम के साथ-साथ खेल कर किशोरावस्था को पार करने वाली ब्रजबालाओ का तो कहना ही क्या ? वे कृष्ण के हाथो बेमोल बिक जाती हैं, तन्मय हो जाती हैं और उनके वन से आने की बाट जोहती रहती हैं। वास्तव में गोपियो की शृङ्गार-रति का प्रारम्भ "गारुडि प्रसग" से ही समझना चाहिये, जब कृष्ण गारुडि के वेष में राधा से मिलकर युवतियो का मन हर लेते हैं और ब्रज की तरुणियो के हृदय में मिलन की उत्कठा का सचार करते हैं। राधिका के सिर से तो उन्होंने लहर उतार दी, परन्तु उसे शतगुनी बनाकर ब्रज-बालाओ पर डाल दिया। वे कृष्ण को पति रूप मे पाने के लिए उद्विग्न हो उठी और आशुतोष की पूजा करने लगी। साधना होती रही हृदय बँधता गया, भावना दृढ होती रही, प्रेम का विकास चलता रहा और चीर-हरण लीला में कृष्ण ने उनकी कठिन-साधना को पूर्ण किया। पनघट-लीला तक आते-आते तो गोपियाँ 'कुल की कानि' और लोक की मरजादा को त्याग कर कृष्ण को पति रूप में मानने लगी। कृष्ण की धृष्टता भी बढ़ी, पनघट-लीला की छेड-छाड, धर-पकड एव अन्य केलि-क्रीडाओ का बडा ही सरस वर्णन सूर ने किया है। गोपियाँ उनसे इतनी खुल जाती हैं कि कोई अन्तर ही नही रहता। कृष्ण की इन शृङ्गारिक चेष्टाओ और केवल १० वर्ष की आयु को देखकर दोनो में सगति न बैठने के कारण मन में विरोधी भाव उठते हैं, जिनका समाधान अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुसार विभिन्न साम्प्रदायिकों ने किया है। सूर ने भी अलौकिकता का पुट देकर इन विरोधो को समाहित किया है।

---

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद १२३८ से १२५६ तक

वाले उद्धव को 'मधुकर' नाम देकर गोपियाँ बरस पडती हैं और उद्धव की खूब खबर लेती हैं। अन्त मे अपनी पराजय मे भी गौरव का अनुभव करने वाले उद्धव को गोपियो के श्याम-रङ्ग मे नख से शिख तक डूबे हुए लौटते देखकर कृष्ण फिर एक बार मुस्का देते हैं। 'भ्रमरगीत' में सूर की गोपियो का स्वरूप सरल, निश्छल और ग्रामीण है। भागवतके 'भ्रमरगीत' से तुलना करने पर सूर के 'भ्रमरगीत' की मौलिकता स्पष्ट झलक जाती है ?

१—सूर ने उद्धव का स्वरूप ही बदल दिया है। वे उसे भागवत की भाँति साधारण सदेश-वाहक नही मानते, अपितु अपनी सगुणोपासना को सर्वश्रेष्ठ साधना प्रतिपादित करने में सहायक बनाते हैं। उद्धव के ज्ञान-गर्व को दूर करने के लिये ही श्रीकृष्ण ने उन्हे गोपियो के पास भेजा और गोपियो ने उसे अपने प्रेमी के दूत के रूप में स्वीकार किया। इस प्रकार सूर के 'भ्रमरगीत' का आधार ही शृंगार-रस है।

२—कुछ ऐसी नवीन योजनाएँ भी सूर ने की हैं जो भागवत में नही हैं, जैसे भागवत में किसी चिट्ठी-पत्री का जिक्र नही मिलता, पर सूर के उद्धव कृष्ण से गोपियो के नाम एक 'परवाना' भी लाये हैं।

३—भागवत में उद्धव को गोपियो का व्यंग-पात्र नही बनाया गया। उनके तर्क से गोपियो को जैसे आत्म-ज्ञान प्राप्त हो जाता है। अन्त मे भक्ति का आग्रह करते हुए भी ज्ञान और भक्ति का सामञ्जस्य उपस्थित किया है, पर सूर का तो लक्ष्य ही दूसरा था। वे निर्गुण की अपेक्षा सगुण उपासना को श्रेष्ठ मानते थे। अपने इसी मन्तव्य का प्रतिपादन उन्होंने 'भ्रमरगीत' मे किया भी है। यही कारण है कि उनकी गोपियो के सामने उद्धव तर्क करते हुए नही दीख पडते। उनके व्यग्य पूर्ण कथनो से वे दब से जाते हैं और अन्त में भक्ति-रस से सराबोर होकर कृष्ण से कह देते हैं—

"मेरो कह्यो पवन को भुस भयो गावत नन्दकुमार।"

सूर के कृष्ण

सिद्धान्त रूप से भागवत के कृष्ण-गोपियो और सूर के कृष्ण-गोपियो में कोई विशेष अन्तर प्रतीत नही होता, परन्तु व्यावहारिक रूप से दोनो के पात्रो में महान् अन्तर है। श्रीमद्भागवत में कृष्ण विशेष रूप से दास्य-भक्ति के आलम्बन चित्रित किये गएहैं, जब कि सूर ने सख्य, वात्सल्य और माधुर्य-भावो को अधिक महत्त्व दिया है। सूर के कृष्ण का व्यावहारिक रूप अधिक निखरा हुआ है और उनमें मानवीयता का आरोप इतना प्रबल है कि उसमें अतिप्राकृत रूप ढक-सा जाता है। सूरदास के काव्य में कृष्ण भगवान् का अनुग्रह भक्त-वत्सलता के रूप मे प्रकट न होकर प्रेम के रूप में प्रकट हुआ है। यही कारण है कि यहाँ भगवत्कृपा के उल्लेख गौण से प्रतीत होते हैं। सूर ने कृष्ण के लौकिक सम्बन्धो को लौकिक रूप ही दिया है।

सूर की गोपियाँ

सूर की गोपियाँ भी भागवत की गोपियों से न्यारी हैं। भागवतकार ने अपनी गोपियो में अतिप्राकृत तत्त्व का इतना आरोप कर दिया है कि वे प्राकृत और अतिप्राकृत के बीच में त्रिशकु के समान दीख पडती हैं। कभी-कभी तो ऐसा आभास होने लगता है कि उन्हें अपने पूर्व-

जन्म का स्मृति है और वे भगवान् का दर्शन करने के लिए ही गोपी रूप में अवतीर्ण हुई हैं, अतएव भागवत की गोपियों मे स्वाभाविकता नहीं है। सूरदास की गोपियां व्रज की भोली-भाली सरल नारियां हैं, जो मानवीय दुर्बलताओं का अपवाद नहीं हैं। उनकी प्रकृति में बांकपन, अल्हडता और विनोद-प्रियता है। वे प्रेम को बातो के साथ प्रेम की घातें भी करना जानती हैं, जो सम्भवत उन्होंने अपने नायक से सीखी हैं। कृष्ण के साथ वे इतनी हिली-मिली हैं और उनके प्रेम का विकास इतना स्वाभाविक है कि न तो उनके प्रिय में ही, और न उनमे ही अतिप्राकृतता का कोई आभास होता है। गोपियो मे प्रेम की जिन वृत्तियो का चित्रण सूर ने किया है, भागवत मे उनकी एक कला का भी नही हुआ।

सूर की गोपियो मे वाक्‌चातुर्य भी अधिक है। वे कृष्ण को जवाब पर जवाब देती हुई दिखाई गई हैं, वन्सत और फाग के अवसर पर तो उनकी प्रगल्भता बहुत ही बढ जाती है। उनकी तुलना में भागवत की गोपियां अनुशासित हैं, परन्तु सूर की गोपियों की प्रगल्भता में भी ग्रामीणता और सरलता की छाप है। 'भ्रमरगीत' के अवसर पर भागवत की गोपियों को कृष्ण के सदेश से सान्त्वना मिल जाती है। परन्तु सूर की गोपियां कब इन चक्करों में आने वाली हैं ?

यद्यपि सूर ने भी भागवत की भाँति गोपियों को सामूहिक रूप से लिया है, फिर भी व्यक्तिगत रूप से भी उन्होंने कुछ गोपियो का उल्लेख किया है, जिसका कारण हम साम्प्रदायिक प्रभाव कह सकते हैं। गौडीय वैष्णव आलङ्कारिकों ने भक्ति-रस का शास्त्रीय विवेचन किया है। चैतन्य महाप्रभु के शिष्य रूप गोस्वामी ने इस विषय पर दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं— भक्ति-रसामृत-सिन्धु' और 'उज्ज्वल नीलमणि'। 'भक्ति-रसामृत-सिन्धु' चार भागों में विभाजित है—पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर। इन विभागो में भक्ति-रस का का विवेचन हुआ है और उसके अगोपागो का विश्लेषण-विशेषकर उज्ज्वल, अर्थात् शृ गार-रस का विवेचन—'उज्ज्वल-नीलमणि' में हुआ है। शृ गार-रस के सांगोपाग विवेचन में ६६३ प्रकार की नायिकाओं के उदाहरण दिए गये हैं, जिनमे ललिता, चन्द्रावली आदि का भी उल्लेख है, किन्तु सूर की गोपियां इन गौडीय वैष्णव आलङ्कारिको की गोपियों से बिल्कुल अलग हैं।

अब हम सूर के नायक कृष्ण के उस स्वरूप का विवेचन करेंगे, जिसको हमने 'राधावल्लभ' का नाम दिया है। हम पहले कह आये हैं कि भागवत में स्पष्ट रूप से राधा का अभाव है, इसलिये राधा के विकास पर विचार करना आवश्यक है। जिस प्रकार कृष्ण के विषय में पाश्चात्य विद्वानों की अनेक कल्पनाएँ हैं, उसी प्रकार राधा के विषय में भी हैं। वे राधा को ईस्वी शताब्दी के बाद की कल्पना मानते हैं। यद्यपि पौराणिक पण्डित राधा का सम्बन्ध वेदों से लगाते हैं, परन्तु ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में कृष्ण की प्रेमिका राधा को वेदो तक घसीटना असगत ही प्रतीत होता है। गोपाल कृष्ण की कथाओं से परिपूर्ण भागवत, हरिवंश और विष्णु पुराण आदि प्राचीन ग्रन्थों में राधा का अभाव अनेक प्रकार के सन्देहों को जन्म देता है। 'गोपाल-तापनी,' 'नारद-पांच-रात्र तथा 'कपिल पाञ्चरात्र' आदि ग्रन्थ इस विषय मे प्रामाणिक नही कहे जा [illegible]
वे बहुत बाद की रचनाएँ हैं। राधा कृष्ण का उल्लेख हाल की '[illegible]
'पञ्चतन्त्र' में भी राधा का उल्लेख है, परन्तु इन इ[illegible]

नही होती। भागवत मे राधा का उल्लेख नहीं है, केवल एक गोपी-विशेष का उल्लेख है, जिसके साथ कृष्ण एकान्त में घूमते और क्रीडा करते हैं। "अनयाराधितो नूनम्" वाक्य से राधा की कल्पना की गई है। फिर 'पद्म-पुराण' मे इस गोपी की विशेष चर्चा है। 'ब्रह्म-वैवर्त्त' के उत्तर-खण्ड में राधा शृगार-रसमयी होकर प्रकट हुई है। राधा के विषय में मतभेद चाहे जितना हो, लेकिन इतना तो निश्चय है—

"चौदहवी शताब्दी के अन्त में जबकि भागवत सम्प्रदाय अपने नये रूप मे विकसित हुआ था, राधा और कृष्ण इतिहास के व्यक्ति नही थे, वे सम्पूर्ण भाव-जगत् के व्यक्ति हो गए थे।"[1]

वल्लभ और निम्वार्क सम्प्रदाय वाले राधा को कृष्ण की आल्हादिनी शक्ति के रूप मे मानते हैं। निम्वार्क मत के भक्ति-पक्ष में राधा और कृष्ण की युगल-उपासना प्रचलित हैं। राधावल्लभ सम्प्रदाय मे राधा की स्वतन्त्र रूप से उपासना की जाती है और कृष्ण की अपेक्षा राधा को अधिक महत्त्व दिया जाता है। राधा और कृष्ण का सम्बन्ध कब हुआ ? यह बडा कठिन प्रश्न है। वास्तव में राधा और कृष्ण पर इतने दार्शनिक आवरण डाल दिये गए हैं कि आज उनके असली रूप को खोज निकालना बडा ही कष्ट-साध्य है। राधा को कृष्ण की आत्मा माना है और कृष्ण को परम-पुरुष आनन्द-स्वरूप। वह परम पुरुष अपने आनन्द रूप में रमण करता है और इस प्रकार स्वय ही अपनी आराधना मे प्रवृत्त होता है, इसी से उसे 'श्रीराधा' कहकर पुकारा गया है। पद्म-पुराण के उत्तर-खण्ड, अध्याय ७३ और ८२ में ब्रह्म के स्वरूप का बहुत अच्छी प्रकार से निरूपण किया गया है। वहाँ भगवान् ने व्यास जी को श्रीहित वृन्दावन और उसमें श्री राधाकृष्ण के दर्शन कराये हैं। शुद्ध और निराकार प्रेम की घनीभूत मूर्ति श्री वृन्दावन-धाम और श्री राधाकृष्ण हैं। आनन्द पुरुष-स्वरूप श्री वृन्दावन-धाम है, इन्द्रियाँ सखिस्वरूप हैं, मन श्रीकृष्ण है और आत्मा श्रीराधिका है। इस प्रकार चारो को मिलाकर एक 'हित पुरुष' कहा गया है, जिसे वेदान्त सूत्रो का शारीरक सूत्र कह सकते हैं। तत्त्व दृष्टि से यही स्वरूप की एकता है। शरीर और इन्द्रियाँ दोनो ही मन और आत्मा के अधीन हैं। श्रीराधातत्त्व श्रीकृष्णतत्त्व से अभिन्न है और उसी का आत्म-स्वरूप है। रस रूप भगवान् को श्रुति मे 'रसो वै स' कहा गया है। यह रसराज एक रस-आनन्द में विग्रहमान् होता हुआ भी राधा और कृष्ण, इन दो रूपो से विद्यमान है। यजुर्वेद में लिखा है "श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ", अर्थात्—आपकी दो पत्नियाँ हैं, एक लक्ष्मी जी जो वैकुण्ठ में रहती हैं, और दूसरी श्री जी।[2] ऋग्वेद के उपनिषद् भाग मे भी एक 'राधिको-पनिषद्' की कल्पना की गई है, जिसका भाव सक्षेप में यह है

ऊर्ध्वरेता सनकादि महर्षियों के द्वारा सर्वप्रथम देवता के पूछे जाने पर श्री ब्रह्माजी ने कहा कि भगवान् श्रीकृष्ण ही परम देव हैं। ये छँओ ऐश्वर्यो से पूर्ण, गोप और गोपियो के सेव्य, श्री वृन्दावनदेवी से आराधित और श्रीवृन्दावन के अधीश्वर हैं। यह भी एकमात्र सर्वेश्वर हैं, इन्ही श्रीहरि के एक स्वरूप नारायण भी हैं, जो कि अखिल ब्रह्माण्डो के अधीश्वर हैं। ये श्रीकृष्ण प्रकृति से भी पुरातन और नित्य हैं। इनकी आल्हादिनी, सन्धिनी, ज्ञान, इच्छा और क्रिया आदि बहुत-सी शक्तियाँ हैं। उनमे आल्हादिनी सर्व-प्रधान है। यही परम-न्तरङ्गभूता श्री राधा हैं। कृष्ण इनकी आराधना करते हैं अथवा ये सर्वदा कृष्ण की

सू॰ ·॰

अतिप्राकृत तत्त्व का डा॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ॰ स॰, सं॰

के समान दीख पडती हैं। कभा-१

आराधना करती हैं, इसलिए ये राधा कहलाती हैं। इन श्रीराधिका के शरीर से ही गोपियाँ हुई हैं। ये राधा और श्रीकृष्ण रस-सागर श्रीविष्णु के एक शरीर से ही क्रीडा के लिये दो हो गए हैं। इन राधिका जी की अवज्ञा करके जो श्रीकृष्ण की आराधना करना चाहता है, वह महामूर्ख है। सन्धिनी शक्ति धाम, भूषण, शैया और आसनादि तथा मित्रो और भृत्यादिको के रूप मे परिणत होती है। ज्ञान-शक्ति को क्षेत्रज्ञ शक्ति कहते हैं और इच्छा-शक्ति के अन्तर्भूत माया-शक्ति है। यह सत्त्व, रज और तमोगुण रूपा है तथा वहिरङ्ग और जड है। क्रिया-शक्ति को लीला-शक्ति कहते हैं। 'विष्णु पुराण' में भी इन भगवत्-शक्तियो का वर्णन आया है।[1]

इस प्रकार के अनेक राधा-तत्त्व-विवेचक उल्लेखो से ज्ञात होता है कि राधा को शास्त्रीय रूप देने के प्रयास १४ वी शताव्दी से वहुत पहले से हो रहे थे। हम पहले लिख चुके हैं कि कृष्ण का गोपाल-लीलाओ से सम्वन्ध ईसा के जन्म से पहले ही हो चुका था। मन्दमोर मे टूटे हुए जो दो द्वार-स्तम्भ प्राप्त हुए हैं, उन पर कृष्ण की कुछ गोपाल-लीलाएँ उत्कीर्ण हैं; इन्हें चौथी शताव्दी का वताया जाता है। वादामी की गुफाओ मे श्रीकृष्ण के जो चित्र मिले हैं, उनमे भी इस प्रकार की लीलाओ के सकेत हैं। ये चित्र सातवी शताव्दी के वतलाये जाते हैं। प्रो० सुकुमार सेन की पुस्तक 'व्रज-वोली लिटरेचर' में राधा के विषय में विस्तार से विचार हुआ है। जयदेव के 'गीत-गोविन्द' मे राधा का स्वरूप उच्च-कोटि की काव्य शैली मे किया गया है। जयदेव का समय वारहवी शताव्दी के अन्त में माना जाता है, इसलिए हम यह कह सकते हैं कि वारहवी शताव्दी में वैष्णव धर्म मे राधा की भावना पूर्ण विकसित हो चुकी थी। 'गीत-गोविन्द' केवल एक गीति-काव्य ही नही है, वल्कि एक वैष्णव-धर्म-ग्रन्थ भी है। इस पुस्तक में जयदेव ने राधा-कृष्ण के प्रेम को मानवीय स्तर पर प्रकट किया है। चैतन्य महाप्रभु को जयदेव के पदो मे वड़ा आनन्द आता था। जयदेव के 'गीत-गोविन्द' से वैष्णव-धर्म का स्वरूप अवश्य कुछ लक्षित हो जाता है। जयदेव का वर्णन श्रीमद्भागवत पर आधारित नही कहा जा सकता। 'गीत-गोविन्द' का पहला श्लोक ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण के कृष्ण जन्म खण्ड के १५ वें अध्याय की उस कथा से मिलता है, जिसमें नन्द ने कृष्ण को राधा के सुपुर्द किया है। ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण मे राधा का जितना स्पष्ट और पूर्ण चित्रण हुआ है, उतना और किसी पुराण मे नही। जयदेव का 'गीत-गोविन्द' कई स्थलो पर ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण से मिलता है, जैसे—दशावतार का वर्णन आदि। यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि जयदेव ने ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण का अनुसरण किया अथवा उसकी रचना जयदेव के वाद मे हुई, परन्तु इतना तो निश्चित ही है कि ब्रह्म-वैवर्त्त का कृष्ण-जन्म खण्ड शंकराचार्य के वाद का है।[2] भण्डारकर ने इस पुराण के समस्त उत्तर खण्ड को निम्वार्क सम्प्रदाय वालो द्वारा प्रक्षिप्त वतलाया है।[3] यद्यपि यह भी एक विवाद ग्रस्त विषय है, तथापि इतना तो निश्चित ही है कि निम्वार्क सम्प्रदाय, 'गीत-गोविन्द' तथा ब्रह्म-वैवर्त्त तीनो मे ही राधा को महत्त्व दिया गया है। चैतन्य तथा वल्लभ-सम्प्रदायो में ब्रह्म-वैवर्त्त की इतनी मान्यता नही है, जितनी कि श्रीमद्भागवत की। अतएव राधा का सूत्र ब्रह्म-वैवर्त्त से स्वतन्त्र रूप से ही गवेषणीय है।

१ विष्णु पुराण १-१२-५६
२ ब्रह्म-वैवर्त्त, कृष्ण-जन्म खण्ड, वेंकटेश्वर प्रेस, अध्याय १४, श्लोक १८
३ 'वैष्णविज्म एण्ड शैविज्म' पृष्ठ ६२

वैष्णव मत अनेक अवैष्णव सम्प्रदायो से भी प्रभावित हुआ है और उनकी अनेक प्रचलित परिपाटियो तथा प्रथाओ का रूप वैष्णव-धर्म में स्वीकृत हो चुका है। बौद्ध-धर्म की महायान शाखा के विरोध में सचालित वज्रयान और सहजयान शाखाओ का वैष्णव-धर्म पर वडा प्रभाव पडा है। इनके अतिरिक्त वैष्णव-धर्म तन्त्रवाद के प्रभाव से भी खाली नही है। वाममार्गियो ने शक्ति को वडा महत्त्व दिया है। उस शक्ति का रस आत्मा ग्रहण करता है, जो स्वय असीम और अनन्त है। वह शक्ति इसी अनन्त रूप को सीमित करती है और इसी क्रिया का नाम 'जगत्' है। इस शक्ति के रस को पूर्णतया ग्रहण नही किया जा सकता। उसके एक देश के रस से ही अपरिसीम आत्मा को अनन्त रस का ज्ञान हो जाता है। स्त्री और पुरुष दोनो मे दोनो के तत्त्व विराजमान हैं। इस मत मे स्त्री और पुरुष दोनो की कलुषित वृत्तियों को भी सैद्धान्तिक रूप से हेय नहीं माना गया है। यह तन्त्रवाद सिद्धान्त रूप से बहुत ऊँचा है, किन्तु क्रियाओ मे निकृष्टतम भी हैं। वैष्णव-पाञ्चरात्र-विधान और काश्मीरी शैव-आगम तन्त्रवाद के ही रूप हैं। राधा को शक्ति-तत्त्व अथवा आल्हादिनी शक्ति मानना स्पष्ट ही तन्त्रवाद के प्रभाव को सिद्ध करता है। वैष्णव तन्त्रो में—नारद-पाञ्चरात्र, उज्ज्वल नीलमणि आदि में—राधा को तान्त्रिक दृष्टि से ही चित्रित किया गया है। यही वात सहजयान से प्रभावित वैष्णव सहजवाद के विषय में भी कही जा सकती है। 'सहज' और 'शून्यवाद' का प्रचार वैष्णव-धर्म में तन्त्रवाद से भी पहला है। 'युगल-उपासना' पर सहज-मत का भी पूरा-पूरा प्रभाव पडा है। इसका ज्ञान हमें वगाल के सहजिया सम्प्रदाय के सिद्धान्तो से हो सकता है, जिसके अनुसार चौरासी कोस का "व्रजमण्डल स्त्री के चौरासी अगुल के शरीर के अतिरिक्त कुछ नही और व्रज की पञ्चक्रोशी उसका पञ्चागुल परिमित अङ्ग विशेष है।"

इस विवेचन के आधार पर हम सहज ही यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि ब्रह्म-वैवर्त्त-पुराण की रचना से बहुत पहले राधाकृष्ण भाव-जगत् की वस्तु बन चुके थे, ब्रह्म-वैवर्त्त-पुराण में उस पर धार्मिक छाप और लगा दी गई। इस प्रकार सूर के पूर्व राधा का विवेचन करने वाले उक्त दो ही ग्रन्थ हमें प्राप्त होते हैं, अर्थात्—ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण तथा जयदेव का 'गीत-गोविन्द'। इनके अतिरिक्त मैथिली भाषा में विद्यापति ने और बँगला के क्षेत्र में चण्डीदास ने राधा का पदार्पण कराया। रूप गोस्वामी सूर के समकालीन ही थे और उन्होने वृन्दावन मे रहकर राधा के शास्त्रीय पक्ष का विशेष रूप से उद्घाटन किया है। श्री हित हरिवश जी का 'श्री राधा-सुधा-निधि' काव्य भी सूर के आस-पास का बताया जाता है। निम्बार्क-सम्प्रदाय में युगल-उपासना का प्रचार है, उसी सम्प्रदाय के भट्ट जी ने, जो हरिव्यास जी के साक्षात् गुरु थे, 'युगलशतक' नाम की एक पुस्तक की रचना की थी, जिसमें राधाकृष्ण के आन्तरिक विहार का वर्णन है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति हमने वृन्दावन में देखी है, जिसमें इसका रचना-काल इस प्रकार दिया है—

नयन वाण पुनि राम राशि गिनो अक गति वाम।
प्रगट भयो श्री युगलशत, यह सम्बत अभिराम॥

अर्थात् 'युगल-शतक' का निर्माण काल सम्वत् १३५२ है। यदि यह निर्माण-काल मान्य है, तो इसमें कोई सन्देस नही कि जयदेव से सूरदास तक राधाकृष्ण-केलि-विषयक अनेक ग्रन्थ रचे गये होंगे, जो आज प्राप्त नही हो रहे हैं। काव्य की दृष्टि से सूर की राधा की

तुलना में हम जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास को राधा को भी रख सकते हैं। ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण में मुख्य विषय राधाकृष्ण-लीला है। यद्यपि इस पुराण का आधार श्रीमद्भागवत है, परन्तु राधा की कल्पना से इसका स्वरूप बदल गया है। इस पुराण में कृष्ण को महा-विष्णु से भी ऊपर माना गया है। लीला के लिये वे राधा के साथ अवतार लेते हैं। गोलोक में भी उनके वृन्दावन, रास मण्डल आदि हैं। पृथ्वी का वृन्दावन भी ब्रह्मा द्वारा निर्मित है, जो इतना ही ऐश्वर्य पूर्ण है, जितना गोलोक वाला। श्रीमद्भागवत की भांति इस कथा को ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण में कोई रूपक नहीं माना गया है और राधा-कृष्ण ने अनेक नग्न-विलास-चित्र दिये हैं। राधा गोलोक की अधिष्ठात्री देवी है, जिसको श्रीदामा का शाप मिला है, इसीलिए उसे पृथ्वी पर आना पड़ा। कृष्ण भी राधा को प्रसन्न करने लिये इस लोक में आये। रास-लीला का बड़ा विचित्र-सा वर्णन है, जिसमें समस्त भौतिक ऐश्वर्यों से परिपूर्ण एक भवन की कल्पना की गई है। वहाँ कृष्ण और गोपियों की अव्याहत रति-क्रीड़ा का विस्तार हुआ है। इस प्रकार भागवत की अपेक्षा ब्रह्म-वैवर्त्त में बहुत कुछ परिवर्तन कर दिया गया है।

यद्यपि सूरदास श्रीमद्भागवत ही से अधिक प्रभावित हैं, परन्तु जहाँ तक राधा का सम्बन्ध है, उन्होंने ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण से ही पूर्ण सहायता ली है। गीत-गोविन्द, विद्यापति और चण्डीदास का प्रभाव भी उन पर स्पष्ट लक्षित होता है। उनकी राधा-विषयक कुछ निजी मौलिक कल्पनाएँ भी हैं, जिनके कारण वे राधा-कृष्ण प्रसंग को अश्लील और गर्हित होने से बचा गये हैं। राधा का वर्णन ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण के अन्तर्गत कृष्ण-जन्म-खण्ड अध्याय १५, राधा-कृष्ण-प्रथम-मिलन तथा परिचय अध्याय २७, चीरहरण-प्रसंग अध्याय २८, ५२, ५३, ५८ रास-प्रसंग अध्याय ६६ से ६८ तक और फिर अध्याय ९२ से ९८ तथा ११६-१२७ में प्राप्त होता है। इस पुराण में कृष्ण को एक छोटा बालक और राधा को तरुणी बताया गया है। राधा कृष्ण को लेकर गोकुल जाती है, मार्ग में कृष्ण अपनी वास्तविक सत्ता का परिचय राधा को देते हैं। उसी समय ब्रह्मा प्रकट होकर दोनों की स्तुति करते हैं और दोनों का विवाह कर देते हैं। ब्रह्मा के चले जाने के पश्चात् राधा-कृष्ण के विलास का वर्णन है। अन्त में कृष्ण फिर वही बाल-रूप धारण कर लेते हैं और राधा उस बालक को यशोदा को सौंप आती हैं। सूर ने इस अस्वाभाविक अलौकिकता को अपने काव्य में स्थान नहीं दिया है। चीर-हरण प्रसंग में ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण में राधा को नग्न दौड़ाया है, पर सूर में ऐसा उल्लेख नहीं है। राधा-कृष्ण का विवाह भी सूर ने रास-प्रसंग में दिखाया है और गान्धर्व-विधि से सम्पन्न माना है। रास-प्रसंग में सूर ने भागवत का ही अधिक आश्रय लिया है। ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण में तो कृष्ण राधा को बहुत सी पौरा-णिक गाथाएँ सुनाते हैं और विदाई के प्रसंग में अनेक रति-प्रसंगों के अतिरिक्त राधा को भोग साधन के उपदेश भी देते हैं। कृष्णराधा और गोपियों को यों ही सोती छोड़कर चले जाते हैं। सूरदास ने उन प्रसंगों को नहीं लिया है, विदाई के समय सूर की राधा उपस्थित ही नहीं थी। उद्धव प्रसंग में ब्रह्म-वैवर्त्त में उद्धव राधा के यहाँ पहुँच गये हैं और पुराणकार ने राधा की प्रेम-विह्वलता के अनेक चित्र उपस्थित किये हैं। सूर की राधा में इतनी दुर्बलता नहीं है। ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण में राधा का जैसा पुनर्मिलन है, सूर ने उससे पृथक् ही चित्रित किया है। ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण के अन्त में कृष्ण नन्द, यशोदा, राधा तथा गोप-गोपिकाओं से कलियुग के उत्पातों का वर्णन करते हैं और फिर एक दिव्य रथ पर चढ़ कर गोलोक

को चले जाते हैं। अपनी योगमाया से वे फिर वृन्दावन में गोप-ग्वालो की उत्पत्ति करते हैं और उन्हे वहाँ का अधिवास सदा के लिए दे देते हैं। अन्त मे ब्रह्मा के शाप से कृष्ण की द्वारका उड जाती है और कृष्ण भी वृन्दावन में कदम्ब के नीचे एक मूर्त्ति मे समा जाते हैं।

सूर की राधा

अब हम सूर की राधा का विवेचन करेंगे। राधा सूरसागर अथवा कृष्ण-चरित की प्रधान नायिका है। राधा से कृष्ण का परिचय उस समय होता है, जब वे भौंरा-चकडोरी खेलने के लिए घर से बाहर निकले। अचानक ही समवयस्क बालिकाओं के साथ वह कृष्ण की निगाह पड जाती है। विशाल-नेत्र, मस्तक पर रोली का टीका, पीठ पर लटकती हुई वेणी, गोरे शरीर पर नील वर्ण की फरिया और वस्त्र, यह थी राधा की सज्जा। श्याम की दृष्टि पडी, आँखो से आँखें मिली और ठगोरी पड गई, कृष्ण मुग्ध हो गए, जैसे किसी ने जादू कर दिया हो।[1] रसिक शिरोमणि कृष्ण ने भोली राधिका को बातो में ही भुला लिया और प्रतिदिन आकर मिलने का मार्ग दिखा दिया। यहाँ पर सूर ने गुप्त रीति की ओर सकेत किया है, जिसका अर्थ पुरातन प्रीति किया गया है। परन्तु कुछ भी हो, कृष्ण ने राधिका को प्रेम का पाठ पढा लिया और वह उनके विरह में व्याकुल रहने लगी। कृष्ण से मिलने के लिये अनेक बहाने वह भी बनाने लगी और उस नागर के साथ नागरी बन गई.

"सूर श्याम नागर नागरि सो करत प्रेम की बातें।"[2]

नन्द बाबा की साथ-साथ खेलने की अनुमति मिलने पर तो उसका दिल और भी खुल गया और वह कृष्ण पर अधिकार भी जमाने लगी। इसके पश्चात् सूर ने श्याम-श्यामा की गुप्त-लीला का वर्णन किया है।[3] सम्भवत इस लीला का आधार ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण ही रहा हो। कृष्ण के साथ रति-विलास के पश्चात् जब राधा घर पर लौटी तो माता ने समझा कि शायद उसे 'दीठि' लग गई है। राधा ने कृष्ण-नाग की कथा गढकर अपनी माँ को सान्त्वना दे दी और यह भी बता दिया कि नन्द का बेटा श्याम झाड-फूक मे बडा चतुर है। राधिका दो भाइयो मे एक बहिन थी, माता-पिता का तो मानो हृदय ही थी, अतएव माता का बहक जाना स्वाभाविक ही था।

यशोदा के यहाँ आने-जाने का भी राधा ने बहाना बना लिया, सुन्दरी तो थी ही, यशोदा को बडी अच्छी लगी और यशोदा सूर्य-भगवान् से मनाने लगी कि श्याम और राधा की अच्छी जोट मिलेगी।[4] अब राधा और कृष्ण एक-दूसरे के प्रेम मे फँसे हुए हैं, दोनो का हृदय एक-दूसरे से लगा हुआ है, उल्टे-सीधे काम करते हैं। यशोदा भी उनके हाल को देखकर राधा को उलाहने देती है, परन्तु राधा स्पष्ट कह देती है कि तू अपने पुत्र को क्यो नही रोकती, वे ही तो कहते हैं कि तुझे देखे बिना मेरे प्राण नहीं रहते, मुझे तो उन पर दया आती है, इसलिए आती हूँ। १३२० से १३७८ तक के पदो में राधा और कृष्ण की अनेक चेष्टाओ का

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद १२९०
२ वही ,, ,, पद १२९६
३ वही ,, ,, पद १३०१
४ वही ,, ,, पद १३२०

निम्नलिखित पत्र प्राप्त किये :-

(1) No. 1007 दिनांक 7.10.68 (पोहार सम्बन्ध)

(2) 1008 —— वेतनवृद्धि बिल

(3) 1009 —— अवकाश प्रार्थना पत्र श्री ईश्वरसिंह अध्या.

उपरोक्त पत्र रा० उ० प्रा० विद्यालय शेखसर प्रधानाध्यापक से प्राप्त किये।

सौन्दर्य को देखकर चर और अचर सभी मोहित हैं। शरीर के अवयवो मे धीरे-धीरे यौवन का प्रवेश हो रहा है। राधा के नेत्रो के वर्णन में तो कवि ने जान ही डाल दी है और उसके सौन्दर्य के अनेक चित्र प्रस्तुत किये हैं। बाल-सहचरी राधा के विषय में एक बात उल्लेखनीय यह है कि प्रकट रूप से सूर ने राधा-कृष्ण की रति-केलियो का वर्णन नही किया है।

राधा का दूसरा रूप परकीया भाव से चित्रित हुआ है, परकीया रूप में नही। अब राधा प्रेम की गम्भीरता में अवगाहन करने लगी है और जैसे-जैसे प्रेम गम्भीर होता जाता है, वैसे-वैसे ही उसकी निपुणता भी गम्भीर होती जाती थी। गोपियाँ उसकी चतुराई को भाँप लेती हैं और श्याम को दोष लगाती हैं। इधर 'कुल की कानि' और उधर प्रियतम का प्रेम और तिस पर मर्यादा का पालन करने के लिए प्रियतम का आदेश "लोक-लाज कुल-कानि न तजिये, जाते भलो कहे सब कोई।"[1] बेचारी राधा बडे असमञ्जस में पडी, इसलिए उसे अपनी निर्दोषता सिद्ध करने के लिए भी चतुराई करनी पडती है। कृष्ण से मिलने के लिए बहाना बनाने की तो उसे आवश्यकता थी ही, सखियो पर ये बातें खुल जाती हैं और वे राधा से कृष्ण का नाम ले लेकर अठखेलियाँ करती हैं। राधा सखियो के सामने ऐसा भाव बनाती है, मानो कृष्ण से उसकी कोई पहचान ही नही है। ग्रीष्म-लीला के समय श्याम रूप को देखकर सब सखियाँ राधा के भाग्य को सराहती हैं और कहती हैं कि 'बहिन राधिके, तू बडी धन्य है'।[2] अब दोनो का गुप्त मिलन प्रारम्भ हो गया, राधा को मनमोहन के बिना चैन नही, घर पर माता-पिता का डर है, अतएव गुप्त मिलन ही सम्भव है। सखियाँ राधा का भेद-भाव लेने का प्रयत्न करती हैं, परन्तु राधा 'दिनन की थोरी' भले ही सही, अपना भेद नही दे सकती। सूरदास ने राधा-कृष्ण मिलन एव राधा से गोपियो की चुटकियो का अनेक प्रकार से वर्णन किया है। परकीया-भाव में जितनी भी शृङ्गारिक चेष्टाएँ हो सकती हैं, जितने भी गुप्त भावो और सकेतो की समावना है, उन सब का पूरा व्योरा हमे राधा-कृष्ण मिलन में मिल जाता है। सुरत-केलियो के वर्णन भी यथेष्ट मात्रा में और उच्च-कोटि के हुए हैं। मिलन के लिए अनेक बहाने होते हैं, ये बहाने राधा ही नही, कृष्ण भी करते हैं। राधा श्याम के रग मे रग गई और श्याम राधा के रग में—"राधा—श्याम, श्याम राधा रग।"[3]

सूर की राधा का तीसरा स्वरूप स्वकीया भाव का है। जब राधा मानवती और गौरवशालिनी के रूप में चित्रित की गई हैं, परन्तु कृष्ण बहुनायक के रूप में ही दिखाये गए हैं। राधा के विषय में कृष्ण को प्रियतमा का रूप दिया है और दम्पति विहार का वर्णन कर के कवि ने राधा के मान का विशद वर्णन किया है। 'खण्डिता' प्रकरण में चार बार राधा के मान का वर्णन है। पहली बार का मान तो साधारण-सा ही है, क्योकि राधा सखियो द्वारा श्याम को वश में करने की प्रशसा से प्रभावित होकर मान करती है परन्तु जब कृष्ण आकर लौट जाते हैं, तो उसका मान कपूर की भाँति उड जाता है और वह अपने अहकार-जन्य अपराध का अनुभव कर परम विह्वल हो जाती है। जब ललिता दूती बनकर कृष्ण को मनाने जाती है और राधा की विरह दशा के साथ उनके रूप की प्रशसा करती है तो कृष्ण आकर उसे हृदय से लगा कर उसका विरह ताप शान्त करते हैं।

---

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद २३०६
२ वही ,, ,, पद २४७७
३ वही ,, ,, पद २६४०

दूसरी वार केवल भ्रमवश ही राधिका मान कर बैठती है, क्योंकि वह अपने प्रियतम के हृदय में अपना ही प्रतिविम्व देखकर दूसरी नारी का अनुमान लगा लेती है :

"कियौ अति मान वृपभान वारी, देखि प्रतिविम्व पिय हृदय नारी"[1]

कृष्ण की मनुहारें भी उसे मनाने में सफल न हो सकी। अत्यन्त व्याकुल होकर कृष्ण दूती को भेजते हैं। जव उसके भी सव प्रयत्न व्यर्थ होते हैं, तो वह राधा से कहता है

"तुम चाहे कितना ही मान करो, पर अन्त में तुम और मोहन एक हो। 'मोहन' का नाम सुनते ही राधा का मान जाता रहा और वह प्रसन्न हो गई।"[2]

राधा का तीसरा मान वास्तविक कारणो से है। राधा की धारणा थी कि कृष्ण रात्रि मे मेरे अथवा नन्द के घर के अतिरिक्त अन्यत्र नही जाते, किन्तु एक दिन प्रात काल ही जव रति-रस-चिह्नो से लाञ्छित नटनागर का साक्षात्कार हुआ तो उनके विचित्र रूप को निहार कर राधा को हँसी आ गई, जो शीघ्र ही परिहास, कटाक्ष और तिरस्कार के क्षेत्र से निकलती हुई रोप के साम्राज्य में पहुँच गई। कृष्ण ने अपने आप को निरपराध सिद्ध करने में कोई कोशिश उठा न रखो, पर राधा का रोप न गया। राधा की कुछ सखियो के आ जाने पर उसने सारा मामला उनके समक्ष रखा और कहा :

"तुम भी मुझे ही दोप देती हो, इन्हे देखो, ये रहते कहीं हैं और घूमते कहीं हैं, सवेरा होने पर यहाँ पधारते हैं।"[3]

राधा के इस मान से राधा और कृष्ण दोनो ही व्याकुल हैं, सखियाँ यत्न करती है पर राधा नहीं मानती। रसिकेश्वर स्वयं अनुनय-विनय करते हैं, पर राधा पर कोई प्रभाव नही होता। परन्तु जव गुप्त-चरित्र का सकेत कृष्ण राधा के प्रति करते हैं तो उसका हृदय पसीज जाता है और वह कृष्ण के साथ 'निकुञ्ज-सुख' के लिये चल देती है।

राधा की वडी मान-लीला वहुत विकट है, अव की वार उसे कृष्ण के पर-गृह गमन का प्रत्यक्ष प्रमाण मिल गया। वह सखियो के साथ यमुना-स्नान के लिये निकली और अकस्मात् उसी सखी को वुलाने के लिये जा पहुँची, जिसके हृदय में मोहन अपनी रसमयी कलियो से आनन्द की हिलोरें उठा रहे थे। जैसे ही वे उसके घर से निकले, राधा से भेंट हो गई।[4] इससे अधिक और क्या प्रमाण चाहिये ? राधा को मनाने के सभी उपाय व्यर्थ गए, न वह अपनी प्रशसा सुनकर रीझती है और न कृष्ण की दीन दशा से पसीजती है, वर्पा-ऋतु, मन्द-वायु तथा प्रकृति-सौन्दर्य कोई उसकी खीझ को दूर नहीं कर पाता। कृष्ण स्वय दूती का वेप वना कर जाते हैं, परन्तु राधा फिर भी क्यो मानने लगी ?[5] मानिनी राधिका का मान वडा दृढ है, चाहे स्वर्ग डोल जाय, सुर और सुरपति समेत सुमेरु डिग जाय, रात्रि में रवि और दिन मे निशाकर उदित हो जायें, नक्षत्र छिन्न उठें, सिन्धु मर्यादा त्याग दे, धरा अधीर होकर उलट जाय, वन्ध्या पुत्रवती हो जाय, शुष्क काष्ठ लह-लहा उठे, विफल तरु फलने-फूलने लगें, वादलों के विना ही वर्पा होने लगे और अचल चलायमान

---

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ३०३८
२ वही (ना० प्र० स०) पद ३०५५
३ वही (ना० प्र० स०) पद ३१८१
४ वही (ना० प्र० स०) पद ३३५३
५ वही (ना० प्र० स०) पद ३४३१

हो जायें, पर राधा का मान-भग नही होने वाला है।[1] अन्त में कृष्ण को एक उपाय सूझा, उन्होने एक मणि-दर्पण राधा के सामने लाकर रख दिया और स्वय पीछे खडे हो गये, प्रतिविम्व में दोनों के नेत्र मिल गये, राधा का चेहरा खिल उठा और उसे निश्चय हो गया कि कृष्ण का वहुनायकत्व तो दिखाने भर का है। मान की झझा के पश्चात् मिलन का शीतल, मदिर, गम्भीर समीर वह निकला, जिसके स्पर्श ने युगल प्रेमियो के क्षुब्ध मानस में स्थैर्य और धैर्य के साथ माधुर्य की लहरो में गुदगुदी उत्पन्न कर दी, प्रेम का वन्धन और भी दृढ़ हो गया। इन मान-लीलाओ में गौरवशालिनी राधा की गम्भीरता देखते ही वन पडती है, मान-भग होने पर वह दूती के द्वारा आने का सन्देश भेजती है और फिर वस्त्रा-भूषण धारण करके वडे ही गौरव और गम्भीरता के साथ केलि-कुन्ज में पदार्पण करती है। मान-वियोग के पश्चात् मिलन-सुख-भोग का वर्णन भी सूर ने वडी तन्मयता के साथ किया है।

राधा का एक रूप सूर ने वसन्त और झूले के प्रसगो पर चित्रित किया है। दोनो ही अवसरो पर राधा-कृष्ण दम्पति के रूप में हमारे सामने आते हैं—

"झूलत श्याम श्यामा-सग।
निरख दम्पति-अग शोभा लजत कोटि अनंग।"[2]

वसन्त कालीन फाग-क्रीडा का सूर ने वहुत ही सुन्दर चित्रण किया है और वहाँ भी राधाकृष्ण को नव-दम्पति माना है।[3] वसन्त-लीला व्रज के सुख का चरमोत्कर्ष है, जहाँ सूर ने विधि-मर्यादा का अतिक्रमण कर राधा की विनोदी प्रकृति का स्वच्छन्द और निर्वाध प्रतिपादन किया है।

राधा का अन्तिम चित्र 'वियोगिनी राधा' का है, इस रूप में राधा का दर्शन सूर ने वहुत ही कम कराया है। ऐसा ज्ञात होता है कि परमोच्च अवस्था पर पहुँची हुई राधा का कृष्ण-प्रेम अन्तर्मुख हो गया है। इस वियोग-काल में सूर ने जव भी राधा को देखा तभी वह गम्भीर प्रेम की एक दयनीय मूर्ति के रूप में दीख पडी। कृष्ण के मथुरा-गमन अवसर पर गोपियो की आतुरता के साथ-साथ नन्द और यशोदा की भी वडी व्याकुलता दिखाई गई है, कृष्ण ने भी अपने माता-पिता को सान्त्वना दी है। परन्तु कवियो ने चित्र लिखी-सी गोपियो के वीच में राधा को खोजने का प्रयत्न नही किया है। कृष्ण को मथुरा पहुँचाकर नन्द जव लौटकर आये, उस समय के यशोदा और गोपियो के वियोग-विलाप का सूर ने वडा ही मर्म-स्पर्शी विस्तृत, मनोवैज्ञानिक वर्णन किया है। बहुत देर के पश्चात् कवि को राधा की भी याद आई और विरहिणी राधा सर्व प्रथम गम्भीर सोच में मग्न, नीचा सिर किये हुए, नख से हरि का चित्र वनाती हुई दिखाई गई हैं, पर क्या वियोगिनी राधा अपने प्रियतम का चित्र वना सकती है? विना माधव के राधा की स्थिति विचित्र है। अव तक उसके अग प्रत्यग सौन्दर्य के उपमान थे, अव उपमेय भी न रहे।[4] वह किसी पथिक को अपना सन्देश श्याम तक भेजने के लिये वुलाती है, पर अपने विषय में एक शब्द भी न कहकर व्रज के दुखी गोपी, ग्वाल और गौ-सुतो का सन्देश भेजती है। भला प्रियतम को वह कैसे दोषी कहे?

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ३४४२
२ वही ,, पद ३४५८
३ वही ,, पद ३५१२
४ वही ,, पद ४०२१

जब कभी गोपियाँ कृष्ण के प्रेम पर व्यग्य करती हुई उन्हे जाति-पाँति-भिन्न परदेशी और विश्वासघाती बताती हैं तो राधा कहती है कि इसमे हरि का कोई दोष नही है, शायद मेरे प्रेम में ही कुछ कसर है। वास्तव मे गोपियो के विरह-वर्णन में भी राधा के विरह की अतिशयता ही व्यञ्जित होती है, क्योकि गोपियो को भी राधा के विषय में बडा सोच है। इस प्रकार राधा को सूर ने आदर्श प्रेमिका के रूप में चित्रित किया है।

भ्रमरगीत-प्रसङ्ग मे भी राधा के अत्यन्त मार्मिक चित्र कवि ने उपस्थित किये हैं। रसिक शिरोमणि कृष्ण ने भी न जाने क्या सोचकर राधा को कोई सन्देश नही भेजा, केवल वृषभानु महर को ही सन्देश देकर वे चुप हो गए हैं। उद्धव के रथ को आता देखकर जब सखियो ने राधा को बताया कि मथुरा की ओर से वैसा ही रथ आ रहा है, जैसा अक्रूर का था और कोई कृष्ण-सदृश व्यक्ति आ रहा है, तो व्रज की स्त्रियो को बडा आनन्द हुआ और वे रथ की ओर दौडी, परन्तु राधा कपाट की ओट में बोली, "अच्छा किया, जो हरि आ गए।" फिर भी राधा का गम्भीर प्रेम उसके शरीर की अवस्था से झलक रहा था। गोपियो ने उद्धव को अपनी विरह-वेदना सुनाई, उद्धव के तर्कों का तर्कपूर्ण समाधान किया और भगवान् के सगुण रूप में ही आसक्ति प्रकट की, पर इस लम्बे-चौडे वार्त्तालाप मे उद्धव को राधा की वाणी एक बार भी सुनाई न दी। उसे तो उन्होने केवल 'माधव' 'माधव' ही रटते हुए देखा। वास्तव मे माधव-माधव रटती हुई वह स्वय भी तद्रूप हो जाती थी। सम्पूर्ण वाद-विवाद में राधिका उद्धव के सम्मुख नही आई, गोपियो ने ही उसकी ओर से विरह-निवेदन किया और 'अति मलीन वृषभानुकुमारी' की दशा दिखाई। गोपियो के प्रति सदेश देते हुए उद्धव ने राधिका ही की विरहावस्था का सब से अधिक हृदय-विदारक चित्र उपस्थित किया है :

चित दै सुनहु श्याम प्रवीन।
हरि तुम्हरे विरह राधा मैं जु देखी छीन ॥[1]

जब कृष्ण मथुरा से भी द्वारका चले गये तो राधा की दशा और भी दयनीय हो गई और जब कुरुक्षेत्र में कृष्ण ने नन्द, यशोदा, गोपी-ग्वालो को बुलाया तो राधा के अन्तिम दर्शन हुए। कृष्ण आगमन की सूचना से राधा अधीर हो उठी और उसके नेत्रों में जल भर आया।[2] कुरुक्षेत्र में रुक्मिणी ने कृष्ण से पूछा, 'हे हरि, तुम्हारी वृषभानु किशोरी कौन-सी हैं ?'[3] कृष्ण को पुरानी प्रीति की स्मृति आ गई और कण्ठ अवरुद्ध हो गया। राधा भी सामने ही थी, उसकी चितवन को देखते ही रुक्मिणी को अपने प्रश्न का उत्तर मिल गया और वे राधा से इस प्रकार मिली, जैसे—

"बहुत दिनन ते बिछुरी एक बाप की बेटी।"[4]

अन्त में कवि ने राधा-माधव का अन्तिम महा-मिलन कराया है—

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद १७२५
२ वही ,, ,, पद ४८६७
३ वही ,, ,, पद ४६०३
४ वही ,, ,, पद ४६०६

राधा-माधव भेट भई।
राधा माधव, माधव राधा, कीट भृङ्ग गति ह्वै जु गई।
माधव राधा के रग रांचे, राधा माधव-रग रई।
माधव-राधा-प्रीति निरन्तर, रसना करि सो कहि न गई।
बिहँसि कह्यौ हम तुम नहिं अन्तर, यहि कहि कै उन व्रज-पठई।
'सूरदास' प्रभु राधा माधव, व्रज विहार-नित नई नई।[1]

इस अन्तिम मिलन में भी कृष्ण ने हँस कर और यह कह कर कि "हम और तुम मे कोई अन्तर नही है", उस बेचारी को फिर विरहानल में दग्ध होने के लिए व्रज भेज दिया, किन्तु प्रेम की एकान्त-साधिका राधिका के मुख से एक भी शब्द नही निकला, उससे कुछ भी कहते न बना और वह हाथ मलती ही रह गई

करतु कछु नाही आजु बनी
हरि आये हो रही ठगी सी जैसे चित्र धनी।[2]

इस प्रकार सूर के चित्रण में हमें सच्ची प्रेमिका का चित्रण मिल जाता है, जो विरह की असह्य ज्वाला मे जलती है, पर उफ तक नही करती, जिसका त्याग हिमाद्रि से भी उच्च है, परन्तु नम्रता के कारण झुका हुआ, जिसकी कर्त्तव्य-भावना प्रस्तर से भी अधिक कठोर है और हृदय नवनीतवत् कोमल, जिसे माखन-प्रिय नवनीत-चोर कृष्ण ने हँसते खेलते ही चुरा लिया।

राधा का चित्रण, जैसा कि हम पहले कह आये हैं, जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास ने भी किया है, परन्तु उनका प्रेम-वर्णन दूसरे ही प्रकार का हुआ है। जयदेव राधा-कृष्ण स्वरूप के उपासक थे, अतएव उन्होने साहित्य के सुरम्य मन्दिर मे युगल-किशोर-प्रतिमा की प्रतिष्ठा की। राधिका को उन्होने स्वकीया रूप दिया अथवा परकीया, यह तो उनके ग्रन्थ से स्पष्ट आभासित नही होता, परन्तु इतना अवश्य है कि राधा के प्रेम की धारा 'गीत-गोविन्द' मे इतनी तीव्रता के साथ बही है, जिसमें लोक-लाज, कुल-कानि आदि के अवरोध, विलीन हो गये। इस काव्य मे बारह सर्ग हैं और इसका आरम्भ इस प्रकार हुआ है .

"एक समय राधिका, कृष्ण और नन्द किसी वन में उपस्थित थे। जब सध्या हो गई तो नन्द राधिका से बोले, 'हे राधे, आकाश मेघो से आच्छन्न है, वन की भूमि श्याम-वर्ण के तमाल वृक्षो से श्यामा दीख पडती है, रात्रि हो चली, कृष्ण को तुम घर पहुँचाओ। इस प्रकार नन्द की आज्ञा प्राप्त करके चलने वाले राधा-कृष्ण की यमुना तट के निकुञ्जो में सपन्न होने वाली एकान्त-लीलाएँ जयशील हो।" फिर आगे राधा और कृष्ण के विरह-मिलन के अनेक दृश्य कवि ने उपस्थित किये हैं, जिनके अध्ययन से हम निम्नलिखित निष्कर्ष निकाल सकते हैं :

१—राधा-कृष्ण के प्रेम में पागल और विह्वल है तथा यह जानते हुए भी कि कृष्ण बहुनायक हैं, वह कृष्ण की होना चाहती है।

२—जयदेव की राधा के प्रेम में लोक-लाज या सकोच की बाधाएँ नहीं। वह प्रारम्भ से ही प्रगलभा दिखाई गई है।

---

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ४९१०
२ वही ,, ,, पद ४९११

३—कृष्ण और राधा का विहार-वर्णन बडा शृङ्गारिक है, जिसमें नायक-नायिकाओ की सभी चेष्टाओ का वर्णन किया गया है। इनमें मान, अनुनय, विनय आदि भी सम्मिलित हैं।

४—'गीत-गोविन्द' में राधा के प्रेम का क्रमिक विकास नही मिलता। राधा-कृष्ण के केवल सयोग और वियोग की दशाओ के चित्र मिलते हैं।

विद्यापति और चण्डीदास जी की राधिका की तुलना कवि-कुल-गुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर ने की है, जिसका हिन्दी अनुवाद आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने 'सूर-साहित्य' ग्रन्थ मे इस प्रकार से किया है .

"विद्यापति की राधिका में प्रेम की अपेक्षा विलास अधिक है, इसमें गम्भीरता का अटल स्थैर्य नही है, है केवल नवानुराग की उद्‌भ्रान्त लीला और चाञ्चल्य। विद्यापति की राधा नवीना है, नवस्फुटा है। हृदय की सारी नवीन वासनाएँ पंख फैलाकर उडना चाहती हैं, पर अभी रास्ता मालूम नही, कौतूहल और अनभिज्ञतावश वह जरा अग्रसर होती है और फिर सिकुडे आंचल की ओट में अपने एकान्त कोमल घोसले मे फिर आती है। कुछ व्याकुल भी है, कुछ आशा-निराशा का आन्दोलन भी है, किन्तु चण्डीदास की राधा में जैसे "नयन-चकोर मोर पिते करे उतरोल, निमिखे निमिज नाहि सय" है, विद्यापति मे उस प्रकार का उतरोल (उत्तरल=चञ्चल) भाव नही है। कुछ-कुछ उतावलापन अवश्य है। नवीना का नया प्रेम जिस प्रकार मुग्ध, मिश्रित, विचित्र कौतुक-कौतूहल-पूर्ण हुआ करता है, उससे इसमें कुछ भी कमी नहीं है। चण्डीदास गम्भीर और व्याकुल हैं, विद्यापति नवीन और मधुर।"

दिनेश बाबू का कथन है

"विद्यापति वर्णित राधिका कई चित्रपटो की समष्टि है। जयदेव की राधा की भाँति इसमें शरीर का भाग अधिक है, हृदय का कम। किन्तु विरह में पहुँचकर कवि ने भक्ति और विरह का गान गाया है, उसके प्रेम में बँधी हुई विलास-कलामयी-राधा का चित्रपट सहसा सजीव हो उठा है, ` ` ` ` ` विद्यापति की राधा बडी सरला है, बडी अनभिज्ञा। • •• चण्डीदास की राधिका प्रथम ही उन्मादिनी वेष में आती है। प्रेम के मलय-समीर में उसका विकास हुआ है। इसके बाद प्रेम की विह्वलता, कितना कातर अश्रु-संपात! कितना दुःख-निवेदन! कितनी कातरोक्ति! प्रेम के दुःख का परिशोध है—अभिमान, किन्तु वह तो केवल आत्म-वचना है। चण्डीदास की राधा मे मान करने की क्षमता भी नही है। दसो इन्द्रियाँ तो मुग्ध हैं, मन कैसे मान करे? यह अपूर्व तन्मयता है।"

इस विवेचन से सिद्ध होता है कि चण्डीदास की राधा में प्रेम का आधिक्य है। उसका हृदय-सरोवर प्रेम-रस से लबालब है, उसमें भावुकता की पराकाष्ठा है, मान करने की क्षमता नही, कृष्ण का व्यापक स्वरूप उसकी आँखो मे समाया है। उसे हम प्रेम का अवतार कह सकते हैं। उनमें विलासिता की मात्रा इतनी अधिक नही, जितनी भक्ति-भावना की। कृष्ण का साम्य प्रकृति में देखकर वह व्याकुल हो जाती है। चण्डीदास की राधा और कृष्ण में अभेद है। कृष्ण के प्रेम के सामने ससार का अपवाद कुछ नहीं। उनमें आत्म-समर्पण की पूरी भावना है—

बँधू कि आर बलिबे आमि।
मरने-जीवने, जनमे-जनमे, प्राणनाथ हइओ तुमि।
तोमार चरने आमार पराने बाँधिल प्रेमेर फाँसी।
सब समर्पिया एक मन हइया, निश्चय हइलाम दासी।

कृष्ण भी राधा में उतने ही अनुरक्त हैं। राधा ही उनका सर्वस्व है। अमरुक की "सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवाद" वाली उक्ति उन पर सवा-सोलह-आने चरितार्थ होती है। मान की कल्पना तो चण्डीदास की राधा मे की ही नही जा सकती। यदि कभी वह मान का ढोग रचती भी है और कृष्ण आकर लौट जाते हैं, तो वह पछताती हुई कहती है—

"आपन सिर हम आपन हाते काटीनू, काहे करिनू हेन मान।
श्याम सुनागर नटवरशेखर कहाँ सखि! करल पयान ?"

कृष्ण के वियोग में व्याकुल होकर वह पृथ्वी पर गिर पडती है और कनकलता की भाँति मुरझा जाती है।

विद्यापति की पदावली में भी परकीया राधा का चित्रण हुआ है। इसमें अधिकाश पद राधा कृष्ण की प्रेम-लीलाओ से सम्वद्ध हैं। चैतन्य महाप्रभु विद्यापति के पदो को गाते-गाते इतने भाव-विभोर हो जाते थे कि मूर्च्छित हो जाते थे। सहजिया सम्प्रदाय के भक्त तो विद्यापति को सात रसिक भक्तो में से एक मानते हैं। इसलिये डा० ग्रियर्सन ने "मैथिली क्रिस्टोमैथी" की भूमिका में पदावली के विषय में लिखा है—

"They are nearly all Vaishnava-hymns or Bhajans ··· Glowing stanzas of Vidyapati are read by the devout Hindu without a little of the baser part of human-sensuousness, as the Song of Soloman is by the Christian poet."

ग्रियर्सन महोदय का यह कथन कुछ सीमा तक अवश्य ही सत्य कहा जा सकता है। परन्तु यह कहना कि विद्यापति ने पदावली की रचना धार्मिक दृष्टिकोण से की होगी, ठीक नहीं जँचता। डा० श्यामसुन्दर दास ने विद्यापति पर विष्णुस्वामी और निम्बार्क का प्रभाव बताया है।[१] कुछ भी हो, इतना तो सत्य है कि विद्यापति ने जयदेव के अनुकरण पर राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओ को काव्य का विषय बनाया होगा, क्योंकि जयदेव से पहले राधा को परकीया नायिका का रूप देकर गेय पदो की रचना किसी ने नही की। विद्यापति पण्डित थे और काव्य-शास्त्र की सूक्ष्मताओ से भी अभिज्ञ थे, सस्कृत और प्राकृत की शृङ्गारिक पुस्तको का उन्होंने सूक्ष्म अध्ययन किया था। 'गाथा-सप्तशती' के शृङ्गारिक भाव विद्यापति में अनेक स्थलो पर प्रतिबिम्बित हुए हैं। उन्होने राधा और कृष्ण को नायक-नायिका के रूप में चित्रित किया है और शृगार-रस की अविरल धारा अपनी 'पदावली' में बहाई है। संयोग और वियोग की सभी परिस्थितियो और उन परिस्थितियो में प्रेम-विभोर युवक-युवतियो के सभी भावो का सश्लिष्ट वर्णन विद्यापति ने किया है। नायिका के आन्तरिक भावो के साथ बाह्य चेष्टाओं का इतना स्वाभाविक और सजीव वर्णन बहुत कम कवियो द्वारा हो पाया है। वियोग-वर्णन मे कवि की वृत्ति रमती हुई प्रतीत नही होती और उन्होने अधिकतर परम्पराओ का ही अवलम्बन लिया है। विद्यापति अन्तर्जगत् के सौन्दर्य की अपेक्षा बाह्य जगत् के सौन्दर्य से अधिक प्रभावित जान पडते हैं और उसी का वर्णन उन्होंने जी खोलकर किया भी है। उनकी राधा में हाव अनुभावो की ही प्रधानता रही है। वय सन्धि, अभिसार और सद्य स्नाता के बडे सजीव चित्र विद्यापति ने उपस्थित किये हैं। अभिसारिका के

१ 'हिन्दी भाषा और साहित्य' पृष्ठ ४०६

मार्ग की कठिनाइयो को अत्यन्त भयप्रद रूप में दिखाया है। विद्यापति के पदो में जयदेव की अपेक्षा अधिक सरसता है और सूरदास की अपेक्षा अधिक मधुरता है। वह सूर की राधा की भाँति प्रेम-चेष्टाओं के गोपन मे निष्णात नही, पर वह है पूरी विलासमयी और कलामयी किशोरी, जिसमें आन्तरिक सौन्दर्य का विलास और बाह्य सौन्दर्य का चरम विकास हुआ है। कृष्ण इस विद्युत्-रेखा से चमत्कृत हो जाते हैं और उसी को बार-बार देखने के लिए उनके नेत्र भटकने लगते हैं। सयोग के अनेक चित्रो को चित्रित कर कवि विप्रलम्भ का चित्रण करता है, जिसमें विरहिणी राधा अपना अस्तित्व भूलकर कृष्ण का ध्यान करती हुई तन्मय हो जाती है। राधा और कृष्ण का विरह समान है, बेचारी राधा को चैन नहीं, राधा रहने पर कृष्ण का और कृष्ण-स्वरूप होने पर राधा का विरह उसे सहना पडता ही है—

अनुखन माधव माधव सुमिरत सुन्दरि भेल मधाई।

× × × ×

राधा सयँ जब पुनताई माधव सयँ जब राधा।
दारुन प्रेम तबहिं नहि टूटत बाढत विरहक बाधा॥
दुहु दिसि दारु दहन जैस दगधइ आकुल कीट परान।
ऐसन वल्लभ हेरि सुधामुखि कवि विद्यापति मान॥

इस तुलनात्मक अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सूर की राधा में विद्यापति, जयदेव, चण्डीदास और ब्रह्मवैवर्त्त पुराण की राधा की विशेषताएँ सहित हो गई हैं और उन सब के ऊपर स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिकता के स्वर्णिम वर्ण से सूर ने अपनी राधा को ऐसा रूप दिया, कि उनसे पहले के राधा के सभी चित्र फीके पड गये। उन्होंने कैशोर्य की संयत चपलता और यौवन के उद्दाम भवसागर में डूबती हुई राधा का ही चित्रण नही किया, अपितु अपने भोलेपन से सब के मन को हरने वाली और सहज निर्बाध तरलता से श्याम को आकृष्ट करने वाली बालिका राधा का भी चित्रण किया है। यह सूर की अपनी देन है, निजी मौलिकता है। उनकी राधा में परकीया की तीव्र वेदना चाहे न हो, परन्तु स्वकीया की गम्भीर और स्वाभाविक उत्कण्ठा अवश्य है। विवाह होने से पूर्व का राधा का अनुराग पूर्वानुराग कहा जा सकता है।

हम पहले कह चुके हैं कि श्रीमद्भागवत में राधा का चित्रण नही हुआ है और न ही उसका कही नाम आया है। साम्प्रदायिक दृष्टि से निम्बार्क सम्प्रदाय वालो ने राधा को सर्वप्रथम अपने भक्ति-धर्म-ग्रन्थो में स्थान दिया। साहित्यिक परम्परा में राधा का समावेश कब हुआ, यह निश्चयपूर्वक न कहा जा सकने पर भी यह असम्भव नहीं कि उसका आगमन रस-क्षेत्र में इससे भी पहले हो चुका हो। जयदेव के 'गीत-गोविन्द' के रचना-काल से पहले कृष्ण के अवतारत्व के कारण राधा-कृष्ण के प्रति भक्ति-भावना का और उनकी प्रेम लीलाओ का मिश्रण हो गया था। 'पचतन्त्र' में राधा का नाम आया है। 'गाथा सप्तशती' में भी उसकी शृङ्गारिक चेष्टाओ का उल्लेख है, धनञ्जय के 'दशरूपक', भोजकृत 'सरस्वती-कण्ठाभरण'; आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' तथा क्षेमेन्द्र के 'दशावतार चरित' आदि ग्रन्थो में कृष्ण के अवतारत्व के प्रति भक्ति-भाव दिखाते हुए उनके राधा-विषयक-प्रेम-सम्बन्ध को विशेषणो के रूप में दिया है—अथवा लक्षण-ग्रन्थो मे नायक-नायिका के स्थान

पर कृष्ण और राधिका का नाम रख दिया है। राधा के विषय में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने दो प्रकार के अनुमान किये हैं—

१—राधा आभीर जाति की प्रेम-देवी रही होगी, जिनका सम्बन्ध बालकृष्ण से रहा होगा। आरम्भ में केवल बालकृष्ण का वासुदेव कृष्ण से एकीकरण हुआ होगा, इसलिए आर्य ग्रन्थों में राधा का नामोल्लेख नही है। पीछे से जब बालकृष्ण की ही प्रधानता रही होगी तो इस बालक देवता की सारी बातें अहीरो से लेली गई होगी, और इस प्रकार राधा की प्रधानता हो गई होगी।

२—दूसरा अनुमान यह किया जा सकता है कि राधा इसी देश की किसी आर्य-पूर्व-जाति की प्रेम-देवी रही होगी। बाद में आर्यो में इसकी प्रधानता हो गई होगी और कृष्ण के साथ उसका सम्बन्ध जोड दिया गया होगा।

इस प्रकार हमने देखा कि—

१—चरित-चित्रण और भावाभिव्यञ्जन में सूरदास जी ने भागवत का आधार न लेकर पूर्णरूप से मौलिकता दिखाई है और कृष्ण-चरित को मनोवैज्ञानिक रूप से विविध अवस्थाओ और परिस्थितियो में चित्रित करके एक नूतन मौलिक प्रबन्ध के रूप में उपस्थित किया है।

२—प्रेम-भक्ति के अनुभूति-क्रम का विकास जितनी सुन्दरता से सूर ने अपने 'सूरसागर' में दिखाया है, वैसा श्रीमद्भागवत में नही। राधा का चरित्र इस प्रेम-भक्ति के भाव से ओत-प्रोत है।

३—सूरदास की गोपियाँ भी अपनी पृथक् सृष्टि हैं।

४—कृष्ण और गोपियो के अतिरिक्त सूर ने कुछ ऐसे चरित्र चित्रित किये हैं, जिनके बिना कृष्ण का चरित्र पूर्ण ही नही कहा जा सकता। उनमें से मुख्य नन्द और यशोदा हैं, जिनका व्यक्तित्व ही कृष्ण-स्नेह का प्रतीक है। यशोदा के रूप में उन्होने मातृत्व को साकार कर दिया। वात्सल्य-भक्ति का आश्रय यशोदा के समान ससार के साहित्य में शायद ही कोई मिले। वास्तव में सूर के दो पात्र—राधा और यशोदा—साहित्य की अनुपम निधि हैं।

५—श्रीमद्भागवत में कृष्ण और गोपियो का जो चरित-चित्रण है, उसकी मुख्य पृष्ठ-भूमि दार्शनिक है। भक्ति का विवेचन और महत्त्व प्रतिपादन करने के लिये भागवतकार उस दार्शनिक पृष्ठ-भूमि को भक्ति के क्षेत्र से मिलाने का प्रयत्न करता है। 'सूरसागर' भक्ति-रस का सागर है, जिसमे गोता लगाने से भक्ति-रत्न ही प्राप्त होते हैं। दार्शनिक तत्त्व तो इन रत्नो में घोंघों की भाँति मिले हुए हैं।

६—सूरदास उच्च-कोटि के भक्त होते हुए भी अपने समय और सम्प्रदाय से पूर्णतया प्रभावित थे। दोनों ही प्रभाव उनके 'सूरसागर' में लक्षित होते हैं।



अष्टम अध्याय

सूर के दार्शनिक सिद्धान्त

सूरदास जी का सूरसागर शताब्दियों से चली आती हुई धार्मिक परम्पराओं का आश्रय-स्थल कहा जा सकता है। भक्ति-रस से लबालब भरा रहने पर भी सिद्धान्त-रत्नों की इसमें कमी नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि सभी साम्प्रदायिक विरोधी भावनाएँ यहाँ आकर समन्वित हो गई हैं। महाकवि सूर के विशाल-हृदय का यह उद्गार प्राय सभी प्रचलित धार्मिक-परम्पराओं का उचित रूप में प्रतिनिधित्व करता है। सूर के इस भक्ति-ग्रन्थ से स्वतन्त्र रूप से दार्शनिक सिद्धान्तों को खोज निकालना दुस्तर कार्य है। इसके लिए हमें पिछली कई शताब्दियों के धार्मिक आन्दोलन का मन्थन करना पडेगा। वैष्णव सम्प्रदायों का युग तो दशवी शताब्दी से ही व्यवस्थित रूप में प्रारम्भ हुआ, परन्तु उससे पहले परस्पर विरोधी धार्मिक आन्दोलनों का स्वर कितना व्यापक विस्वरित था इसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। पहली शताब्दी से लेकर दशवी शताब्दी तक वैदिक और अवैदिक की छाप लिए हुए इन सम्प्रदायों का दक्षिण में विशेष प्राबल्य रहा। पुराण, आगम, तन्त्र और सहिताओं से इन सम्प्रदायों की परम्परा का पता चलता है। वैदिक और अवैदिक दोनों ही प्रकार के सम्प्रदायों के ये ग्रन्थ मिलते हैं। तन्त्र का प्रभाव सर्वत्र दीख पड़ता है। वास्तव में तन्त्र और आगम का अत्यन्त निकटवर्ती सम्बन्ध है और सभी प्रकार के आगमों को तन्त्र कहा गया है। यद्यपि तन्त्र-ग्रन्थ का सम्बन्ध साधारण रूप से शक्ति सम्प्रदाय से समझा जाता है; परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। व्यवहार में अवश्य वैष्णव-ग्रन्थ सहिताओं के नाम से, शैव आगमों के नाम से और शाक्त-ग्रन्थ तन्त्रों के नाम से प्रचलित हो गये हैं, पर सिद्धान्त रूप से इन सभी ग्रन्थों मे समानता पाई जाती है। सर जान वुडरफ ने 'शक्ति ऐण्ड शाक्त' पुस्तक में इस विषय पर विशेष रूप से विचार किया है। उन्होंने लिखा है कि "इन सभी ग्रन्थों का मूल स्वर एक है, केवल पारिभाषिक शब्दों का भेद है। पाञ्चरात्रों की भाषा में जो लक्ष्मी शक्ति, व्यूह और सकोच नाम से विख्यात है, शाक्तों की भाषा में वही त्रिपुरसुन्दरी, महाकाली तत्व और कञ्चुक नामों से अभिहित हैं।"[1]

वैष्णव-सहिताओं में पाञ्चरात्र सहिताएँ विशेष उल्लेखनीय हैं, क्योंकि आगे के वैष्णव-सम्प्रदाय पाञ्चरात्र मत से ही विशेष प्रभावित हुए हैं। इन सहिताओं के निर्माण-काल, सख्या, विषय आदि पर पाश्चात्य विद्वानों ने पर्याप्त विचार किया है। इस विषय में श्रोडर का 'इण्ट्रोडक्शन टू दि पाञ्चरात्र ऐण्ड अहिर्बुध्न्य सहिता' तथा फर्कुहर का 'आउट लाइन्स ऑव दि रिलीजस-लिट्रेचर आव इण्डिया' विशेष उल्लेखनीय हैं। पाञ्चरात्र मत के उपासक भागवत कहलाते हैं। स्वामी शकराचार्य ने अपने शारीरक भाष्य मे पाञ्चरात्र-मत की आलोचना की है और उसे वेद-बाह्य बतलाया है।[2] सम्भवतः इसीलिए शकर से बाद के

१ शक्ति एण्ड शाक्त, सर जान वुडरफ पृष्ठ २३, २४

२ शारीरिक भाष्य २-२-४५

आचार्यों ने शकर-मत का खण्डन अपना पूर्वपक्ष रक्खा और पाञ्चरात्र-मत को शास्त्रीय सिद्ध करके उसकी उपयोगिता प्रतिपादित की। श्री रामानुजाचार्य का श्रीभाष्य इसी प्रकार का प्रयत्न कहा जा सकता है। ये सहिताएँ चार विपयो को लेकर चली हैं—(१) ब्रह्म और जीव के सम्बन्ध का निरूपण, (२) मोक्ष, (३) क्रिया-कलाप, अर्थात् मन्दिरो का निर्माण, मूर्ति स्थापन पूजा आदि तथा (४) चर्या, अर्थात् नित्य नैमित्यिक कृत्य, पूजा-पद्धति, पर्व, उत्सव आदि। इनमे अन्तिम दो विपयो का विशेप विवेचन हुआ है। चतुर्व्यूह सिद्धान्त पाञ्चरात्र मत की विशेपता है और शकर ने इसका खण्डन किया है। भागवत मत की दूसरी सहिताएँ वैखानस सहिताएँ कहलाती हैं। दक्षिण के कुछ मन्दिरो में आज भी इन सहिताओ के अनुकूल पूजा-पद्धति प्रचलित है, परन्तु श्री रामानुजाचार्य जी ने पाञ्चरात्र सहिताओ को ही विशेप महत्त्व दिया था। इन सहिताओ में भक्ति पर विशेप वल दिया है और भगवान् के अनुग्रह को सब कुछ वतलाया है। जीव अपने कर्मो के वशीभूत ससार मे चक्कर काटता रहता है। जब उस पर भगवान् की कृपा होती है, तभी उसे छुटकारा मिलता है। इसलिए इस ससार से छुटकारा पाने के लिए उसे भगवान् की शरण में जाना चाहिए।[1]

हम पहले कह चुके हैं कि श्री शकराचार्य जी के अद्वैत मत का सम्पूर्ण भारतवर्ष पर बडा व्यापक प्रभाव पडा था और आज भी हमे स्थान-स्थान पर यह प्रभाव लक्षित होता है। उस प्रभाव का प्रतिरोध साधारण शक्ति का काम नही था। उसके विरोध में भक्ति का प्रचार करने के लिए अनेक ग्रन्थो का प्रणयन हुआ। आलवार और आडवार भक्तो से विशेप प्रेरणा मिली और कई वैष्णव-सम्प्रदाय उठ खडे हुए। सभी ने अपना आधार श्रीमद्भागवत को माना। इसलिए आगे के सम्प्रदायो के सैद्धान्तिक स्वरूपो को समझने के लिए भागवत का अध्ययन परम आवश्यक है। अब हम सक्षेप से भागवत के दार्शनिक पक्ष पर विचार करते हैं।

'भागवत' के दार्शनिक सिद्धान्त

श्रीमद्भागवत का प्रतिपाद्य विपय मुख्य रूप से तो भक्ति-निरूपण ही है परन्तु उसमें ब्रह्म, जीव, माया आदि का भी पर्याप्त विवेचन हुआ है। व्यास जी ने जब देखा कि महाभारत में नैष्कर्म्य-प्रधान धर्म का जो निरूपण किया गया है, उसमें भक्ति का यथावत् वर्णन नही है तो उनका मन उदास हो गया और उन्होने नारद की प्रेरणा से 'श्रीमद्भागवत' की रचना की।[2] भागवत के मङ्गलाचरण के प्रथम तीन श्लोको में यह सकेत है कि 'श्रीमद्भागवत' वेदान्तार्थ तथा ब्रह्म-सूत्रो का भाष्य है। पहले श्लोक में 'सत्य पर धीमहि" कहा गया है, अर्थात्-ग्रन्थ-रचना से पहले भागवतकार भगवान् के उस सच्चे स्वरूप का ध्यान करते हैं, जिससे इस जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय होती है, क्योकि वह सभी सद्रूप पदार्थो मे अनुरत है और सभी असत् पदार्थो से पृथक् है। जड नही, चेतन है, परतन्त्र नही, स्वयप्रकाश है, जो ब्रह्म तथा हिरण्यगर्भ नही, प्रत्युत अपने सत्य सकल्प से ही जिसने उन्हे वेदज्ञान दिया है। जैसे तेजोमय सूर्य-रश्मियो में जल का, जल में स्थल का और स्थल में जल का भ्रम होता है, वैसे ही जिसमे यह त्रिगुणमयी जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति रूपा सृष्टि मिथ्या होने पर भी अधिष्ठान-सत्ता से सत्यवत् प्रतीत हो रही है और जो अपनी स्वय-प्रकाश ज्योति

१ अहिर्बुध्न्य सहिता— १४ श्लोक २८, २६, ३०-३२

२ श्रीमद्भागवत १ प्रथम स्कन्ध, अध्याय— ४, ५

से माया और माया-कार्य से मुक्त रहता है। दूसरे श्लोक में भागवत-पुराण को मोक्ष पर्यन्त फल की कामना से रहित परम धर्म का निरूपक ग्रन्थ बताया है और फिर तीसरे में इस महा-पुराण को वेदरूप कल्प वृक्ष का पका हुआ फल कहा है।[1] इन तीनो श्लोकों मे ही भागवत का सार आ गया है। भागवत की प्रशसा कई पुराणो और पाञ्चरात्र-निबन्धो में की गई है। नारद पाञ्चरात्र की ज्ञानामृत-सार-सहिता के द्वितीय रात्र के सप्तम अध्याय में तथा सात्वत-तन्त्र के द्वितीय पटल में भागवत को 'वेदो का सार' कहा गया है। इस महापुराण में सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय—इन दस विषयो का यथावत्, वर्णन है। दसवें तत्त्व 'आश्रय' का ठीक-ठीक निश्चय करने के लिए कही श्रुति से, कही तात्पर्य से और कही दोनो के अनुकूल अनुभव से महात्माओं ने अन्य नौ विषयों का बडी सुगम रीति से वर्णन किया है। इस प्रकार ईश्वर, जीव, जगत् और माया, इन सब की विस्तृत व्याख्या श्रीमद्भागवत में हो गई है।

ईश्वर की प्रेरणा से गुणो में क्षोभ होकर रूपान्त होने से जो आकाशादि पञ्चभूत, शब्दादि तन्मात्राएँ, इन्द्रियाँ, अहङ्कार और महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है, उसे सर्ग कहते हैं। श्रीमद्भागवत मे सर्ग का वर्णन कई रूपो में हुआ है।[2] सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में तीन मत विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं—आरम्भवाद, विवर्तवाद और परिणामवाद। श्रीमद्भागवत में इन तीनो ही वादो की सगति मिल जाती है। अव्यक्त से व्यक्त होना, एक से अनेक होना, निराकार से साकार होना, सूक्ष्म का स्थूल होना ही सृष्टि है।

उस विराट् पुरुष से उत्पन्न ब्रह्मा जी द्वारा जो विभिन्न चराचर सृष्टियों का निर्माण होता है, उसका नाम विसर्ग है। श्रीमद्भागवत में इस प्रकार की सृष्टि का भी वर्णन है।[3] प्रतिपद नाश की ओर बढ़ने वाली सृष्टि को एक मर्यादा में स्थिर रखने से भगवान् विष्णु की जो श्रेष्ठता सिद्ध होती है, उसका नाम 'स्थान' है।[4] भागवत के पञ्चम स्कन्ध के २४वें अध्याय में लोकों का वर्णन है।

'पोषण' का लक्षण भागवतकार ने इस प्रकार किया है, "पोषण तदनुग्रह" (द्वि० स्क० दशम अध्याय श्लोक ४)। इस तत्त्व का भागवत के छठे स्कन्ध में विशेष रूप से वर्णन किया गया है। इसमें भगवान् के विशेष अनुग्रह की अनेक कथाएँ हैं। जीव की वे वास-नाएँ, जो उसे कर्म के द्वारा बन्धन में डाल देती हैं, 'ऊति' नाम से कही जाती हैं।[5] श्रीमद्भागवत के सातवें स्कन्ध में इन वासनाओ का विस्तार से वर्णन है। 'मन्वन्तर' काल-परिमाण का नाम है।[6] मनुष्य-वर्षों के हिसाब से तितालीस लाख, बीस हजार वर्षों की एक चतुर्युगी होती है और इकहत्तर चतुर्युगियो का एक मन्वन्तर होता है। १४ मन्वन्तरो

१ श्रीमद्भागवत प्रथम स्कन्ध अध्याय १ श्लोक १, २, ३,
२ वही द्वितीय स्कन्ध अध्याय ५, तृतीय स्कन्ध अ० ५, १०, ११, १२, २१
३ वही तृतीय स्कन्ध अध्याय १०, २६
४ वही स्कन्ध २ अ० १ श्लोक ४
५ वही ऊतयः कर्म-वासना। भागवत २।१०।४
६ वही मन्वन्तराणि सद्धर्म। वही २।१०।४

का एक कल्प होता है। यह कल्प ब्रह्मा का एक दिन है और इतनी ही बडी उसकी एक रात्रि होती है। इस हिसाब से जब ब्रह्मा सौ वर्ष के हो जाते हैं, तो उनकी आयु पूरी हो जाती है। ब्रह्मा के एक दिन मे १४ मनु बदल जाते हैं। इस श्वेत वाराह-कल्प में 'स्वयभू'; 'स्वारोचिष', 'उत्तम', 'तामस', 'रैवत' और 'चाक्षुष' नाम के ६ मनु व्यतीत हो चुके हैं और सातवें 'वैवस्वत-मनु' वर्त्तमान हैं। इनके अतिरिक्त सात मनु और होंगे—सावर्णि, दक्ष-सावर्णि, ब्रह्म-सावर्णि, धर्म-सावर्णि, रुद्र-सावर्णि देव-सावर्णि, और इन्द्र-सावर्णि। प्रत्येक मनु के सग में विशेष-विशेष देवता, उनके पुत्र, इन्द्र, सप्तर्षि और भगवान् के अवतार हुआ करते हैं।[1]

भगवान् के विभिन्न अवतारो और उनके प्रेमी भक्तो के विविध आख्यानो से युक्त गाथाएँ 'ईश-कथाएँ' कहलाती हैं।[2] श्रीमद्भागवत में स्थान-स्थान पर भक्तो के चरित्र दिये हुए हैं। जब भगवान् योगनिद्रा स्वीकार करके शयन करते हैं, तब इस जीव का अपनी उपाधियो सहित उसमें लीन हो जाना 'निरोध' कहलाता है :

"निरोधोऽस्या शयनमात्मन: सह शक्तिभि.।" (भागवत २।१०।६)। भागवत के द्वादश स्कन्ध के चतुर्थ अध्याय मे 'निरोध' का वर्णन हुआ है।

अज्ञान कल्पित कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनात्म-भाव का परित्याग करके अपने वास्तविक स्वरूप परमात्मा में स्थित होना ही 'मुक्ति' है

"मुक्तिर्हित्वान्यथारूप स्वरूपेण व्यवस्थिति.।"[3]

श्रीमद्भागवत में पाँच प्रकार की मुक्ति बताई है—सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। भगवान् के नित्य चिन्मय धाम में रहना 'सालोक्य मुक्ति' है। उनके समान ऐश्वर्य प्राप्त कर लेना 'सार्ष्टि मुक्ति' है। भगवान् के समीप रहना 'सामीप्य' मुक्ति है, भगवान् के समान रूप प्राप्त कर लेना 'सारूप्य', और उनके चरणो में समा जाना 'सायुज्य मुक्ति' है। भागवत में इन पाँचों प्रकार की मुक्तियो के अनेक उदाहरण हैं, परन्तु मुक्ति की अपेक्षा भक्ति को महत्त्व दिया गया है, जो भगवान् के सच्चे प्रेमी हैं, वे मुक्ति की इच्छा नही रखते, भगवान् के प्रेम को ही मुक्ति से ऊँचा मानते हैं।

न्याय और वैशेषिक दर्शनो में प्रमाण, प्रमेय आदि षोडश द्रव्य और द्रव्य, गुण, कर्म आदि सप्त पदार्थों के तत्त्व ज्ञान से एकविंशति प्रकार के दु खो का ध्वस होकर मुक्ति सिद्ध होती है। सांख्य-दर्शन में प्रकृति और पुरुष के विवेक से पुरुष का अपने असग रूप में स्थिर हो जाना ही मुक्ति बताया गया है। योग-दर्शन में विवेक के साथ ही साथ मुक्ति के लिये समाधि की आवश्यकता भी स्वीकृत हुई है। भक्ति-दर्शनो में भगवत्कृपा को ही मुक्ति का हेतु माना गया है, क्योंकि भक्ति को अमृत रूपा बताया है। पूर्व-मीमांसा दर्शन स्वर्ग के अतिरिक्त और किसी प्रकार की मुक्ति स्वीकार नहीं करता। श्रीमद्भागवत में इन सब शास्त्रो के सिद्धान्तों को अपनाया है, केवल पूर्व-मीमांसा का मत ही नही के तुल्य है। इन सब शास्त्रो से परे भागवत में एक और स्थिति बताई गई है, जो वास्तविक मुक्ति है, वह

१ श्रीमद्भागवत अष्टम स्कन्ध

२ वही २।१०।५

३ वही २।१०।६

स्थिति है निरपेक्ष-स्थिति, अर्थात् साधक यह विचार ही नहीं करता कि कौन-सी मुक्ति वाञ्छनीय है अथवा मुक्ति का क्या स्वरूप है।

श्रीमद्भागवत में आश्रय-तत्त्व का विशेष रूप से निरूपण हुआ है। इस चराचर जगत् की उत्पत्ति और प्रलय जिस तत्त्व से प्रकाशित होते हैं, वह परब्रह्म ही आश्रय है। शास्त्रों में उसी को परमात्मा कहा है, जो नेत्रादि इन्द्रियों का अभिमानी द्रष्टा जीव है। वही इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवता सूर्यादि के रूप में भी है और जो नेत्रगोलकादि से युक्त देह है, वही उन दोनों को अलग-अलग करता है। इन तीनों में यदि एक का भी अभाव हो जाय तो दूसरे दो की उपलब्धि नहीं हो सकती। अतः जो इन तीनों को जानता है, वह परमात्मा ही सब का अधिष्ठान आश्रय-तत्त्व है।[1]

श्रीमद्भागवत में कृष्ण को ही परम तत्त्व माना है और नारायण को उससे निम्न कोटि का बताया है।[2] भगवान् कृष्ण के सगुण साकार रूप आश्रय का दशम स्कन्ध में तथा निर्गुण निराकार रूप आश्रय का बारहवें स्कन्ध में विशेष निरूपण हुआ है। द्वितीय स्कन्ध के नवम अध्याय में भगवान् ने ब्रह्मा को स्वयं अपने रूप का ज्ञान दिया है। जिन चार श्लोकों में इस स्वरूप का वर्णन हुआ है, उन्हें भागवत में चतुःश्लोकी कहते हैं, जिनका सारांश हम पीछे दे चुके हैं।

भागवत में ब्रह्म के विषय में तीन बातों को प्रधानता दी गई है—(१) अधिष्ठानता, (२) साक्षिता, (३) निरपेक्षिता। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक; ये उस पुरुष के तीन रूप हैं। आध्यात्मिक पुरुष का अर्थ है—नेत्रादि-इन्द्रियों का अभिमानी जीव, आधिदैविक पुरुष का अर्थ है नेत्रादि-इन्द्रियों का अधिष्ठातृ-देवता और आधिभौतिक पुरुष का अर्थ है नेत्र गोलकादि वाला स्थूल शरीर; ये तीनों सापेक्ष हैं। इन तीनों के भाव और अभाव को देखने वाला आत्मा इनका निरपेक्ष साक्षी है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में विश्व-तैजस तथा प्राज्ञ के रूप में उनका अनुभव करने वाला, एवं मूर्छादि-अवस्था में उनके अभाव का अनुभव करने वाला और समाधि अवस्था में उनसे परे रहने वाला आत्मा ही आश्रय है। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण और ब्रह्म को एक ही माना गया है। ब्रह्म-सूत्र के ब्रह्म गीता के पुरुषोत्तम और श्रीमद्भागवत के श्रीकृष्ण एक ही वस्तु हैं। इस कृष्णरूप ब्रह्म के विषय में श्रीमद्भागवत में बताया है "तत्त्ववेत्ता लोग ज्ञाता और ज्ञेय के भेद से रहित, अखण्ड, अद्वितीय, सच्चिदानन्द रूप ज्ञान को ही तत्त्व कहते हैं। उसी को कोई ब्रह्म, कोई परमात्मा और कोई भगवान् के नाम से पुकारते हैं।"[3] प्रथम स्कन्ध में नारायण, वासुदेव,

---

१ आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते।
स आश्रयः परब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते॥
योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसावेवाधिदैविकः।
यस्तत्रोभयविच्छेदः पुरुषो ह्याधिभौतिकः॥८॥
एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे।
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः॥९॥
(श्रीमद्भागवत २।१० ७, ८, ९)

२ श्रीमद्भागवत २।१०, १०, ११

३ वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥ भागवत॥ १।२।११

सात्वता पति' और कृष्ण आदि सभी ब्रह्म के नाम आ गये हैं। भागवत के अनुसार भगवान् में शरीर और शरीरी का भेद नही है। जीव अपने शरीर से पृथक् होता है, शरीर उसका ग्रहण किया हुआ है, और वह उसे छोड सकता है। परन्तु भगवान् का शरीर जड नहीं, चिन्मय है, उसमें हेय और उपादेय का भेद नही होता। वह सम्पूर्णतया आत्मा ही है। शरीर की ही भाँति भगवान् के गुण भी आत्मस्वरूप ही होते हैं। जीवो के गुण तो प्राकृत होते हैं और वे उनका त्याग कर सकते हैं। भगवान् का शरीर और गुण जीवो की ही दृष्टि में होते हैं, भगवान् की दृष्टि में नही। भगवान् तो निज स्वरूप में समत्व में स्थिति रहते हैं; क्योकि वहाँ गुण और गुणी का का भेद नही। इस प्रकार श्रीकृष्ण ही परब्रह्म स्वरूप आश्रय-तत्त्व है।

श्रीमद्भागवत में प्राय. सभी दर्शनो का समन्वय और सामञ्जस्य हो जाता है। मुख्य-मुख्य वैष्णव सम्प्रदायो के दार्शनिक सिद्धान्तो का सक्षिप्त परिचय हम पीछे दे चुके हैं। यहाँ हम आचार्य वल्लभ के दार्शनिक सिद्धान्तो की सक्षेप में व्याख्या करेंगे, क्योंकि सूरदास जी का साक्षात् सम्बन्ध वल्लभ-सम्प्रदाय से ही था।

आचार्य वल्लभ के दार्शनिक सिद्धान्त

श्री शकराचार्य के अद्वैतवाद के विरोध मे चार वैष्णव सम्प्रदाय खडे हुए। इनमें कई बातो में समानता और कई में विभिन्नता है। सभी सम्प्रदाय भक्ति को सर्वोपरि मानते हैं और इसीलिये इन सम्प्रदायो ने ब्रह्म को स्वरूप से सगुण माना है, जबकि शङ्कराचार्य ब्रह्म को माया के प्रभाव से सगुण-सा प्रतीत होने वाला मानते हैं। इसी प्रकार शङ्कर ने 'सर्वं ब्रह्म जगन्मिथ्या' कह कर जगत् को भ्रान्त कहा है, जबकि अन्य समस्त वैष्णव सम्प्रदायों ने ब्रह्म के समान ही जगत् को माना है। 'अह ब्रह्मास्मि' आदि वाक्यो के अनुसार शङ्कर मुक्त-जीव को ही ब्रह्म मानते हैं, परन्तु अन्य वैष्णव-सम्प्रदाय मुक्त-जीव को ब्रह्म न मानकर, वैकुण्ठ में निवास करने वाले भगवान् की सेवा करने वाला मानते हैं। इन समानताओ के होते हुए भी इन सम्प्रदायो में सैद्धान्तिक मत-भेद है, जिनका सक्षिप्त विवेचन हम पहले कर चुके हैं। ये सारे सम्प्रदाय समकालीन नही, तो थोडे-थोडे अन्तर से ही हुए। ऐसे मुख्य सम्प्रदाय चार हैं—(१) श्रीरामानुजाचार्य का श्री सम्प्रदाय, (२) निम्बार्क का सनकादि-सम्प्रदाय, (३) विष्णुस्वामी का रुद्र-सम्प्रदाय, और (४) मध्वाचार्य का ब्रह्म-सम्प्रदाय।

वल्लभ-सम्प्रदाय के ग्रन्थों तथा किंवदन्तियो से ज्ञात होता है कि वल्लभाचार्य विष्णु-सम्प्रदाय के आचार्य थे। डाक्टर भण्डारकर ने स्पष्ट रूप से यह माना है कि वल्लभाचार्य के वे ही दार्शनिक सिद्धान्त थे, जो विष्णु-स्वामी के।[1] 'सम्प्रदाय-प्रदीप' के द्वितीय प्रकरण में भी विष्णु-स्वामी का वृत्तान्त दिया हुआ है। विष्णु-स्वामी का समय अभी निश्चित नही हो सका है। इस सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यो के अलग-अलग मत हैं, जिनके अनुसार इनका समय तीसरी शताब्दी से तेरहवी शताब्दी तक दोलायमान है। भण्डारकर आर्थवेनिस, सतीशचन्द्र विद्याभूषण आदि विद्वानो के अनुसार विष्णुस्वामी का समय १३वी शताब्दी के लगभग है।[2] विष्णु-स्वामी के मत के विषय में उनका कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नही है,

---

१ "वैष्णविज्म ऐण्ड शैविज्म" भण्डारकर पृष्ठ १०९

२ "वैष्णव-धर्म नो सक्षिप्त इतिहास" पृष्ठ २३९

यद्यपि 'सम्प्रदाय-प्रदीप' से ज्ञात होता है कि विष्णु-स्वामी ने ब्रह्मसूत्र, गीता और भागवत पर भाष्य लिखे थे। वल्लभ-सम्प्रदाय के ग्रन्थो मे लिखा है कि वल्लभाचार्य विष्णु-स्वामी के मत के अनुयायी थे और उनकी गद्दी के अधिकारी हुए। इससे प्रतीत होता है कि विष्णु-स्वामी का दार्शनिक सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैत' था। उनके मत की प्रतिष्ठा कुछ भङ्ग हो गई और फिर वल्लभाचार्य जी ने उसे फिर से जीवित कर उसका प्रचार किया।

शुद्धाद्वैत-सिद्धान्त का प्रतिपादन वल्लभाचार्य ने अपने ग्रन्थो में किया है, जिनकी सख्या ८४ बताई जाती है, परन्तु आजकल छोटे-बडे कुल मिलाकर केवल तीस ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इन ग्रन्थो में वेदान्त-सूत्र का अणुभाष्य, भागवत की सुबोधिनी टीका, षोडशग्रंथ, पुरुषोत्तम सहस्रनाम तथा तत्त्वदीप निबन्ध अधिक प्रसिद्ध हैं। वल्लभाचार्य जी के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने भी वल्लभाचार्य जी के सिद्धान्तो पर प्रकाश डाला और छोटे बडे अनेक ग्रन्थ लिखे, अपने पिताजी के अपूर्ण ग्रन्थो को पूरा किया तथा उनकी टीकाएँ कीं। इनके स्वतन्त्र ग्रन्थों में 'विद्वन्मण्डन' ग्रन्थ बडा महत्त्वपूर्ण है। विट्ठलनाथ जी के पश्चात् उनके पुत्र गोकुलनाथ जी तथा पौत्र श्री हरिराय जी ने भी सम्प्रदाय-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, परन्तु हम अपना विवेचन आचार्य वल्लभ के ग्रन्थो तक ही सीमित रखेंगे।

धर्म के दो पक्ष हैं, सिद्धान्त और आचरण। सिद्धान्त-पक्ष में वल्लभ-सम्प्रदाय को शुद्धाद्वैतवादी, ब्रह्मवादी तथा अविकृत परिणामवादी कहते हैं; आचरण-पक्ष में यह मार्ग पुष्टि-मार्ग कहलाता है। शुद्धाद्वैत का विवेचन श्री गिरिधर जी के 'शुद्धाद्वैत-मार्त्तण्ड' में तथा श्री रामकृष्ण भट्ट के 'शुद्धाद्वैत-परिष्कार' में विशेष रूप से हुआ है, ब्रह्मवाद का विवेचन श्री हरिराय जी और श्री व्रजराज जी ने किया है तथा तत्त्वदीप-निबन्ध के शास्त्रार्थ-प्रकरण में, अणुभाष्य में, सिद्धान्त-मुक्तावली मे और भागवत की टीका सुबोधिनी में आचार्य वल्लभ ने भी ब्रह्म के विविध रूपो पर प्रकाश डाला है। हम पहले बता चुके हैं कि आचार्य वल्लभ का मत शकर के मत से भिन्न है। शुद्धाद्वैत का अभिप्राय है—शुद्ध च तदद्वैत च—अर्थात् शुद्ध अद्वैत माया के सम्बन्ध से रहित है। शकर ने माया और अविद्या रूप उपाधि से युक्त ब्रह्म को कारण और कार्य बताया है, परन्तु वल्लभाचार्य ऐसा नहीं मानते। 'शुद्धाद्वैत-मार्त्तण्ड' मे भी लिखा है :

"माया-सम्बन्ध-रहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः।
कार्य-कारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम् ॥"[1]

ब्रह्मवाद का अभिप्राय यह है—सर्वं ब्रह्म, इतिवाद =ब्रह्मवाद, अर्थात्—सब कुछ ब्रह्म ही है। जगत् भी ब्रह्म-रूप है और जीव भी ब्रह्म-रूप है, जैसा कि तत्त्वदीप-निबन्ध में लिखा है—

"आत्मैव तदिद सर्वं ब्रह्मैव तदिद तथा।"[2]

इसी शुद्धाद्वैत को अविकृत-परिणामवाद कहा गया है, जिसका अर्थ है कि जगत् ब्रह्म का ही परिणाम है, जो अविकृत अर्थात् विकार-रहित है। "एकमेवाद्वितीय ब्रह्म" वाली श्रुति को लेकर शुद्धाद्वैत के आचार्यो ने ब्रह्म का निरूपण किया है। इस श्रुति में ब्रह्म को एक

१ शुद्धाद्वैत-मार्त्तण्ड (गिरिधर जी) श्लोक २८

२ तत्त्वदीप-निबन्ध, शास्त्रार्थ-प्रकरणान्तर्गत सर्व-निर्णय प्रकरण।

अक्षरब्रह्म ३—अन्तर्यामी ब्रह्म। कृष्ण का अवतार उन्होने चतुर्व्यूहात्मक तथा रसात्मक, दोनो रूपों से माना है। परब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम अपने अक्षर-धाम तथा अपनी शक्तियो सहित अवतार लेता है, इसलिये ब्रजभूमि को भगवान् का लीलाधाम अथवा गोलोक का अवतार माना है और उसको मायिक जगत् से परे माना है।

हम पहले कह चुके हैं वल्लभाचार्य जी ने जीव को अश और परमात्मा को अशी माना है। जिस प्रकार अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार सच्चिदानन्द अक्षर ब्रह्म के चिद् अश से असख्य जीव निकले और सद् अश से जड प्रकृति, तथा आनन्दाश से उसके अन्तर्यामी रूप निकले। श्रीमद्भगवद्गीता में भी जीव को उसका अश माना गया है। अणु-भाष्य में वल्लभाचार्य ने लिखा है :

अस्य जीवस्यैश्वर्यादितिरोहितम्।[1]

अर्थात्—भगवान् की इच्छा से जीव के ऐश्वर्य आदि छै गुण तिरोहित हो जाते हैं। ऐश्वर्य के तिरोभाव से दीनता, पराधीनता, वीर्य के तिरोभाव से सब प्रकार के दु ख, यश के तिरोभाव से हीनता, श्री के तिरोभाव से जन्म-मरण-विषयक आपत्तियाँ, ज्ञान के तिरोभाव से अहबुद्धि और सब पदार्थों का विपरीत-ज्ञान तथा वैराग्य के तिरोभाव से विषयो में आसक्ति हो जाती है। आनन्दाश का तिरोभाव तो पहले से ही हो जाता है।

वल्लभाचार्य ने जीव को अणुमात्र माना है, जो गंध की भाँति सम्पूर्ण शरीर मे फैला हुआ है; उसका चैतन्य-गुण सर्व-शरीरव्यापी है।[2] जीव असख्य, नित्य और सनातन है। जीव मे अपने अशी के सब गुण हैं। अविद्या माया के कारण जीव बद्धावस्था में रहता है और ऐश्वर्य आदि गुणो का उसमें से तिरोधान हो जाता है। उस समय जीव अनेक योनियों में भ्रमता फिरता है। वल्लभाचार्य ने श्रुतियो से प्रमाण देकर जीव अणुत्व और आनन्त्य सिद्ध किया है।[3]

जीव-सृष्टि दैवी और आसुरी दो प्रकार की मानी गई हैं। दैवी जीव-सृष्टि पुष्टि तथा मर्यादा-भेद से दो प्रकार की है। पुष्टि सृष्टि के जीव चार प्रकार के होते हैं और उनको उत्पत्ति पुरुषोत्तम के अङ्ग से मानी गई है। इस सृष्टि के जीवो के चार प्रकार ये हैं—शुद्ध-पुष्ट, पुष्टि-पुष्ट, मर्यादा-पुष्ट तथा प्रवाही-पुष्ट।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वल्लभाचार्य ने जड़-जगत् की उत्पत्ति अक्षर-ब्रह्म के सद् अश से मानी है। ब्रह्म की रमण करने की कामना ही उसका कारण है, अर्थात्—भगवान् स्वय ही जगत् के रूप में प्रकट हुए हैं। जैसे स्वर्ण से कटक कुण्डलादि बनते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से यह जगत् बना है, इसलिये भगवान् की क्रीड़ा का उपकरण रूप जगत् भी आनन्दरूप है। क्रीडा आधार के बिना सम्भव नही, अत. आधारत्वेन जड-जीवात्मक सच्चिदश से सत्‌रूप प्रपञ्च का आविर्भाव किया है। यह दृश्यमान जगत् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का ही आविर्भाव है। इस प्रकार काष्ठवह्नि-न्याय से आविर्भूत और अनाविर्भूत दोनो स्वरूपो में ही जगत् सत्य, ज्ञान और अनन्त लक्षण लक्षित ब्रह्मरूप सच्चिदानन्दन स्वरूप वा भगवत्स्वरूप है। सिद्धान्त-मुक्तावली में वल्लभाचार्य जी कहते हैं—

---

१ अणुभाष्य अ० ३ पा० २ सू० ५

२ जीवस्य हि चैतन्य गुण- स सर्व-शरीरव्यापी। अणुभाष्य २।३।२५

३ बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य तु।
भागो जीव स विज्ञेय स चानन्त्याय कल्पते॥

"परब्रह्म तो श्रीकृष्ण ही हैं। सच्चिद् गणितानन्द अक्षर ब्रह्म है, जो दो प्रकार का है, जगत्स्वरूप और उससे भिन्न। जगद्रूप के विषय में विवाद करने वालो के अनेक मत हैं। कोई इसे मायाविष्ट बताता है और कोई त्रिगुणात्मक, कोई इसे ईश्वरकृत मानता है और कोई अनादि। वास्तव अक्षर ब्रह्म ही जगद्रूप है जो गङ्गा के जल के सदृश है, अर्थात्—जलरूप और दूसरा तीर्थ-रूप।[1]

अणुभाष्य में आचार्य जी लिखते हैं, "ब्रह्म ही इस जगत् का निमित्त कारण है और वही इसका उपादान कारण है।"[2] यह जगत् अविकृत परिणामी है, अर्थात्—यह रूप बदलने पर भी लय होने के अनन्तर शुद्ध ब्रह्मरूप में आ जायेगा। सृष्टि के विकास के विषय में श्रीवल्लभाचार्य जी मानते हैं कि सच्चिदानन्द पूर्ण पुरुषोत्तम अपनी इच्छामात्र से सत्, चित् तथा गणितानन्द अक्षर ब्रह्म बनता है। उसके चिद्रूप से जीव रूप पु० और सद् अंश से प्रकृति का प्रादुर्भाव होता है। पुरुष और प्रकृति के साथ महत्तत्व, अहकारादि अन्य २६ तत्त्वों का आविर्भाव होता है। इन २८ तत्त्वो से युक्त अण्डरूप सृष्टि में परब्रह्म जब अन्तर्यामी रूप से प्रवेश कर उसका सचालन करता है, तभी अनेक रूपात्मक सृष्टि का प्रसार होने लगता है। इस अण्ड-सृष्टि को विराट् पुरुष भी कहा गया है। अक्षर, काल, कर्म और स्वभाव ये सृष्टि-कार्य ब्रह्म के ही स्वरूप हैं और इनकी गणना सृष्टि के २८ तत्त्वों मे नही की गई है।[3]

वल्लभाचार्य ने ससार का सम्बन्ध जीव से बताया है। जगत् सत्य है, क्योंकि वह ब्रह्म का अविकृत परिणाम है, ससार जीवकृत होने के कारण ही झूठा है—

प्रपञ्चो भगवत्कार्यस्तद्रूपो माययाऽभवत्।
तच्छक्त्याऽविद्यया त्वस्य जीवससार उच्यते ॥

त० दी० नि० शास्त्रार्थ प्रकरण, २६

संसार को जीव ने अपनी अविद्या माया से रचा है। इसका उपादान-कारण अविद्या और निमित्त-कारण जीव है। अहता-ममतात्मक कल्पना का नाम ही ससार है। जब जीव अज्ञान से छूट जाता है तो उसके संसार का लय हो जाता है, किन्तु जगत् का लय भगवान् की इच्छा पर निर्भर है। श्रीमद्भागवत मे लिखा है, "यह ससार गुणों और कर्मों के कारण होने वाला जन्म-मरण का चक्र है। यद्यपि यह अज्ञान-मूलक एव मिथ्या है, तथापि जीव को इस की प्रतीति स्वप्न के समान हो रही है।[4]" वल्लभाचार्य जी ने माया के दो रूप बताये हैं—विद्या-माया और अविद्या-माया। जीव, माया के अधीन है, अविद्या-माया जीव के बन्धन का कारण है और विद्यामाया मुक्ति का। अविद्यामाया के कारण ही जीव को भ्रांति होती है, उसमे अहता ममता के भाव आते हैं। माया दो प्रकार से भ्रम उत्पन्न करती है, एक तो विद्यमान को प्रकाशित नहीं होने देती, और दूसरे अविद्यमान को प्रकाशित

१ सिद्धान्त मुक्तावली, श्लोक ३, ४, ५
२ अणुभाष्य ३।२।१७
३ तत्त्वदीप निबन्ध, सर्वनिर्णय प्रकरण।
४ श्रीमद्भागवत् ७। ७। २७

करती है।[1] शास्त्रार्थ प्रकरण में आचार्य जी ने माया को पञ्चपर्वा कहा है।[2] ये पाँच पर्व—अन्त करण, प्राण, इन्द्रिय, देह और स्वरूप नाम के अध्यास हैं। स्वरूपाध्यास मे जीव यह बिल्कुल भूल जाता है कि वह भगवान् के चेतन रूप का अश है। इस अविद्या का नाश भगवान् की कृपा के बिना सम्भव नही है। भगवान् की कृपा होने पर जब जीव दु ख से छूट जाता है और उसे नित्यानन्द की प्राप्ति हो जाती है, तब वह मुक्त हो जाता है।[3]

वल्लभ-सम्प्रदाय मे मुक्त जीव के अधिकार और साधन के अनुसार मुक्ति की अनेक अवस्थाएँ मानी हैं। नित्यानन्द की प्राप्ति ही मुक्ति है। विद्या के द्वारा जब अविद्या का नाश हो जाता है तो देह इन्द्रिय आदि का अभ्यास मिट जाता है और जीव ससार के दु.ख से छूट जाता है। जब तक जीव के प्रारब्ध कर्म नष्ट नही हो जाते अथवा उसे भगवान् की अनुकम्पा प्राप्त नही होती, तब तक उसका देहाभाव विद्यमान रहता ही है। प्रभु की कृपा के पात्र पुष्टि मार्गी भक्त के प्रारब्ध कर्म बिना भोग के ही नष्ट हो जाते हैं।[4] वह इस स्थूल देह को छोड देता है और भगवान् की लीला के उपयुक्त देह को प्राप्त कर लेता है। भक्ति के द्वारा ही मुक्ति सरलता से प्राप्त हो सकती है, क्योकि ज्ञान और योग के उपाय और साधन कष्ट-साध्य हैं। वल्लभाचार्य जी ने सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्ति-अवस्थाओं के अतिरिक्त स्वरूपानन्द की एक अवस्था और मानी है, जब मुक्त-जीव भगवान् की लीला का साक्षात् रूप से अनुभव करता है। वल्लभ-साम्प्रदाय में इसी को अधिक महत्त्व दिया है और गोकुल को वैकुण्ठ से भी उच्च माना है। भगवान् के सयोग-विप्रयोगात्मक रस रूप के उपासक श्रीवल्लभाचार्य इस अवस्था में सयोग और वियोग—दोनो ही रसों की अनुभूति करते हैं, इसी लिए उन्होंने सायुज्य-मुक्ति की लयात्मक और प्रवेशात्मक—दो अवस्थाएँ मानी हैं। श्रीमद्भागवत की भाँति उन्होंने 'सद्योमुक्ति' और 'क्रममुक्ति' भी स्वीकार की हैं। सद्योमुक्ति के अधिकारी पुष्टि-पुष्ट भक्त होते हैं, जिन्हे भगवान् आनन्द विग्रह देकर अपनी नित्य रसात्मक लीला में ग्रहण करते हैं। क्रम-मुक्ति ज्ञानमार्गियो को प्राप्त होती है। अणुभाष्य के चौथे अध्याय में मुक्ति और पुनरावृत्ति के विषय पर विस्तार पूर्वक विचार किया गया है। विरह की अवस्था को इस सम्प्रदाय ने बडा महत्त्व दिया है क्योकि उस अवस्था में ही भक्त और भगवान् का एकीकरण होता है। वह भी एक सायुज्य-अवस्था ही है। भगवान् का अनुग्रह ही जीव की मुक्ति में विशेष कारण बनता है, जैसा अनुग्रह जिस जीव पर होता है उसी के अनुसार अलौकिक शरीर मे प्रवेश कर मुक्त जीव भगवान् की लीला का आनन्द लेता है।[5]

हम पहले कह आये हैं कि चैतन्य-सम्प्रदाय वालों ने वृन्दावन को बहुत महत्त्व दिया है और उसी को भगवान् कृष्ण की नित्य लीला का स्थल बताया है। वल्लभ-सम्प्रदाय मे गोकुल का महत्त्व है और अक्षर-ब्रह्म के लीला-धाम का नाम गोकुल, गोलोक या वृन्दावन कहा गया है, जहाँ भगवान् अपनी आनन्द-प्रसारिणी शक्तियों के साथ लीला करते हैं। व्रज,

---

१ श्रीमद्भागवत २। ६। ३३

२ पञ्च पर्वां त्वविद्येय मद्बद्धो याति ससृतिम्।
विद्ययाऽविद्यानाशे तु जीवो मुक्तो भविष्यति। त० दी० नि० शा० प्र० ३६।

३ त० दी० नि० शास्त्रार्थ प्रकरण ३७, ३८।

४ अणुभाष्य ४।१।१७।

५ वही ४।४।७

वृन्दावन अथवा गोकुल—नित्यलीला-धाम गोलोक का अवतरित रूप है। वल्लभाचार्य जी ने गोकुल की महत्ता वैकुण्ठ से भी अधिक मानी है।[1] इसीलिये वल्लभ-सम्प्रदायी भक्त इसी गोलोक की प्राप्ति को अपनी साधना का परम लक्ष्य मानता है।

श्रीकृष्ण-लीलाओं का आध्यात्मिक पक्ष तथा प्रतीकार्थ

भगवान् की त्रिविधात्मक शक्ति का सूत्र तो विष्णु-पुराण से लिया गया है, परन्तु ब्रह्म के स्वरूपों का जैसा विस्तार और समन्वय श्रीमद्भागवत में है, वैसा अन्यत्र नहीं। इसीलिये वैष्णव-धर्म में श्रीमद्भागवत को प्रामाणिक माना गया है, विशेषकर बंगाल के सभी वैष्णव-सम्प्रदाय भागवत को लेकर चले हैं। भागवत में वर्णित कृष्ण-लीलाओं को लेकर चैतन्य महाप्रभु के शिष्य—वृन्दावन के गोस्वामियों ने बड़े-बड़े रूपक बाँधे हैं। इस विषय में सनातन गोस्वामी का 'बृहद्-भागवतामृत' तथा रूप-गोस्वामी का 'लघु-भागवतामृत' विशेष उल्लेखनीय हैं। 'लघु-भागवतामृत' में अवतारों का विशद विवेचन है। रूप गोस्वामी ने कृष्ण को पूर्णावतार माना है और उनकी लीलाओं को नित्य-लीला कहा है। जीव गोस्वामी ने अपने 'कृष्ण-संदर्भ' में इस विषय को और भी विस्तार दिया है। भगवान् की नित्य-लीला प्रकट और अप्रकट, दोनों रूपों में रहती है। प्रकट लीला में वे भक्तों के सम्मुख प्रकट होते हैं और यह लीला उनकी शक्ति ही का कार्य है। इस लीला में भगवान् वृन्दावन, मथुरा और द्वारका में विहार करते हैं परन्तु नित्य-लीला में अपने नित्य-धाम वृन्दावन में रहते हैं, जहाँ उनका केवल द्विभुज रूप है और वह केवल अपनी शक्ति-स्वरूपा एक गोपी से विहार करते हैं। मथुरा में वे वासुदेव, और द्वारका में प्रद्युम्न और अनिरुद्ध रूप हो जाते हैं। यशोदा के वे नित्य पुत्र हैं और देवकी के पुत्र केवल प्रकट-लीला में ही होते हैं। वृन्दावन से उनका कभी वियोग नहीं होता, क्योंकि वह उनका गोलोक है। लीला भगवान् की दैवी शक्ति का ही एक स्वरूप है और उसके प्राकृत और अप्राकृत दो भेद हैं। वृन्दावन से कृष्ण का वियोग केवल प्राकृत-लीला में है, जो केवल स्थूल रूप से वियोग माना गया है। सूक्ष्म रूप से प्राकृत-लीला में भी उनका वृन्दावन से नित्य सम्बन्ध है, जो दो प्रकार का है—आविर्भाव और अगति। अप्राकृत-लीला में भी कृष्ण का वृन्दावन से नित्य-सम्बन्ध रहता है। इसलिए वृन्दावन में ही माधुर्य-भाव की पूर्णता है। इस माधुर्य-भाव में कृष्ण का ऐश्वर्य, क्रीडा, वेणु तथा स्वरूप सम्मिलित है।

रूप गोस्वामी ने 'लघु-भागवतामृत' में भक्तों का कोटियाँ गिनाई हैं और पद्म-पुराण तथा श्रीमद्भागवत का आधार लेकर अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। भगवान् कृष्ण के स्वरूप की भाँति उनके परिकरों का भी पूर्ण विवेचन किया गया है। द्वारका तथा मथुरा में भगवान् के परिकर यादव हैं, तथा वृन्दावन और गोकुल में गोप और गोपियाँ। ये परिकर भी कृष्ण की भाँति प्राकृत और अप्राकृत हैं। गोकुल और वृन्दावन में गोप-गोपियों का सम्बन्ध नित्य-सम्बन्ध है, जिनमें अलौकिकता का भाव है। जीव गोस्वामी ने कृष्ण और गोपियों के सम्बन्ध को शुद्ध सात्विक सम्बन्ध माना है और जार-बुद्धि का विश्लेषण भी इसी रूप से किया है।

चैतन्य महाप्रभु के शिष्यों ने वैष्णव-सम्प्रदाय को शास्त्रीय रूप देने में बहुत अधिक योग दिया। यों तो उनके शिष्य वृन्दावन के छः गोस्वामी थे और सभी ने इस विषय में योग दिया है, परन्तु सनातन, रूप और जीव का कार्य बड़ा महत्त्वपूर्ण है। सनातन और रूप, दोनों

---

१ वही ४।२।१५

सहोदर थे और जीव गोस्वामी उनके भ्रातृज। इन्होने १५ वी शताब्दी के अन्तिम वर्षो मे ग्रन्थ लिखने प्रारम्भ किये और सोलहवी शताब्दी के मध्य तक उनका यह लेखन-कार्य चलता रहा। वृन्दावन के प्राय सभी सम्प्रदाय उनसे प्रभावित हुए हैं। वल्लभ-सम्प्रदाय के सिद्धान्तो का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट झलक जाती है कि सिद्धान्त रूप से वल्लभ-सम्प्रदाय चैतन्य-सम्प्रदाय से बहुत अधिक प्रभावित हुआ है। कृष्ण-लीला का अध्यात्मिक पक्ष थोडे बहुत अन्तर से प्राय चैतन्य-सम्प्रदाय से ही लिया गया है। वल्लभाचार्य जी के पश्चात् गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने तो अपने सम्प्रदाय का विस्तार पर्याप्त मात्रा मे चैतन्य-सम्प्रदाय के आधार पर ही किया। श्री वल्लभाचार्य ने श्रीमद्भागवत को समाधि-भाषा कहकर प्रस्थान चतुष्टय में सम्मिलित किया। उन्होने तत्त्वदीप निबन्ध, दशम स्कन्ध की अनुक्रमणिका तथा सुबोधिनी में श्रीमद्भागवत का रहस्य प्रतिपादित किया है और भागवत के सात प्रकार के अर्थ बताये हैं—चार प्रकार के भागवतार्थ-प्रकरण में, और तीन प्रकार के सुबोधिनी में। सम्पूर्ण ग्रन्थ भगवान् का मूर्तिमान् स्वरूप है, और दशम स्कन्ध सारे ग्रन्थ का रहस्य होने के कारण हृदय माना गया है। दशम स्कन्ध के अध्यायो की भी उन्होने सङ्गति लगाई है। अन्तिम तीन अध्यायो को प्रक्षिप्त मानकर शेष २७ अध्यायो को पांच प्रकरणो में विभाजित किया है—जन्म-प्रकरण, तामस-प्रकरण, राजस-प्रकरण, सात्विक-प्रकरण और गुण-प्रकरण। तामस-प्रकरण में उन्होने पूर्ण रूप से आध्यात्मिकता का आरोप किया और युगलगीत तक का विषय इस प्रकरण में माना है।

वल्लभ-सम्प्रदाय में भगवान् कृष्ण को पूर्णावतार मानकर उनके चार व्यूह माने हैं—वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। इन चारो के कार्य पृथक्-पृथक् हैं। पूर्ण-पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण का अवतार उन्होंने दो जगह माना है—श्री वसुदेव-देवकी के यहाँ, और श्री नन्द-यशोदा के यहाँ। दोनो जगह श्रीकृष्ण का जन्म व्यूह सहित ही हुआ है। कही व्यूह का प्राकट्य कार्य से है और कही स्वरूप से। वसुदेव-देवकी के यहाँ चारो व्यूह स्वरूप से प्रकट हैं, अर्थात्—भगवान् ने व्रज में अपने व्यूहो का स्वरूप छिपा कर रखा है, किन्तु व्यूहो का कार्य किया है और मथुरा मे भगवान् ने अपने व्यूहो का स्वरूप भी प्रकट किया है और कार्य भी। अतएव भगवान् ने वसुदेव जी के यहाँ अपने चतुर्भुज स्वरूप का दर्शन कराया। श्रीहरिराय के 'स्वरूप-निर्णय' में कृष्ण के सयोग-विप्रयोगात्मक रसरूप स्वरूप की व्याख्या विस्तार से की गई है। गोपियाँ नित्य-सिद्धा, श्रुतिरूपा और अग्निकुमार स्वरूपा बताई गई हैं। इस प्रकार भगवान् की लीला को आध्यात्मिक रूप दिया गया है।[1]

प्रतीकार्थ

राधा, गोपी, मुरली तथा रास

पिछले अध्याय में राधा का विवेचन करते हुए हमने बताया है कि राधा भगवान् की आल्हादिनी शक्ति है। चैतन्य-सम्प्रदाय मे राधा को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है और चैतन्य-महाप्रभु को राधा और कृष्ण का सयुक्त रूप माना है। वल्लभाचार्य के सिद्धान्त-ग्रन्थो मे राधा का इतना विवेचन नही है, जितना उनके पश्चात् लिखे गए सम्प्रदाय-ग्रन्थो मे। सम्भवत यह प्रभाव चैतन्य तथा निम्बार्क-सम्प्रदाय का है। निम्बार्क-सम्प्रदाय में युगलरूप की उपासना की जाती है। 'भागवत-सन्दर्भ' में जीव-गोस्वामी ने राधिका को भगवान् की स्वरूप-

१ स्वरूप-निर्णय (हरिराय जी)

शक्ति माना है। यह स्वरूप-शक्ति भगवान् के विभिन्न लीला-स्थलों पर विभिन्न स्वरूप धारण करती है। मथुरा तथा द्वारका में इस स्वरूप-शक्ति का नाम 'महिषी' है, जो सोलह हजार रानियों के लिये आया है। इन सोलह हजार में से आठ भगवान् की पट्टमहिषी हैं। वृन्दावन में भगवान् की स्वरूप-शक्ति व्रजदेवियों के रूप में प्रकट हुई है, जो भगवान् की आल्हादिनी शक्ति राधिका के शरीर से ही उत्पन्न हुई है। इस प्रकार राधिका को जीव गोस्वामी ने प्रधान स्थान दिया है।[1] 'प्रीति-सदर्भ' में उन्होंने राधिका का प्रेमोत्कर्ष पराकाष्ठा पर माना है और उसे सर्वश्रेष्ठ भक्त अथवा परिकर के रूप में ग्रहण किया है। भागवत की अन्यतमा सखी को ही वे राधिका मानते हैं।[2]

पुराण-साहित्य में भी गोपिकाओं के विषय में इसी प्रकार के आध्यात्मिक आरोप मिलते हैं, जिसका विवेचन हम पहले कर चुके हैं। विशेषकर पद्म पुराण के पाताल-खण्ड के तितालीसवें अध्याय में उन्हें श्रुति-स्वरूपा और मुनि-स्वरूपा कहा गया है। भागवत में इस प्रकार के अनेक संकेत हैं। भगवान् के समान गोपियाँ भी परम रसमयी और सच्चिदानन्दमयी मानी गई हैं। साधना की दृष्टि से उन्होंने न केवल जड शरीर का ही त्याग किया, अपितु सूक्ष्म शरीर से प्राप्त होने वाले स्वर्ग तथा कैवल्य से अनुभव होने वाले मोक्ष की भी उपेक्षा कर दी। भागवतकार ने लीलामय कृष्ण को तीन प्रकार का माना है। कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण पूर्ण सत् और ज्ञान-शक्ति प्रधान हैं, द्वारका और मथुरा में श्रीकृष्ण पूर्णचित् और क्रिया-प्रधान हैं तथा वृन्दावन में वे पूर्णानन्द और इच्छा-शक्ति प्रधान हैं। इसीलिए लीला को Playing in the infinite कहा है। भगवान् कृष्ण की सभी लीलाओं में अध्यात्म का आरोप किया गया है। श्रीमद्भागवत में इस अध्यात्म-तत्त्व का निर्देश स्थान-स्थान पर मिलता है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् की सारी लीलाएँ प्रच्छन्न रूप से किसी न किसी उद्देश्य को लेकर की जा रही थीं। गोप-गोपिकाएँ आदि सभी प्रच्छन्न रूप में, असाधारण अथवा अति-मानव थे। यहाँ तक कि असुर भी किन्हीं विशेष प्रयोजनों तथा कारणों से उस लीला पुरुषोत्तम नटवर के सम्पर्क में आते थे। माखन-चोरी, उलूखल-बन्धन, दामोदर-लीला, चीर-हरण, रास-लीला, वेणु-वादन आदि सब पर ही आध्यात्मिक आरोप हुए हैं। गोपियों के पूर्व-जन्म की कथाएँ तो पुराणों में भरी पड़ी हैं। इन गोपियों ने भगवान् के लिये कल्पों तक साधना करके गोपीतन प्राप्त किया था और उनकी अभिलाषा पूर्ण करने के लिए ही भगवान् ने लीलाएँ की। श्रीमद्भागवत में भगवान् ने स्वयं गोपियों से कहा है, 'हे गोपियो, तुमने लोक और परलोक के सारे बन्धनों को काटकर मुझ से निष्कपट प्रेम किया है। यदि मैं तुम में से प्रत्येक के लिये अलग-अलग अनन्तकाल तक जीवन धारण करके तुम्हारे प्रेम का बदला चुकाना चाहूँ, तो भी नहीं चुका सकता। मैं तुम्हारा ऋणी हूँ और ऋणी ही रहूँगा।'[3]

चीर-हरण और रास-लीला को साम्प्रदायिकों ने बड़ा महत्त्व दिया है और वेणु से भगवान् का अविच्छिन्न सम्बन्ध माना है। आचार्य वल्लभ ने 'वेणुगीत' का विषय दशम स्कन्ध के तामस प्रकरण के अन्तर्विभाग प्रमेय-प्रकरण में माना है। इन तामस प्रकरण में चार विभाग किये हैं—प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल। प्रमाण-प्रकरण में प्रभु अपन

---

१ भागवत सन्दर्भ (जीव गोस्वामी)

२ प्रीति सन्दर्भ (जीव गोस्वामी)

३ भागवत १० । ३२ । २२

नि साधन भक्तो के निरोध के लिये प्रेम-दान करते हैं, फिर प्रमेय में वह प्रेम विकसित होकर आसक्ति रूप वन जाता है और साधन में भक्तिमार्गीय साधन द्वारा वह व्यसनावस्था को प्राप्त हो जाता है। इस अवस्था में शुद्ध भक्ति का फल प्रभु के साथ रमण; अर्थात् रास-लीला होती है। इस प्रकार वल्लभाचार्य ने तामस-प्रकरण के चारो अन्तर्विभागो की परस्पर सगति दिखाई है। इन्हें भक्ति की चार अवस्थाए, अर्थात् स्नेह, आसक्ति, व्यसन और तन्मयता कहा जा सकता है। 'वेणुगीत' व्रज-भक्तो की आसक्ति का वहिरुद्गम कराने का प्रयास है। सगीत, काव्य और भक्ति, सभी दृष्टियो से वेणुगीत वडा महत्त्वपूर्ण है। इस सूत्र को ग्रहण करके हिन्दी, गुजराती और मराठी के कवियो ने न जाने कितने काव्य लिखे हैं? इस गीत-सूत्र मे भक्ति-मार्ग का अत्युत्तम सिद्धान्त गुम्फित है। इसमें भगवान् स्वय अपने शब्द द्वारा चराचर सृष्टि को तल्लीन करते हैं। सगीत का महत्त्व भी इस गीत से प्रकट होता है। सगीत का महत्त्व और प्रभाव जगत् के समस्त साहित्य में वताया गया है। ग्रीक-साहित्य में Orphense का वर्णन है, जो सगीत के प्रभाव से चराचर जगत् को हिला देता, समुद्र की उछलती तरगो को शान्त कर देता, वायु के वेग को रोक सकता और पर्वतो को गति दे सकता था। मिल्टन ने अपने 'पैराडाइज लॉस्ट' में भी यही लिखा है कि—'जव ईश्वर ने इस सृष्टि की रचना की तो पहले विखरे हुए महाभूतो को सगीत के द्वारा एकत्र किया और फिर सृष्टि रची।' ड्राइडन ने इसी वात को अपने 'सेंट-असीलिया' की प्रार्थना के गीत में दिखलाया है कि—'सगीत मे केवल वस्तु के सर्जन करने की ही नही, किन्तु लय करने की भी शक्ति है।' स्टीवेन्सन ने अपने 'Pans Pipes' (पैन्स पाइप्स) नामक लेख मे वशी वजाते हुए 'पैन'—अर्थात्—प्रकृति-देव की कल्पना की है। भागवतकार ने भी इसी प्रकार वेणुगीत मे सगीत की अलौकिक शक्ति का परिचय कराया है। सूरदास ने मुरली विषयक इतने पद लिखे हैं कि वे एक अलग खण्ड-काव्य का रूप धारण कर सकते हैं।

वेद में भगवान् के दो स्वरूप वतलाये गए हैं—नाम और रूप। वेणु-गीत भगवान् के नामात्मक स्वरूप का वोध कराता है। वेणु शब्द में व+इ+अणु, इस प्रकार तीन अक्षर हैं। 'व' का अर्थ—ब्रह्म का सुख, इ' का अर्थ—काम का सुख, और 'अणु' अर्थात्—तुच्छ। इस प्रकार जिस सुख के सामने सासारिक तथा आध्यात्मिक सुख अणु, अर्थात् तुच्छ हो जाते हैं, उसे वेणु कहते हैं। वेणु में सात छेद हैं, उनमें से छै छेद तो भगवान् के ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य के द्योतक हैं एक सातवाँ उपर्युक्त छै धर्मो से युक्त अप्राकृत देहधारी स्वय भगवान् का वोध कराता है। श्री वल्लभाचार्य जी ने अपनी 'सुबोधिनी' टीका में वेणु-गीत का वडे विस्तार के साथ अर्थ किया है और सारे ही गीत को प्रभु में आसक्ति द्वारा निरोध सिद्ध कराने के लिये वताया है। इस गीत के कुल २० श्लोक हैं। पहले श्लोक मे वर्णित वृन्दावन-प्रवेश और दूसरे मे वर्णित वेणु-कूजन गोपियों की आसक्ति को उद्दीप्त करने वाले हैं। 'वृन्दा' का अर्थ भक्ति और 'वन' का प्रदेश है, इसलिये 'वृन्दावन' का अर्थ हुआ 'भक्ति का प्रदेश।' आगे स्वरूप के प्रति गोपियो की आसक्ति कराने के लिये भगवान् भी मन और कर्म को छोडकर भक्ति के प्रदेश में प्रवेश करते हैं। इसलिये पहले श्लोक में वृन्दावन-प्रवेश का वर्णन है। वहाँ प्रवेश करने पर भगवान् गोपियों को अलौकिक साधन से आसक्ति का दान करते हैं। इस प्रकार पहले दो श्लोको में स्थान और साधन की अलौकिकता वताकर तीसरे श्लोक में अनन्यभाव से आसक्त गोपियो द्वारा भगवान् के स्वरूप और लीला का वर्णन कराया है। यह वर्णन 'विद्या', अर्थात् स्वरूप और लीला—

के ज्ञान के बिना नहीं हो सकता, इसलिये फिर विद्या का वर्णन है। 'वल्लभाचार्य ने विद्या के पाँच प्रकार माने हैं—सांख्य, योग तप, वैराग्य और भक्ति। 'समग्र प्रभु ही मेरे सर्वस्व हैं,' इस निश्चय का नाम ही सांख्य है। अन्तःकरण की वृत्तिमात्र का प्रभु में लगा रहना ही योग है। भगवान् के विरह मे ताप और क्लेश का अनुभव करना तप है। एक प्रभु को छोडकर अपर वस्तु में चित्त न जाय, इसका नाम वैराग्य है। ऐसी आसक्ति, जिसमें लेश-मात्र भी लोक-आसक्ति (सांसारिक मोह) न हो, भक्ति कहलाती है। इस विद्या का फल प्रभु हैं और उन प्रभु के स्वरूप का वर्णन वेणु-गीत के सातवें श्लोक से बीसवें श्लोक तक किया है। वेणु-गीत का तात्पर्य भक्ति-मार्ग की स्थापना है। भागवत में वेणु का प्रभाव बतलाते हुए लिखा है—

अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणाम्।[1]

अर्थात्—बाँसुरी की तान से, मनुष्यों की तो बात ही क्या, सभी चलने वाले चेतन पशु-पक्षी और जड नदी आदि स्थिर हो जाते हैं तथा अचल वृक्षों को भी रोमाञ्च हो आता है।

चीरहरणलीला के विषय में भी अनेक प्रकार से आध्यात्मिकता का आरोप किया गया है। यद्यपि श्रीकृष्ण की आयु चीर-हरण लीला के समय केवल आठ-नौ वर्ष की थी और इस अवस्था में कामोत्तेजना का प्रश्न उपस्थित ही नहीं होता। अध्यात्मवादी व्यक्ति इस लीला को भी भौतिक रूप में ग्रहण नहीं करते, वे तो श्रीकृष्ण को आत्मा के रूप में और गोपियों को वृत्तियों के रूप में देखते हैं। वृत्तियों का आवरण नष्ट होना ही चीर-हरण लीला है और उनका आत्म मे रम जाना रास-लीला है। गोपिकाएँ ब्रह्मान्वेषणकारिणी भक्ति-साधिका हैं। अनेक जन्मों के पुण्यों के फलस्वरूप उन्हें परमात्मा श्रीकृष्ण प्राप्त हुए हैं। उनकी अहंबुद्धि को छुडाने के लिये भगवान् ने यह लीला की और इसीलिए अन्त मे भगवान् गोपिकाओं से कहते हैं—"हे कुमारियो, अब तुम अपने-अपने घर को लौट जाओ, तुम्हारी साधना सिद्ध हो गई है, तुम आने वाली शरद्-ऋतु की रात्रि मे मेरे साथ विहार करोगी, जिसके उद्देश्य से तुमने यह व्रत और कात्यायनी देवी की पूजा की थी।[2]

चीर-हरण लीला में भगवान् ने गोपियों की साधना को पूर्ण किया है। वे कृष्ण के लिये आत्म-समर्पण करना चाहती थीं, किन्तु उनके समर्पण मे कमी थी। वे निरावरण रूप से श्रीकृष्ण के सम्मुख नहीं जा पा रही थीं, उनमें कुछ झिझक थी। उनकी साधना को पूर्ण बनाने के लिये उन्हें निरावरण करना आवश्यक था। भक्ति की दृष्टि से भी वैधी भक्ति का पर्यवसान रागात्मिका भक्ति में है और रागात्मिका भक्ति की परिणति पूर्ण आत्म-समर्पण मे। गोपियों ने वैधी भक्ति का पूर्ण अनुष्ठान किया था और उनका हृदय रागात्मिका भक्ति से परिपूर्ण था। चीर-हरण लीला से पूर्ण आत्म-समर्पण का कार्य सम्पन्न हुआ। गोपियों की इस दिव्य लीला का जीवन उच्च कोटि के साधक के लिये आदर्श जीवन है। श्रीकृष्ण जीव के एकमात्र प्राप्तव्य साक्षात् परमात्मा हैं। उनकी यह लीला अपार और अप्राकृत है। श्रीकृष्ण उनके वस्त्रों के रूप में उनके समस्त संस्कार-आवरणों को अपने हाथ में लेकर समीपस्थ कदम्ब-वृक्ष पर चढ़कर बैठ गए। गोपियाँ जल में थीं और

---

१ 'भागवत' वेणुगीत श्लोक १६

२ यातावला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपा:।
यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्यार्चनं सती:॥ भागवत १०।२२।२७

वहाँ अपने आपको सव-व्यापक सर्वदर्शी भगवान् से प्रच्छन्न समझ रही थीं। उनकी इसी भूल का सुधार श्रीकृष्ण करना चाहते थे। हम ससार के अगाध जल मे आकण्ठ मग्न हैं और भगवान् को भूले हुए हैं। भगवान् यही वताते हैं कि भक्तो! संस्कार शून्य होकर, निरावरण होकर, माया का पर्दा हटाकर मेरे पास आओ। तुम्हारा मोह का पर्दा मैंने छीन लिया है, अव तुम इस पर्दे के मोह में क्यो पडे हो? यह पर्दा ही तो परमात्मा और जीव के वीच वडा व्यवधान है, जो भगवत्प्रेम से ही दूर हो सकता है। प्रभु के सम्पर्क से वह पर्दा भी प्रसाद रूप हो जाता है। यही चीर-हरणलीला का प्रतीकार्थ अथवा आध्यात्मिक पक्ष है।

रास-लीला के विषय में भी इसी प्रकार विचार किया जा सकता है। व्रज-लीला की पराकाष्ठा रास-लीला मे है। आत्माराम श्रीकृष्ण की आत्मा राधिका हैं। वशी उनकी प्रेमरूपिणी है। जिस प्रकार वालक अपने प्रतिविम्व के साथ क्रीडा करता है, उसी प्रकार भगवान् कृष्ण ने वहुधा विभक्त आत्मरूपिणी व्रज-गोपिकाओ के साथ रास-लीला करने के लिये सुखमयी रजनी में सुन्दर यमुना-पुलिन पर प्रेम-वशी के शव्द से सकेत-ध्वनि की। रास शव्द का मूल रस है और रस स्वय भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। जिस दिव्य क्रीडा में अनेक रस एक ही रस में होकर अनन्त-अनन्त रस का आस्वादन करें, एक रस ही रस-समूह के रूप में प्रकट होकर स्वय आस्वाद्य, आस्वादक, लीलाधाम और विभिन्न आलम्वन एव उद्दीपन के रूप में क्रीडा करे, उसका नाम रास है। विश्व की नियमवद्ध गति को भी रास कहा गया है। विश्व में गति ही प्रधान है तथा यह गति नियमवद्ध होती है। इसी नियमवद्ध गति से विश्व का प्रादुर्भाव और इसी में विलय है। जो इसका रहस्य समझता हुआ इसमें प्रवृत्त होता है, वही इसके सच्चे आनन्द का अनुभव कर सकता है। भगवान् अपने मधुर आह्वान से प्रत्येक व्यक्ति को रास के लिए वुलाते हैं और जो अपना अहभाव त्याग कर इस ओर अग्रसर होता है, वही इस आनन्द की प्राप्ति करता है।

वल्लभाचार्य जी ने भी अपनी सुवोधिनी में 'रास', 'वेणु' आदि के ऊपर विचार किया है। रास के विषय में उनका मत है कि—भगवान् ने व्रज में लीलाएँ इसलिए की कि युक्त जीवो को व्रह्मनन्द से मुक्त होकर भजनानन्द मिले। रास की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं.

"रसस्याभिव्यक्तिर्यस्मादिति, रसप्रादुर्भावार्थमेव नृत्यम्। रासक्रीडायां मनसो रसोद्गमो न तु देहस्य।"[1]

अर्थात्—जिससे रस की अभिव्यक्ति हो, उसे 'रास' कहते हैं। रस के प्रादुर्भाव के लिए उसमें नृत्य का समावेश होता है। रास-क्रीडा में मानसिक रस का उद्गम होता है, देह द्वारा प्राप्त अनुभव से उस रस की उत्पत्ति नही होती। वल्लभाचार्य जी ने आभ्यन्तर और वाह्य, दो प्रकार का रास माना है

वाह्याभ्यन्तरभेदेन आन्तर तु पर फलम्।[2]

दास्य, वात्सल्य, सख्य और माधुर्य में केवल माधुर्य भाव से ही रस की अनुभूति होती है।

१ 'भागवत' की सुवोधिनी टीका (रास प्रकरण)

२ सुवोधिनी फल प्रकरण कारिका

हम पहले संकेत कर चुके हैं कि गोपियाँ भगवान् की आनन्दरूपिणी शक्तियाँ हैं, राधा भगवान् की आल्हादिनी शक्ति है, इसलिए कृष्ण और गोपियाँ अभिन्न हैं। वल्लभ सम्प्रदाय में गोपिकाएँ रसात्मकता सिद्ध कराने वाली शक्तियों की प्रतीक और राधा रसात्मक-सिद्धि की प्रतीक मानी गई है। रासपञ्चाध्यायी के फल प्रकरण के तीसरे अध्याय में वल्लभाचार्य ने रास में प्रवेश करने वाली गोपियों को १९ प्रकार की बताया है, जो मुख्यतः तीन वर्ग की थीं—१—अनन्यपूर्वा (विवाहिता तथा कुमारिका), २—अन्यपूर्वा (विवाहिता), ३—गुणातीता पहले दो प्रकार की गोपियाँ—तामस, राजस, सात्त्विक तीनों गुणों के प्रभाव से तथा तीनों गुणों के मेल से नौ-नौ प्रकार की होती हैं। उन्नीसवीं गोपी निर्गुण थी। राधा का समावेश वल्लभ-सम्प्रदाय में मुख्य रूप से विट्ठलनाथ जी ने किया, जो सम्भवतः चैतन्य-सम्प्रदाय का स्पष्ट प्रभाव है।

योग की दृष्टि से भी रास का महत्त्व इसी प्रकार समझा जा सकता है। अनाहतनाद ही भगवान् श्रीकृष्ण की वंशी-ध्वनि है, अनेक नाडियाँ ही गोपिकाएँ हैं, कुण्डलिनी ही राधा है और मस्तिष्क का सहस्रदल कमल ही वह वृन्दावन है, जहाँ आत्मा और परमात्मा का सुखमय मिलन होता है तथा जहाँ पहुँचकर जीवात्मा की सम्पूर्ण शक्तियाँ ईश्वरीय विभूति के साथ सुरम्य रास रचती हुई नृत्य किया करती हैं। वल्लभाचार्य ने 'रास पञ्चाध्यायी' को समाधि भाषा में लिखा कहा है, अतः इसका रहस्य अनेक दृष्टियों से इस प्रकार समझा जा सकता है—भगवान् कृष्ण आनन्दानुभूति की पूर्ण अभिव्यक्ति हैं और यह रास परम उज्ज्वल रस का एक प्रकार है। साम्प्रदायिकों ने रास को केवल रूपक या कल्पना-मात्र नहीं माना है, प्रत्युत उसे सत्य स्वीकार किया है, अन्तर केवल इतना है कि वह लौकिक स्त्री-पुरुषों का मिलन न था। उसके नायक थे सच्चिदानन्दविग्रह, पूर्णतया स्वाधीन, निरंकुश और स्वेच्छाचारी गोपीनाथ भगवान् नन्दनन्दन, जिनकी नायिका थीं स्वयं उनकी आल्हादिनी शक्ति राधा जी और उनकी काय-व्यूह-रूपा घनीभूत मूर्त्तियाँ श्री गोपीजन। इसलिए उनकी यह लीला अप्राकृत थी। भागवत में शुकदेव जी ने इसका समर्थन किया है।[1]

रास-लीला को एक वैज्ञानिक स्वरूप भी दिया गया है। एक मुख्य केन्द्र के आकर्षण के अनुसार उसके चारों ओर गतिमान् आश्रितों की जो गति होती है, उसे रास कहते हैं, जैसे—सौर-जगत् में सूर्य केन्द्र है, उसके आसपास ग्रह और उपग्रहों की मण्डली है, जो अपने केन्द्र सूर्य के आकर्षणानुसार अपनी विशेष गति में गतिमान् है। उनकी यह गति उनकी रास-लीला है। इसी प्रकार मनुष्य के अन्दर भी रास-लीला हुआ करती है, मनुष्य के शरीर में उसका केन्द्र हृदय है और विभिन्न अङ्ग उससे शक्ति-लाभ करते हुए समग्र शरीर की रक्षा के हेतु अपने-अपने जो कर्त्तव्य करते हैं, वह भी एक रास-लीला ही है। इसी प्रकार विश्वरूप वृत्त में भगवान् कृष्ण परम केन्द्र हैं, प्रकृति इनकी परिधि है और जीवात्मा-गण नाना रेखाएँ हैं, जो केन्द्र से निकल कर परिधि की ओर गई हैं। इन जीवात्माओं का प्रकृति की ओर जाना प्राकृत-लीला है। जीवात्मा-गण इस प्राकृतिक चक्र में पड़कर अपने केन्द्र को बिल्कुल भूल गए हैं। पीछे ज्ञान के द्वारा उनकी आत्म-विस्मृति दूर होती है और ये जीवात्मा-रूप सरल रेखाएँ परिधि को त्याग-कर अपने केन्द्र के आकर्षण से आकृष्ट होकर केन्द्र की ओर जाती हैं। अपने केन्द्र की ओर

---

१ भागवत १०।२९।१३-१६ तथा १०।३३।३०-३७

आना ही विश्व की आध्यात्मिक रासलीला है, जो नित्यप्रति होती रहती है। इसी नित्य-रास-लीला का अभिनय व्रज में रसोत्सव के रूप मे किया गया। यह अभिनय गोपीरूप जीवात्माओ का अपने परम कारण परमात्मा रूप श्रीकृष्ण के साथ युक्त होना था। यह दो भौतिक शरीरो का नही, आत्मा और परमात्मा का मिलन था। इसलिए इस रास-लीला में प्रवेश करने का अधिकार उसी को है, जिसने प्राकृतिक नानात्व की वासना और ममता तथा स्वीय अहभाव रूप पुरुष-भाव को सर्वथा त्याग दिया है और अपनी आत्मा को भगवान् की शक्तिमात्र मानकर उनकी दी हुई वस्तु उन्ही को समर्पित करने के लिये सदा लालायित रहता है। यही गोपी-भाव है। इस गोपीभाव मे पगे हुए अपने भक्त के विना भगवान् को चैन नही पडता और जब भगवान् यथा समय उसका आह्वान करते हैं तो दोनो का मिलन होता है, जिसे रास-लीला कहते हैं। इस रास-लीला को बाह्यरूप से भी अभिनीत करके भगवान् श्रीकृष्ण ने भावि-भक्तो के हितार्थ प्रस्तुत किया, जहाँ गोपियाँ आत्म-समर्पण की मूर्तियाँ थी और भगवान् श्रीकृष्ण स्वय परमेश्वर थे। आत्मा और परमात्मा का यह मिलन बाहर से बाँह पकडने के समान है, जिससे दोनो मुक्त हो जाते हैं, जैसे—भगवान् श्रीकृष्ण ने गोपियो के हाथो को अपने हाथ में लेकर उनसे नृत्य कराया, उसी प्रकार समर्पितात्मा भक्त की सारी चेष्टाएँ और क्रियाएँ भगवान् के द्वारा ही सचालित होती हैं। दोनो की भाव-गति एक हो जाती है और उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही रहता। भगवान् उसका निमित्तरूप से विश्वलीला से विश्व-हितार्थ यन्त्रवत् उपयोग करते हैं। यही रासलीला का यथार्थ भाव और रहस्य है।

सूरदास जी का दार्शनिक पक्ष

सूरदास जी तत्त्वत दार्शनिक नहीं थे। वे तो सत, भक्त और सिद्ध कवि थे। उनका लक्ष्य दार्शनिक सिद्धान्तो की विवेचना नहीं था। भगवान् की भक्ति में विभोर हुए उनके हृदय की तन्त्री से जो राग स्वत निर्गत हुए, उन्ही का सकलन 'सूरसागर' है। परन्तु महात्मा सूरदास एक विशेष सम्प्रदाय में दीक्षित थे—और उसी की सेवा-पद्धति को जो उस सम्प्रदाय का आचरण-पक्ष है, उन्होने अपनाया था—इसलिए उसके सिद्धान्त-पक्ष से भी सूरदास जी अवश्य प्रभावित हुए होंगे। सूर-साहित्य की पृष्ठ-भूमि में हम लिख चुके हैं कि उनसे पहली चार-पाँच शताब्दियाँ उत्तरी भारत के धार्मिक आन्दोलन के इतिहास में विशेष महत्त्व रखती हैं। भारतीय शास्त्र में वह टीकाओ का युग कहा जाता है। सम्भवत ये भारतीय सस्कृति को बचाये रखने के लिए टीकाकारो के प्रयत्न थे। बौद्ध-धर्म का नया रूप देश में उपस्थित हो चुका था। नाथ-पन्थी योगियो की निरञ्जनी शाखा और सूफियो के मेल से एक नई धारा निकल पडी थी, जो एक ओर तो योग-मार्ग को पकडे हुए थी, और दूसरी ओर प्रेम और भक्ति के तत्त्वो को अपनाए हुए थी। उधर दक्षिण भारत से उमडती हुई भक्ति-धारा ने सारे उत्तरी भारत को सराबोर करने का सकल्प-सा कर लिया था। सामान्य रूप से शकर के अद्वैतवाद का प्रभाव सारे भारतवर्ष में व्यापक था। सूरदास जी के काव्य में इन सभी विभिन्न धाराओं का प्रभाव लक्षित होता है, परन्तु कवि सिद्धान्तो के बधनो में बँधने वाला नही होता। जब उसकी कल्पना उन्मुक्त क्षेत्र मे अबाध गति से विचरण करने लगती है तो वह भावमय हो जाता है और दार्शनिक-सिद्धान्त, जो कि बुद्धिगम्य होते हैं, उसके मार्ग से बहुत दूर पड जाते हैं।

यो तो 'सूरसागर' एक महान् सागर है और 'जिन खोजा तिन पाइयाँ' के अनुसार किसी भी वैष्णव-सम्प्रदाय का व्यक्ति अपना हृदयमाला के रत्न उसमे से खोज निकालता

है, फिर भी उसमें प्रचुरता वल्लभीय-सम्प्रदाय के सिद्धान्त-मुक्ताओ से मेल रखने वाले रत्नो की ही है। इसलिये हम वल्लभ-सम्प्रदाय के सिद्धान्तो के मेल मे रखकर ही सूर के सिद्धान्तो का विवेचन करेंगे।

वल्लभ-सम्प्रदाय की भांति सूरदास के इष्ट श्रीकृष्ण रूप परब्रह्म हैं। जिस प्रकार श्रीवल्लभाचार्य जी ने अपने अनेक ग्रन्थो मे कृष्ण का नाम हरि लिखा है और उन्हे ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव से ऊपर बताया है, उसी प्रकार सूरदास जी ने भी स्थान-स्थान पर हरि का स्मरण किया है। ब्रह्म का निरूपण सूरदास जी इस प्रकार करते हैं—

सोभा अमित अपार अखण्डित आप आतमाराम।
पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम सब विधि पूरन काम।
आदि सनातन एक अनूपम अविगत अल्प अहार।
ऊँकार आदि वेद असुर हन निर्गुण सगुण अपार।[1]

सूरदास जी ने वल्लभाचार्य जी की भांति ब्रह्म, प्रकृति और पुरुष मे अद्वैतता स्थापित की है और पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म और श्रीकृष्ण का एकीकरण किया है—

सदा एक रस एक अखडित आदि अनादि अनूप।
कोटि कल्प बीतत नहिं जानत, विहरत युगल, स्वरूप।
सकल तत्व ब्रह्माण्ड देव पुनि माया सब विधि काल।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायन सबै हैं अंश गोपाल।[2]

इस अश और अशी वाली बात को उन्होंने कई बार दुहराया है। कृष्णरूप परब्रह्म की अद्वैतता और निर्गुणत्व का भी स्थान-स्थान पर प्रतिपादन किया है। ब्रह्मा को चतु-श्लोकी ज्ञान देते हुए भगवान् कहते हैं—

पहले हौं ही हौं तब एक।
अमल अकल अज भेद विवर्जित सुनि विधि विमल विवेक।
सो हौं एक अनेक भांति करि सोभित नाना भेष।
ता पाछै इन गुननि गए तैं, हौं रहि हौं अविसेप॥[3]

× × × ×

दशम स्कन्ध के प्रारम्भ में सूरदास जी ने परब्रह्म के रूप की विस्तृत व्यवस्था की है और उसमें भगवान् के तीनो रूप आ गए हैं—पूर्ण पुरुषोत्तम, रस-रूप श्रीकृष्ण अक्षर ब्रह्म तथा अन्तर्यामी श्रीकृष्ण परब्रह्म का विरुद्ध-धर्माश्रियत्व भी उसमें बताया गया है—

आदि सनातन हरि अविनासी। सदा निरतर घट-घट वासी।
पूरन ब्रह्म पुरान बखानैं। चतुरानन सिव अन्त न जानै॥
गुन-मन अगम निगम नहिं पावै। ताहि जसोदा गोद खिलावै॥[4]

× × × ×

सूरसागर में इस प्रकार के अनेक पद हैं, जिनमें परब्रह्म कृष्ण के अन्तर्यामी स्वरूप, विराट् स्वरूप तथा निर्गुण स्वरूप का वर्णन है। भगवान् के विराट् रूप का वर्णन करते हुए सूर कहते हैं—

---

१ सूरसारावली पद ९९३ पृष्ठ ३४ (वेंकटेश्वर प्रेस)
२ वही वे० प्रे० पृष्ठ ३८
३ सूरसागर सभा पद ३८५
४ वही सभा पद ६२१

सूर ने उस समय बनाए थे, जब वे किसी सम्प्रदाय मे दीक्षित नही थे। साधारण जनता में शङ्कर के मायावाद का जितना प्रचार रहा है, उतना किसी अन्य वैष्णव-सम्प्रदाय के सिद्धान्तो का नही। अतः बहुत सम्भव है कि सूरदास पर भी अप्रत्यक्ष रूप से शङ्कर का प्रभाव रहा हो। सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पश्चात् तो वे मनसा-वाचा-कर्मणा, गोविन्द के स्मरण में ही कल्याण मानने लगे और मन को मिथ्या-वाद-विवाद छोडने का निर्देश करने लगे।[1] कहीं-कहीं सूर ने उन ज्ञानी जीवो की ओर भी सकेत किया है, जो सदा एक-रस रहते हैं और तन के भेद को वास्तविक नही समझते। उन्हे देह का अभिमान भी नही रहता, जबकि अज्ञानी जीव देह के धर्मो को अपना ही धर्म समझता है। गोस्वामी तुलसीदास जी की भाँति सूरदास जी भी ससार के सब क्रिया-कलापो का नियन्ता गोपाल को ही मानते हैं

कही गोपाल की सब होइ।

जो अपनौ पुरुषारथ मानत, अति झूठौ है सोइ।[2]

जीव के सम्बन्ध मे सूरदास ने भावी की प्रबलता स्वीकार की है और भावी को ही कर्म-गति माना है। तीनो लोक उसी के वश मे हैं और उसी के अधीन होकर सुर और नर देह धारण करते हैं।[3] जीव के लिए वे भगवद्भजन को ही कल्याणकारी मानते हैं। उन्होने स्पष्ट लिखा है

'सूरदास भगवन्त भजन बिनु मिथ्या जनम गँवैये।'

जगत् और संसार

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, वल्लभ-सम्प्रदाय में जगत् और ससार अलग-अलग हैं, जगत् सत्य है और ससार असत्य। सूरदास जी ने जहाँ जगत् को गोपाल का अश बताया है, वहाँ ससार का नाम नहीं लिया है और उसकी उत्पत्ति भी ब्रह्म से ही मानी है। वे जगत् को मिथ्या मानने के लिए प्रस्तुत नही। जिस जगत् में भगवान् का गुणगान करके जीव तरता है, उसे कैसे मिथ्या कहा जा सकता है ?[4] प्रभु का मर्म जान नही पडता, वे ससार का सर्जन, पालन और सहार करते हैं और सहार के पश्चात् फिर सर्जन मे लग जाते हैं।[5] सूरदास ससार को हरि की इच्छा का फल मानते हैं। उनकी इच्छा से प्रकट हुआ यह ससार स्वय भी हरि-रूप ही है, फिर भी इसे मायाकृत समझो, अतएव मन को सब स्थानो से खीच कर कृष्ण भगवान् में लगाओ। सूर के पदो से स्पष्ट झलक जाता है कि उन्होने वल्लभाचार्य के अविकृत परिणामवाद को माना है, क्योकि जगत् की उपमा उन्होने पानी के बुलबुले से दी है और आचार्य वल्लभ के समान ही ईश्वर को ही जगत् का निमित्त और उपादान कारण माना है। सूरसारावली में सूरदास ने सृष्टि की रचना के विषय में भी लिखा है कि—किस प्रकार भगवान् के हृदय मे सृष्टि-रचना की इच्छा उत्पन्न हुई और फिर माया के द्वारा काल-पुरुष के चित्त में किस प्रकार क्षोभ पैदा हुआ ? तदनन्तर सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणो के मेल से प्रकृति

---

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) प्रथम स्कन्ध, मन प्रबोध नामक शीर्षक में संकलित पद

२ वही (,, ,, ,,) पद २६२

३ वही (,, ,, ,,) पद २६४

४ वही (,, ,, ,,) पद ४६१६

५ वही (,, ,, ,,) पद ४६२०

ग्रोर पुरुष के द्वारा सृष्टि का विस्तार हुग्रा। वल्लभाचार्य के सिद्धान्तो के ग्रनुसार 'सूरसारावली' मे २८ तत्व माने गये हैं, जिनका विवेचन सूरसागर में किया गया है :

ग्रादि निरजन, निराकार, कोउ हुतो न दूसर।
रचौं सृष्टि-विस्तार, भई इच्छा एक ग्रौसर।
त्रिगुन प्रकृति तैं महत्तत्व, महत्तत्व तैं ग्रहकार।
मन-इन्द्री, सब्दादि पच, तातैं कियो विस्तार।
सब्दादिक तैं पचभूत सुन्दर प्रगटाए।
पुनि सब को रचि ग्रड ग्रापु में ग्रापु समाये।[1]

तीसरे स्कन्ध मे भी सृष्टि का क्रम बताया है। यह सृष्टि-क्रम कपिल ने ग्रपनी माता को बताया था। इस वर्णन में सूर वल्लभ-सम्प्रदाय से कुछ ग्रलग प्रतीत होते हैं, क्योकि इसमें उन्होंने माया को त्रिगुणात्मिका मानकर सत्व, रज ग्रौर तम उसके गुण माने हैं ग्रौर ग्रागे चलकर माया का मिथ्यात्व सिद्ध किया है।[2] सूरदास जी ससार को सेंभल के समान ग्रौर जीव को संसार-सेंभल के रूप पर मुग्ध शुक के समान मानते हैं। भेद खुलने पर जीव को पश्चात्ताप करना पडेगा।[3] ससार का मिथ्यात्व उन्होने स्थान-स्थान पर प्रतिपादित किया है ग्रौर जीव की ग्रविद्या को उसके भ्रम का कारण बताकर बार-बार उसे चेतावनी दी है।

माया

माया का वर्णन सूर के पदो में बडे विस्तार के साथ मिलता है। वल्लभाचार्य जी ने निश्चित रूप से शङ्कराचार्य के मत से ग्रपने मत को भिन्न रखा है ग्रौर माया को सत्य तथा भ्रम दोनो ही प्रकार की बताया है। वह स्वय ब्रह्म की शक्ति-स्वरूपा है ग्रौर उसके दो स्वरूप विद्या ग्रौर ग्रविद्या हैं। शङ्कर के मत से तो ग्रविद्या का नाश होने पर जीव ग्रौर जगत् दोनो की ही सत्ता का लोप हो जाता है परन्तु वल्लभाचार्य के मत से ग्रविद्या का नश होने पर भी दोनो की स्थिति रहती है, केवल ससार का नाश होता है। सूरदास माया को ईश्वर की ही शक्ति मानते हैं ग्रौर उन्होंने इस माया की करामात का ग्रनेक प्रकार से वर्णन भी किया है। यह माया-नटी हाथ में लकुटी लेकर जीव को कोटिक नाच नचाती है ग्रौर उसकी बुद्धि को भ्रम मे डालती है। माया के बल से ही ईश्वर इस जगत् मे विचित्रताग्रो को भर देता है। वास्तव में उसकी गति यह माया ही है। विनय के पदो में सूरदास ने माया का ग्रनेक प्रकार से वर्णन किया है। माया के चक्र में पड़ा हुग्रा भक्त हरि को भी विस्मृत कर देता है। केवल भक्ति द्वारा ही माया से छुटकारा सम्भव है। इस माया ने किस को नही बिगोया ? नारद जैसे ज्ञानी, शङ्कर जैसे महादेव ग्रौर ब्रह्मा जैसे सृष्टि-कर्त्ता भी इस माया के चक्कर में ग्रागये हैं। सूर इस माया को हरि की माया

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ३७६
२ वही , ,, ,, पद ३६४
३ मिथ्या यह ससार ग्रौर मिथ्या यह माया।
मिथ्या है यह देह कहो क्यों हरि बिसराया।
तुम जाने बिन जीव सब उत्पत्ति प्रलय नसाहि।
शरण मोहि प्रभु राखिये चरण कमल की छाँहि।
सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ११९०

उनके चरणारविन्द का सान्निध्य सामीप्य मुक्ति कहलाता है, कृष्ण के साथ उन्ही के समान आचरण करना सारूप्य मुक्ति है तथा ईश्वर के साथ एकीभाव को प्राप्त हो जाना सायुज्य मुक्ति है। जब भक्त रसरूप भगवान् का अङ्ग हो जाता है तब सायुज्य-भक्ति की प्राप्ति समझनी चाहिये। वल्लभाचार्य की भाँति सूर ने भी सायुज्य-मुक्ति को ही प्राधान्य दिया है। भगवान् के नित्यरास का वर्णन सायुज्य-मुक्ति का ही रूप है। सायुज्य-मुक्ति के भी दो रूप हैं—ससार के दु ख से मुक्ति और नित्य सुख की प्राप्ति। इन दोनो अवस्थाओ में जीव भगवान् का अङ्ग नहीं बनता। लयात्मक सायुज्य-मुक्ति में जीव ईश्वर का अङ्ग हो जाता है। शृङ्गार रस के सयोग और विप्रयोगात्मक दोनो ही रूप इस सायुज्य-मुक्ति के रूप हैं। सूर ने एक का वर्णन 'रास-लीला' में और दूसरे का 'भ्रमर-गीत' मे किया है। अपनी आत्मानुभूति को प्रकट करते हुए वे लिखते हैं

नमो नमो हे कृपा-निधान।
चितवत कृपा-कटाच्छ तुम्हारै मिटि गयौ तम-अज्ञान।
मोह निसा कौ लेस रह्यौ नहिं, भयौ विवेक-बिहान।
आतमरूप सकल घट दरस्यौ, उदय कियौ रवि-ज्ञान।
मैं मेरी अब रही न मेरैं, छुट्यौ देह अभिमान।
भावैं परौ आजुही यह तन, भावैं रहो अमान।
मेरे जिय अब यहै लालसा, लीला श्रीभगवान्।
स्रवन करौं निसि-बासर हित सौं सूर तुम्हारी आन।[1]

इस पद में सूर ने यही इच्छा प्रकट की है कि मैं सदा भगवान् की लीला का ही श्रवण करता रहूँ। यही उनके लिये सब से बडा सुख है, जैसा कि उन्होने निम्नलिखित पद में प्रकट किया है

जो सुख होत गुपालहिं गाएँ।
सो सुख होत न जपतप कीन्हे कोटिक तीरथ न्हाएँ।
दिएँ लेत नहिं चारि पदारथ, चरन कमल चितलाएँ।
तीन लोक तृन-सम करि लेखत, नन्दनन्दन उर आएँ।
वसीवट वृन्दावन जमुना तजि बैकुण्ठ न जावै।
सूरदास हरि को सुमिरन करि बहुरि न भव-जल आवै।[2]

इसी अवस्था को भजनानन्द मे मग्न होना कहते हैं, जिसको सम्प्रदाय में स्वरूपानन्द-मुक्ति कहा गया है। इसी के सम्बन्ध में वल्लभाचार्य ने लिखा है —

प्रकृतिकालाद्यतीते वैकुण्ठादप्युत्कृष्टे श्रीगोपाल एव सन्तोति शेष।[3]

लयात्मक सायुज्य-मुक्ति के दोनों रूप हमें सूर में दिखाई देते हैं। वे कृष्ण के अक्षर-धाम वृन्दावन का अङ्ग बन कर उस आनन्द का अनुभव करना चाहते हैं। उनके साथ अनेक देवताओ ने भी इस प्रकार की प्रार्थनाएँ की हैं। एक स्थान पर सूर 'वृन्दावन की रेणु' ही

---

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) ३७२
२ वही पद ३४९
३ अणुभाष्य अध्याय ४, पाद ? सूत्र ? ।

बनने की कामना करते हैं।[1] हिन्दी के प्रसिद्ध कवि 'रसखान' ने भी इसी प्रकार की इच्छा प्रकट की है। दूसरे प्रकार की लयात्मक मुक्ति का वर्णन गोपियो के विरह में हुआ है। वहाँ भी सूर ने भक्त-स्वरूपा गोपियो का कृष्ण के साथ एकीकरण दिखाया है। गोपियो को आत्म-विस्मृति हो गई है और वे कृष्ण में पूर्णतया तल्लीन हो जाती हैं तभी तो किसी-किसी गोपी के मुख से 'दही लेहुरी' के स्थान में 'गोपाल लेहुरी' निकल जाता है।[2] प्रवेशात्मक सायुज्य-मुक्ति का स्वरूप सूर ने नित्य-रास के वर्णन में बडे विस्तार से उपस्थित किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि सूर ने सैद्धान्तिक रूप से मुक्ति-भेद का वर्णन नही किया, तथापि क्रियात्मक रूप से उन्होने वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुसार सब प्रकार की मुक्तियो का स्वरूप अपने काव्य में प्रस्तुत किया है। गोपी-उद्धव सवाद के अन्त में गोपियाँ उद्धव से कहती हैं :

ऊधौ सूधैं नैंक निहारौ।
हम अबलनि कौ सिखवत आए सुन्यौ सयान तिहारौ ॥
निरगुन कहौ कहा कहियत है, तुम निरगुन अति भारी।
सेवत सुलभ स्याम सुन्दर कौ मुक्ति रही हम चारी।
हम सालोक्य, सरूप, सायुज्यौ, रहति समीप सदाई।
सो तजि कहत और की औरैं तुम अलि बडे अदाई।
हम मूरख तुम बडे चतुर हौ, बहुत कहा अब कहिए।
वेही काज फिरत भटकत कत, अब मारग निज गहिए।
तुम अज्ञान कतहिं उपदेसत, ज्ञान रूप हमहीं।
निसिदिन ध्यान सूर प्रभु कौ अलि देखत जित तितहीं।[3]

सूर की गोपियाँ विरहासक्ति में चारो प्रकार की मुक्ति का आनन्द ले रही हैं। वे कृष्णमयी हो चुकी हैं और अपने आपको ज्ञानरूप मानती हैं। जिधर भी वे देखती हैं, उधर ही कृष्ण का स्वरूप दीख पडता है। यह प्रवेशात्मक और लयात्मक दोनो प्रकार की सायुज्य मुक्ति की चरम सीमा है। इसी जीवनन्मुक्त अवस्था को सूर ने सर्वश्रेष्ठ बताया है। सूर उच्च कोटि के भावुक कवि थे। ईश्वर का लीला-धाम, श्रवण, सेवा-सगति आदि अवस्थाओ में सूर जिस आनन्द का अनुभव करते है, वह किसी मुक्ति में दुर्लभ है। उस आनन्द को सूरदास जी ने बडे-बडे मुनियो के लिए भी स्पृहणीय माना है। वेद, उपनिषदादि धर्म-ग्रन्थो में जिस परम-धाम का वर्णन है, वह सूरदास जी का लीला-धाम है, उनका भजनानन्द ब्रह्मानन्द से बढ़ कर हैं।[4]

भागवत की भाँति सूरदास मे भी आध्यात्म-पक्ष की झलक मिलती है। वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुसार सूरदास ने व्रज, वृन्दावन, गोकुल को नित्य लीला-धाम गोलोक का अवतरित रूप माना है और स्थान-स्थान पर व्रजधाम की मुक्तकण्ठ से प्रशसा की है।[5] ब्रह्मा ने व्रज

१ करहु मोहिं व्रजरेणु, देहु वृन्दावन वासा। सूरसागर
२ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद २२५५
३ सूरसागर पद ४५१८
४ भजनानन्द अलि हम प्यारौ।
ब्रह्मानन्द सुख कौन बिचारौ? सूरसागर (भ्रमर गीत)
५ वृन्दावन व्रज को महत्त कापै बरनौ जाय।
चतुरानन पग परसि कै लोक गयो सुखपाय ॥
सूरसागर, ना० प्र० स०, पद ११३०

वृन्दावन की महिमा 'वत्स-हरण लीला' के समय गाई है। सूर कहते हैं कि—"ब्रज की लीला को देखकर विधि का ज्ञान भी नष्ट हो गया। ब्रज की गोपियाँ धन्य हैं, ग्वाले धन्य है, वे बछड़े और गौएँ धन्य हैं। इस ब्रजलीला का पार शारदा भी नही पा सकती।" इस वृन्दावन की रज भी प्रशसनीय है, जहाँ कृष्ण ने धेनुओ को चराया और अपने अधरों से वेणु-वादन किया। अरे मन, इस स्थान का क्या कहना ! यहाँ तो पुरातन पूर्ण-पुरुष श्रीकृष्ण स्वय निवास करते हैं। इस धाम में कुछ लेना-देना नही है, केवल मनमोहन के ध्यान मे ही सब आनन्द है। यहाँ की समता कल्पवृक्ष और कामधेनु भी नही कर सकते।[1] इसीलिए तो ब्रह्मा के रूप में सूर ने ब्रज की रेणु होने की कामना प्रकट की है।[2]

सूर का वृन्दावन, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, नारायण के वैकुण्ठ से भी बढकर है। वृन्दावन से मुरली की ध्वनि जब वैकुण्ठ पहुँची तो नारायण और कमला दोनो के हृदय मे उसके प्रति बडी रुचि उत्पन्न हुई और वे भी ब्रज और ब्रजवासियो के भाग्य को सराहने लगे:

मुरली धुनि वैकुण्ठ गई।
नारायन-कमला सुनि दम्पति, अति-रुचि हृदय भई।
सुनो प्रिया यह बानी अद्भुत वृन्दावन हरि देखौ।
'धन्य धन्य' श्रीपति मुख कहि-कहि, जीवन ब्रज को लेखौ।
रास-विलास करत नन्द-नन्दन, सो हमतैं अति दूरि।
धनि बन-धाम धन्य ब्रज-धरनी, उडि लागैं जो धूरि।
वह सुख तिहू भुवन में नाही जो हरि-सग पल एक।
सूर निरखि नारायन इक टक, भूले नैन निमेष।[3]

सूर ने ब्रजधाम और वृन्दावन को लौकिक और अलौकिक दोनो ही रूप दिये हैं और पूर्णतया वल्लभ-सम्प्रदाय का अनुकरण किया है।

रास

वृन्दावन की भाँति सूर ने रास को भी आध्यात्मिक पक्ष प्रदान किया है और रास का विशद वर्णन किया है। ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण, विष्णु-पुराण, हरिवश आदि पुराणों मे तो रास का वर्णन हुआ ही है, चैतन्य-सम्प्रदाय के गोस्वामी ने भी उसका आध्यात्मिक रूप बडे विस्तार से प्रतिपादन किया है। 'उज्ज्वल-नीलमणि' में कृष्ण विषयक शृङ्गार-रस का बडा विस्तार है और मधुर अथवा भक्ति-रस की श्रेष्ठता का तर्कपूर्ण प्रतिपादन हुआ है। जहाँ तक रास का प्रश्न है, सूर की रास-लीला 'रासपञ्चाध्यायी' को आधार मानकर लिखी गई है, किन्तु उसमें सूर की मौलिकता भी है और बगीय प्रभाव भी। भागवत में राधा का उल्लेख नहीं है। बगीय वैष्णव-शाखा में परकीया-भाव को प्राधान्य दिया गया है, जबकि वल्लभ-सम्प्रदाय वालों ने स्वकीया-भाव को अपनाया है, किन्तु इस लीला पर बगीय प्रभाव अवश्य मानना पडेगा। 'श्रीमद्भागवत' मे तो स्वकीया-परकीया का भाव उपस्थित

---

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ११०६
२ वही „ „ पद १११०
३ वही „ „ पद १६८२

ही नही होता, क्योंकि भागवतकार ने प्रारम्भ से अन्त तक रास मे आध्यात्मिकता का निर्वाह किया है। श्रीकृष्ण को परम पुरुषोत्तम परमात्मा स्वीकार कर लेने पर स्वकीया और परकीया का प्रश्न ही असम्भव है, क्योंकि यह सब कुछ उनका अपना ही विलास है और उनकी ही अगभूता अन्तरग शक्ति। रासलीला तथा उसमें प्रवेश करना सूर का चरम लक्ष्य है। उसी स्थिति को उन्होने सब से बडी मुक्ति माना है। वेद, सुर, नर, मुनि, शिव आदि इस रास-रस की अश-कला को भी प्राप्त नही कर सकते।[1] रास-रस का वर्णन सूर अपनी शक्ति के बाहर की वस्तु समझते हैं। रास का प्रभाव सार्वत्रिक एव सार्वभौतिक है, उसके प्रभाव से यमुना भी उलटी बहने लगती है, सुर, नर और मुनियो का ध्यान टूट जाता है और चन्द्रमा भी आत्म-विभोर होकर आकाश मे अपना मार्ग भूल जाता है।[2] हम पहले कह चुके हैं कि सूर ने रास-वर्णन भागवत के आधार पर ही किया है और उसी के आधार पर रस के शृङ्गार-परक भावो को परब्रह्म कृष्ण के ससर्ग के कारण निर्दोष ठहराया है। सूरसागर मे मुरली की ध्वनि सुनकर गोपियो का आकुल होकर कुल-मर्यादा, गृह-व्यापार आदि को तिलाञ्जलि देकर कृष्ण के समीप दौड जाना तथा बाद मे कृष्ण द्वारा उन्हे उपदेश देना, भागवत के अनुसार ही है। भागवत पर आधारित होने पर भी सूर के रास-वर्णन में पर्याप्त मौलिकता है, उसमें लौकिक और आध्यात्मिक भावो का सुन्दर सामञ्जस्य है। आध्यात्मिक रूप मे कृष्ण घन हैं एव गोपियाँ दामनी-स्वरूपा तथा भौतिक-पक्ष में कृष्ण नायक और गोपियाँ नायिकाएँ। यह रास शाश्वत है—

वृन्दावन हरि यह विधि क्रीडत सदा राधिका सङ्ग।
भोर निसा कबहूँ नहिं जानत सदा रहत इक रङ्ग।

तथा

नित्य धाम वृन्दावन श्याम, नित्य रूप राधा व्रजधाम।
नित्य रास जल नित्य विहार नित्य मान खण्डिताभिसार।
ब्रह्म रूप एही करतार, करनहार त्रिभुवन ससार।
नित्य कुञ्ज-सुख नित्य हिंडोर, नित्य हि त्रिविध समीर झकोर।[3]

मुरली का भी सूर ने लौकिक और अलौकिक दोनो रूपो से वर्णन किया है। जहाँ एक ओर उन्होने वल्लभाचार्य के अनुसार मुरली को आध्यात्मिक रूप दिया है, वहाँ दूसरी ओर लौकिक दृष्टि से भी मुरली को लेकर बडी खिलवाड की है। राधा को तो उन्होंने प्रकृति माना है और कृष्ण को पुरुष, फिर प्रकृति-पुरुष की एकता भी प्रति-पादित की है।[4] कही-कही उन्होने राधा को कृष्ण की शक्ति कहा है और उसी रूप से उसको

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद १७६१
२ वही पद १७६७
३ सूरसागर (ना० प्र० सा०) दशम स्कन्ध रास पन्चाध्यायी,
४ ब्रजहिं बसैं आपुहिं बिसरायौ।
प्रकृति पुरुष एकहि करि जानहु बातन भेद करायौ।
जल थल जहाँ रहौ तुम बिनु नहिं वेद उपनिषद गायौ।
द्वै तन जीव एक हम दोऊ सुख कारन उपजायौ।
ब्रह्म रूप द्वितिया नहिं कोऊ, तब मन तिया जनायौ।
सूर स्याम मुख देखि अलप हँसि आनन्द पुञ्ज बढ़ायौ॥
सूरसागर (ना० प्र० स०) पद २३०४।

उपासना भी की है। वल्लभ-सम्प्रदाय में राधिका को स्वामिनी माना है। स्वय गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने राधा के विषय में 'स्वामिन्यष्टक' और 'स्वामिनी-स्तोत्र' द्वारा राधा की उपासना की है। सूर की गोपियो का विभाजन भी अनन्यपूर्वा, अन्यपूर्वा तथा गुणातीता के रूप मे हो सकता है।

श्रीमद्भागवत, वल्लभ-सम्प्रदाय तथा अन्यान्य सम्प्रदायो को आधार मानते हुए भी हमें सूर के सिद्धान्तो में पर्याप्त मौलिकता मिलती है। पिछले अध्याय में हम दिखा चुके हैं कि सूर ने अपने इष्ट के अतिमानवीय रूप के साथ मानवीय रूप का भी चित्रण किया है। उनके कृष्ण एक ओर तो भागवत के श्रीकृष्ण और वल्लभ के इष्टदेव, परब्रह्म पुरुषोत्तम-स्वरूप तो हैं ही, दूसरी ओर उनके कृष्ण में मानवता का भी पूरा-पूरा पुट हमें मिलता है। कृष्ण के बालरूप का वर्णन करता हुआ कवि उन्हे अबोध, सुकुमार, चञ्चल तथा धृष्ट शिशु के रूप में चित्रित करता है। उस चित्रण में इतनी मानवीयता और मनोवैज्ञानिकता है कि कृष्ण हमें अपने बीच खेलते हुए प्रतीत होते हैं। सम्भवत इसीलिए सूर उनकी अलौकिकता की ओर पाठक का ध्यान आकर्षित करते जाते हैं। विभिन्न सस्कारो, उत्सवो और समारोहो का साङ्गोपाङ्ग वर्णन सम-सामयिक समाज का प्रतिबिम्ब स्वरूप है। गोचारण-प्रसग में भी कृष्ण साधारण ग्वाले के रूप में चित्रित किये गए हैं। उनकी शृङ्गार-लीलाओ के चित्रण को देखकर पाठक को सहसा यह विश्वास नही होता कि वे केवल आठ-नौ वर्ष के होंगे। प्रेम की ऐसी घातें, नये-नये दाँव-पेच और विचित्र रति-क्रीडाएँ पाठक को विवश कर देती हैं कि वह कृष्ण को रसिक-शिरोमणि, चतुर रतिनागर के रूप में देखे। यही बात गोपियों के विषय में भी है। इसे हम सूर की मौलिकता कह सकते हैं।

जीव, जगत्, मोक्ष आदि के विषय में भी सूर ने केवल मौलिकता ही नहीं, निर्भीकता भी दिखाई है। जगत् और ससार के सूक्ष्म भेद की ओर सूर का ध्यान इतना नही गया है और न ही जीवो की कोटियाँ गिनाने मे उनका मन रमा है, ब्रज-भूमि में प्रवेश होने से पहले उनका मन सामीप्य के लिए मानो तडपता था। माया और अविद्या को वे आवरण समझते थे। इसलिये भगवान् के सम्मुख सूरदास कभी करुणा-क्रन्दन करते हुए दीख पडते हैं, तो कभी अपना दैन्य प्रकट करते हुए और कभी माया और उसके रूप, तृष्णा आदि पर पिल पडते हुए लक्षित होते हैं। यही कारण है कि वल्लभाचार्य जी से साक्षात्कार होने तक वे घिघियाते रहे। ब्रज-भूमि के स्पर्श से उनका घिघियाना बन्द हो गया और मानो उन्हें परमधाम की प्राप्ति हो गई। उस परमधाम में पहुँच कर भगवान् का लीला-गान ही वे अपना कर्तव्य समझते रहे। जीवन्मुक्त भक्त को मोक्ष की विभिन्न कोटियों के पचडे में पडने से क्या मतलब ? इसीलिए सूरसागर में दार्शनिक सिद्धान्तो की खोज करना असगत-सा ही प्रतीत होता है।

नवम अध्याय

सूरदास का भक्ति-पक्ष

सूर-साहित्य की पृष्ठ-भूमि का विवेचन करते हुए हमने सक्षेप में भक्ति-आन्दोलन का विश्लेषण किया है। उत्तरी भारत के वैष्णव सम्प्रदायो ने अपनी भक्ति-भावना का सूत्र श्रीमद्भागवत से ग्रहण किया है, इसका हम पहले ही विवेचन कर चुके हैं। यद्यपि इस ग्रन्थ में वर्णाश्रम-धर्म, मानव-धर्म, कर्म-योग, अष्टाङ्ग-योग, ज्ञान-योग और भक्ति-योग आदि भगवद्-भक्ति की प्राप्ति के सभी साधनों का विशद विवेचन है, परन्तु इस महापुराण का मुख्य प्रयोजन भक्ति का उत्कर्ष दिखाकर मनुष्य को उसकी ओर प्रवृत्त करना है। वैदिक-काल से लेकर पौराणिक युग तक के भक्ति-सिद्धान्तो का समन्वय और सामञ्जस्य हमें इसमें मिलता है। भक्ति के विकास पर हिन्दी में कई निबन्ध लिखे जा चुके हैं। हम सक्षेप से भक्ति का विकास-क्रम दिखलाते हुए भक्ति का विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं।

भक्ति का विकास और विश्लेषण

भारतीय धर्म-पद्धति में लोक-धर्म के तीन अवयव हैं। प्राचीन काल से ही ये तीनो अवयव भारतीय धर्म-साधना में प्रतिष्ठित हैं। वास्तव में ये तीनो ही मानवता की पूर्णता के लिए आवश्यक हैं, परन्तु देश-काल की परिस्थितियो के अनुकूल कभी एक का प्राबल्य रहता है, तो कभी दूसरे का। इनके अनुपात को सुव्यवस्थित और सुमर्यादित बनाना ही भारतीय धर्म-साधना की मौलिकता रही है। वेदो में प्राकृतिक शक्तियो को दैवी रूप दिया गया है और उनकी उपासना के अनेक मन्त्र मिलते हैं। ज्ञान-पक्ष में सब देवताओं को एक ही ब्रह्म के नाना रूप बताया है।[1] एक ओर वेदो में ब्रह्मवाद की प्रतिष्ठा है और दूसरी ओर द्रव्य-यज्ञ का भी विधान है, जो एक प्रकार से उपासना का ही बाह्य रूप है। वेदो में—विशेषकर यजुर्वेद में—बहुत से काम्य और नैत्यिक यज्ञो का विधान है, साथ ही साथ वैदिक ऋषियो ने अपनी सहृदयता और भावुकता का भी परिचय दिया है। उनकी यह भावुकता देवताओं की स्तुतियो तथा प्राकृतिक दृश्यों के सम्बन्ध में सौन्दर्य भावना और शुद्ध अनुराग प्रेरित रमणीय उक्तियो के रूप में प्रकट हुई है।

वैदिक काल में ही ब्रह्म की नराकार भावना हो चुकी थी। ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त मे ईश्वर की भावना पुरुष रूप में की गई है। ब्राह्मण-ग्रन्थो मे तो इस भावना को और भी पुष्टि मिली और ब्रह्म की पुरुष-नारायण के रूप में कल्पना की गई। हम यो कह सकते हैं कि मन्त्र-काल या संहिता-काल में परमेश्वर की विभिन्न शक्तियो का साक्षात् करके उनको एक समष्टि शक्ति के रूप में ग्रहण किया गया और फिर ब्राह्मण-काल में बुद्धि और कल्पना के बल

---

१ इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यस्स सुपर्णो गरुत्मान्।

२ एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।

पर उस शक्ति के स्वरूप का परिचय दिया गया। इसे हम ज्ञान और उपासना का योग कह सकते हैं अथवा बुद्धि और हृदय का सामंजस्य। उपनिषदो में भी इसी प्रकार के प्रयत्न स्पष्ट लक्षित होते हैं। ब्रह्म को अन्नमय, प्राणमय मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय देखना ही उसे अपनी अन्त सत्ता के बाहर बाह्य जगत् मे देखने का ही प्रयत्न है।[1]

वैदिक वाङ्मय में यह ब्रह्म की भावना हमें विभिन्न रूपों मे प्रस्फुटित होती हुई दृष्टिगोचर होती है। ब्रह्मा,विष्णु, रुद्र, अग्नि, वरुण, वायु ब्रह्म के ही विभिन्न प्रतीक हैं। इस प्रकार ब्रह्म की ही समष्टि शक्ति, बुद्धि और कल्पना का योग पाकर अनेक नाम-रूपो में विभक्त हुई-सी प्रतीत होती है। इस उपासना-पक्ष के साथ ज्ञान-पक्ष का रूप भी हमें वैदिक काल मे बराबर मिलता है। उपनिषद्-काल में तो स्पष्ट ही दो मार्ग दिखलाई देते हैं। निवृत्ति-परक ज्ञानमार्ग की बृहदारण्यक तथा कठोपनिषद् आदि में तथा कर्म-परक ज्ञानमार्ग की ईशावास्यादि उपनिषदो में व्याख्या हुई है। कर्म-परक ज्ञानमार्ग से ही उस भक्ति-मार्ग का विकास हुआ, जिसमें हृदय-पक्ष प्रबल होता गया और रागात्मक तत्त्व को प्रधानता मिली। ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त, मर्त्य और अमृत, स्थित और चल अणु और महान्—दोनो ही रूपो का वर्णन हमे उपनिषदो में मिलता है। अन्त में उसे मूर्त और अमूर्त दोनो से परे बताया है।[1] बृहदारण्यक से स्पष्ट बतलाया है

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चैवामूर्तञ्च।
मर्त्यञ्चामृत च, स्थित च, यच्च, सच्च, त्यच्च।

साराश यह है कि उपनिषदो में विशुद्ध तत्त्वज्ञान के लिए ब्रह्म को निर्गुण और अव्यक्त कहा गया है परन्तु उपासना के लिए उसका सगुण रूप ही सामने रक्खा गया है। यो तात्विक रूप से ब्रह्म की भावना एकत्वनिष्ठ ही थी .

त्व ब्रह्मा त्व च वै विष्णुस्त्व रुद्रस्त्व प्रजापति ।
त्वमग्निर्वरुणो वायुस्त्वमिन्द्रस्त्व निशाकर ॥
त्व मनुस्त्व यमश्च त्व पृथिवी त्वमथाच्युत ।
स्वार्थो स्वाभाविकेऽर्थे च बहुधा तिष्ठसे दिवि ॥

मैत्रायण्युपनिषद् ४।१२।१३

उपासना-पद्धति मे विधि-विधान और उपचार का भी समावेश हुआ। वैदिक काल की पूजा, जो केवल द्रव्य-यज्ञ द्वारा ही सम्पादित होती थी और जिसमें भय, लोभ या कृतज्ञता के ही भाव रहते थे, धीरे-धीरे परिष्कृत होती गई। ब्रह्म के स्वरूप के बोध के साथ उसका विशेषीकरण हुआ और पूजा ने श्रद्धा-समन्वित उपासना का रूप धारण कर लिया। बुद्धि के योग के कारण द्रव्य-यज्ञ का परिष्कार ज्ञान-यज्ञ के रूप में हुआ। उपनिषदो से लेकर श्रीमद्भगवद्गीता तक द्रव्य-यज्ञ की अपेक्षा ज्ञान-यज्ञ की विशेषता प्रतिपादन करने के उपाय स्पष्ट लक्षित होते हैं। हम पहले लिख चुके हैं कि घोर अङ्गिरस ऋषि द्वारा देवकी पुत्र श्रीकृष्ण

१ अन्न ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनो ब्रह्मेति व्यजानात्।
विज्ञान ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।

तैत्तिरीयोपनिषद्, भृगुवल्ली।

२ अणोरणीयान् महतो महीयान्,
आत्मा गुहाया निहितोऽस्य जन्तो। (श्वेत० ३–२०)

को इस विद्या को देने का उल्लेख छान्दोग्य-उपनिषद् में है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी इसकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है।[1]

इस यज्ञ में ज्ञान और कर्म दोनों का समन्वय है, मन की बोधवृत्ति और रागात्मिका वृत्ति का संयोग है। धीरे-धीरे मन की रागात्मिका वृत्ति को प्रधानता मिलती गई और भागवत-धर्म की प्रतिष्ठा हुई। विष्णु को प्रधानता वैदिक काल में ही मिलने लगी थी, आगे चलकर तो विष्णु ही भागवत-धर्म के सर्वश्रेष्ठ देव निश्चित हुए। कृष्ण के विकास में हम बतला चुके हैं कि किस प्रकार विष्णु, नारायण, वासुदेव और कृष्ण में एकता स्थापित हुई और श्रीकृष्ण भागवत-धर्म के मुख्य आधार बने? प्रारम्भ में तो श्रीकृष्ण में लोक-रंजक और लोक-रक्षक दोनों ही स्वरूपों का समन्वय था, परन्तु धीरे-धीरे उनका लोक-रक्षक स्वरूप तिरोहित होता गया और केवल ऐसे स्वरूप की प्रतिष्ठा की प्रवृत्ति बढ़ती गई, जो अत्यन्त घनिष्ठ प्रेम का अवलम्बन हो सके। यद्यपि सभी पुराण किसी न किसी देवता को प्रधान मानकर इस उपासना-पद्धति का निरूपण करते हैं, फिर भी श्रीमद्भागवत को इस प्रवृत्ति का विशिष्ट सुमधुर, सुस्वादु फल कहा जा सकता है। गीता में जो भक्ति का रूप है, वह कर्म और ज्ञान से समन्वित ही कहा जा सकता है। परन्तु भागवत में तो कर्म और ज्ञान से अलग भक्ति का स्वतंत्र क्षेत्र तैयार किया गया है। शांडिल्य-भक्ति-सूत्र, नारद-भक्ति-सूत्र और पाञ्चरात्र-संहिताएँ इसी परम्परा के ग्रन्थ हैं। श्रीमद्भागवत की एक विशेषता यह भी है कि उसमें ज्ञान या स्वरूप-बोध के लिए तत्वाऽन्तक की स्वाभाविक पद्धति को स्वीकार किया गया है। आगे चल कर वैष्णव सम्प्रदायों ने इसी भक्ति-पद्धति को अपनाया, जिसका विवेचन हम पहले कर चुके हैं।

भक्ति की व्याख्या

भक्ति शब्द 'भज्' सेवायाम् धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय लगाकर बनाया है, जिसका अर्थ है भगवान् का सेवा-प्रकार। शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र में लिखा है, कि ईश्वर में परम अनुरक्ति ही भक्ति है।[2] नारद-भक्ति-सूत्र में लिखा है कि भक्ति ईश्वर के प्रति परम-प्रेम-रूपा है और अमृत-स्वरूप भी है। जिस परम प्रेम-रूपा और अमृतस्वरूपा भक्ति को पाकर मनुष्य तृप्त हो जाता है, सिद्ध हो जाता है और अमर हो जाता है जिस भक्ति के प्राप्त होने पर मनुष्य न किसी वस्तु की इच्छा करता है, न शोक करता है और न किसी वस्तु में आसक्त होता है; विषयभोगों के प्रति उसका कोई उत्साह नहीं रहता और आत्मा-नन्द के साक्षात्कार से वह संसार के विषयों से निरपेक्ष होकर मस्त रहता है।[3]

भागवतकार ने भक्ति का लक्षण इस प्रकार दिया है, 'मनुष्यों के लिए सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है, जिसके द्वारा भगवान् कृष्ण में भक्ति हो, भक्ति भी ऐसी, जिसमें किसी प्रकार की कामना न हो और जो नित्य निरन्तर बनी रहे, ऐसी भक्ति से हृदय आनन्द स्वरूप भगवान् की उपलब्धि करके कृतकृत्य हो जाता है'[4]

---

१ श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप। गीता ४-३३

२ सा परानुरक्तिरीश्वरे। शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र, भक्ति-चन्द्रिका, (सम्पादक श्रीगोपीनाथ कविराज, पृष्ठ १)

३ नारद-भक्ति-सूत्र १, २, ३, ४, ५, ६

४ स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सुप्रसीदति। (१-२-६)

'भक्ति-रसामृत-सिन्धु' मे भक्ति की बडी विस्तृत व्याख्या की गई है। इस ग्रन्थ के के चार विभाग हैं—पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण। पूर्व विभाग में भक्ति की व्याख्या की गई है। इसमें चार लहरी हैं—प्रथम लहरी में भक्ति के सामान्य रूप का विश्लेषण हुआ है, दूसरी में साधना-भक्ति का स्वरूप बताया है, तीसरी में भाव-भक्ति का विवेचन है, और चौथी में प्रेम-भक्ति का।

महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने भक्ति की परिभाषा इस प्रकार से की है, 'भगवान् में माहात्म्यपूर्वक, सुदृढ और सतत स्नेह ही भक्ति है। मुक्ति का इससे सरल उपाय नहीं है।"[1]

और भी अनेक आचार्यो ने भक्ति के लक्षण किये हैं, परन्तु उन सभी लक्षणो में दो लक्षणो पर विशेष जोर दिया गया है—१—ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेम तथा २—अन्य सासारिक वस्तुओ से वैराग्य। श्रीमद्भागवत मे हमे भक्ति क तीन स्वरूप मिलते हैं, १—विशुद्ध भक्ति, २—नवधा भक्ति—३ प्रेमा भक्ति। श्रीमद्भागवत मे विशुद्ध भक्ति का विवेचन कई स्थानो पर हुआ है एकादश स्कन्ध के चौदहवें अध्याय में उन्होने भक्ति को योग, ज्ञान, धर्म, स्वाध्याय, तप, दान, आदि आदि से भी ऊपर माना है।[2] नवम स्कन्ध में भगवान् ने घोषणा की है कि मैं भक्तो के अधीन हू, मुझे केवल भक्ति के द्वारा ही जाना जा सकता है।[3]

श्रीमद्भगवद् गीता मे भी इसी प्रकार की भक्ति की ओर सकेत किया है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवविधोऽर्जुन।
ज्ञातु द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥ ११। ५४

श्रीमद्भगवद् गीता मे श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं, "यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भाव से मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है, क्योकि वह यथार्थ निश्चय वाला है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहने वाली परम शान्ति को प्राप्ति होता है। हे अर्जुन, तू निश्चय जान, मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।[4]" श्रीमद्भागवत की यह विशेषता है कि इसमें ज्ञान, वैराग्य और भक्ति से युक्त नैष्कर्म्य का आविष्कार किया गया है तथा भक्ति-सहित ज्ञान का निरूपण हुआ है। ज्ञान की अन्तरंग साधना में श्रवण, मनन और निदिध्यासन को विशेष स्थान देने पर भी 'नतत्रोपायसहस्राणाम्' कहकर भक्ति को ही मुख्य माना है।' इसका कारण यह है कि ज्ञान का आविर्भाव होने के लिये शुद्ध अन्त करण की आवश्यकता होती है और समस्त कामनाओ को नष्ट करने का कारण होने से भक्ति ही अन्त करण की शुद्धि का प्रधान कारण है। ज्ञान और भक्ति का सामजस्य भागवतकार ने स्थान-स्थान पर किया है। निम्नलिखित श्लोक में यह सामञ्जस्य बडी सुन्दरता से प्रस्तुत किया गया है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्व यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥ भागवत १-२-११

---

१ माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ सर्वतोऽधिक।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्नचान्यथा। त० दी० नि०, ज्ञानसागर बम्बई, श्लोक ४६, पृष्ठ १२७

२ भागवत स्कन्ध ११, अध्याय १४, श्लोक २० से २५

३ भागवत ६-४। ६३ से ६८

४ गीता ६। ३०-३१

अर्थात् ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—ये तीन नाम पृथक्-पृथक् तत्त्व के नही, एक ही परमतत्त्व की दृष्टि-भेद के अनुसार त्रिविध अनुभूति मात्र है। ज्ञान-राशि के उदय-काल मे भगवत्तनु का जो आलोक साधक के शुद्ध, सात्विक हृदय-पटल पर प्रतिफलित होता है, उसे ब्रह्म कहते हैं। यही आलोक-पुञ्ज जब विम्ब रूप से साधक के हृदयाकाश मे प्रतीत होता है, तब वह परमात्मा कहलाता है। ये ब्रह्मानुभव और परात्म-दर्शन दोनो ही भगवत्-तत्व के खण्ड या अश-बोधमात्र हैं। इस ब्रह्म के प्रतिष्ठान एव परमात्मा के अधिष्ठान-भूत परमतत्व का भक्तो को जो श्री श्याम रूप में दर्शन होता है, वह भगवान् नाम से निर्दिष्ट किया जाता है। इस दर्शन से जो अनुभव होता है, वही भगवान् का विज्ञान-समन्वित परम गुह्य ज्ञान है और वह भक्ति-भावित नेत्रो से ही परिज्ञात होता है। वास्तव में भक्ति और ज्ञान मे कोई तात्विक भेद नही है। भक्ति की पराकाष्ठा ज्ञान है और ज्ञान की पराकाष्ठा भक्ति। जहाँ भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ बताया गया है, वहाँ भक्ति का अर्थ साधन भक्ति है और जहाँ ज्ञान को भक्ति से श्रेष्ठ बताया गया है, वहाँ ज्ञान का अर्थ परोक्ष ज्ञान है। पराभक्ति और परम ज्ञान दोनो एक ही वस्तु हैं। गीता की निष्कामता भी भक्ति-योग के अन्तर्गत है क्योकि भगवदर्थ कर्म ही निष्काम होते हैं : भागवत-महात्म्य में ज्ञान और वैराग्य को भक्ति का पुत्र बतलाया है।[1]

भागवत में भक्ति के साध्य और साधन दोनो ही पक्षो का विवेचन हुआ है। मन की एकाग्रता से भगवान् का नित्य निरतर श्रवण, कीर्तन और आराधन भक्ति का साधन पक्ष हैं और भगवान् में परानुरक्ति उसका साध्य पक्ष है। साधन रूपा भक्ति को नवधा भक्ति वैधी भक्ति अथवा मर्यादा भक्ति भी कहते हैं और साध्य रूपा भक्ति को प्रेमाभक्ति तथा रागानुगा अथवा रागात्मिका भक्ति के नाम से अभिहित किया जाता है। 'हरि-भक्ति-रसामृत-सिन्धु' में वैधी और रागानुगा दोनो ही भक्तियो को साधनभक्ति कहा है और पराभक्ति को साध्य भक्ति माना है। इस ग्रन्थ मे भक्ति गौणी तथा परा भेद से दो प्रकार की मानी गई है। गौणी भक्ति के दो भेद हैं—वैधी और रागानुगा। फिर रागानुगा के भी दो भेद हैं—कामरूपा और सम्बन्धरूपा। यही भक्ति साधन भक्ति है और जब सब कामनाओ से रहित होकर भक्त की भगवान् मे परानुरक्ति हो जाती है तब वह पराभक्ति कहलाती है। साधनरूपा भक्ति के पाँच अङ्ग माने गए हैं १—उपासक, २—उपास्य, ३—पूजा द्रव्य, ४—पूजा-विधि, ५—मन्त्र-जप। तन्त्र-ग्रन्थो में मन्त्र-जप को विशेष महत्त्व दिया गया है और इसके पाँच तत्व माने गये हैं—१—गुरुतत्व, २ मन्त्र तत्व, ३—मनस्तत्व, ४—देवतत्व तथा ५—ध्यान-तत्व। निर्वाण तन्त्र और निर्वाण सार मे इनका विशद विवेचन हुआ है। इन तन्त्र-ग्रन्थो में भक्ति को मन्त्रयोग का एक अङ्ग माना है और चित्तवृत्ति के निरोध के लिए उसे आवश्यक बताया है। मन्त्र-योगी-भाव-समाधि मे जाकर ईश्वर का साक्षात्कार करता है।

श्रीमद्भागवत में भक्ति के कई भेद गिनाए हैं। तृतीय स्कन्ध मे भक्ति के चार प्रकार माने हैं—सात्विकी, राजसी, तामसी तथा निर्गुण[2]। फिर सप्तम स्कन्ध में प्रह्लाद ने भक्ति के नौ भेद बतलाए हैं

श्रवण कीर्त्तन विष्णो स्मरण पादसेवनम्।
अर्चन वन्दन दास्य सख्यमात्मानिवेदनम् ॥२३॥

---

1 भागवत महात्म्य अध्याय १ श्लोक ४५

२ भागवत तृतीय स्कन्ध अध्याय २६ श्लोक ७-१४

इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ।।२४।।

भागवत सप्तम स्कन्ध, पचम अध्याय

इन नौ साधनो के तीन भाग किए जा सकते हैं—श्रवण, कीर्तन और स्मरण, जो श्रद्धा और विश्वास की वृत्ति के सहायक हैं । पाद सेवा, अर्चन और वन्दन रूप-सम्बन्धी-साधन है, जो वैधी भक्ति के विशेष अङ्ग हैं तथा दास्य सख्य और आत्म-निवेदन भाव-सम्बन्धी-साधन है, जो रागात्मिका भक्ति से सम्बन्ध रखते है । श्रीमद्भागवत में इन तीनो ही अङ्गो का बडे विस्तार से विवेचन हुआ है । आगे चलकर दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन को ही रूप गोस्वामी ने भक्ति-रस का उत्पादक माना है । 'भक्ति रसामृत-सिन्धु' और 'उज्ज्वल नील मणि' में भक्ति रस का शास्त्रीय ढग से विवेचन हुआ है । दास्य सख्य और आत्मनिवेदन में भी आत्मनिवेदन का विशेष महत्त्व है, क्योकि आत्मनिवेदन में साधन और साध्य एक हो जाते हैं । श्रीमद्भागवत में भक्तों की जितनी भी कथाएँ आई हैं, उनमें शरणागति का भाव ही ओतप्रोत है । वैधी-भक्ति का पर्यवसान रागात्मिका भक्ति में है और रागात्मिका भक्ति की पूर्णता आत्म समर्पण मे । गोपियो ने वैधी भक्ति का ही अनुष्ठान किया था, परन्तु उनका हृदय रागात्मिका भक्ति से ही ओतप्रोत था । भगवान् की चीर-हरण लीला और रासलीला इस पूर्ण समर्पण के ही रूप हैं । गीता में भी भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को इस आत्म-निवेदन का ही उपदेश स्थान-स्थान पर दिया है

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय, तत्कुरुष्वमदर्पणम् ।।—गीता ९ । २७
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मा नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्य ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।।६५।।
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेक शरण व्रज ।
अह त्वा सर्वपापेभ्यो मोचयिष्यामि मा शुच ।।६६।।

गीता, अध्याय १८

कुछ आचार्यो ने इस आत्म-निवेदन को शरणागति अथवा प्रपत्ति कहा है । पाञ्चरात्र विष्वक्सेन सहिता में कहा गया है, "भगवत्रूप प्राप्य वस्तु की इच्छा करने वाले उपाय-हीन व्यक्ति की प्रार्थना मे पर्यवसायिनी निश्चयात्मिका बुद्धि ही प्रपत्ति का स्वरूप है तथा अनन्य साध्य भगवद्-प्राप्ति में महाविश्वास पूर्वक भगवान् को ही एक मात्र-उपास्य समझ कर उपाय करते रहना ही प्रपत्ति है और इसी को शरणागति कहते हैं[१] ।"

भक्ति की कोटियों में प्रेमाभक्ति का सर्वोच्च स्थान है । रूपगोस्वामी ने 'भक्तिरसामृत-सिन्धु' मे उत्तमा भक्ति के तीन भेद माने हैं—साधन-भक्ति, भावभक्ति तथा प्रेमाभक्ति । साधन-भक्ति में साधनों का वर्णन आता है, उसके दो रूप हैं वैधी और रागानुगा । रागानुगा-साधन-भक्ति के भी दो रूप हैं—कामानुगा और सम्बन्धानुगा । कामानुगा मे इच्छा बनी रहती है, भक्त गोपीमय होना चाहता है । सम्बन्धानुगा भक्ति में भक्त कृष्ण से सम्बन्ध स्थापित करता है । नन्द, यशोदा और गोप इसी कोटि के भक्त हैं । भाव-भक्ति या तो कृष्णप्रसादजा होती

१ पाञ्चरात्र विष्वक्सेन सहिता से कल्याण के साधनाङ्क में उद्धृत (अगस्त, सन् १९४०)

है या कृष्ण-भक्त-प्रसादजा होती है। यह रस-रूप तक नहीं पहुँचती। रस की स्थिति पर पहुँचकर वह प्रेमा-भक्ति हो जाती है। रूप गोस्वामी ने पांच मुख्य और सात गौण रस माने हैं।[1]

नारद-भक्ति-सूत्र' में प्रेमा-भक्ति का विशद विवेचन हुआ है। इस ग्रन्थ के चौरासी सूत्रों में भक्ति-तत्त्व की व्याख्या, भक्ति के अन्तराय भक्ति के साधन, भक्ति की महिमा और भक्तों के महत्त्व को भली-भांति प्रकट किया है। इसीलिए इस ग्रन्थ को प्रेमदर्शन भी कहते हैं। इस भक्ति को प्राप्त करके मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है, तृप्त हो जाता है और भगवान् कृष्ण के अतिरिक्त उसे किसी बात की चिन्ता नहीं रहती।[2] प्रेमस्वरूपा भक्ति में अनन्यता का भाव निहित रहता है। यह भक्ति कर्मयोग और ज्ञानयोग, दोनों से ही श्रेष्ठ है। भागवत में कृष्ण कहते हैं, 'योग, ज्ञान धर्म स्वाध्याय, तप और त्याग मुझे इतना प्रसन्न नहीं कर सकते, जितना मुझे मेरी दृढ भक्ति प्रसन्न करती है। मेरी भक्ति चाण्डालादि को भी पवित्र कर देती है।"[3] गीता में भी कृष्ण अर्जुन से कहते हैं, 'हे अर्जुन, जैसा तुमने मुझे देखा है, वैसा मैं वेद, तप, दान, यज्ञ आदि से भी नहीं देखा जा सकता। हे अर्जुन, अनन्य भक्ति के द्वारा ही मेरा इस प्रकार से देखा जाना, मुझे तत्त्व से जानना और मुझ में प्रवेश पाना सम्भव है।"[4]

यही प्रेमा-भक्ति परा-भक्ति कहलाती है और इसी को भूमानन्द कहते हैं। इसमें भक्त अपने प्रियतम भगवान् के स्वरूप को प्राप्त हो जाता है इसी को भागवत में अहैतुकी निर्गुण-भक्ति तथा गीता में ज्ञानी की भक्ति कहा है। इसमें भक्त की चित्त-वृत्ति और कर्म-गति का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से भगवान् की ओर बहता रहता है और उसकी समस्त क्रियाएँ कृष्णोन्मुख ही होती हैं।[5] गीता के बारहवें और अठारहवें अध्याय में भक्त के लक्षण बताए गये हैं और वह स्थिति बतलाई है, जब भक्त को पराभक्ति की प्राप्ति होती है। "जब मनुष्य विशुद्ध बुद्धि से युक्त एकान्तसेवी और मिताहारी बनकर वाणी को जीतकर और वैराग्य को धारण करके निरन्तर ध्यान परायण, दृढ़ धारण से अन्तःकरण को वश में करके शब्द-स्पर्श आदि विषयों को त्याग, राग द्वेष को नष्ट कर—अहंकार, बल-दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह को छोडकर ममता-रहित और शान्त हो जाता है, तभी वह ब्रह्म प्राप्ति के योग्य होता है। फिर ब्रह्मभूत होकर सदा प्रसन्न चित्त रहने वाला वह न किसी वस्तु के लिए शोक करता है और न किसी वस्तु के लिए आकांक्षा ही करता है। सब प्राणियों में समभाव से केवल भगवान् को ही देखता है, तब उसे मेरी परा-भक्ति प्राप्त होती है, जिसके द्वारा वह मुझे तत्त्व से जानकर मुझ ही में मिल जाता है।"[6]

'नारद-भक्ति-सूत्र' में प्रेमरूपा भक्ति के सम्बन्ध में ग्यारह आसक्तियों का उल्लेख किया गया है, जिसके कारण यह एक होकर ग्यारह प्रकार की होती हैं। ग्यारह आसक्तियाँ

---

१ भक्ति रसामृत-सिन्धु, पूर्व विभाग चतुर्थ लहरी।

२ नारद-भक्ति-सूत्र ४

३ भागवत ११।१४।२०-२७

४ गीता ११। ५ -५४

५ भागवत ३।२६।११- २

६ गीता १८। ५१-५५

ये हैं—(१) गुण-महात्म्यासक्ति, (२) रूपासक्ति, (३) पूजासक्ति, (४) स्मरणासक्ति, (५) दास्यासक्ति, (६) सख्यासक्ति, (७) कान्तासक्ति, (८) वात्सल्यासक्ति, (९) आत्म-निवेदनासक्ति, (१०) तन्मयतासक्ति, (११) परमविरहासक्ति। जो भक्त परा-भक्ति को प्राप्त कर लेते हैं, उनमें तो ये सभी आसक्तियाँ रहती हैं, जैसे—व्रज की गोपियो में, परन्तु सभी अन्य भक्तो में कोई न कोई आसक्ति अवश्य रहती है। श्रीमद्भागवत में इन सभी प्रकार के भक्तो का वर्णन है। जैसे—नारद, शुकदेव, सूत, शौनक, परीक्षित, पृथु, जनमेजय आदि गुणमहात्म्यासक्ति-भक्त हैं। कुछ ऋषि और व्रजनारियाँ रूपासक्ति-भक्त है। राजा पृथु, अम्बरीष, भरत आदि पूजासक्ति-भक्त हैं। प्रह्लाद, ध्रुव, सनकादि स्मरणासक्ति-भक्त है। अक्रूर, विदुर आदि दास्यासक्ति-भक्त है। अष्ट पटरानियाँ कान्ता-सक्ति भक्त हैं। कश्यप, अदिति सुतपा, पृश्नि, मनु, शतरूपा, नन्द यशोदा, वसुदेव देवकी आदि वात्सल्यासक्ति-भक्त है। राजा अम्बरीष, राजा बलि, राजा शिवि आदि आत्म-निवेदनासक्ति-भक्त है। शुक, सनकादि ज्ञानीगण अथवा कौण्डिन्य, सुतीक्ष्ण आदि प्रेमी मुनिगण तन्मयतासक्ति-भक्त हैं तथा उद्धव, अर्जुन और व्रजनारी परम विरहासक्ति-भक्त हैं।

सूर की भक्ति-साधना

सूर-साहित्य की पृष्ठ-भूमि में हमने तत्कालीन धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियो का दिग्दर्शन कराया है। स्पष्ट रूप से न तो सूरदास जी ने पुष्टि-सम्प्रदाय के अतिरिक्त किसी सम्प्रदाय के सिद्धान्तो का विवेचन ही किया है और न अपने समय की परिस्थितियो का उल्लेख ही किया है। परन्तु फिर भी, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, कवि तमाशबीन की तरह उन परिस्थितियो की उपेक्षा नहीं कर सकता। धार्मिक परिस्थितियो के साथ ही साथ सामाजिक परिस्थितियो का भी परिचय हमें सूर-काव्य में मिल जाता है। सूर के समकालीन गोस्वामी तुलसीदास जी की सभी रचनाओं में किसी न किसी रूप मे सामाजिक प्रतिच्छाया मौजूद है, कबीर की अटपटी, अक्खड, सधुक्कडी भाषा में समाज की पोल खोलकर उस पर व्यङ्ग्य बाणों की जो वर्षा की गई है, उससे भी तत्कालीन समाज का पूरा नक्शा ज्यों का त्यों सामने आ जाता है। ढोंग और आडम्बर के सर्वभक्षी राक्षस मानवता और सदाचार को निगल रहे थे। व्रत पूजा, तीर्थादि की प्रतिष्ठा होते हुए भी पवित्र धर्म-बुद्धि का अभाव ही दीख पडता था। धर्म के नाम पर प्रच्छन्न कलुष का आचरण जोर-शोर से चल रहा था। नाथपथी साधुओं का ढकोसला भी कुछ कम न था। मन्दिर व्यभिचार के अड्डे बन रहे थे। इन सब बातों का प्रभाव सूर के साहित्य पर पड़ना स्वाभाविक ही था। उनकी भक्ति-साधना मे तत्कालीन परिस्थितियो का बहुत सीमा तक योग है।

सूर की भक्ति-साधना और तत्कालीन परिस्थितियो के सम्बन्ध मे एक बात यह भी विचारणीय है कि जहाँ सूर ने एक ओर इन परिस्थितियो के प्रति विरक्ति प्रदर्शित कर व्रत, पूजा उपवास आदि से स्पष्ट विरोध नही तो उदासीनता तो प्रकट की ही है, वहाँ दूसरी ओर उन मानव दुर्बलताओ से समझौता भी किया है जिनका शिकार उस समय का समाज हो रहा था। सूर के काव्य में कृष्ण-चरित्र के विलासमय चित्र और शृङ्गार रस की मादकता का जैसा सचार हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। हम आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के इस मत से बिल्कुल सहमत हैं·

'सूरदास ने मनुष्य की इस विफलता का कारण भजन का अभाव बतलाया है। अगर

भजन हो तो यह सारी विफलता महती सफलता के रूप मे परिवर्तित हो जाय। सूरदास ने वस्तुत. अपने काल की सारी विलासिता का सुन्दर उपयोग किया है और कोई भी सहृदय इस बात को अस्वीकार नही करेगा कि सचमुच उन्होने भजन के पारस पत्थर से स्पर्श कराके विलासिता रूपी कुधातु को भी सोना बना दिया है। उस युग के मनुष्य की विफलता की प्रथम सीढी है—"आलिगन, चुम्बन, परिरम्भन, नख-छत, चारु परस्पर हाँसी" और सूर से अधिक और किस कवि ने इनका सफल वर्णन किया है ?"[1]

वस्तुत. पुष्टिमार्गीय सेवा का यही महत्त्व है। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने तत्कालीन समस्त विलास-सामग्री अपने आराध्य देव को समर्पित कर भक्त के मन से विलासिता को दूर करने का उपाय निकाला। इसका विशेष वर्णन हम अगले प्रकरण में करेंगे। सूर-साहित्य में उन्मुक्त विलास का समावेश होने पर भी उन्हे मर्यादा-विमुख नही समझना चाहिए। वे स्मार्त पथ के भी विरोधी नही थे और टीकाकारो के साथ उन्होने मर्यादा-मार्ग को भी महत्व दिया है तथा वैधी-भक्ति का विवेचन भी उनकी रचनाओ मे दृष्टिगोचर हो जाता है। भागवत में भक्ति को सर्वोपरि माना है, परन्तु ज्ञान और कर्म को भी अपनाया है। पराभक्ति या प्रेमरूपा भक्ति को महत्व देते हुए वैधी-भक्ति को उसकी प्राप्ति का साधन माना है। सूरदास जी ने भागवतकार की भाँति भक्ति को तो महत्त्व दिया है, परन्तु ज्ञान और कर्म की प्रतिष्ठा नही की। इस पृष्ठ-भूमि में हम सूर की भक्ति को निम्नलिखित दृष्टिकोणो से देखने का प्रयत्न करेंगे .

१—साधारण भक्ति-विवेचन—उसका स्वरूप और महत्ता।

२—वैराग्यपूर्ण भक्ति—जो सम्भवत वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पूर्व सूरदास जी में थी।

३—वैधी भक्ति।

४—प्रेमरूपा भक्ति।

५—पुष्टिमार्गीय भक्ति।

पुष्टिमार्गीय भक्ति का वर्णन तो अगले अध्याय मे किया जायगा, यहाँ पर हम सूर की भक्ति के अन्य प्रकारो पर दृष्टि-प्रक्षेप करेंगे। सूर के दार्शनिक सिद्धान्तो के विवेचन में हम कह चुके है कि सूर के मत से इस प्रपञ्चात्मक ससार से छूटने का एकमात्र उपाय हरि-भक्ति है, जिसके बिना समस्त जीवन ही भार स्वरूप है। भक्ति-रहित जीवन अधार्मिक जीवन है। कलियुग के सतापकारी तापत्रय का शमन भक्त के कोमल हृदय से बहते हुए भगवद्भक्ति-रस के शीतल स्रोत से ही सम्भव है, जो केवल भौतिक-सघर्षजन्य क्लान्ति को ही दूर नहीं करता, प्रत्युत मानसिक कालुष्य-पङ्क का प्रक्षालन कर हृदय को स्वच्छ भी करता है और उसे उच्चभावो के ठहरने योग्य बनाता है। कर्मकाण्ड के जाल की जटिल उलझन में फँसी हुई जनता धर्म के लुब्धक ठेकेदार पण्डित-पुजारियो की बगुला-भक्ति का शिकार बन रही थी। तीर्थ, व्रत, जप आदि का व्यर्थ ढकोसला वास्तविकता पर आवरण डालकर धर्म के मूलभूत तत्त्वो का अपहरण कर रहा था। तुलसी की तरह सूर ने भी अपने चारो ओर के ससार को आँख खोल कर देखा और उसकी बुराइयो की भर पेट निन्दा की। ऐहिक लालसा की मृग-तृष्णा के पीछे भटकते हुए मानव-मन-कुरङ्ग को उन्होंने भगवद्भक्ति-सरिता के सरस कूल पर

१ सूर-साहित्य पृष्ठ ७२।

लाकर छोड दिया। भौतिक विषयो के दुष्परिणामो का उद्घाटन और प्रभु-प्रेम का प्रतिपादन उन्होने इस खूबी के साथ किया कि लोग हरि-लीलागान मे अनायास ही रत हो गये और भक्ति के बिना समग्र साधनो को बन्धन समझने लगे। ज्ञान और वैराग्य का साधक बना कर उन्होने भक्त के पद की प्रतिष्ठा की और ज्ञान एव योग द्वारा अगम्य तत्त्व को भी भक्ति के सरल मार्ग द्वारा गम्य बनाया। भक्ति स्वत पूर्ण है, वह साधन नही, साध्य है, व्यापार नही, लक्ष्य है। उसकी प्राप्ति सब कामनाओ की इति श्री है। हरि का भक्त स्वय हरिस्वरूप हो जाता है, वह ब्रह्मा और महादेव से भी महान् है

हरि के जन सब ते अधिकारी।
ब्रह्मा, महादेव तें को वड़, तिनकी सेवा कछु न सुवारी॥[१]

जिस पर हरि की कृपा हो जाती है, उसे फिर किस बात की कमी? भक्त का विशाल क्षेत्र जाति-पाँति की क्षुद्र परिधि से परिमेय नही होता। बडे-बडे महाराज, ऋषिराज और मुनिराज भी हरि-भक्ति के समक्ष सिर झुकाकर वन्दना करते हैं और उसके तेज से लज्जित होते है

हरि के जन की अति ठकुराई।
महाराज रिषिराज महामुनि देखत रहे लजाई।
निरभय देह राजगढ ताको, लोक-मनन उतसाहु।
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, ये भये चोर तें साहु।
दृढ विस्वास कियो सिंहासन, ता पर बैठे भूप।
हरि-जस विमल-छत्र सिर ऊपर राजत परम अनूप।
हरि-पद-पङ्कज पियो प्रेमरस, ताही में रङ्गरातो।
मन्त्री ज्ञान न औसर पावै, कहत बात सकुचातो।
अर्थ काम दोऊ रहे द्वारै, धर्म मोक्ष सिर नावै।
बुद्धि-विवेक विचित्र पौरिया, समय न कबहूँ पावै।
अष्ट महासिधि द्वारै ठाढी, कर जोरे, उर लीन्हे।
छरीदार वैराग विनोदी, झिरकि बाहिरैं कीन्हे।
माया काल कछू नहि व्यापै, यह रस-रीति जो जानै।
सूरदास यह सकल समग्री, प्रभु प्रताप पहिचानै।[२]

भक्ति के बिना ज्ञान और कर्म व्यर्थ है, इस तथ्य को द्योतित करने के लिये सूरदास जी ने एक बडा ही सुन्दर दृष्टान्त उपस्थित किया है। उनका कथन है कि जिस प्रकार पतङ्ग दीपक से प्रेम करता है और उसकी दीप्त शिखा से भी न डरता हुआ उसपर गिर पडता है उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी अपने ज्ञानरूपी दीपक से सासारिक दुख रूपी कूप को प्रकट देखता हुआ भी उसमे गिर जाता है। जड जन्तु कालरूपी व्याल के रजस्तमोमय विषानल में क्यो जलता है? वह सकल मतो के अविकल वाद-विवाद के कारण वेश धारण करता है और

२ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ५५
३ वही (,, ,, ,,) पद ४३-८८

इस प्रकार सकल निशिदिन भ्रमण करता रहता है, जिससे कुछ भी कार्य नही सरता, अगम-सिन्धु के पार करने को यत्नो की नौका सजा कर उसे कर्मों के भार से भरता है, परन्तु सूर का व्रत तो यही है कि मनुष्य कृष्ण-भक्ति द्वारा ही इस भव-सागर को पार कर सकता है।[1] विनय के सारे पद इसी प्रकार की भक्ति-भावना से भरे हुए हैं कि 'मनुष्य जन्म बडी कठिनता से प्राप्त होता है, उसे यो ही नही गँवाना चाहिये।' सूर ने अपने मत की पुष्टि में अनेक पापियो के उदाहरण देकर सिद्ध किया है, कि भक्ति के लवलेश से ही समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं, अन्यथा जीव इस भवसागर में यो ही भ्रमता रहता है। मन को चेतावनी देते हुए सूर ने अनेक पदो मे भक्ति की महत्ता प्रतिपादित की है।[2]

सूरदास के विनय-पद तुलसीदास जी की 'विनय पत्रिका' की तुलना में रखे जा सकते हैं। दोनो ही कवियो का दैन्य-भाव पराकाष्ठा को पहुँच गया है और दोनो ने ही ससार की असारता दिखाकर भक्ति का महत्त्व प्रतिपादित किया है। मन को सम्बोधित कर मानव की पतित और शोचनीय दशा का चित्रण किया है, जिसका कारण स्वय मनुष्य की सासारिकता-प्रिय प्रवृत्ति है। सूरदास के पदो मे तन्मयता और मार्मिकता विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है :

सन्त-मत जिसका मुख्य आधार जाति-पाँति का विरोध है, सूर को कई पक्षो मे मान्य है। भक्ति के नाते सारे भक्त एक कोटि के हैं। सन्तो का "जाति-पाँति पूछै नहिं कोय, हरि को जपै सो हरि का होय" वाला सिद्धान्त सूर सम्मत है। सूर के प्रभु के यहाँ सब बराबर हैं, उनके दरबार में जाति-पाँति का भेद नही :

जाति-पाँति कोउ पूछत नाहीं श्रीपति के दरबार।[3]

भगवान् के भजन से नीच व्यक्ति भी उच्च पद प्राप्त कर लेता है[4]। उनके यहाँ ऊँच-नीच की गिनती नही की जाती।[5] हिन्दू-धर्म के बहुत-से सम्प्रदायो मे स्त्री को भक्ति का अधिकार भी नही दिया गया। सन्तो ने इस सिद्धान्त का विरोध किया और सूर ने उनका समर्थन किया है।[6] मनुष्य का सब पुरुषार्थ, सारे साधन, सफल उपाय, अखिल मन्त्र और उद्यमादि व्यर्थ हैं, केवल प्रभु की चाही बात होती है, अत उसी की आराधना करनी चाहिये

करी गोपाल की सब होइ।

जो अपनो पुरुषारथ मानत, अति झूठो है सोइ।

साधन, मन्त्र, जन्त्र, उद्यम, बल ये—सब डारो धोइ।

---

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद १७६१

२ वही पद १७६७

३ वही पद २३१

४ है हरि भजन को परमान।
नीच पावै ऊँच पदवी बाजते नीसान। वही पद २३५

५ हरि हरि हरि सुमिरौ सब कोइ।
ऊँच नीच हरि गनत न दोइ। वही पद २३६

६ हरि हरि हरि सुमरौ सब कोइ।
नारि पुरुष हरि गनत न दोइ। वही पद २४५

जो कछु लिखि राखी नन्द-नन्दन, मेटि सकै नहिं कोइ।
दुख-सुख लाभ-अलाभ समुझि तुम कतहिं मरत हो रोइ।
सूरदास स्वामी करुनामय, स्याम चरन मन पोइ॥[1]

भगवद्भक्ति के बिना वनिता, सुत, हाथी-घोड़े आदि वैभव व्यर्थ हैं। इस विषय में गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं

झूमत द्वार मतंग अनेक जँजीर जरे मद अम्बु चुचाते।
तीखे तुरंग मनोगति चंचल, पौन के गौनहु ते बढ़ि जाते॥
भीतर चन्द्रमुखी अवलोकति, बाहर भूप खरे न समाते।
ऐसे भये तो कहा तुलसी, जो पै जानकी-नाथ के रंग न राते॥[2]

इसी भाव को सूरदास जी अपनी सन्त वाणी में कहते हैं :

इहि विधि कहा घटैगा तेरो।
नन्द-नन्दन करि घर को ठाकुर, आपुन ह्वै रहु चेरो।
कहा भयो जो सम्पति बाढ़ी, कियो बहुत घर घेरो॥
कहुँ हरि-कथा, कहूँ हरि-पूजा, कहुँ सन्तनि को डेरो।
जो वनिता-सुत-जूथ सकेले, हय गय विभव घनेरो।
सबै समर्पौ सूर स्याम को, यह साँचो मत मेरो॥[3]

भगवान् बड़े भक्त-वत्सल हैं, उनकी भक्त-वत्सलता का भी वर्णन सूर ने अनेक स्थलों से किया है। भागवत में भगवान् को भक्त से तादात्म्य स्थापित करते हुए देखा है के भगवान् भी कहते हैं कि—हम भक्तों के हैं और भक्त हमारे हैं, भक्तों के लिए ही हमें भी दौड़ना पड़ता है, भक्तों के शत्रु हमारे शत्रु हैं, उनकी जीत हमारी जीत और हार हमारी हार है।[4] परीक्षित की कथा में भक्ति की महिमा बताते हुए सूर ने यज्ञ, दान करके मनुष्य स्वर्ग प्राप्त कर सकता है, किन्तु पुण्य क्षीण होने पर उसे फिर लोक में आना पड़ता है, अतएव हरि-भक्ति ही सार है।[5] सारे प्रथम स्कन्ध में हरि-भक्ति-महिमा का ही गान किया है, अन्य प्रसङ्ग तो मानो भक्ति की महत्ता करने के लिए प्रयुक्त हुए हैं। द्वितीय स्कन्ध का प्रारम्भ भी उन्होंने भजन के महत्त्व किया है : वे कहते हैं कि—हरि की भक्ति युग-युग में वृद्धि पाती है, अन्य धर्म दिन के हैं। सतयुग में सत्य, त्रेता में तप, द्वापर में पूजाचार और कलियुग में 'तज्य' त्याग कर केवल भजन करना चाहिये। कलियुग में केवल हरिनाम का ही आधार सब व्यवहार झूठे हैं। हरि-स्मरण का महत्त्व नारद, शुक आदि ने भी स्वीकार किया। हरि भक्ति के बिना सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं, और न ही मुक्ति सम्भव है। बन्धन हरि-भजन से ही कट सकते हैं।[6]

हम पहले बता आये हैं कि सूर का समकालीन समाज विषयासक्त और आचार-विचार-विरत था। सच्ची भक्ति के प्रचार के लिये विषय-विरक्ति अपेक्षित थी, इसलिये सूरदास ने साधारण भक्ति-विवेचन में स्थान-स्थान पर वैराग्य का महत्त्व प्रतिपादित किया है। विनय के पदो मे जहाँ एक ओर हरि-भजन की आवश्यकता पर उन्होंने बल दिया है, वहाँ दूसरी ओर भक्त के विचारो में वैराग्य भी अनिवार्य बताया है, क्योकि वैराग्यपूर्ण भक्ति से ही सासारिकता का दूर होना सम्भव है और भक्त के हृदय में पूर्ण-आत्म-समर्पण का भाव उदित हो सकता है। राजा परीक्षित की कथा मे भी इसी वैराग्यपूर्ण भक्ति की आवश्यकता बताई गई है। वास्तव में अनन्य भक्ति बिना वैराग्य के सम्भव ही नही।[1] वैराग्य ही अनन्य-भक्ति का आवश्यक अङ्ग माना है।[2] जो भक्ति-मार्ग का अनुसरण करते हैं, उन्हे स्त्री और पुत्र से अपना सम्बन्ध छोडना पडता है। असन-वसन की उन्हें कोई चिन्ता नहीं होती, खाने के लिये प्रभु ने वन में फल उत्पन्न किये हैं। तृषा के लिये झरने हैं, पात्रो के स्थान पर हाथ हैं तथा वसनो के लिये वल्कल। शैया के लिए पृथ्वी और घर के लिए गिरि-कन्दराएँ बनाई हैं।[3]

इस प्रकार के अनेक पदो मे सूरदास जी ने वैराग्यपूर्ण भक्ति का वर्णन किया है। आत्म-ज्ञान के बिना मनुष्य की बडी दुर्गति होती है। जब तक मनुष्य को सत्स्वरूप का ज्ञान नही होता, तब तक वह मृग की भाँति ससार-वन में घूमता रहता है। तेल, तूल और पावक पुट मे भर कर रखने से प्रकाश नही होता, आत्म-ज्ञान के अभाव में आदमी सब कुछ भूला रहता है और ससार में भ्रमता रहता है।[4] राजा परीक्षित के ऊपर इस उद्देश्य का पूरा-पूरा प्रभाव सूर ने दिखलाया है। इन पदो से यही निष्कर्ष निकलता है कि सूर ने आत्म-ज्ञान और तज्जन्य वैराग्य को भी भक्ति का एकमात्र साधन माना है। तृतीय स्कन्ध में भगवान् कपिल अपनी माता देवहूति को आत्म-ज्ञान का उपदेश देते हैं, उस समय भी सूर ने भक्ति के लिए वैराग्य की आवश्यकता बताई है और वह वैराग्य आत्म-ज्ञान से ही हो सकता है।[5] पुरञ्जन-कथा में भी सूर ने वैराग्य और भक्ति का सम्बन्ध स्थापित किया है।[6] इसी प्रकार अन्य बहुत से प्रसगो मे वैराग्य और भक्ति का सामञ्जस्य स्थापित किया है।[7]

---

१ जौ लौ मन कामना न छूटै।
तौ कहा जोग जज्ञ-व्रत कीन्हे बिनु कन तुस कौ कूटै।
कहा स्नान किये तीरथ के, अङ्ग भस्म जट-जूटै।
कहा पुरान जु पढे अठारह, ऊर्ध्व धूम के घूँटै॥
जग शोभा की सकल बडाई, इनतै कछू न खूटै।
करनी और कछु औरै, मन दसहूँ दिशि टूटै।
काम, क्रोध, मद, लोभ सत्रु हैं, जो इतननि सौं छूटै॥
सूरदास तबही तम नासै ज्ञान अगिन झर फूटै।

सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ३६२

२ सूरसागर पद ३६५, ३६६, ३६७

३ वही पद ३६३

४ वही पद ३६७, ३६८

५ वही पद ३६४

६ वही पद ४११

७ वही पद ४१५, ४२१, ३४६

इस प्रकार सूरदास जी ने साधारण-भक्ति-निरूपण मे भक्ति के साथ वैराग्य की आवश्यकता बताई है। इस भक्ति-निरूपण के विषय मे दूसरी बात यह भी दृष्टव्य है कि सूर ने उस समय में प्रचलित योग-मार्ग की निन्दा की है। उनके पदो में भक्ति के सामने योग-मार्ग की निरर्थकता का प्रतिपादन किया गया है। वैराग्य योग-मार्ग का प्रधान साधन है, परन्तु सूरदास जी वैराग्य को भक्ति का साधक मानते हैं, जबकि योग-मार्ग के साधुओ की निन्दा करते हैं। उन्होंने स्पष्ट लिखा है

भक्ति बिना जो कृपा न करते तौ हौं आस न करतौ।

× × × ×

साधु-सील सद्रूप पुरुष कौ अपजस बहु उच्चरतौ।
औघड-असत कुचीलनि सौ मिलि, माया जल में तरतौ।[1]

इसी प्रकार भक्ति-पथ का निरूपण करते हुए सूरदास जी कहते हैं—

भक्ति-पथ कौं जो अनुसरैं, सो साष्टाङ्ग जोग कौं करैं।
यम, नियमासन, प्रानायाम, करि अभ्यास होइ निष्काम।
प्रत्याहार, धारना, ध्यान, करै जु छाँडि वासना आन।
क्रम-क्रम सौं पुनि करैं समाधि, सूर स्याम भजि मिटै उपाधि।[2]

अर्थात्—भक्ति-पथ का अनुसरण करके ही अष्टाङ्ग-योग की सिद्धि सम्भव है, क्योकि भक्त यम, नियम, प्राणायाम का अभ्यास करके निष्काम होता है, परन्तु प्राणायाम, धारणा, ध्यान के लिए वासनाओ का त्याग परम आवश्यक है। वासनाओ के त्याग से ही इन क्रियाओ का महत्त्व है और उसी प्रकार क्रम-क्रम से समाधि करने पर, भगवद् भजन से उपाधि मिटती है। इसी भाव को उन्होंने आगे प्रकट किया है कि भगवान् के भजन बिन योग आदि क्रियाएँ व्यर्थ हैं। इन पदो से सिद्ध होता है कि सूरदास जी योग-मार्ग के तो विरुद्ध नही हैं, पर उन दूषित भावनाओ और क्रियाओ के विरुद्ध हैं, जिन्हें योग-मार्गी साधुओ ने अपना लिया था।

तीसरी बात इस भक्ति-विवेचन की उल्लेखनीय यह है कि सूरदास जी ने सन्त-मत के तत्त्वो को भी अपनाया है। जाति-पाँति के विषय में तथा स्त्रियो के भक्ति-अधिकार के विषय मे हम लिख चुके हैं। इस निर्गुण-पन्थ का विशद विवेचन भ्रमरगीत वाले प्रसङ्ग में हुआ है, जहाँ इस पन्थ की क्रियाओ की ओर से कवि ने उदासीनता प्रकट की है। उस स्थल पर प्रतिपादित भक्ति का स्वरूप हम उस समय का मानते हैं, जब सूर पुष्टि-सम्प्रदाय में दीक्षित हो चुके थे और उनकी भक्ति का आदर्श ही बदल गया था तथा मायामय मिथ्या-ससार के प्रति विराग उनकी भक्ति का आधार नही रह गया था। वहाँ तो उन्होंने उस सहज भक्ति-धर्म का निरूपण किया है, जिसका आधार कृष्ण की रूप-माधुरी और लीलाएँ हैं, इसलिये वहाँ निर्गुण-पन्थ के प्रति उनकी उदासीनता हो नही, स्पष्ट विरोध भी है। सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पूर्व सूरदास सन्त-मत को पूर्ण आदर की दृष्टि से देखते थे, यही कारण है कि उनके कई पद कबीर के पदो के समकक्ष रखे जा सकते हैं। कबीर की भाँति उन्होंने भी माया के मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया, जिसका उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं, इसके अतिरिक्त कबीर

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद २०२
२ वही, ,, ,, , पद ३६४

के समान उन्होंने भगवान् के उस परम-धाम की ओर भी संकेत किया है, जहाँ सांसारिक दुःखों का लेश नहीं।[1]

यह कहा जा चुका है कि सूरदास जी यद्यपि भक्ति के साध्य-रूप को ही महत्त्व देते थे और प्रेम ही उनकी साध्यरूपा भक्ति का आधार है, फिर भी स्थान-स्थान पर हमें सूरसागर में वैधी-भक्ति के उदाहरण भी मिल जाते हैं। गोपियों को प्रेम-भक्ति का आश्रय मानकर उनके माध्यम से सूर ने अपने सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया है। उनके समय में बहुत से ज्ञानी और योगी थे, जिनमें कुछ नाथ-पन्थ के और कुछ निर्गुण-मत के अनुयायी थे। भारतीय-शास्त्र-पद्धति के अनुकरण पर साधन-स्वरूपा भक्ति के मानने वाले भी बहुत से भक्त थे, सूरसारावली में इन सब की ओर संकेत किया गया है।[2]

सूरदास जी के भक्ति-विवेचन से ज्ञात होता है कि वल्लभ के मिलने से पहले उनका मन स्थिर नहीं था और इसीलिये वे घिघियाते थे। यही कारण है कि उनके भक्ति-विवेचन में उत्तरोत्तर निश्चित रूप से अन्तर प्रतीत होता है। निर्गुण पन्थ के प्रति प्रारम्भ में उनकी सहिष्णुता उदासीनता में परिणत होती हुई भ्रमरगीत-प्रसङ्ग में पूर्ण विरोध के रूप में फूट निकली है। सूरसागर के देवहूति-कपिल-संवाद में सूर ने भक्ति की विस्तृत व्याख्या करते हुए उसके चार रूप बताये हैं।[3] त्रिगुण भक्ति को सुधासार भक्ति कहा है, यही प्रेमा-भक्ति है। भक्तों की भी उन्होंने दो कोटि मानी हैं—सकाम-भक्त और अनन्य-भक्त। कर्म, ज्ञान और योग के सम्बन्ध में भक्त तीन प्रकार के माने गये हैं—कर्मयोगी भक्त भक्तियोगी भक्त और ज्ञानयोगी भक्त। कर्मयोगी भक्त अधर्म-आचरण से दूर रहता हुआ वर्णाश्रम-नियमों का पालन करता है, उसे मर्यादायुक्त भक्त कहा जा सकता है। भक्तियोगी भक्त प्रभु से प्रीति रखता हुआ उसके स्मरण और अर्चन में दत्तचित्त होकर क्रम-क्रम करके मुक्ति का लाभ करता है। ज्ञान योगी भक्त सब को ब्रह्म समझ कर सब से प्रेम करता है।[4] भगवद्-गीता में भी चार प्रकार के भक्तों का वर्णन आया है।[5]

---

१ देखिये सूरसागर (ना० प्र० स०) प्रथम स्कन्ध के अन्तर्गत चित्-बुद्धि-संवाद।

२ कर्म योग पुनि ज्ञान उपासन सब ही भ्रम भरमायो।
श्री वल्लभ-गुरु तत्त्व सुनायो, लीला-भेद बतायो।
ता दिन ते हरि-लीला गाई, एक लक्ष पद बन्द।
ता को सार सूरसारावलि, गावत अति आनन्द।

सूरसारावली, सूरसागर (वेंकटेश्वर प्रेस) पृष्ठ ३८

३ माता भक्ति चारि परकार, सत, रज तम गुन सुद्धासार।
भक्ति एक पुनि बहुविधि होइ, ज्यों जल रंग मिलि रंग सु होइ।
भक्ति सात्त्विकी चाहत मुक्ति, रजोगुनी धन कुटुम्बऽनुरक्ति।
तमोगुनी चाहै या भाइ, मम बैरी क्यों हू मरि जाइ।
सुद्ध भक्ति मोहिं क्यों चाहै, मुक्तिहुँ को सो नहिं अवगाहै।
मन-क्रम-बच मम सेवा करै, मन तें रूप आसा परिहरै।
ऐसो भक्त सदा मोहिं प्यारौ, इक छिन तातें रहौं न न्यारौ।

सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ३६४

४ सूरसागर पद ३६४

५ चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ। गीता ७।१६

चरन-कमल बन्दौ हरिराइ ।
जाकी कृपा पगु गिरि लघै, अन्धे कौं सब कछु दरसाइ ।
बहिरौ सुनै मूक पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराइ ।
सूरदास स्वामी करुनामय, बार-बार बन्दौं तिन्हि पाइ ।[1]

भगवान् के चरणों की वन्दना करके न जाने कितने जनो का उद्धार हो गया ? सूर कहते है, भगवान् ! "मैं आपके कमल रूपी चरणो की वन्दना करता हूँ। वे चरण शिव, यमुना आदि के सर्वस्व हैं। जिन चरणो की अनुकम्पा से प्रह्लाद ने मुक्ति प्राप्त की, अहिल्या, बलि, नृग आदि का उद्धार हुआ, जिनके ऊपर गोपिकाओ ने सर्वस्व लुटा दिया, जिनके प्रसाद से पाण्डवो के कार्य सिद्ध हुए और जो तीनो प्रकार के तापो को हरने वाले हैं।"[2] आगे चल कर सूर अपने मन को सम्बोधित करके कहते हैं, "हे मन, तू नन्दनन्दन के चरणो की सेवा कर जो बडे सुन्दर और पवित्र हैं तथा जिनके प्रसाद से बहुत से पापी तर गये ।"[3]

अर्चन के विषय मे हम पहले कह चुके हैं कि श्रद्धा-सहित भगवान् के स्वरूप की उपासना 'अर्चन-भक्ति' कही जाती है। 'हरि-भक्ति-रसामृतसिन्धु' मे अर्चन का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

अर्चनं तूपचाराणां स्यान्मन्त्रोपपादनम् ।
परिचर्या तु सेवोपकरणादिपरिष्क्रिया ।[4]

वल्लभ-सम्प्रदाय में अर्चन-भक्ति का बडा महत्व है और इस सम्प्रदाय के मन्दिरो मे आठो पहर की सेवा में अर्चन के पृथक्-पृथक् विधान हैं। सूरदास जी के अनेक पद भगवान् के अर्चावतार रूप की स्तुति मे कहे गये हैं। श्याम के स्वरूप का भिन्न-भिन्न प्रकार से सूर ने वर्णन किया है। उनके अनेक पोज, अनेक भाव और अनेक व्यापारो के सूचक एक से एक बढ़ कर सैकडो शब्द-चित्र सूरसागर में मिलेंगे। भगवान् के विराट् स्वरूप और आरती का भी उन्होने मनोहर चित्रण किया है।[5]

वन्दन और अर्चन दोनों भक्तियो के व्यापार साथ-साथ चलते हैं, क्योकि वन्दन में भी भक्त के दास्य रूप का ही अभिव्यंजन है। सूर के दैन्य-भाव के पद वन्दना के ही पद कहे जा सकते हैं। सूर की वन्दना केवल भगवत्-चरणो तक ही सीमित नही है, प्रत्युत भगवान् के विविध अङ्ग, वस्त्र, वेष-भूषा तथा कृत्यो की भी सूर ने वन्दना की है। वे एक भावुक और भक्त कवि थे। यही कारण है कि उनकी भावुकता वन्दना के पदो में शतमुखी होकर प्रवाहित हुई है। आराध्य देव से सम्पर्क रखने वाली चेतन अथवा अचेतन प्रत्येक वस्तु सूर के लिए वन्दनीय है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि प्रिय के सम्पर्क से सभी पदार्थ प्रिय हो जाते हैं। सम्बन्ध-निर्वाह की यह भावना श्रीमद्भागवत में भी स्थान-स्थान पर मिलती है।

---

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद १
२ वही, पद ६४
३ वही, पद ३०८
४ हरि भक्ति-रसामृत सिन्धु पूर्व विभाग २ । २७
५ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ३७०-३७१

दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन

हम पहले कह चुके हैं कि ये तीनो मानसिक भाव हैं और भक्ति-रस के उत्पादक प्रेम-भक्ति की दो अवस्थाएँ होती हैं—प्रेमावस्था और भावावस्था। जब कृष्ण के प्रति भक्त का चिद्विषयक रतिभाव सान्द्र हो जाता है, तब उसे प्रेम कहते हैं। रूप गोस्वामी ने मुख्य रूप से पाँच भक्ति-रस मान कर इन तीनो भावो को उन्ही के अन्तर्गत मान लिया है। यो तो भक्ति के अनेक मानसिक भाव हैं और वे सभी भगवान् के सम्बन्ध से अलौकिक हो जाते है, परन्तु प्राधान्य इन्ही पाँच भावो का है। इन भावो के अनुकूल भक्ति के भी पाँच प्रकार हो जाते हैं। इन्ही को दृष्टि मे रखते हुए हम सूर की भक्ति-भावना का विवेचन करेंगे।

शान्ता भक्ति

'भक्ति-रसामृत-सिन्धु' में भक्ति-विषयक पाँचो रसो का साङ्गोपाङ्ग विशद विवेचन हुआ है और इनके स्थायी भाव, विभाव, सात्त्विक और सचारी भावो पर भी प्रकाश डाला गया है। यद्यपि सूरदास ने शास्त्रीय ढग से कही इसका विवेचन नहीं किया है (क्योंकि उनका काव्य लक्षण-काव्य नहीं है), तथापि उसमें उनके भक्त हृदय से निकली हुई स्वाभाविक उक्तियो मे इनके अनेक चिन्ह मिल जाते हैं। शान्त-रस का स्थायीभाव निर्वेद है, वह निर्वेद, जो तत्त्व-ज्ञान से उत्पन्न होता है। वैराग्य, दैन्य, विनय आदि भावो से प्रेरित होकर सूर ने जो पद लिखे हैं, उन्हें शान्ता भक्ति-विषयक पद कहा जा सकता है। ससार से तो वे पहले ही विरक्त हो गए थे, जिसके फल स्वरूप हमें उनमें दो प्रकार की चेष्टाएँ दीख पडती हैं। एक ओर तो कवि ससार के नाना रूपो और व्यवहारो का तिरस्कार करता दीख पडता है और दूसरी ओर भगवान् की अनुकम्पा और भक्त-वत्सलता का वर्णन करता, तथा अपनी हीनता का परिचय देता हुआ दिखाई देता है। भक्त के शान्त और दास्य दोनो ही भाव समन्वित होकर चलते हैं। उसे ससार से विरक्ति ही नही, आत्म-ग्लानि भी है, जिसके कारण वह कातर होकर प्रभु को पुकारता है, "हे नाथ मेरी रक्षा करो।" साथ ही साथ वह अपनी उद्योग-हीनता और भगवान् की भक्त-वत्सलता का तुलनात्मक विवेचन भी करता है।[१] वल्लभाचार्य के 'अन्त करण प्रबोध' में दास्य भक्ति में आत्मदोष-प्रकाशन, विनय-याचना, दीनता आदि भावो का समावेश है। सूर के विनय-पदो मे इस प्रकार के भाव भरे पडे हैं। यह कहना कि सूर की दास्य अथवा शान्ता-भक्ति वल्लभाचार्य से पहले की है, उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि आचार्य वल्लभ ने स्वय दास्य-भक्ति को महत्त्व दिया और सूर ने विनय के पदो के अतिरिक्त भी कई स्थलो पर भक्त का दैन्य प्रकट किया है। द्वादश स्कन्ध मे रुक्मिणी का भक्ति-भाव तथा नवम स्कन्ध में राम-स्तुति इसके उदाहरण हैं। जहाँ-जहाँ सूर ने भक्तो के चरित्र का वर्णन किया है, वहाँ भगवान की भक्तवत्सलता का भी विवेचन किया है। प्रह्लाद-चरित्र, कालिय-दमन, चीर-हरण, गोवर्द्धन-लीला आदि प्रसङ्गो में भगवान् की भक्तवत्सलता और भक्त के दैन्य का साथ-साथ वर्णन है।

सख्य भक्ति

पुष्टि सम्प्रदाय में सख्य-भाव की भक्ति का बडा महत्त्व है। अष्ट-छाप के आठो कवियो ने भी सख्य-भाव को ही अपनाया था। सूरदास के सखा भाव में यह विशेषता है कि उनमें एक ओर तो मनोवैज्ञानिक रूप मे मानवीय सम्बन्धो का निर्वाह किया गया है और दूसरी

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद १२८

ग्रोर भक्ति-भाव की पूर्ण तल्लीनता ग्रोर भावात्मकता की ग्रनुभूति भी की गई है। कृष्ण की ग्रोर से सखाग्रो के प्रति प्रकटित ग्रात्मीयता ग्रोर घनिष्टता स्वाभाविक है, जिसके स्नेह की मधुरिमा बाल-सुलभ-चापल्य-प्रेरित क्षुद्र विवाद के बाद ग्रोर भी ग्रधिक ग्रास्वाद्य हो उठती है तथा जिसमें क्रीडाग्रो की तरलता के साथ कर्त्तव्य की भावना का गौरव भी स्पष्ट रूप से झलक मारता दिखाई देता है। सूर का सख्य-वर्णन विश्व-साहित्य में बेजोड है। ग्वाल-सखाग्रों में कृष्ण के प्रति भगवान् की भावना ग्रथवा उनके विहित कार्यों के प्रति भक्ति-भाव सूर ने बहुत कम स्थलो पर दिखाया है, उधर भगवान् कृष्ण स्वय सखाग्रो को ग्रपने गौरव से ग्राक्रान्त नही करना चाहते। उनके पराक्रमपूर्ण कृत्यो को देखकर सखाग्रो के हृदय में ग्राने वाले विस्मय तथा ग्रातक के भाव क्षणिक है, ग्रतएव शीघ्र ही उन्हे भूलकर गोप बालक पुन कृष्ण के साथ सखावत् घुल-मिल जाते हैं। सूरसागर में बाल-लीलाएँ, गोचारण-लीलाएँ ग्रौर सुदामा-दारिद्रय-विदारण, ये तीनो स्थल सख्य-भक्ति के हैं। कृष्ण के सखाग्रो में सूर ने सुबल, सुदामा ग्रोर श्रीदामा का विशेष रूप से उल्लेख किया है। उनके बडे भाई हलधर भी उनके सखाग्रो में ही हैं। कुछ तो कृष्ण के सखा ऐसे हैं, जो ग्रायु में उनसे बडे हैं ग्रोर जो हलधर के साथी होने के कारण कृष्ण से स्नेह करते हैं ग्रोर विनोद के लिए उन्हे चिढ़ाते भी हैं। कुछ सखा उनसे छोटे हैं, जो उनके स्नेह के पात्र हैं। ये दोनो ही प्रकार के सखा कृष्ण की गोपी-केलियों के सहयोगी नही हैं। उनके समवयस्क सखा ही उनके पूर्ण विश्वास पात्र हैं, जो उनके साथ सब प्रकार की केलियो में रहते हैं ग्रोर उनके सभी रहस्यो को जानते हैं। ये समवयस्क सखा ही भगवान् के सच्चे भक्त हैं। इनकी सयोग ग्रोर वियोग दोनो ही ग्रवस्थाग्रो का वर्णन कवि ने किया है। इस सखा-भाव में भी सूरदास जी ने कही-कही भक्ति-भाव दिखाया है। वृन्दावन के वेनु-चारण का वर्णन करते हुए सूरदास जी कहते हैं, "भगवान् कृष्ण वृन्दावन में गौवें चराते हैं ग्रोर सब ग्वाल-सखाग्रो के साथ ग्रानन्द से खेलते हैं। वे ग्रपने धाम को बिसार कर मानो इन सुख की क्रीडाग्रो के लिए ही वृन्दावन में पधारे हैं।"[१] १०६८ वें पद में ग्वाल-बाल भक्ति-भाव से कृष्ण से प्रार्थना करते हैं, 'हे श्याम, तुम हमें भुला न देना, जहाँ-जहाँ तुम देह धारण करो, वहाँ-वहाँ हमे ग्रपने चरणो से ग्रलग न करना।' इन ग्वाल-बालो के सख्य-भाव ग्रोर उनके प्रति कृष्ण के प्रेम को देखकर ब्रह्मा का भी गर्व नष्ट हो जाता है ग्रोर वे कृष्ण की स्तुति करते हुए ब्रज-वासियों के भाग्य की सराहना करते हैं ग्रोर स्वय भी यही कामना करते हैं कि वे ब्रज में ही उत्पन्न हो ग्रोर ग्वालों के झूठे ग्रन्न से ही उन्हे पेट भरना पडे।[२] जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि कृष्ण के सख्य-भाव में सबसे बडी विशेषता उसमें स्वाभाविकता का समावेश है, जिसके दर्शन हमें कृष्ण की प्रत्येक ग्रलौकिक लीला से पहले होते हैं। कालिय-दमन-लीला, गोवर्द्धन-लीला, वृषभासुर-वध-लीला, माखन-लीला ग्रादि सभी स्थलो पर सूर के सखा कृष्ण के ग्रलौकिकत्व को भूले हुए हैं।

दान-लीला में उन्होंने ग्रपने कुछ सखाग्रों को साथ लिया है। इससे स्पष्ट है कि वे ग्रपनी रासलीलाग्रों में भी सखाग्रो का परामर्श लेते थे। राधा ग्रोर कृष्ण की गोपनीय लीलाग्रों से भी ये सखा ग्रनभिज्ञ नही थे। स्वय राधा ने कृष्ण से इस बात की शिकायत करते हुए कहा है, 'तुम मुझे सखाग्रों में लज्जा से क्यो मारे डालते हो?' गोपसखा मोहन

१ सूरसागर (सभा) १०६६
२ सूरसागर (सभा) पद ११०३ से ११०६

की मुरली से भी अत्यन्त प्रभावित हैं। मुरली की ध्वनि सुनने के लिये वे लालायित हो उठते हैं और कहते हैं, 'छबीले मुरली नैंकु बजाउ।'[1] आचार्य हजारीप्रसाद जी ने इस पद की विवेचना करते हुए लिखा है

'इस गान में ग्वाल-बालो को उपलक्षण करके सूरदास की आत्मा अपनी आकुलता प्रकट करती है। अगर हम से कोई पूछे कि 'सूरसागर' का 'सेन्ट्रल थीम' क्या है तो बिना किसी हिचकिचाहट के चिल्ला उठेंगे, 'छबीले मुरली नैंकु बजाउ।' नि सन्देह सखाओ के व्याज से सूर ने स्वय अपने मनोभाव को प्रकट किया है।"

सयोग मे ही नही, वियोग में—कृष्ण के व्रज से मथुरा चले जाने पर और राजा हो जाने पर— भी सूर ने सख्य भाव को बनाये रखा है। बाल्य-काल के सहचर अपनी मित्रता के मार्ग में पद अथवा स्थान के व्यवधान को उत्पन्न ही नही होने देते। कृष्ण के समवयस्क उन्हे सखा ही मानते हैं, भले ही वे आज महाराज हो गये हो, पर उनके लिये तो यशोदानन्दन, व्रजमोहन, माखनचोर, मुरलीधर श्याम ही हैं।

वात्सल्य

सख्य-भाव की भक्ति के समान ही सूर की वात्सल्य-भक्ति भी बड़ी महत्त्वपूर्ण है। यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो वात्सल्य-भक्ति अन्य सब प्रकार की भक्तियो से उच्च प्रतीत होगी, क्योकि वात्सल्य-भाव में किसी भी प्रकार के स्वार्थ की गन्ध तक नही होती, अतएव इसे हम निष्काम भक्ति का पोषक कह सकते हैं। यह एक व्यापक भाव है, क्योकि इसकी स्थिति प्राणिमात्र में होती है। सूर का वात्सल्य-भाव भी विश्व-साहित्य में अपना विशेष स्थान रखता है। यदि यह कहा जाय कि सूर ने पुरुष होते हुए भी माता का हृदय पाया था, तो असगति नही समझनी चाहिये, क्योकि कृष्ण की बाल-क्रीडाओ का यशोदा के साथ साक्ष्य करने वाला यह प्रज्ञाचक्षु सन्त भक्ति-भाव के अतिरेक से अपने अस्तित्व को उसके व्यक्तित्व में घुला-मिला देता था और फिर यशोदा की आंखो से कृष्ण-लीला का आनन्द लेता था। सूर के वात्सल्य पर प्रकाश डालते हुए आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी लिखते हैं, "यशोदा के वात्सल्य मे वह सब कुछ है, जो 'माता' शब्द को इतना महिमाशाली बनाये हुये है।"[2] इससे आगे वे फिर कहते हैं— "यशोदा के बहाने सूरदास ने मातृ-हृदय का ऐसा स्वाभाविक, सरल" और हृदयग्राही चित्र खींचा है कि आश्चर्य होता है। माता ससार का ऐसा पवित्र रहस्य है, जिसे कवि के अतिरिक्त और किसी को व्याख्या करने का अधिकार नही। सूरदास जहाँ पुत्रवती जननी के प्रेमपेलव हृदय को छूने मे समर्थ हुए हैं, वहाँ वियोगिनी माता के करुणा-विगलित हृदय को भी छूने मे समर्थ हुए हैं।"[3] परन्तु सूरदास के वात्सल्य-भाव का आश्रय केवल यशोदा ही नही है—यद्यपि इसकी पूर्ण निष्पत्ति यशोदा मे ही दिखाई गई है और अन्य पात्रो का वात्सल्य तो मानो तुलना के द्वारा यशोदा के वात्सल्य भाव की पूर्ण अनुभूति के लिए ही चित्रित किया गया है—नन्द वात्सल्य-भाव के दूसरे पात्र हैं। व्रज की वयस्क नारियो मे भी इस भाव के दर्शन होते हैं। वसुदेव-देवकी मे भी इस भाव की थोडी-सी छाया है, किन्तु उसमे इतनी अधिक सघनता नही, क्योकि उनके

---

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद १८३४

२ सूर-साहित्य

३ वही पृष्ठ १२९-१३०

भाव का आश्रय शिशु कन्हैया न होकर ऐश्वर्यशाली, प्रतापवान् पुत्र कृष्ण है। यशोदा में ही वात्सल्य की परिपक्वता है, जो भक्ति-रस की कोटि तक पहुँचा है। केवल वात्सल्य ही भक्ति का सर्व शुद्ध भाव है, जिसमें न तो विरक्ति की भावना है और न इन्द्रिय-सुख की कामना ही। लोक-धर्म का भी उल्लघन इसमें नही है। वात्सल्य-भाव के आलम्बन बालकृष्ण हैं और उनकी लीलाएँ उद्दीपन का कार्य करती हैं और स्वाभाविक होने के कारण आश्रय में भाव की दृढता स्वत करती जाती हैं। वात्सल्य के दोनो ही—सयोग और वियोग—पक्षो में रख कर कवि ने यशोदा को देखा है। व्रज मे हरि के प्रकट होने के साथ ही साथ सूर ने आनन्द का ऐसा वातावरण प्रस्तुत किया है, जिसमे स्वय पाठक भी नन्द, यशोदा, गोप, गोपियो आदि के साथ अपने आपको भूल कर विचरण करने लगता है। कृष्ण के मथुरा जाने तक यशोदा में सयोगात्मक भाव की दृढता होती चली जाती है और मथुरा-गमन की सूचना से ही वियोग की अनुभूति का प्रारम्भ हो जाता है। वह पागल-सी होकर कहती है, 'यह सुफलक सुत हमारा बैरी है, यह हमारी सम्पत्ति को लूटे ले जा रहा है, अरे! व्रज में हमारा कोई हितू है, जो मेरे जोते हुए गोपाल को रोक ले।'[1] जब नन्द कृष्ण को मथुरा पहुँचाकर वापस लौटे तो यशोदा ही उन्हे लिवाने के लिए सर्व प्रथम पहुँची, क्योंकि उनका अनुमान था कि उनका गोपाल भी नन्द के साथ आया होगा। पर जब उन्होने नन्द को अकेले ही देखा तो यशोदा आपे में न रही और नन्द पर बरस पडी। सुत-वियोग-विक्षिप्ता यशोदा की पूज्य पति के प्रति भी वक्तव्यावक्तव्य विचार-मूढता उनके वात्सल्य के उमडते ज्वार की सूचक है। पुत्र के खान-पान, रहन-सहन आदि की कितनी ही समुचित व्यवस्था हो, उसकी देख-रेख का प्रबन्ध कैसे ही सुयोग्य हाथों में क्यों न हो और उसका सम्बन्ध कैसे ही उदार हृदयो से क्यो न स्थापित हो गया हो, फिर भी स्नेहातिरेक-वश माता को उसी की चिन्ता रहती है। वह विश्वास ही नही कर सकती कि उसके समान उसके 'लाल' की देखभाल कोई अन्य व्यक्ति कर सकता है? यह एक शाश्वत, सार्वभौम, मनोवैज्ञानिक तथ्य है, जिसका अभिव्यञ्जन सूर ने निम्नलिखित पद में कितनी खूबी के साथ किया है

संदेसो देवकी सौं कहियौ।
हौं तो धाइ तिहारे सुत की, दया करत ही रहियौ।
जदपि टेव तुम जानति ह्वै हो, तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रात होत मेरे लाल लडैतैं, माखन रोटी भावै।
तेल उबटनो अरु तातो जल, ताहि देखि भजि जाते।
जोइ-जोइ माँगत सोइ-सोइ देती, क्रम-क्रम करि कै न्हाते।
सूर पथिक सुनि, मोहिं रैनि दिन, बढ्यौ रहत उर सोच।
मेरो अलक लडैतो मोहन, ह्वै है करत सँकोच।[2]

इस प्रकार यशोदा के वात्सल्य में सूर ने इतनी तन्मयता और मनोवैज्ञानिकता भर दी है कि कृष्ण के अतिप्राकृत कार्यो को प्रत्यक्ष देखते हुए भी उस भाव मे परिवर्तन अथवा विकार नहीं आने पाया। यशोदा के वात्सल्य भाव में हृदय का पूरा सयोग है।

---

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ३५६०-३५६८
२ वही , ,, ,, पद ३७६३

मधुर-भक्ति —

सूर के समकालीन रूप-गोस्वामी ने मधुर-भक्ति-रस का विशद वर्णन किया है। केवल इसी रस का वर्णन करने के लिये उन्होंने 'उज्ज्वल नीलमणि' नामक ग्रन्थ की रचना की। यद्यपि इस भक्ति को वल्लभ-सम्प्रदाय में स्थान मिला है, तथापि इसका शास्त्रीय विवेचन उस समय नहीं हो पाया था। विट्ठलनाथ जी के समय में इसे बहुत महत्त्व दिया गया। सम्भवतः इसीलिये अष्टछाप के कवियों ने इसका क्रियात्मक स्वरूप विशेष रूप से दिखाया। अपने ग्रन्थ 'शृङ्गार-मण्डन' में विट्ठलनाथ जी ने इस भक्ति का प्रतिपादन किया है। युगल-उपासना का महत्त्व भी सम्प्रदाय में उन्हीं के समय से बढ़ा। माधुर्य भाव की भक्ति शृङ्गार-प्रेम की भक्ति कही जा सकती है। लौकिक प्रेम के जितने स्वरूप हो सकते हैं, वे सभी मधुर-भक्ति में आ जाते हैं, अन्तर केवल इतना है कि लोक से हटाकर उन्हें ईश्वर से जोड़ दिया जाता है। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने भक्त के मन को ऐन्द्रिय विषयों से हटाने के लिये यह एक उत्तम साधन बताया है, इसीलिये मधुर-भक्ति के सम्बन्धों में अच्छे-बुरे का ध्यान नहीं रहता। सभी सम्बन्ध परमात्मा के साथ हो सकते हैं। लोक-पक्ष में जिसे हम शृङ्गार रस कहते हैं, भक्ति-पक्ष में वही मधुर-रस कहलाता है। इतना अन्तर अवश्य है कि आलङ्कारिकों के मत से अनौचित्यपूर्ण रति में शृङ्गार-रसाभास होता है, जब कि भक्ति-रस में औचित्य-अनौचित्य का विचार ही नहीं होता। इसमें स्वकीया, परकीया दोनों भावों की रति है एवं संयोग और वियोग दोनों पक्ष भी शृङ्गार-रस की भाँति होते हैं। इस भक्ति-रस में कान्तारूपा प्रीति कामरूपा भी हो सकती है और सम्बन्धरूपा भी। सूरदास जी की भक्ति भी ऐसी ही है। यही कारण है कि हम भक्त सूरदास की अन्तरात्मा का अन्तर्भाव राधा में देखते हैं। उन्होंने स्त्री-भाव को तो प्रधानता दी है, परन्तु परकीया की अपेक्षा स्वकीया-भाव को अधिक प्रश्रय दिया है और उसी भाव से कृष्ण के साथ घनिष्ठता का सम्बन्ध स्थापित किया है। कृष्ण के प्रति गोपियों का आकर्षण ऐन्द्रिय है, इसलिये उनकी प्रीति को सूर ने कामरूपा माना है। सूर की भक्ति का उद्देश्य भक्त को संसार के ऐन्द्रिय प्रलोभनों से बचाना है, यही कारण है कि उनकी भक्ति-भावना स्त्री-भाव से ओतप्रोत है, जिसका प्रतिनिधित्व गोपियाँ करती हैं। वे कृष्ण में इतनी तल्लीन हैं कि उनकी कामरूपा प्रीति भी निष्काम है। इसीलिये संयोग-वियोग दोनों ही अवस्थाओं में गोपियों का प्रेम एक-रूप है। आत्म-समर्पण और अनन्यभाव मधुर-भक्ति के लिये आवश्यक हैं, जो सूरसागर की दानलीला, चीरहरण और रास-लीला में पूर्णता को प्राप्त हुए हैं। सूर की दान-लीला में मधुर रति की परम-परिणति कही गई है। मधुर-भक्ति का जैसा वर्णन सूर ने किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। गोपियों के पूर्वराग से प्रारम्भ करके मधुर-भक्ति का क्रमिक विकास सूर ने चित्रित किया है। पूर्वराग की अवस्था में गोपियों ने कुल-मर्यादा का अतिक्रमण किया है। इसके पश्चात् संयोग-रति की पूर्णावस्था मिलन में दिखाई पड़ती है।

वल्लभाचार्य ने विरह की अवस्था को प्रेम-भक्ति के आध्यात्मिक साधन में बड़ा महत्त्व दिया है। सूर का विरह संयोग से भी अधिक उज्ज्वल और प्रबल है। मधुर-भक्ति की आश्रयस्वरूपा गोपियाँ कृष्ण में इतनी तल्लीन हैं कि उद्धव द्वारा प्रतिपादित ज्ञान-योग-साधन उन्हें निरर्थक प्रतीत होते हैं और वे उनका मजाक उड़ाती हैं। सूर ने ज्ञान, योग, यज्ञ, पूजा आदि की अपेक्षा माधुर्य-भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। गोपियों की इन्द्रियाँ के व्यापार, कृष्ण की रूपमाधुरी के आस्वादन और सरस लीला में लग चुके हैं, इसलिये सूर उन्हें विषय-

विमुख कर विरक्ति का उपदेश नही देते, प्रत्युत उसके महत्त्व का ही प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार माधुर्य-भाव की भक्ति का पूर्णतया निरूपण कर सूर ने कृष्ण के सयोग-विप्रयोगात्मक शृङ्गार-रसरूप इष्टदेव की उपासना को ही प्राधान्य दिया। सूर की यह भक्ति-भावना उनकी वैराग्य-समन्वित भक्ति-भावना से नितान्त भिन्न है। इससे प्रमाणित होता है कि वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पश्चात् उन्होने अपना भक्ति-विषयक दृष्टिकोण ही परिवर्तित कर दिया था।

हम पहले कह चुके हैं सूर पर तत्कालीन वृन्दावन के सम्प्रदायो का भी प्रभाव पडा था। चैतन्य-सम्प्रदाय के अतिरिक्त राधावल्लभीय और निम्बार्क सम्प्रदाय में भी युगल-उपासना को महत्त्व दिया गया है। राधावल्लभीय सम्प्रदाय में तो राधा और कृष्ण की युगल-लीलाओ की उपासना सखीभाव से की जाती है। सूर ने युगल-मूर्ति के अनेक चित्र खीचे हैं।

आत्म-निवेदन

आत्म-निवेदन माधुर्य-भाव की अन्तिम सीढी है। इसी का एक पक्ष शरणागति है। सूरदास जी की भक्ति-साधना में शरणागति का बडा महत्व है। विनय के पदों में इस प्रकार के अनेक पद हैं।[1] सूर ने श्याम के चरणो में आत्म-निवेदन किया है। यो तो उनकी आस्था अन्य लीलावतारो तथा देवो में भी थी किन्तु आत्म-निवेदन उन्होंने श्रीकृष्ण के प्रति ही किया है। उन्होंने विद्या, जाति आदि सभी का अभिमान त्याग कर भगवान् को अनन्यभाव से भजा है। यही आत्म-निवेदन का शुद्ध स्वरूप है।

प्रेम-भक्ति

हम पहले कह चुके है कि सूरदास जी की प्रेम-भक्ति माधुर्य-भाव की भक्ति है और गोपियाँ उसका प्रतिनिधित्व करती हैं। इस प्रेम-भक्ति की अविगति सूर ने नवधा भक्ति द्वारा ही मानी है। वल्लभ-सम्प्रदाय में प्रेम-भक्ति की प्राप्ति का साधन हरि-कृपा अथवा प्रभु-अनुग्रह बताया गया है। सूरसागर में प्रेमभक्ति-सम्बन्धी अनेक पद आये हैं। प्रेम-भक्ति की महिमा का बखान करते हुए वे कहते हैं—

प्रेम-भक्ति बिनु मुक्ति न होइ नाथ, कृपा कर दीजै सोइ।
और सकल हम देख्यो जोइ तुम्हरी कृपा होइ सो सोइ।[2]

वास्तव में प्रेम की बडी महत्ता है। प्रेम से ही ऐहिक और पारलौकिक कार्य सिद्ध होते हैं, इस प्रेम का मूल भी प्रेम ही है। प्रेम से ही प्रेम की उत्पत्ति होती है—

प्रेम-प्रेम ते होइ प्रेम, ते पारहि पइये।
प्रेम बँध्यो ससार प्रेम परमारथ लहिये।
एकै निश्चय प्रेम को जीवन-मुक्ति रसाल।
साँचो निश्चय प्रेम को जेहिते मिलें गोपाल।[3]

---

१ (i) शरण आए की प्रभु लाज धरिए।
सूरसागर (ना० प्र० स०) पद ११०
(ii) शरण गये कौ को न उबारयौ। वही पद १४
(iii) सरन परि मन बच कर्म विचारि। वही पद ५५६
(iv) सरन अब राखि लै नँदताता। वही पद १४८२
(v) सरन गये जो होइ सोइ।

२ वही, पद ४६१६

३ सूरसागर (वेंकटेश्वर प्रेस) पृष्ठ ५६३

सूरदास जी व्रजधाम के वास को ही प्रेम-भक्ति का फल मानते हैं, जिसके प्राप्त होने पर भक्त को और कुछ प्राप्य नही रहता और न ही उसकी कोई अन्य कामना रहती है। उन्होने इस लक्ष्य की ओर सकेत किया है। प्रेमी भक्त उस महान् वस्तु को प्राप्त कर लेने के पश्चात् और किसी वस्तु की इच्छा नही करता। इस भक्ति के प्राप्त होने पर सूर को भी समस्त ससार कृष्णमय दीख पडता था। उनकी गोपियाँ उद्धव जी से कहती हैं "हमारे मन में कोई स्थान अवशिष्ट नही है। हमारे हृदय में नन्दनन्दन के होते हुए और किसको स्थान मिल सकता है? हमारा हृदय तो कृष्ण के प्रेम से लबालब भरा है।"[1] "मन दस-बीस तो होते ही नही, एक था सो वह श्याम के साथ चला गया। अब ईश की आराधना—योग की साधना—कौन से मन से की जाय?"[2] प्रेम की गति विचित्र होती है, वह किया नही जाता, हो जाता है। प्रिय के असाधारण गुणो पर ही रीझ कर प्रेम होना हो ऐसी बात भी नहीं है। उससे भी अधिक गुणवान् वस्तु हो सकती है पर वह प्रेमी के हृदय को नही लुभा सकती। संसार मे कितनी ही सुन्दर और मधुर वस्तुएँ हो सकती हैं पर जिस व्यक्ति को जो वस्तु अच्छी लगती है, वही उसके लिए सुन्दर है।[3] वही प्रेम की अनन्यता है, जो सूर की गोपियो मे देखी जाती है तभी तो वे उद्धव से कहती हैं—

ऊधो मन माने की बात।
दाख छुहारा छाँडि अमृत फल विषकारा विष खात।
× × × ×
सूरदास जाको मन जासो ताको सोइ सुहात।[4]

नारद जैसे ज्ञानी भक्त भी व्रज-बालाओ को प्रेमी भक्तो में शिरोमणि मानने के लिए विवश हैं, क्योकि उनका तन, मन, धन सब श्रीकृष्ण को अर्पित था और वे अहर्निश उन्हीं का चिन्तन करती थी। उनका प्रेम किसी भी वाद की झञ्झा में हिमालय के समान अटल खडा रह सकता है। उद्धव के लाख बार समझाने पर भी प्रेममयी गोपियो का मानस स्नेह-रस से पूर्ण लहराता रहा।

प्रेम-भक्ति की प्राप्ति का मुख्य साधन हरिकृपा और सत्सग ही है। इसीलिये सूर ने स्थान-स्थान पर इस बात को दुहराया है कि भगवान् के सभी अवतार उनकी भक्तवत्सलता और कृपा के प्रमाण हैं, उनकी कृपा के आगे सब कुछ तुच्छ है। जिस पर हरि कृपा करते है उसी की जीत होती है, किसी को व्यर्थ अभिमान नही करना चाहिये।[5] रामावतार की कथा, कालियदमन, गोपियो के प्रति कृष्ण का प्रेम-प्रदर्शन, रासलीला, कुब्जा-उद्धार, सुदामा का दारिद्र्य-दमन आदि प्रसगो में हरिकृपा का वर्णन सूर ने किया है। भक्ति-पथ मे साधन स्वरूप सत्सगति की प्रशसा और बाधक रूप कुसगति की निन्दा सूर ने स्थान-स्थान पर की

---

१ सूरसागर, (ना० प्र० स०) पद ४३५०
२ वही, पद ४३४४
३ दधि मधुरं मधु मधुरं द्राक्षा मधुरा सितापि मधुरैव।
  तस्य तु तदेव मधुरं यस्य मनो यत्र संलग्नम्। अज्ञात
• सूरसागर (सभा पद) ४६३९
५ सूरसागर पद ४३५, ४३६

है। भक्ति के अङ्गो मे वे हरि-स्मरण गुरु-सेवा मधुवन-वास, भागवत-श्रवण और हरि-भक्त-सेवा की गणना करते है।[१] इसी प्रकार काम-क्रोध-मद-लोभ और मोह का त्याग करने, सासारिक विषयो से विरक्त रहने, हरि-विमुखो का सग छोडने, सत्सग और हरिभजन करने का उपदेश उनके पदो मे प्राप्त होता है।[२] सत्सग का वर्णन करते हुए वे कहते—"जिन दिन संत पाहुने आते हैं, उस दिन कोटि-तीर्थ-स्नान का फल उपलब्ध होता है। प्रतिदिन साधुओ की सगति में रहने से ससार के दुःख नष्ट हो जाते हैं और उनकी सगति से भगवत्प्रेम की उत्पत्ति होती है।[३] उनकी प्रेमभक्ति-साधना मे अष्टाङ्ग योग व्यर्थ है, मन कामना बाधक है, केवल सत्सगति का विशेष महत्त्व है। भगवान् कपिल देव द्वारा सूर ने देवहूति को यही उपदेश दिलाया है, "नित्य सतो की सगति करनी चाहिये और पाप-कर्म को मन से त्याग देना चाहिये।"[४]

'नारद-भक्ति-सूत्र' मे वर्णित प्रेम-भक्ति के स्वरूप का पूर्ण विवेचन हमें सूरसागर में मिलता है। महर्षि नारद ने सत्सगति के समान ही सदाचार को भी महत्त्व दिया है। सूरसागर में भी सदाचार की विशेषताओ का प्रतिपादन स्थान-स्थान पर हुआ है। नहुष,[५] इन्द्र और अहिल्या[६] की कथाओं और पुरुरवा के वैराग्य के प्रसग[७] मे नारी के कुसग को छोडकर हरि-भक्ति की शिक्षा दी है। राजा अम्बरीप की कथा में भी सदाचार का महत्त्व स्वीकार किया गया है। गोपियो के सम्बन्ध मे जो लोक-लाज और कुल-मर्यादा का उल्लघन है, वह कृष्ण के प्रति अनन्यता स्थापित करने के लिये है, अन्यथा कवि ने स्थान-स्थान पर लोक-व्यवहार और सदाचार की आवश्यकता बताई है। यही कारण है कि सूर ने परकीया भाव को इतना प्रश्रय नही दिया, जितना स्वकीया भाव को। रास-लीला मे स्वय युवतियों ने पति को भगवान् की तरह मानने का उपदेश दिया है। गोपियाँ तो सासारिकता से बहुत ऊँची उठ चुकी हैं। वे तो प्रेम-भक्ति की चरमावस्था को पहुँच चुकी हैं, इसलिये सामान्य व्यवहार की दृष्टि से उनका विवेचन नही किया जा सकता। कवि का लक्ष्य तो उन्हे आत्म-समर्पण की अन्तिम कोटि तक ले जाना है, जो प्रेम-भक्ति का सर्वोच्च रूप है। सूर की प्रेम-भक्ति अपने आप मे पूर्ण है। गोपियो का विरह-प्रेम की उसी पूर्णावस्था का प्रतीक है। वे उद्धव से कहती हैं

ऊधौ विरहौ प्रेम करै।
ज्यौं बिनु पुट पट गहत न रग को, रग न रसहि परै।
ज्यौं घर दहै बीज अकुर गिरि तो सत फरनि फरै॥
ज्यौं घट अनल दहत तन अपनो, पुनि मय अमी भरै॥
ज्यौं रन सूर सहै सर सन्मुख, तो रवि रथहु अरै।
सूर गुपाल प्रेम पथ चलि करि क्यो दुख सुखनि डरै॥[८]

---

१ सूरसागर पद ३५५
२ वही, पद ३०६, ३११, ३३८, ३४६
३ सूरसागर (सभा) पद ३६०
४ सूरसागर पद ३९४
५ वही, ४१८
६ वही, ४१६
७ वही, ४४६
८ वही, ४६०४

भागवत की भांति सूर की प्रेम-भक्ति साधन नहीं, साध्य है, जिसकी प्राप्ति के पश्चात् कुछ प्राप्य ही नही रह जाता। सूर ने स्थान-स्थान पर भक्ति प्राप्ति की ही प्रार्थना की है। वे भगवान् से प्रार्थना करते हैं—"हे भगवान्! मैं प्रत्येक स्थिति मे आपकी भक्ति की ही इच्छा करता हूँ।"[1] गोपियो के मुख से भी उन्होने भक्ति की महत्ता का व्खान कराया है और इस प्रकार भक्ति का स्वत पूर्ण रूप प्रतिष्ठित किया है। भक्ति के लिए किसी फल की आवश्यकता नही, उनकी लीला सुनने-सुनाने से प्रेम-भक्ति की प्राप्ति होती है।[2]

यह प्रेम रूपा भक्ति एक होकर भी ग्यारह प्रकार की आसक्तियो पर आधारित होने से ग्यारह प्रकार की कही जा सकती है। सूरसागर में भी इन आसक्तियो का स्वरूप मिल जाता है, जैसे उन पदो में जहाँ उन्होने कृष्ण के अलौकिक गुण और शक्तियो का वर्णन किया है, गुण माहात्म्यासक्ति मिलती है। विनय के पद, वालभाव के प्रसङ्ग और दुष्टो की सहार लीला मे भी इसी प्रकार की आसक्ति है। रूपासक्ति के तो सूरसागर मे अनगिन उदाहरण मिलते है। सूरदास जी वाह्यरूप से श्रीनाथ जी के रूप पर और आन्तरिक रूप से कृष्ण के रूप पर मुग्ध थे। भगवान् के रूप-वर्णन के अनेक पद सूरसागर में विखरे पडे हैं जो कृष्ण की वाल्य, पौगण्ड और कैशोर्य अवस्थाओ से सम्बन्ध रखते हैं। पूजासक्ति में भगवान् कृष्ण की स्तुतियाँ, नवधा-भक्ति आदि सम्मिलित हैं। इसी प्रकार स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्म-निवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति और कान्तासक्ति सभी सूर के पदो में मिल जाती हैं। ग्यारहवी आसक्ति, जो परम विरहासक्ति कहलाती है, सूरसागर में बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह आसक्ति कई प्रकार से प्रकट होती है, परन्तु इसके मुख्य रूप दो ही हैं—मातृ-विरहासक्ति तथा दाम्पत्य-विरहासक्ति।

जब हम सूर की भक्ति की तुलना श्रीमद्भागवत की भक्ति से करते हैं तो इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि श्रीमद्भागवत के भक्ति-पक्ष की जितनी समानता सूर के भक्ति-पक्ष से है, इतनी और किसी पक्ष की नही है, केवल इतना अन्तर है कि श्रीमद्भागवत एक दर्शन-परक भक्ति-ग्रन्थ है, जिसका दृष्टिकोण समन्वयात्मक है। इसीलिये उसमें वेदान्त सूत्रो की व्याख्या की गई है। फलस्वरूप उससे ज्ञान-योग, भक्ति-योग कर्म-योग सभी का प्रतिपादन हुआ है। सूरदास एक विशिष्ट सम्प्रदाय में दीक्षित भक्त कवि थे। उनकी दृष्टि न तो समन्वयात्मक ही थी और न विरोधात्मक ही। अपने भावो को सीधे और सच्चे रूप में ही प्रकट करने का उनका आग्रह था। यही कारण है कि उनके भक्ति-प्रवाह में गम्भीरता और अगाधता भागवत की अपेक्षा अधिक है। भागवतकार ने भक्ति की धारा को मर्यादा और अलौकिकता के बाँधों में बाँधकर बहाया है, पर सूरसागर में तो अनन्त भक्ति-भाव लहरियाँ इस तट से उस तट तक स्वच्छन्द रूप से क्रीड़ा करती हुई दीख पडती हैं।

श्रीमद्भागवत में भक्ति का विवेचन दो प्रकार से हुआ है, वैधी-भक्ति के रूप में और साधारण भक्ति के रूप मे। भागवतकार ने पराभक्ति को ही साध्य माना है, परन्तु उसकी विशद व्याख्या नहीं की है। साधारण रूप से ही भक्ति का जो विवेचन भागवत मे हुआ है, वही पराभक्ति का विवेचन कहा जा सकता है। सूरदास जी का लक्ष्य प्रेम-भक्ति-विवेचन

१ सूरसागर पद ३६५

२ जो यह लीला सुनै सुनावै, सूर सो प्रेम-भक्ति सो पावै। सूरसागर (सभा) पद ४६३१

का है। उनसे पहले भक्ति-रस का पर्याप्त निरूपण हो चुका था और जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, स्वय वल्लभाचार्य ने भक्ति का यथेष्ट विवेचन किया था तथा उन्ही के समकालीन वृन्दावन के गोस्वामियों ने इस दिशा मे और भी अधिक कार्य किया। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने भक्ति के इस स्वरूप को पुष्टि-मार्ग के सांचे में ढाला और इस प्रकार सूर के सम्मुख भक्ति का पुष्ट एव समुज्ज्वल रूप आया। वल्लभ-सम्प्रदाय मे दीक्षित होने से पहले सूर की भक्ति भागवतकार की भक्ति के समकक्ष थी, परन्तु दशम स्कन्ध में भक्ति का जैसा प्रकाश सूर ने दिखाया है, उसके सामने भागवतकार का भक्ति-दीपक फीका-सा पड गया है।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, भागवतकार कृष्ण की लीलाओ में अलौकिकत्व का समावेश करने के पक्ष मे रहे हैं, जिसके कारण उनकी भक्ति में आध्यात्मिकता होने से वह आदर्श मात्र-सी प्रतीत होती है। उनके वात्सल्य और सख्य-भाव अतिप्राकृत भगवान् कृष्ण के प्रति होने के कारण अलौकिक तथा अव्यावहारिक से लगते हैं, पर सूरदास उन भावो को मानवता से तो सम्बद्ध करते ही हैं, साथ ही उनमें मनोवैज्ञानिकता और स्वाभाविकता के भी इतने अवसर रखते हैं कि जन-साधारण उन्हे अपनी आस्वाद्य वस्तु समझने लगते हैं। भागवत के प्रभाव मे आकर जहाँ उन्होंने इन भावो में अलौकिकत्व दिखाने का प्रयत्न किया है, वहाँ या तो उनकी वृत्ति ही नही रमी या अस्वाभाविकता आ गई है।

भागवतकार के वैधी-भक्ति-निरूपण में लोक-मर्यादा का महत्त्व ऊपर से ठूँसा हुआ-सा प्रतीत नही होता। परन्तु सूरसागर मे जहाँ कही ऐसे पद मिलते हैं, वे प्रक्षिप्त से ही प्रतीत होते है। स्वकीया-भाव को प्राधान्य देने का प्रयत्न भी अस्वाभाविक सा लगता है। जिस प्रेम-भाव का वर्णन उन्होने सूरसागर मे किया है, वह पूर्णतया 'भक्ति-रसामृत-सिन्धु' और 'उज्ज्वल नीलमणि' के मेल का है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी भक्ति की पृष्ठ-भूमि तो चैतन्य-सम्प्रदाय की है और सांचा वल्लभ-सम्प्रदाय का।

श्रीमद्भागवत में भक्तो के चरित्र और अवतारो का जो वर्णन है, वह भागवत मे प्रतिपाद्य भक्ति-वैशिष्ट्य के ज्ञापन में पूर्ण रूपेण सहायक है। उन्हें यदि भागवत से निकाल दिया जाय तो भक्ति की पूर्ण-प्रतिष्ठा सम्भव नही है। सूरसागर में बात इसके बिल्कुल विपरीत है। उसमें तो ये कथाएँ भरती की सी ज्ञात होती हैं।

भागवत में परा-भक्ति का स्वरूप सूत्र रूप से चित्रित किया गया है, परन्तु सूरसागर में उसका क्रियात्मक स्वरूप है और गोपियो की कामरूपा प्रीति का पूर्ण विवेचन किया गया है। अनेक नवीन लीलाओ की कल्पना करके सूर ने उस प्रेम को चरम सीमा तक पहुँचा दिया है।

अब तक के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शास्त्रीय रूप से तो सूर ने भक्ति का वही रूप ग्रहण किया, जो भागवत् में है। उनके पदो में भक्ति के वे सभी प्रकार मिल जाते हैं, जो भागवत में आये हुए हैं, किन्तु सूर की भक्ति में सामयिक प्रभाव और मौलिकता का भी पुट है। सामयिक प्रभाव के अतिरिक्त सूर की भक्ति में भक्ति के शताब्दियों से चले आते हुए उस रूप के भी दर्शन होते हैं, जो समाज में प्रचलित लोक गीतो और परम्पराओ में विद्यमान था। राधा और कृष्ण, कृष्ण और गोपियो की शृङ्गारिक

चेष्टाओं के पीछे से भक्ति का वह रूप झाँकता हुआ स्पष्ट दिखाई देता है। एक युगजीवी की भाँति सूर ने धार्मिक पक्ष मे भी अपने युग का प्रतिनिधित्व किया है। उनकी भक्ति में जहाँ एक ओर विभिन्न वैष्णव-सम्प्रदायों के सिद्धान्तो का समावेश हुआ है, वहाँ दूसरी ओर अन्य प्रचलित मत-मतान्तरो का भी प्रभाव पडा है।

सूर उच्च-कोटि के भक्त थे। उनकी भक्ति अन्तःकरण की प्रेरणा और हृदय की अनुभूति थी। भक्त होने के साथ-साथ वे कवि भी थे, इसीलिये उनकी भक्ति में कवि-सुलभ कल्पना का योग भी स्वाभाविक ही था। विनोदी प्रकृति के होने के कारण हास्य और व्यग का पुट भी उनके भक्ति-सम्बन्धी पदो मे आ गया है और सगीत के प्रकाण्ड पाण्डित्य ने लय, स्वर, तान आदि का उचित ध्यान रख उनके पदो को गेय बना दिया। वे आशुकवि थे और कीर्त्तनाचार्य भी।

भक्ति और साहित्य के उन्मुक्त वायु-मण्डल मे सूर की कल्पना ने व्यावहारिक ज्ञान और अनुभव के पंख खोलकर इतनी ऊँची और लम्बी उडान भरी है कि दर्शकों को कभी-कभी तो यह आभास हो जाता है कि यह किसी अन्य लोक की यात्रा कर रही है, परन्तु सत्य यह है कि इतने ऊँचे पर उडते हुए भी उसकी दृष्टि सदैव धरा पर ही लगी रही है।



दशम अध्याय

पुष्टि-सम्प्रदाय और भक्त सूरदास

पुष्टि सम्प्रदाय

श्री वल्लभाचार्य जी ने जिस मत का प्रचार किया, वह 'पुष्टि सम्प्रदाय' कहलाता है। वल्लभाचार्य तैलग ब्राह्मण थे और उन्होंने काशी में रहकर वेद, वेदान्त और दर्शनो का अध्ययन किया था। उन्होंने दस वर्ष की आयु में ही शास्त्रो मे निपुणता प्राप्त करली थी और काशी में प्रसिद्ध हो गये थे। अपने पिता के गोलोकवास के पश्चात् उन्होंने समस्त भारतवर्ष की कई बार यात्राएँ की और उन यात्राओ में उन्होने मायावाद का खण्डन और ब्रह्मवाद तथा भक्तिवाद का प्रचार किया। उनकी यात्राओ और शास्त्रार्थो के समय के विपय मे मतभेद है। वल्लभाचार्य ने विजयनगर मे, जिसे विद्यानगर भी कहते हैं, पहली बार शुद्धाद्वैत मत का प्रतिपादन किया था। कहा जाता है कि विद्यानगर मे पण्डितो की एक विशाल सभा का आयोजन हुआ था, जिसमें एक ओर सभी वैष्णव सम्प्रदायो के विद्वान् थे तथा दूसरी ओर अद्वैतवादी शकर मतानुयायी विद्वान् थे। शास्त्रार्थ मे जब वैष्णव-पक्ष गिरने लगा तो वल्लभाचार्य जी ने उस पक्ष को प्रबल करके अद्वैतवादियो तथा अवैष्णवो को पराजित किया। उनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर ही विष्णु-सम्प्रदाय के आचार्यों ने उन्हें उस सम्प्रदाय की गद्दी पर विठाया। विष्णु स्वामी ने शुद्धाद्वैत मत का प्रतिपादन किया था, किन्तु वल्लभाचार्य जी ने इस मत के प्रचार और प्रसार में बहुत सहायता दी। वल्लभाचार्य से पहले विष्णु स्वामी सम्प्रदाय की गद्दी पर बिल्व-मगल नामक एक आचार्य थे। 'सम्प्रदाय कल्पद्रुम' मे भी बिल्व-मगल का उल्लेख है। विद्यानगर के शास्त्रार्थ की तिथि के विपय मे मतभेद है। यह शास्त्रार्थ राजा कृष्णदेवराय के समय में हुआ था, जिसका शासन सम्वत् १५६५ से प्रारम्भ होता है। इस शास्त्रार्थ के पश्चात् ही शुद्धाद्वैत सिद्धान्त का वल्लभाचार्य ने शास्त्रीय ढँग से प्रचार किया। वल्लभाचार्य ने तीन बार भारतवर्ष की यात्रा की और पुष्टि-सम्प्रदाय का प्रचार किया। पुष्टि-सम्प्रदाय मे ये यात्राएँ पृथ्वी प्रदक्षिणाएँ कहलाती हैं। ब्रज की प्रथम यात्रा उन्होंने स० १५५० में की। उसी समय गोवर्द्धन पर्वत पर एक भगवत् स्वरूप का प्राकट्य हुआ। वल्लभाचार्य जी ने ही उसका नाम श्रीनाथ जी रक्खा था और उन्ही की प्रेरणा से श्रीनाथ जी का पक्का मन्दिर बना। वल्लभाचार्य जी ने बगाली वैष्णवो को श्रीनाथ जी की सेवा का भार सौंपा।

प्रारम्भ से ही वल्लभाचार्य जी की प्रवृत्ति शास्त्र चिन्तन की ओर थी। उनके समय में अनेक सम्प्रदाय प्रचलित थे। शकराचार्य के अद्वैत सिद्धान्त का विरोध करने के लिए वैष्णव धर्म चार सम्प्रदायो में बँट गया था। इन सम्प्रदायो में भक्ति को महत्त्व दिया गया और मुक्तजीव को ब्रह्म न मानकर वैकुण्ठवासी भगवान् की सेवा करने वाला बताया। वल्लभाचार्य जी ने भी अन्य वैष्णवाचार्यो की भाँति शकर के मायावाद का खण्डन किया, क्योकि उसमें भक्ति के लिए तत्त्वत कोई स्थान नही था और उस समय भक्ति-भावना की बडी आवश्यकता थी। सिद्धान्त रूप से वल्लभाचार्य जी ने जिस मत का प्रचार किया, उसे शुद्धाद्वैत, ब्रह्मवाद

या 'अविकृत परिणामवाद' कहते हैं; साधना की दृष्टि से वह 'पुष्टि-मार्ग' कहलाता है। सिद्धान्त पक्ष के लिए वल्लभाचार्य विष्णु स्वामी के ऋणी कहे जा सकते हैं, परन्तु साधन पक्ष उनका अपना है, उसकी व्यवस्था उनकी अपनी है। 'सम्प्रदाय-प्रदीप' के अनुसार वल्लभाचार्य जी को उस व्यवस्था के लिए आन्तरिक प्रेरणा हुई थी। 'सम्प्रदाय-प्रदीप' में लिखा है, "अन्य सम्प्रदायों (रामानुज, मध्व निम्बार्क) में नारद, पांचरात्र, वैखानसादि-शास्त्र प्रतिपादित दीक्षा-पूजा का प्रचार होने से यद्यपि विष्णु स्वामी सम्प्रदाय में आत्म-निवेदनात्मक भक्ति की स्थापना की गई है, तथापि वह मर्यादामार्गीय है अब आपके इस सम्प्रदाय में पुष्टि (अनुग्रह) मार्गीय आत्म-निवेदन द्वारा प्रेम-स्वरूप निर्गुण भक्ति का प्रकाश करना है। सम्प्रति भक्ति मार्गानुयायी जन-समाज शंकर-सिद्धान्त से पथ-भ्रष्ट हो रहा है।"[1]

इस प्रकार वल्लभाचार्य जी ने अपने पुष्टि-सम्प्रदाय की स्थापना मर्यादा-मार्गीय सम्प्रदायों से भिन्न रूप में की और उन्होंने अपने सम्प्रदाय के नामकरण की प्रेरणा श्रीमद्भागवत से प्राप्त की। श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध दशम अध्याय के चतुर्थ श्लोक में "पोषणं तदनुग्रहः" कहा है, जिसका अर्थ होता है कि 'भगवान् के अनुग्रह को ही पोषण या पुष्टि कहते हैं', इसलिए इस मत का नाम पुष्टि रखा गया है। भगवान् के अनुग्रह से ही भक्त के हृदय में भक्ति का उदय होता है, इसलिए भक्त को अपना सब कुछ भगवान् को ही समर्पण करना पड़ता है। जिससे भगवान् के प्रति अनन्यता हो सके, वही पुष्टि-मार्ग कहलाता है। वल्लभ-सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन हम पहले कर चुके हैं। इस प्रकरण में हम उसके साधन अथवा भक्ति-पक्ष पर ही विचार करेंगे।

वल्लभाचार्य का पुष्टि-सम्प्रदाय विष्णु स्वामी के सम्प्रदाय से भिन्न है। विष्णु स्वामी-सम्प्रदाय में भक्ति का स्वरूप सगुण और तामस बताया गया है, जबकि पुष्टि-भक्ति का स्वरूप प्रेमलक्षणा निर्गुण भक्ति है। इसलिए दोनों में सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए ही वल्लभाचार्य जी ने अपने सम्प्रदाय में विशिष्ट सेवा-मार्ग का निरूपण किया। यह सेवा-मार्ग वल्लभ-सम्प्रदाय की अपनी अलग विशेषता है, जिसका वर्णन हम आगे करेंगे। वल्लभाचार्य जी ने अपने मत के प्रचार के लिए अनेक साधन ग्रहण किये। जहाँ वे जाते थे, अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए अपनी शिष्य-मण्डली को छोड़ जाते थे। ऐसे शिष्यों की संख्या एक लाख चौरासी हजार बताई जाती है। जहाँ-जहाँ आचार्य जी भागवत का पारायण करते थे, वहाँ स्थायी बैठकें बनवादी जाती थीं। ऐसी बैठकें भारतवर्ष में चौरासी हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिये अनेक छोटे-बड़े ग्रन्थों की रचना की। उनमें तीस ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध हैं। पुष्टि-सम्प्रदाय की विशेष उन्नति गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के समय में हुई और उन्होंने ही इस सम्प्रदाय की सांगोपाङ्ग व्यवस्था की। पुष्टि-मार्गीय सेवा-भाव को विस्तार से क्रियात्मक रूप देने का काम गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने किया। श्रीनाथ जी की सेवा-विधि में भी उन्होंने परिवर्तन किया। वल्लभाचार्य जी के समय में तो श्रीनाथ जी का शृङ्गार केवल पाग और मुकुट द्वारा होता था, किन्तु विट्ठलनाथ जी ने आठ शृङ्गारों, झाँकियों तथा उत्सवों आदि का भी नियमित कीर्त्तन के लिए आठ संगीताचार्य कीर्त्तनकार नियुक्त किये और वे अड़ैल छोड़कर स्थायी रूप से गोकुल में

---

१ सम्प्रदाय प्रदीप

रहने लगे। इस प्रकार सम्प्रदाय की उचित व्यवस्था और वास्तविक उन्नति गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने ही की। अपने पिता की भाँति उन्होने भी अनेक यात्राएँ की, और अपने मत का प्रचार किया। उन्होंने अपने पिता जी के ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी, तथा कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे। उनके रचित ग्रन्थ बारह हैं, जिनमें 'विद्वन्मण्डन' विशेष उल्लेखनीय है, क्योंकि उसमे साम्प्रदायिक सिद्धान्तो का स्पष्टीकरण किया है। विट्ठलनाथ जी के पश्चात् सम्प्रदाय के आचार्य उनके ज्येष्ठ पुत्र गिरधर जी हुए, किन्तु सम्प्रदाय को बढाने की दृष्टि से उनके चतुर्थ पुत्र स्वामी गोकुलनाथ जी का नाम उल्लेखनीय है। गोकुलनाथ जी के पश्चात् विट्ठलनाथ जी के पौत्र हरिराय जी ने भी बहुत कार्य किया। हरिराय जी के पश्चात् इस सम्प्रदाय में और भी अनेक विद्वान् हुए, जिनमे गोपेश्वर जी और पुरुषोत्तम जी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

पुष्टि-मार्गीय भक्ति

पुष्टि-मार्गीय भक्ति के विवेचन मे हम केवल वल्लभाचार्य जी के ग्रन्थो का आश्रय लेंगे। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वल्लभाचार्य जी के तीस ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनमें अणु-भाष्य, सुबोधिनी, तत्त्वदीप-निबन्ध तथा षोडश-ग्रन्थ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। तत्त्वदीप-निबन्ध के तीन प्रकरण हैं—शास्त्रार्थ प्रकरण, सर्वनिर्णयाख्य प्रकरण तथा भागवतार्थ प्रकरण। शास्त्रार्थ प्रकरण में सात्विक जीवन की भगवत्-सेवा में प्रवृत्ति कराने के लिए जड, जीव, अन्तर्यामी के स्वरूप का वर्णन किया गया है तथा यह बात सिद्ध की है कि भगवान् का भजन ही ऐहिक तथा पारलौकिक फल को देने वाला है। विशेषकर इस प्रकरण में वल्लभ के दार्शनिक सिद्धान्तो का विवेचन हुआ है। सर्वनिर्णयाख्य प्रकरण मे प्रमाण, प्रमेय, फल साधन के द्वारा ज्ञान, कर्म, उपासना तथा जगत् के पदार्थों का यथार्थ स्वरूप बतलाया गया है। इस प्रकरण में पहले श्रुति, स्मृति-विहित तत्वो का निरूपण किया गया है तथा भक्ति को ज्ञान और कर्म से श्रेष्ठ बताया गया है, फिर भक्ति-मार्ग का वर्णन करके भगवान् की प्राप्ति के साधनो का वर्णन है। अन्त में श्रीमद्भागवत का महत्त्व बताया गया है। भागवतार्थ प्रकरण सबसे बडा है, जिसमें श्रीमद्भागवत की लीलाओ के तात्पर्य तथा स्कन्धो, प्रकरणो और अध्यायो के अर्थ दिए गए हैं। इसका उद्देश्य भक्त के हृदय में भक्ति-भाव को दृढ़ करना है। अणुभाष्य उनका एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसमें उन्होंने ब्रह्मसूत्र का भाष्य किया है और अपने शुद्धाद्वैत मत का प्रतिपादन किया है। सुबोधिनी श्रीमद्भागवत की टीका है, जिसके प्रथम, द्वितीय तृतीय, दशम तथा एकादश स्कन्ध ही प्राप्त हैं। षोडश-ग्रन्थ छोटे-छोटे सोलह ग्रन्थ हैं, जिनमें वल्लभाचार्य ने अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है। इन ग्रन्थों पर बहुत-सी टीकाएँ हुई हैं और टीकाकारो ने उन सिद्धान्तो का बडा विस्तार किया है। इन षोडश-ग्रन्थो का उद्देश्य पुष्टि-मार्ग के सिद्धान्तो को सर्व सुलभ बनाना है। अणुभाष्य तथा सुबोधिनी विस्तृत ग्रन्थ हैं, इसलिये वे साधारण व्यक्ति के लिए सरल नही हैं। इन ग्रन्थो मे सिद्धान्त-मुक्तावली, पुष्टि प्रवाह-मर्यादा-भेद, सिद्धान्त-रहस्य, भक्ति-वर्धिनी और सेवाफल मुख्य हैं। सिद्धान्त-मुक्तावली मे वल्लभाचार्य जी ने नवधा-भक्ति का उल्लेख करके उसका पुष्टि-मार्गीय तनुजा सेवा में समावेश किया है और फिर तनुजा और वित्तजा सेवा को भगवद्-भक्ति में साधक बताया है। पुष्टि प्रवाह-मर्यादा-भेद में तीन मार्गो की व्याख्या की है। सिद्धान्त-रहस्य बडा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, क्योंकि इसमें पुष्टि-सम्प्रदाय के आत्म-निवेदन की व्याख्या की है। आत्म-निवेदन के

के विना भगवत्-सेवा का अधिकार प्राप्त नही होता। यही वताने के लिए महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने सिद्धान्त-रहस्य की रचना की। भक्ति-वर्द्धनी ग्रन्थ में भक्ति को उत्पन्न करने और वढाने के उपाय वतलाए हैं और सेवा का फल वतलाया है। हम सक्षेप में इन ग्रन्थो का सार प्रस्तुत करते हैं—

पुष्टि-प्रवाह मर्यादा-भेद में आचार्य जी ने जीव, देह और क्रिया-भेद से तथा फल परम्परा से तीन मार्गों का निरूपण किया है—पुष्टि-मार्ग, प्रवाह-मार्ग और मर्यादा-मार्ग :

"पुष्टि-प्रवाह मर्यादा विशेपेण पृथक्-पृथक्।
जीवदेहक्रियाभेदैः प्रवाहेण फलेन च।"[1]

वल्लभाचार्य जी ने इन तीनो मार्गो की स्थिति को श्रुति, गीता, वेदान्त-सूत्र तथा भागवत आदि के प्रमाणों से सिद्ध किया है। तत्त्वदीप-निवन्ध में उन्होने लिखा है—

"वेदा श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि।
समाधिभापाव्यासस्य प्रमाण तच्चतुष्टयम्।
एतद्विरुद्ध यत्सर्व न तन्मान्य कथचन।"[2]

श्रीमद्भागवत के 'पोपण तदनुग्रह' के आधार पर निवन्धकार ने भागवतार्थ प्रकरण में लिखा है—

'कृष्णानुग्रहरूपाहि पुष्टि कालादिवाधका', अर्थात् 'कालादि के प्रभाव को रोकने वाली श्रीकृष्ण की कृपा ही पुष्टि है।' अणुभाष्य मे लिखा है कि पुष्टि-मार्ग केवल अनुग्रह से ही साध्य है

"पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैकसाध्य ।"[3]

इसी प्रकार मिद्धान्त-मुक्तावली के अठारहवें श्लोक में "अनुग्रह पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थिति", कहा है। यह अनुग्रह लौकिक और अलौकिक, दोनो प्रकार के फल देने वाला है। इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण न होते हुए भी भगवान् की कृपा का फल-विशेप से अनुमान कर लिया जाता है। सुवोधिनी में भी भगवान् के इस अनुग्रह को पुष्टि वताया है। उसमें महापुष्टि का लक्षण इस प्रकार दिया है, "वलवत्प्रतिवन्धनिवृत्तिपूर्वक स्वापादावाप्ति साधकत्वम्", अर्थात् वलवती रुकावट को दूर करते हुए अपनी मूलवस्तु की प्राप्ति की साधकता को महापुष्टि कहते हैं। श्रीमद्भागवत में शुकदेव जी ने परीक्षित से कहा है, 'हे परीक्षित! जिस प्रकार अश्वत्थामा के अस्त्र से आहत होने पर भी तुम नही मरे, उसी प्रकार भगवान् की कृपा से दिति के गर्भ का भी नाश नही हुआ।'

वल्लभाचार्य जी ने पुष्टि-भक्ति को साधारण-भक्ति से भिन्न माना है। हरिराय जी ने हरिराय-वाट्मुक्तावली (भाग १) में पुष्टि-मार्ग के लक्षण इस प्रकार दिये हैं :

सर्वसाधनराहित्य फलाप्तौ यत्र साधनम्।
फल वा साधन यत्र पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥१॥
अनुग्रहेणैव सिद्धिर्लौकिकी यत्र वैदिकी।
नयत्नादन्यथा विघ्नः पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥२॥

---

१ पुष्टि-प्रवाह मर्यादा-भेद १   २ त० दी० निवन्ध शास्त्रार्थ प्रकरण

३ अणुभाष्य, चतुर्थ अध्याय, चतुर्थ पाद, सूत्र ६

सम्बन्ध साधन यत्र फल सम्बन्ध एव हि ।
सोऽपि कृष्णेच्छया जात पुष्टिमार्ग स कथ्यते ॥१०॥
यत्र वा सुखसम्बन्धो वियोगे सगमादपि ।
सर्वलीलानुभवत पुष्टिमार्ग स कथ्यते ॥१५॥
समस्तविषयत्याग सर्वभावेन यत्र वै ।
समर्पण च देहादे पुष्टिमार्ग स कथ्यते ॥१६॥

अर्थात्—जिस मार्ग में लौकिक तथा अलौकिक, सकाम अथवा निष्काम, सब साधनो का अभाव ही श्रीकृष्ण की स्वरूप-प्राप्ति में साधन है, अथवा जहाँ जो फल है, वही साधन है, उसे पुष्टिमार्ग कहते हैं और जिस मार्ग में सर्व सिद्धियों का हेतु भगवान् का अनुग्रह ही है, जहाँ देह के अनेक सम्बन्ध ही साधन रूप बनकर भगवान् की इच्छा के बल पर फलरूप सम्बन्ध बनते हैं, जिस मार्ग में भगवत्-विरह-अवस्था में भगवान् की लीला के अनुभव मात्र से सयोगावस्था का सुख अनुभूत होता है और जिस मार्ग में सर्वभावो में लौकिक विषय का त्याग है और उन भावो के सहित देहादि का समर्पण है, वह पुष्टि-मार्ग कहलाता है।[1] इस प्रकार हरिराय जी ने बड़े विस्तार से पुष्टि-मार्ग का विवेचन किया है। इस मार्ग में जीवात्मा की योग्यता का विचार नहीं किया जाता, केवल भाव का विचार किया जाता है, जैसा कि हरिराय जी ने लिखा है

"केवलेन हि भावेन गोप्य गाव खगा मृगा ।"

इन्हीं सिद्धान्तो का विवेचन वल्लभाचार्य जी के 'षोडश-ग्रन्थ' में हुआ है। बालबोध नामक ग्रन्थ में पुरुषार्थ के स्वरूप को बताकर उन्होने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ माने हैं, जिनमें से काम और मोक्ष को प्रधानता दी है। अन्त में ब्रह्मा, विष्णु और शिव, तीनो को फलप्रद देवता मान कर अन्त मे श्रीकृष्ण को ही सेव्य और आश्रय मानने का उपदेश दिया है। 'सिद्धान्त मुक्तावली' में, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, श्रीकृष्ण की भक्ति के साधनो का विवेचन करते हुए मानसिक सेवा के प्रामुख्य का ज्ञापन किया गया है और उसी को सच्ची सेवा माना है। भगवान् कृष्ण मे चित्त की एकाग्रता को जो शरीर और मण्डान आदि द्रव्य के द्वारा प्राप्य है, सेवा कहा गया है। इसी सेवा से दु ख की निवृत्ति तथा ब्रह्म का ज्ञान होता है। इसके पश्चात् ब्रह्म का विवेचन किया गया है और अन्त में यह बताया है कि जब तक जगत् मे हमारी आसक्ति है, तब तक कृष्ण में हमारी सच्ची भक्ति हो ही नहीं सकती। भक्ति से ही ससार से विरक्ति होती है। आत्म-स्वरूप और भगवत्स्वरूप का ज्ञान बहुत कठिन है, इसलिए वल्लभाचार्य जी ने मनुष्यों के लिए पुष्टि-मार्ग का निर्देश किया है

'ज्ञानाभावे पुष्टिमार्गी तिष्ठेत्पूजोत्सवादिपु ।"[2]
"अनुग्रह पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थिति ।"[3]

---

१ हरिराय वाङ्मुक्तावली भाग १ (१, २, १०, १५, १६)
२ सिद्धान्त मुक्तावली १७
३ वही, १८

'सिद्धान्त मुक्तावली' में वल्लभाचार्य ने मर्यादा-मार्गी और पुष्टि-मार्गी—दो प्रकार के भक्त बतलाये हैं। मर्यादा-मार्गी भक्त लौकिक कामनाओं से प्रयोजन रखते हुए श्रीकृष्ण की सेवा में तत्पर होते हैं, इसलिये उन्हें कष्ट होता है। परन्तु पुष्टि-मार्गी भक्त सब प्रकार से भगवान् को आत्म-समर्पण कर अहंता और ममता से दूर रहकर भगवान् कृष्ण की उपासना में लगा रहता है। इस प्रकार वल्लभाचार्य जी ने ज्ञान-मार्ग से भक्ति-मार्ग और उसमें भी मर्यादा-मार्ग से पुष्टि-मार्ग को श्रेष्ठता प्रदान करते हुए बताया है कि—भक्ति के अभाव में जीव नष्ट हो जाता है। 'पुष्टि-प्रभाव-मर्यादा' नामक ग्रन्थ में आचार्य जी ने भक्ति-मार्ग की अनिर्वचनीयता स्थापित करके पुष्टि-मार्ग के अतिरिक्त प्रवाह-मार्ग और मर्यादा-मार्ग भी भक्ति के क्षेत्र में माने हैं। उनका कथन है कि श्रीमद्भगवद्गीता में दो प्रकार की सृष्टि मानी है, इसलिए प्रवाह-मार्ग की भी सिद्धि होती है और कर्म आदि की व्यवस्था करने वाले वेदों के कारण मर्यादा-मार्ग भी अनादि काल से चला आ रहा है। गीता में भगवान् के इस वचन से कि—मेरा भक्त मुझे प्रिय है, भक्ति का उत्कर्ष सिद्ध होता है और इसीलिये उसे पुष्टि-मार्ग कहते हैं।[1] इस मार्ग की बड़ी प्रशंसा की गई है। पुष्टि-मार्ग को लोक और वेद से परे बताकर पुष्टिमार्गीय जीव, देह और उनकी क्रियाएँ भी अलग ही बताई गई हैं और श्रुति के प्रमाणों से उसकी नित्यता भी सिद्ध की गई है। श्री हरि ने इच्छा होने पर प्रवाह-मार्ग की सृष्टि मन से, मर्यादा-मार्ग की वाणी से, और पुष्टि-मार्ग की अपने स्वरूप से स्वयं रमण करने के हेतु की है। इन तीनों प्रकार की सृष्टि-रचना की पुष्टि श्रुति-वचनों से की गई है। प्रवाह-मार्ग में सृष्टि का क्रम सतत प्रवाहित रहता है, मर्यादा-मार्ग में वेदोक्त फलों की प्राप्ति होती है तथा पुष्टि-मार्ग में निजस्वरूप से फल-प्राप्ति होती है। इन तीनों प्रकार के जीवों की गति भी पृथक्-पृथक् है। पुष्टि-मार्गीय जीव अन्य दोनों प्रकार के जीवों से भिन्न है। उनकी सृष्टि तो प्रभु की सेवा के लिए ही होती है। यद्यपि भगवान् और भक्त के स्वरूप में विशेष अन्तर नहीं माना गया है, तथापि रमण-रूप कार्य की सिद्धि के लिये भगवान् ने भक्तों में भेद की स्थापना की है। ये पुष्टि-मार्गीय जीव शुद्ध और मिश्र भेद से दो प्रकार के होते हैं, जिनमें से मिश्र—प्रवाह, मर्यादा और पुष्टि के भेद से प्रवाह-मिश्र, मर्यादा-मिश्र और पुष्टि-मिश्र तीन प्रकार के होते हैं। प्रवाह-मिश्र कर्म में प्रीति रखने वाले, मर्यादा-मिश्र भगवद्गुणों को जानने के इच्छुक और पुष्टि-मिश्र केवल भगवान् से प्रेम करने वाले होते हैं। इन पुष्टि-मिश्र जीवों से उच्च-कोटि के जीव, जिन पर भगवान् का विशेष अनुग्रह रहता है, शुद्ध-पुष्टिजीव कहलाते हैं। इस अवस्था की प्राप्ति बहुत दुर्लभ है। इन चार प्रकार के भक्तों को क्रमशः प्रवाह-पुष्ट, मर्यादा-पुष्ट, पुष्टि-पुष्ट तथा शुद्ध-पुष्ट भक्त कहा गया है। मिश्र-भक्ति वाले जीव सकर और ससृष्टि भेद से नौ प्रकार के बताये गए हैं और उनके कर्मों का भी अलग-अलग विवेचन किया गया है। इन भक्तों के कर्म का फल केवल भगवत्प्राप्ति है। जब इन जीवों में आसक्ति अथवा अहंकार का समावेश हो जाता है, उस समय भगवान् उनके मिश्र-भाव को मिटाने के लिए तथा शुद्ध प्रेमी बनाने के लिये ताप

१ द्वौ भूतसर्गावित्युक्तेः प्रवाहोऽपि व्यवस्थितः।
वेदस्य विद्यमानत्वान्मर्यादापि व्यवस्थिता।
कश्चिदेव हि भक्तो हि यो मद्भक्त इतीरणात्।
सर्वत्रोत्कर्ष कथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः। पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा श्लोक २, ६

भी दिला देते हैं, परन्तु फिर भी वे जीव लोक, वेद और भक्ति-मार्ग के विरुद्ध नही होते तथा न ही वे रोगादि ग्रस्त होते हैं, प्रवाही-जीव आसुरी-जीव भी कहलाते हैं। इनके भेद हैं—अज्ञ और दुर्ज्ञ। इन जीवो की मुक्ति सत्सग अथवा भक्ति द्वारा ही सम्भव है। पुष्टि-मार्गीय जीव तो प्रवाह में आकर इन जीवों से नही मिलते और मर्यादा-मार्गीय जीव भी इनसे पृथक् रहते हैं।[1]

इस प्रकार जीव-सृष्टि का वर्णन करके वल्लभाचार्य जी ने 'सिद्धान्त-रहस्य' नामक ग्रन्थ मे भक्ति-मार्ग का रहस्य प्रकट किया है। इसमें उन्होंने बताया है कि आत्म-निवेदन रूपी ब्रह्म-सम्बन्ध-दीक्षा से ही समस्त दोषो की निवृत्ति होती है और प्रभु सेवा करने की योग्यता प्राप्त होती है। यह आत्म-निवेदन जीव का सहज परमधाम है। जीव बहुत काल से भगवान् से विमुक्त होकर अहता-ममता से प्राप्त हो अपने परम स्वामी को भूलकर दुखी रहता है और फिर भगवदनुग्रह से ही भगवत्प्रदत्त समस्त पदार्थ भगवदर्पण कर सुखी रह सकता है। समर्पण के बिना दोष निवृत्ति सम्भव नही . ब्रह्म-सम्बन्ध दीक्षा लेकर प्रभु-सेवा-परायण रहना, असमर्पित वस्तु का परित्याग करना एव अर्द्ध भुक्त वस्तु ठाकुर जी को निवेदित न करना, इत्यादि मर्यादाओ का पालन उचित है। यही पुष्टि-मार्ग की मर्यादा है। जिस प्रकार गगाजल मे मिलने से सब प्रकार के जल की मलिनता एव अपवित्रता नष्ट होकर वह गगा-जलस्वरूप हो जाता है, उसी प्रकार आत्म-निवेदन रूप शरणागति के अनन्तर जीव के गुण दोषादि ब्रह्ममय हो जाते हैं। इसीलिये आचार्य जी ने 'नवरत्न' नामक ग्रन्थ मे लिखा है, "जिन भक्तों ने आत्मसहित आत्मीय वस्तुओं को भगवदर्पण कर दिया है, वे भगवान् के अनुग्रह में स्थिर हो चुके हैं और उन्हें किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिये।" पुष्टि-मार्ग मे मन्त्र, जप आदि गौण हैं क्योंकि इनकी आवश्यकता तो उन्ही आचार्यो को होती है, जिन्हें अपने शिष्यों को 'मन्त्र' देने पडते हैं। वैष्णवो के लिये तो स्मरण, निवेदनादि ही मुख्य हैं। आत्म-निवेदन करने के पश्चात् जीव को निश्चिन्त हो जाना चाहिये। ऐसे जीव भगवत्कृपा से आसक्ति-मुक्त हो जाते हैं, लोक और वेद के कार्य तो उन्हें केवल साक्षी रूप से करने चाहिये। सब प्रकार से सब स्थितियो में श्रीकृष्ण को ही समक्ष मानकर पुष्टि-भक्तो को कार्य करना चाहिये :

तस्मात्सर्वात्मना नित्य श्रीकृष्णः शरण मम।
वदद्भिरेव सतत स्थेयमित्येव मे मतिः।[2]

भक्ति की पुष्टि के लिये आचार्य जी ने 'विवेक धैर्याश्रय' नामक ग्रन्थ में विवेक, धैर्य और आश्रय की व्याख्या की है। भगवान् की सेवा करते समय भक्त को यह भावना रखनी चाहिये कि हरि को सर्वत्र सब वस्तुएँ प्राप्त हैं तथा उनमें सब वस्तुएँ देने की सामर्थ्य है। श्रीहरि अपनी अथवा अपने भक्तो की इच्छा से ही सब कुछ करेंगे, इसी का नाम विवेक है। धन के सकोच में ऋण आदि लेकर भगवान् की सेवा का आग्रह न करना तथा श्रुति-स्मृति-विहित भागवत-धर्म के बलाबल को विचार कर अपने अधिकारानुसार कार्य करना विवेक है। मरण-पर्यन्त सर्वदैव आधिभौतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक—तीनो प्रकार के दुःखों को सहन करना ही धैर्य है। शरीर में मोह न करना, इन्द्रियो का दमन करना, भगवान् की सेवा के लिये भाई-बन्धु, पुत्रादि द्वारा अपमान तक सहना भक्त का कर्त्तव्य है। प्रभु में सब प्रकार से

---

१ देखिये आचार्य वल्लभ कृत 'पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा'

२ षोडश ग्रन्थ, सिद्धान्त रहस्य, श्लोक ९

विश्वास करना, सब काल एवं परिस्थितियों में वही रक्षक हैं, यह भावना रखना और मुख से इसी प्रकार के वचनों का उच्चारण करना चाहिये। इस प्रकार सब प्रकार से हित-साधक भगवान् कृष्ण ही आश्रय हैं। विशेषकर कलियुग में, जबकि वेदोक्त मार्ग लुप्त हो गये हैं और गङ्गा आदि तीर्थों का महत्त्व कम हो गया है।

'भक्ति-वर्द्धनी' नामक पुस्तक में आचार्य जी ने पुष्टि-मार्गीय भक्ति की वृद्धि के उपाय बतलाए हैं। भगवान् के अनुग्रह से प्रेम की उत्पत्ति एवं दृढ़ता, तदनन्तर श्रवण, कीर्त्तन आदि के द्वारा भक्ति की वृद्धि होती है। गृहस्थाश्रम में रहकर वर्णाश्रम-धर्म का पालन एवं श्रवण-कीर्त्तन द्वारा श्रीकृष्ण की तनुजा तथा वित्तजा सेवा करनी चाहिए। वर्णाश्रम-धर्म-पालन के असामर्थ्य के कारण श्रवण-कीर्त्तन को नहीं छोड़ना चाहिये, क्योंकि इसी से प्रभु-प्रेम की दृढ़ता, आसक्ति तथा व्यसन होते हैं। व्यसन होने के अनन्तर ही भक्त को फलरूपा भक्ति प्राप्त होती है, जिससे भक्त घर-गृहस्थी को त्यागकर भगवान् की सेवा में तत्पर होगा और पवित्र वैष्णव-तीर्थों में वास करने लगेगा। यदि गृह-त्याग के पश्चात् हरि-स्थान में रहने में प्रभु-प्रेम में कोई प्रतिबन्ध दीख पड़े तो भक्त को घर नहीं छोड़ना चाहिये। इस प्रकार पुष्टि-मार्ग में आचार्य जी ने गृहत्याग आवश्यक नहीं बताया है। सन्यास-निर्णय में उन्होंने इस बात की ओर भी पुष्टि की है और साधन-सम्पत्ति के लिये सन्यास को आवश्यक नहीं बताया है। यदि उन्होंने किन्हीं अंशों में सन्यास का पोषण किया है, तो केवल भगवद्-विरह के अनुभवार्थ।

"विरहानुभवार्थं तु परित्यागः सुखावहः।
स्वीया-बंध-निवृत्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा।"[1]

अर्थात्—भगवान् के विरह का अनुभव करने के लिये गृहादि-त्याग उत्तम है और यदि इसीलिए कोपीन, दण्ड, कमण्डलु आदि धारण करने पड़ें, जिससे स्त्री-पुत्रादि का बन्धन दूर हो जाय तो यह वेष भी धारण करने योग्य है, अन्यथा नहीं। ज्ञानमार्ग में आचार्य जी ने सन्यास की महत्ता अवश्य अङ्गीकार की है परन्तु आगे चलकर उसका भी निषेध कर दिया है। वे लिखते हैं :

ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम्।
अतः कलौ स सन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा।
पाषण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज्ज्ञानेन सन्यसेत्।
सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वादिति स्थितम्।[2]

अर्थात्—वेद में चित्तशुद्धि के लिये भी निष्काम यज्ञादि करने की आज्ञा है, इसलिये ज्ञान-मार्ग में भी साधन की अपेक्षा है। कलियुग में वे साधन पूर्ण होने कठिन हैं, इसलिये सन्यास केवल पश्चात्ताप-फल ही देने वाला है। फिर कलियुग में बहुत से दोषों के कारण सन्यासी को पाखण्डी होने का भय है, इसलिये ज्ञान-मार्ग में भी सन्यास निषिद्ध है। भक्ति-मार्ग का सन्यास तो दूसरे ही प्रकार का है। वह केवल भगवत्प्रेम स्वरूप है और प्रभु के विरह की भावना का उन्नायक है। पुष्टि-भक्ति में निरोध का बड़ा महत्त्व है। स्त्री-पुत्रादि को

१ संन्यास-निर्णय, श्लोक ७
२ वही श्लोक १५, १६

भूलकर प्रभु के प्रति आसक्ति ही निरोध है, जो सुखात्मक और दु खात्मक दोनो प्रकार की हो सकती है, अर्थात्—सयोग में सुखात्मक और वियोग में दु खात्मक। निरोध के विषय में आचार्य जी कहते हैं—

अह निरुद्धो रोधेन निरोधपदवी गत ।
निरुद्धाना तु रोधाय निरोध वर्णयामि ते ॥[1]

अर्थात्—जो जीव भगवान् के द्वारा निरुद्ध हैं—भगवान् ने अपनाये हैं—वे अहर्निश उसी का गुण-गान करते हुए आनन्द मग्न रहते हैं, और जिन जीवों की भगवान् उपेक्षा करते हैं, वे अहता-ममता-रूप ससार सागर में डूब कर जन्म-मरण आदि के प्रवाह मे पडे रहते हैं। इसीलिए भगवान् का स्वरूप ही ध्यान में रखना चाहिये और उन्ही के गुणो का श्रवण-कीर्त्तन आदि करते रहना चाहिये। यह ही निरोध का सबसे बडा मन्त्र है।

पुष्टि-मार्ग मे प्रभु-सेवा को ही लक्ष्य माना गया है। पुष्टि-मार्ग में जहाँ कही पूजा का उल्लेख है, वहाँ वेदोक्त अथवा तन्त्रोक्त पूजा न समझकर पुष्टि-मार्गीय सेवा-विधि समझनी चाहिये, जिसके दो रूप हैं—क्रियात्मक और भावनात्मक। माहात्म्य-ज्ञान-पूर्वक प्रभु से अनन्य प्रेम करना ही पुष्टि-भक्ति का मूल मन्त्र है—

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ· सर्वतोऽधिक· ।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्य था ।[2]

अर्थात्—भगवान् के प्रति माहात्म्य-ज्ञान-पूर्वक सर्वाधिक दृढ स्नेह ही भक्ति है और उसी से मुक्ति की उपलब्धि हो सकती है, अन्य प्रकार से नही। दूसरे, यह भक्ति केवल प्रभु के अनुग्रह से ही प्राप्त होती है। तीसरे, इस भक्ति में ब्रह्म-सम्बन्ध अथवा आत्म-निवेदन का विशेष महत्त्व है, जिसके द्वारा भक्त को भगवान् का अनुग्रह प्राप्त होता है और ससार की अहंता-ममता भी छूट जाती है। चौथे, नवधा-भक्ति का भी पुष्टि-मार्ग में महत्त्व है, परन्तु प्रभु-कृपा की प्राप्ति के पूर्व ही और इन नो प्रकार के साधनो में भी आत्म-निवेदन सर्वोपरि है। पाँचवें, वल्लभाचार्य के मत में सेवा का बडा महत्त्व है और तनुजा, वित्तजा तथा मानसिक सेवाओ में मानसिक सेवा ही सर्वश्रेष्ठ है।

श्रीमद्भागवत मे पुष्टि-तत्त्व

वल्लभाचार्य जी ने श्रीमद्भागवत को वेद, सूत्र और गीता की भाँति ही प्रमाण माना है, और अपने सभी सिद्धान्त-ग्रन्थो में भागवत का आधार लिया है। पुष्टि भक्ति का नामकरण भी उन्होंने भागवत के आधार पर ही किया है, यह हम पहले लिख चुके हैं। 'सिद्धान्त रहस्य' नामक ग्रन्थ की विवृत्ति में हरिराय जी ने लिखा है कि पुष्टि, मर्यादा और प्रवाह-भेद से भक्ति तीन प्रकार की होती है। इनमे प्रवाह-भक्ति तो वेद और पुराणो से प्रतिपादित हुई है, शेष मर्यादा और पुष्टि भक्ति के निरूपण के लिये श्रीमद्भागवत ग्रन्थ का प्रादुर्भाव हुआ और इसीलिए भगवान् का व्यासावतार हुआ। अभिप्राय यह है कि श्रीमद्भागवत में मर्यादा-भक्ति और पुष्टि-भक्ति का विवेचन हुआ है। मर्यादा-भक्ति का फल

---

१ निरोध लक्षण, १०

२ त० दी० नि० शास्त्रार्थ प्रकरण, ज्ञानसागर बम्बई, श्लोक ४६, पृष्ठ १२७

है प्रभु-स्नेह, जो पुष्टि-भक्ति का आधार है। श्रीमद्भागवत में पुष्टि-भक्ति का विवेचन छठे स्कन्ध मे हुआ है। भगवान् का अनुग्रह गूढ होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध नहीं है, इसलिए लोक में व्यक्ति विशेष को उत्तम फल की प्राप्ति देखकर उसकी कल्पना की जाती है। भागवत के छठे स्कन्ध में इस भक्त्वदनुग्रह का विस्तृत वर्णन है। भागवत मे भगवान् ने अनेक स्थलों पर अपने आपको भक्त के आधीन बताया है। नवम स्कन्ध में भगवान् नारद से कहते हैं, "हे नारद, मैं अस्वतन्त्र की भाँति भक्त के अधीन हूँ।" पुष्टि-मार्ग में भी भक्ति को ही सर्वोपरि माना है। वल्लभाचार्य जी ने 'तत्त्व-दीप-निबन्ध' के भागवतार्थ-प्रकरण में सब स्कन्धो और अध्यायों को प्रकरणो में विभाजित किया है और उसके भाँति-भाँति के अर्थ किये हैं। छठा स्कन्ध 'पुष्टि-स्कन्ध' बताया है और उन्होंने अपनी पुष्टि-भक्ति का सूत्र इसी स्कन्ध से ग्रहण किया है। इस स्कन्ध में १६ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में पुष्टि-मार्ग के सिद्धान्तों का किसी न किसी प्रकार से विवेचन है। प्रथम अध्याय में ही शुकदेव जी ने नौ साधनो के द्वारा मन, वाणी और शरीर के द्वारा किये गए पापों का क्षय बतलाया है, परन्तु आगे वे कहते हैं—

"भगवान् की शरण में रहने वाले भक्तजन, जो विरक्त होते हैं, भक्ति द्वारा ही अपने पापो को ऐसे भस्म कर देते हैं, जैसे कुहरे को सूर्य। पापी मनुष्य की जैसी शुद्धि भगवान् को आत्म-समर्पण करने और उनके भक्तो का सेवन करने से होती है, वैसी तपस्या आदि के द्वारा नहीं होती। संसार मे यह भक्ति-पथ ही भय-रहित और कल्याण-स्वरूप है, क्योंकि इस मार्ग पर भगवत्परायण सुशील साधुभजन चलते है।[1] पुष्टि-भक्ति का भी यही तत्त्व है। अजामिल का आख्यान भागवत में भगवन्नाम-महिमा से पाप-नाश होने के उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। दूसरे अध्याय में सत्सङ्ग, भगवत्-संकीर्त्तन आदि का फल बताया है। फिर तीसरे अध्याय मे शुकदेव जी परीक्षित से कहते हैं, 'हे परीक्षित बड़ी से बडी पाप-वासनाओं को भी निर्मूल करने वाला प्रायश्चित्त यही है कि—भगवान् के गुणो, लीलाओ और नामो का कीर्त्तन किया जाय, इसी से हृदय में प्रेमरूपी भक्ति का उदय होता है और उस भक्ति से जैसी आत्म-शुद्धि होती है, वैसी चान्द्रायण आदि व्रतों से भी नहीं होती।"[2]

छठे स्कन्ध में पुष्टिमार्गीय भक्ति के तत्त्व का निरूपण करने वाला उपाख्यान इन्द्र और वृत्रासुर का है। भगवान् की कृपा से ही इन्द्र की रक्षा हुई और दिति का गर्भ नष्ट नहीं हुआ। इस स्कन्ध के एकादश अध्याय में इन्द्र के साथ युद्ध करते हुए वृत्रासुर ने भगवान् का प्रत्यक्ष अनुभव किया और उनसे प्रार्थना की। वृत्रासुर की प्रार्थना के चार श्लोक पुष्टि-सम्प्रदाय में बडे महत्त्व के हैं, क्योंकि पुष्टि-भक्ति का समग्र आधार ये चार श्लोक माने जाते हैं, जिनका साधारण अर्थ इस प्रकार है, वृत्रासुर भगवान् से प्रार्थना करते हैं—

"हे प्रभो, आप मुझ पर ऐसी कृपा कीजिए कि अनन्य भाव से आपके चरण-कमलो के आश्रित सेवकों की सेवा करने का अवसर मुझे अगले जन्म में भी प्राप्त हो। मेरा मन आपके मंगलमय गुणों का स्मरण करता रहे। मेरी वाणी उन्हीं का गान करे और मेरा

---

१ भागवत ६।१।१५, १६, १७

२ वही ६।३।३१, ३२

शरीर आपकी सेवा मे ही सलग्न रहे। मैं आपको छोडकर स्वर्ग, ब्रह्मलोक, भूमण्डल का साम्राज्य, रसातल का एकच्छत्र राज्य, योग की सिद्धियाँ—यहाँ तक कि मोक्ष भी नही चाहता। जैसे पक्षियो के पखहीन बच्चे अपनी माँ की बाट जोहते रहते हैं और भूखे बछडे अपनी माँ का दूध पीने के लिये आतुर रहते हैं, और जैसे वियोगिनी पत्नी अपने प्रवासी प्रियतम से मिलने के लिए उत्कण्ठित रहती है, वैसे ही हे कमल-नयन, मेरा मन आपके दर्शन के लिये छटपटा रहा है। प्रभो, मैं मुक्ति नही चाहता। मेरे कर्मो के फलस्वरूप मुझे बार-बार जन्म-मृत्यु के चक्कर में भटकना पड़े, इसकी परवाह नही, परन्तु मैं जहाँ-जहाँ जाऊँ, जिस-जिस योनि में जन्मूँ, वहाँ-वहाँ भगवान् के प्यारे भक्त-जनो से मेरी प्रेम-मैत्री बनी रहे। स्वामिन्, मैं केवल यही चाहता हूँ कि जो लोग आपकी माया से देह-गेह और स्त्री-पुत्र आदि में आसक्त हो रहे हैं, उनके साथ मेरा कभी, किसी प्रकार का भी सम्बन्ध न हो।"[1]

पुष्टि-मार्ग में इन श्लोको को भगवत्कृपा के फल बतलाने वाले कहते हैं। भगवान् की पुष्टि-लीलाओ का वर्णन इसी स्कन्ध में है। ये चार श्लोक वृत्रासुर-चतुश्लोकी के नाम से कहे जाते हैं। इन चारों श्लोको में पुष्टि-मार्गीय धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का वर्णन है। प्रथम, द्वितीय और तृतीय स्कन्ध की व्याख्या करके जब वल्लभाचार्य दशम स्कन्ध की व्याख्या करने लगे, तो उन्होने उससे पहले श्रीमद्भागवत में पुष्टि-तत्त्व का विवेचन आवश्यक समझा। उन्होने एक कारिका लिखी, "पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यम्" आदि। अर्थात्—पुष्टि-मार्ग मे भगवान् का दास्य ही सर्वप्रधान है। इसी कारिका के आधार पर इन चारो श्लोको की सुबोधिनी मे व्याख्या की गई है। इस सुबोधिनी पर भी श्री हरिराय जी ने तथा श्री वल्लभ गोस्वामी जी ने टिप्पणियाँ की हैं और इसी चतुश्लोकी पर श्री पुरुषोत्तम जी का 'प्रकाश' है। चतुश्लोकी से पहले वृत्रासुर ने इन्द्र से कहा है, 'हे इन्द्र, जिस पक्ष में भगवान् श्री हरि रहते हैं—उधर ही विजय, लक्ष्मी और सारे गुण निवास करते हैं। जो पुरुष भगवान् से अनन्य प्रेम करते हैं, वे उनके निज-जन हैं। वे उन्हे स्वर्ग, पृथ्वी अथवा रसातल की सम्पत्तियाँ नही देते, क्योंकि उनसे परमानन्द की उपलब्धि तो होती ही नही—उलटे द्वेष, उद्वेग, अभिमान, मानसिक पीडा, कलह, दुख और परिश्रम ही हाथ लगते हैं। हमारे स्वामी अपने भक्त के लिए धर्म एव काम-सम्बन्धी प्रयास को व्यर्थ कर दिया करते हैं और सच पूछो तो इसी से भगवान् की कृपा का अनुमान होता है, क्योकि उनका ऐसा कृपा-प्रसाद अकिंचन भक्तो के लिए ही अनुभवगम्य है, दूसरो के लिए अत्यन्त दुर्लभ है।"[2]

इसके पश्चात् वह चतुश्लोकी है, जो पुष्टि-मार्ग की सिद्धान्त-सूचिका कही जा सकती है। इसमें हरिकृपा का फल बताया है। इन चार श्लोको में पहले श्लोक मे पुष्टि-भक्ति-मार्गीय धर्म का निरूपण है। इसमे हरिनाम-स्वरूप-स्मरण, हरिगुण कीर्त्तन, तथा प्रेम-सेवा—इन तीनो कर्मों की प्रार्थना की गई है और यह सूचित किया गया है कि भक्त को दास-भाव से स्वीकार करने में हरि की कृपा ही साधन है। वृत्रासुर ने इस श्लोक में अपना दैन्य प्रकट करके अपने को दास्य-भक्ति का उत्तराधिकारी बताया है।

दूसरे श्लोक मे पुष्टि-मार्गीय अर्थ का निरूपण किया गया है। प्रकृति के सत्व, रज और तम—तीन गुण होते हैं। इसलिए इन तीनो के आधार पर लौकिक और वैदिक अर्थ

१ भागवत-षष्ठ स्कन्ध, अध्याय १२, श्लोक २४ से २७
२ वही, ११, श्लोक २१, २२, २३

तीन-तीन प्रकार के होते हैं। ये छ. प्रकार के लौकिक और वैदिक ऐश्वर्य ही भगवान् के ऐश्वर्यादि छ: गुण हैं। तीन लौकिक ऐश्वर्य ये हैं—सत्व-प्रधान स्वर्ग, रजोगुणवती पृथ्वी तथा तम. प्रधान रसातलादि। वैदिक ऐश्वर्य इस प्रकार हैं—शुद्ध तत्त्वसाध्य मोक्ष, रजोगुण साध्य ब्रह्मलोक, तथा तमोगुण साध्य योग-सिद्धि। वृत्रासुर ने इस श्लोक में छत्रो प्रकार के ऐश्वर्यो का निरादर किया है। ये लौकिक और वैदिक ऐश्वर्य, सुखभोग भगवान् के एक-एक गुण के विन्दुमात्र अंश स्वरूप हैं। भगवान् सर्वात्मा हैं और ऐश्वर्यादि षड्-गुणो से पूर्ण हैं, इसलिए लौकिक और वैदिक ऐश्वर्य भगवान् के सामने हेय हैं।

तृतीय श्लोक में पुष्टि-मार्गीय काम को प्रार्थना की है। पुष्टि-मार्गीय काम का यह स्वरूप है कि मन में सदा श्रीपति के सौन्दर्य-दर्शन को इच्छा बनी रहे। यहाँ वृत्र ने तीन दृष्टान्तों से इसकी पुष्टि की है। इनमें दो दृष्टान्त लौकिक रीति से सम्बन्ध रखते हैं और तीसरा दृष्टान्त लौकिक और भक्ति-रस शास्त्रोक्त रीति से सम्बन्ध रखता है, क्योंकि तीसरा दृष्टान्त उपाधि-रहित तथा अन्याश्रय-रहित है और केवल एक शृङ्गार रस-रूप अपने प्रिय की ही कामना से सम्बन्ध रखने वाला है। यही दृष्टान्त अलौकिक प्रभुस्वरूप मे घटता है। पक्षियो के पक्षहीन बच्चो का दृष्टान्त तथा भूखे बछडो का दृष्टान्त लौकिक काम को प्रकट करता है। परन्तु पुष्टि-मार्गीय भक्त के प्रभु शृङ्गार रस-स्वरूप हैं इसलिए तीसरा दृष्टान्त ही प्रभुस्वरूप सम्बन्धी अलौकिक कामना का दृष्टान्त कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त तीसरे दृष्टान्त में एक-वचन का प्रयोग किया है, इसलिए वह भगवान् में ही घटता है। चतुर्थ श्लोक में पुष्टि-मार्गीय मोक्ष का निरूपण है। इस श्लोक मे गौण और मुख्य भेद से दो प्रकार का मोक्ष बताया गया है। श्लोक के पूर्वार्द्ध में पुष्टि-मर्यादा-मोक्ष का अर्थ बताया गया है। इसका अन्वय वल्लभाचार्य जी ने इस प्रकार किया है:

"हे नाथ, स्वकर्मभि: संसारचक्रे भ्रमत: मम उत्तमश्लोकजनेषु सख्य भूयात्। आत्माऽऽत्मजदारगेहेषु आसक्तचित्तस्य मम उत्तमश्लोक जनेषु सख्य न भूयात्।"

इस श्लोक के उत्तरार्द्ध में पुष्टि-पुष्ट मोक्ष का वर्णन है। उसका अन्वयार्थ इस प्रकार है.

'हे नाथ, त्वन्मायया आत्माऽऽत्मजदारगेहेषु उत्तमश्लोकजनेषु आसक्तचित्तस्य मम आत्माऽऽत्मजादिषु सख्य भूयात्। किन्तु स्वकर्मभि. संसारचक्रे भ्रमतो मम आत्माऽऽत्मजादिषु सख्य न भूयात्।"

इस श्लोक की सुबोधिनी व्याख्या बडी कठिन है। इसलिए श्री हरिराय जी की टिप्पणी तथा श्री पुरुषोत्तम जी का 'प्रकाश' इस श्लोक पर विस्तार के साथ लिखे गए हैं। वल्लभाचार्य ने इन्हीं श्लोको के आधार पर पुष्टि-मार्गीय धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के स्वरूप को इस कारिका मे स्पष्ट किया है-

"पुष्टिमार्ग हरेर्दास्य धर्मोऽर्थो हरिरेव हि।
कामो हरेर्दिदृक्षैव मोक्ष. कृष्णस्य चेद्ध्रुवम्॥"[१]

अर्थात्—पुष्टि-मार्ग में व्रजाधिपति श्रीकृष्ण की सर्वात्मभाव से सदा सेवा करना ही परमधर्म है, अन्य कोई धर्म कर्त्तव्य नही। यही धर्म है, यही काम है और यही मोक्ष है।

१ सुबोधिनी, दशम स्कन्ध

इसी प्रकार श्रीमद्भागवत के षष्ठ स्कन्ध में परिकर-सहित पुष्टि के स्वरूप का वर्णन किया गया है। श्रीमद्भागवत की सुबोधिनी मे आचार्य वल्लभ ने भागवत की पुष्टि-मार्गीय भक्ति का विवेचन किया है और उसकी टीका उन्होंने पुष्टि-मार्ग के तत्त्वों का विवेचन करने के लिए ही की है। श्रीमद्भागवत की भक्ति का विवेचन हम पीछे कर चुके हैं। उस भक्ति के स्वरूप मे पुष्टि-मार्ग के सभी तत्त्व आजाते हैं। आगे चलकर पुष्टि-मार्ग के आचार्यों ने सम्प्रदाय के सभी सिद्धान्तो की सगति श्रीमद्भागवत से ही लगाई है और इसीलिए पुष्टि-सम्प्रदाय मे भागवत की बहुत मान्यता है। आचार्य जी ने 'तत्त्वदीप-निबन्ध' में भागवत की उपयोगिता और श्रेष्ठता पर विशेष प्रकाश डाला है।

पुष्टि-मार्गीय सेवा

पुष्टि-सम्प्रदाय में सेवा का बड़ा महत्त्व है और वास्तव में सेवा-विधि सम्प्रदाय की अपनी मौलिकता है। सेवा के महत्त्व पर वल्लभाचार्य जी ने स्थान-स्थान पर लिखा है। 'सिद्धान्त-मुक्तावली' मे, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, आचार्य जी ने लिखा है .

'कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परामता।"[1]

अर्थात्—कृष्ण की सेवा सदा करनी चाहिये, वह सेवा मानसी होनी चाहिये, जो परा; अर्थात्—फल स्वरूपा है। फिर दूसरे श्लोक में सेवा का स्वरूप बतलाते हुए आचार्य जी कहते हैं, 'चेतस्तत्प्रवण सेवा', अर्थात्—'हरि मे चित्त का पिरोना ही सेवा है।' यह सेवा तन से और धन से करनी चाहिये। इससे अहता, ममता-स्वरूप ससार की निवृत्ति और भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान होता है। फिर सत्रहवें श्लोक मे आचार्य जी कहते हैं कि—'पुष्टि-मार्गीय भक्त को शुद्ध सेवा-भाव से युक्त होकर भगवान् के पूजोत्सवादि के स्थान पर रहना चाहिये।' इस प्रकार सेवा का महत्त्व वल्लभाचार्य जी ने स्थान-स्थान पर दिखाया है। उनके 'सेवाफल' नामक ग्रन्थ मे सेवा के तीन फल बतलाये हैं, अर्थात्—सेवा एक है, और फल तीन हैं। इसलिए सेवा के भी तीन प्रकार हैं। जो जिस प्रकार की सेवा करेगा, उसको वैसा ही फल प्राप्त होगा। वल्लभाचार्य जी लिखते हैं

'यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते।'[2]

सर्वोत्तम सेवा से प्रभु की अलौकिक सामर्थ्य से गौण और मुख्य सभी कामनाशादि फल प्राप्त होते हैं। मध्यम प्रकार की सेवा का फल सायुज्य है। सायुज्य के दो अर्थ हैं—१—प्रभु मे ऐक्य होना, और २—प्रभु के साथ गोप-पार्षद की तरह सहयोग। तीसरे प्रकार की सेवा से अधिकार-फल की प्राप्ति होती है। सेवोपयोगी अक्षरात्मक देह को अधिकार-फल कहते हैं। सेवा के समय यदि विघ्न उपस्थित हो और लौकिक भोगो मे आसक्ति बनी रहे, तो उन्हें दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। यदि प्रयत्न करने पर भी विघ्न दूर न हो, तो समझ लेना चाहिये कि प्रभु ही हमे फल देना नही चाहते हैं। ऐसी अवस्था मे भागवतादि का आश्रय लेकर ज्ञान-मार्ग मे ही रहना श्रेयस्कर है अथवा यह समझ लेना चाहिये कि अभी प्रभु ससार में ही रखना चाहते हैं। प्रभु जिस प्रकार से रखें, उस प्रकार से रहना भक्त का धर्म है।[3]

---

१ सिद्धान्त मुक्तावली, १

२ सेवाफल, १

३ सेवाफल, षोड्श-ग्रन्थ, रामनाथ शास्त्री

पुष्टि-मार्गीय सेवा के विषय पर हरिराय जी ने विशेष प्रकाश डाला है। श्री हरिराय मुक्तावली में हरिराय जी लिखते हैं, "तीन प्रकार की प्रभु-सेवा में मानसी सेवा ही फल-रूपिणी है और जो निरोध-रूपा भी है तथा वह व्रज भक्तों मे दिखाई देती है।"[१] हरिराय जी ने मानसी सेवा को भावात्मक माना है। शारीरिक सेवा में भक्त अपना शरीर भगवान् के लिए अर्पण करता है और वित्तजा में वह अपनी धन-सम्पत्ति को भगवान् के अर्पण कर देता है, परन्तु मानसी सेवा के विषय में हरिराय जी लिखते हैं—

वाह्यास्फूर्तौ वियोगेन रसे हृदयदेशगे।
रसात्मकप्रभोस्तत्र प्रादुर्भाव.स्वतो भवेत्।[२]

अर्थात्—जब भक्त के हृदय में भगवान् से मिलने की विकलता के कारण विप्रयोग उत्पन्न होता है, तब प्रभु हृदय में सम्पूर्ण लीला का अनुभव कराते हैं और फिर स्वतः ही रसात्मक प्रभु का प्रादुर्भाव हृदय में हो जाता है। इसी ग्रन्थ में हरिराय जी ने आगे लिखा है कि सेवा दो प्रकार की होती है—एक त्याग से और दूसरी अत्याग से। अत्यागवाली सेवा में भक्त धर्मानुसार अनासक्त भाव से गृहस्थाश्रम का पालन करता है और यथायोग्य प्राप्त द्रव्य से भगवान् की पूजा करता है। सेवा और पूजा; दोनों का भेद भी हरिराय जी ने स्पष्ट किया है—

सेवाया लौकिकी युक्तिस्तया स्नेहो नियामक·।
पूजाया तु विधि· स्नेहविरुद्ध इति निश्चय·।[३]

अर्थात्—सेवा में स्नेह के साथ लौकिक युक्ति से परिचर्या होती है तथा पूजा में शास्त्रानुकूल अर्चना की जाती है इसीलिये दोनो में अन्तर है। सेवा का एक अङ्ग गुरु-सेवा भी माना गया है। हरिराय जी ने सेव्य के लक्षण बतलाए हैं कि वह भक्तिमार्ग का अनुसरण करने वाला हो, कृष्ण-सेवा-परायण हो, भागवत के तत्व को जानने वाला हो तथा दम्भ इत्यादि से रहित हो। इस प्रकार हरिराय जी ने स्वमार्गीय सेवाफल, स्वरूप-निर्णय तथा स्वमार्गीय शरण समर्पण, सेवादि-निरूपण में सेवा के स्वरूप का पूरा विवेचन किया है। श्री वल्लभाचार्य जी का सेवा-विधि पर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ प्राप्त नहीं है। सेवा-विधि की साङ्गोपाङ्ग व्यवस्था गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने ही की, उन्होंने वल्लभाचार्य जी के अन्तरग शिष्य दामोदर हरसानी से सेवा-विधि का यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया था। 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' में यह बात विस्तार के साथ कही गई है। वल्लभाचार्य जी के समय में श्रीनाथ जी की सेवा का विधि-विधान बहुत साधारण था। शृङ्गार केवल पाग और मुकुट के द्वारा होता था। विट्ठलनाथ जी ने आठ शृङ्गारों की व्यवस्था की, अर्थात्—पाग, फेंटा, दुमाला, पगा, कुल्हे, सेहरा, टिपारा तथा मुकुट। इन शृङ्गारों के साथ भाँति-भाँति के वस्त्र और आभूषणों की भी व्यवस्था की गई और अनेक प्रकार के उत्सव भी प्रचलित हुए, जिनमें ठाकुर जी की झाँकी कराई जाती थी। भगवान् के स्वरूप के शृङ्गार के अतिरिक्त उनके भोग का भी विस्तार के साथ वर्णन हुआ। इसीलिए अन्नकूट और छप्पन भोग जैसे उत्सव प्रचलित

१ स्वमार्गीय सेवाफल, रूप निर्णय, श्रीहरिराय वाङ्मुक्तावली।
२ वही, श्लोक ४
३ वही, श्लोक ४८

हुए। शृंगार और भोग के अतिरिक्त राग के विस्तार की भी व्यवस्था हुई। ऋतु एव समय के अनुसार आठो झाँकियो में कीर्त्तन की व्यवस्था हुई, जिसके लिए उन्होने अष्टछाप की व्यवस्था की। पुष्टि-सम्प्रदाय के प्रचार में अष्टछाप का बड़ा महत्त्व है। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में लिखा है—

हे स्तोक कृष्ण हे अंशिन् श्रीदामन् सुबलार्जुन।
विशालर्षभ तेजस्विन् देवप्रस्थ वरूथप ॥[1]

अर्थात्—श्रीकृष्ण के आठ प्रधान सखा थे। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने अष्टछाप के आठो कवियो को ठाकुर जी के आठो सखाओ के रूप में माना और आठो झाँकियो मे भगवान् की कीर्त्तन-सेवा करने का आदेश दिया। इन आठो कीर्त्तनकारो के साथ आठ-आठ झालरिया भी रहते थे। इस प्रकार पुष्टि-सम्प्रदाय के साहित्य की गोस्वामी जी के काल में खूब वृद्धि हुई। अन्त समय में गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने श्रीकृष्ण की सात देव-मूर्तियो को जो उन्हें अपने पिताजी से सप्तनिधि के रूप मे प्राप्त हुई थी, अपने सातो पुत्रो में विभाजित कर दिया, जिन्होने उनकी पृथक्-पृथक् सेवा आरम्भ की। इन्ही सात स्वरूपो के कारण पुष्टि-सम्प्रदाय के सात गृहो अथवा सात पीठो का नामकरण हुआ है। विट्ठलनाथ जी के पश्चात् श्री गोकुलनाथ जी और श्री हरिराय जी ने सेवा-पद्धति का विस्तार से लेखन किया। हरिराय जी ने सेवा-विधि पर दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे, 'आह्निक' तथा 'भावना'। मथुरा निवासी मुखिया श्री रघुनाथ जी शिवजो ने श्री वल्लभ-सम्प्रदाय के पुष्टि-मार्गीय सातो घरों की सेवा-विधि का पूरा विवेचन 'श्री वल्लभ पुष्टि-प्रकाश' नामक ग्रन्थ मे किया है। इस ग्रन्थ के चार भाग हैं और सभी प्राचीन ग्रन्थो से सहायता लेकर इसका सकलन किया गया है। सक्षेप से पुष्टि-मार्गीय सेवा-विधि का क्रम हम इस प्रकार कह सकते हैं

१—पुष्टि-माग के अनुसार सेवा के दो प्रकार है—नाम सवा और स्वरूप सेवा। स्वरूप सेवा तीन प्रकार की है—तनुजा, वित्तजा और मानसी। मानसी सेवा भी दो प्रकार की है—मर्यादा-मार्गीय और पुष्टि-मार्गीय। मर्यादा-मार्गीय मानसी सेवा मे शास्त्रानुकूल मर्यादा-मार्ग पर चलते हुए भक्त भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा और आराधना करता हुआ अपनी अहता और ममता को दूर करता है। इसमें पहले आत्म ज्ञान की प्राप्ति आवश्यक है। पुष्टि-मार्गीय मानसी सेवा करने वाला प्रारम्भ से ही भगवान् के अनुग्रह की इच्छा करता है और शुद्ध प्रेम के द्वारा भगवान् की भक्ति करता हुआ भगवान् के अनुग्रह से ही सहज मे अपने अभीष्ट को प्राप्त कर लेता है।

२—पुष्टि-सम्प्रदाय की सेवा का अभिप्राय साधारण उपासना अथवा पूजा नही है। साधारण उपासना में तो श्रुति, स्मृति-विहित कर्म-काण्ड करने का प्राधान्य होता है और पुष्टि-मार्गीय सेवा मे भावना का प्राधान्य। इसलिए इस सेवा के दो स्वरूप हैं—एक क्रियात्मक और दूसरा भावात्मक। पुष्टि-मार्ग मे क्रियात्मक सेवा पर भी पूरा बल दिया गया है।

३—पुष्टि-मार्गीय सेवा-विधि के दो क्रम हैं—नित्य सेवा-विधि तथा वर्षोत्सव की सेवा-विधि। प्रातःकाल से शयन पर्यन्त की नित्य सेवा-विधि, और विशेष अवसरो पर की वर्षोत्सव की सेवा-विधि कही जाती है। नित्य सेवा-विधि मे वात्सल्य भक्ति की ही प्रधानता

१ भागवत दशम स्कन्ध, अध्याय २२, श्लोक ३१

है और उसके लिए आठ समय बताये गए हैं—(१) मंगला, (२) शृङ्गार, (३) ग्वाल, (४) राजभोग, (५) उत्थापन, (६) भोग, (७) सन्ध्या आरती, और (८) शयन। वर्षोत्सव की सेवा-विधि में श्रीकृष्ण के नित्य और अवतार-लीलाओं के उत्सव, छः ऋतुओं के उत्सव, लोक-व्यवहार और वैदिक पर्वों के उत्सव तथा अन्य अवसरों की जयन्तियाँ सम्मिलित हैं।

(४) नित्य और वर्षोत्सव; दोनों प्रकार की सेवा-विधियों के तीन मुख्य अङ्ग हैं—शृङ्गार, भोग और राग। साधारणतया मनुष्य इन्हीं तीनों सांसारिक विषयों में फँसा रहता है। उनसे मुक्ति पाने के लिए वल्लभाचार्य जी ने इन तीनों ही विषयों को भगवान् में लगा देने का उपदेश दिया जिससे ये भगवान् स्वरूप हो जायँ।

५—सेवा का मौलिक रूप वल्लभाचार्य जी ने बताया था, परन्तु उसकी व्यवस्था और विस्तार गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने किया। पुष्टि-मार्गीय सेवा के सेव्य श्रीकृष्ण हैं और श्रीनाथ जी को साक्षात् परब्रह्म माना गया है, क्योंकि श्रीनाथ जी में भगवान् श्रीकृष्ण के गोवर्द्धनधारी स्वरूप की भावना है। वल्लभाचार्य तथा गोस्वामी विट्ठलनाथ ने भगवान् के श्री नवनीत प्रिय स्वरूप को अपना आराध्य माना। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के अनन्तर भगवान् कृष्ण के सात और सेव्य-रूप सम्प्रदाय में प्रचलित हुए—(१) श्री मथुरेश जी, (२) श्री विट्ठलनाथ जी, (३) श्री द्वारकाधीश जी, (४) श्री गोकुलनाथ जी, (५) गोकुल चन्द्रमा जी, (६) बालकृष्ण जी, (७) मदन मोहन जी।

७—पुष्टि-सम्प्रदाय में जमुना जी का भी बड़ा महत्त्व है। वल्लभाचार्य जी ने *'यमुनाष्टक'* में श्री यमुना जी के स्वरूप और माहात्म्य का वर्णन किया है। श्री यमुना जी व्रज-जनों के चतुर्थ यूथ की स्वामिनी हैं। प्रभु का जो स्वरूप और उसमें जो गुण हैं, वे ही श्री यमुना जी में माने गए हैं। वे प्रभु की परम प्रिया हैं, इसलिये यमुना जी को कृष्ण में रति बढ़ाने वाली माना गया है।

सूरदास और पुष्टि-मार्ग

हम पहले कह चुके हैं कि पुष्टि-सम्प्रदाय के दो पक्ष हैं—सिद्धान्त-पक्ष, और सेवा-पक्ष। सिद्धान्त-पक्ष में ब्रह्म, जीव जगत् संसार, मोक्ष आदि का विवेचन होता है। वल्लभ-सम्प्रदाय में उसे शुद्धाद्वैत-सिद्धान्त कहा गया है। सेवा-पक्ष में तीन स्वरूप माने गए हैं—गुरु सेवा, सन्त-सेवा और प्रभु-सेवा। गुरु-सेवा और सन्त-सेवा से सम्बद्ध पद सूरसागर में बहुत हैं। गुरु की आवश्यकता सूरदास ने अनिवार्य बतलाई है और गुरु का स्थान भक्ति-धर्म में अत्यन्त उच्च माना है। गुरु-भक्ति भगवद्-भक्ति का प्रधान लक्षण है। सूर कहते हैं—

नर तैं जनम पाइ कहा कीनो।

× × × ×

श्रीमद्भागवत सुनि नहिं स्रवननि गुरु गोविन्द नहिं चीनो।[1]

जनम तौ बादिहिं गयौ सिराइ।

हरि सुमरन नहिं गुरु की सेवा मधुबन बस्यौ न जाइ।[2]

[1] सूरसागर (सभा) पद ६५

[2] वही, पद ३३८

सद्गुरु का उपदेश ही हृदय में धारण करना चाहिये, क्योंकि वह सकल भ्रम का नाशक होता है—

सतगुरु को उपदेश हृदय धरि, जिन भ्रम सकल निवारयौ।
हरि भज विलम्ब छाडि सूरज सठ, ऊँचे टेरि पुकारयौ।[1]

ससार मे माया रूपी भुजङ्गिनी बडा उत्पात मचाये हुए है। इसने मनुष्यो को डसकर अपने तीक्ष्ण विष का घातक प्रभाव डाला है। कोई मन्त्र काम नही कर सकता, केवल गुरु रूपी गारुडि कृष्ण रूपी मन्त्र के द्वारा विष को दूर कर सकता है—

अजहूँ सावधान किन होइ।
माया विषम भुजगिनी को विष उतरयौ नाहिन तोहि।
कृष्न सुमन्त्र जियावन मूरी, जिन जन मरत जिवायौ।
बारम्बार निकट सुवननि ह्वै गुरु गारुडी सुनायौ।[2]

पुरञ्जन की कथा के अन्त में सूरदास जी ने गुरु-महिमा का उल्लेख किया है और कहा है कि 'अपनापन अपने में ही प्राप्त हुआ, 'सतगुरु' ने भेद बताया तो शब्दरूप ब्रह्म का शब्द से ही उजाला हो गया।[3] इन्द्र और वृत्रासुर कथा के अनन्तर भी सूर ने गुरु-महिमा का प्रतिपादन किया है, कवि कहता है कि हरि और गुरु एक ही स्वरूप हैं और गुरु के प्रसन्न होने से हरि प्रसन्न होते हैं। गुरु के बिना सच्ची कृपा करने वाला कौन है? गुरु भवसागर में डूबते हुए को बचाने वाला और सत्पथ का दीपक है।[4] बाल-वत्स-हरण लीला के प्रसग मे भी सूर ने गुरु के ऋण को स्वीकार किया है—

हरि-लीला अवतार पार सारद नहिं पावैं।
सतगुरु कृपा प्रसाद कछुक तातैं कहि आवै।[5]

रास-प्रसग में भी कवि ने गुरु के महत्त्व को स्वीकार किया है और जब अक्रूर को कृष्ण ने अपने अलौकिक रूप के दर्शन कराये हैं, उस समय भी कवि ने गुरु का ऋण स्वीकार किया है। इस प्रकार सूर ने गुरु-सेवा और सन्त-सेवा का, जो पुष्टि-मार्गीय सेवा के महत्त्वपूर्ण अग हैं, विवेचन किया है। जहाँ तक प्रभु-सेवा का सम्बन्ध है, उसके दोनो ही रूप अर्थात्—नाम स्मरण और रूप-सेवा सूर में मिल जाते हैं। स्वरूप-सेवा के भी क्रियात्मक और भावात्मक दोनो रूप सूरसागर मे पाये जाते हैं। हम पहले कह आए हैं कि वल्लभ-सम्प्रदाय मे दीक्षित होने के अनन्तर सूरदास जी निरन्तर रूप से गोवर्द्धन पर श्रीनाथ जी के मन्दिर मे कीर्त्तन करते रहे। इसलिये पुष्टि-मार्गीय सेवा का जितना विकसित रूप हमे सूर मे मिलता है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। हमने यह भी कहा था कि पुष्टि-मार्ग में क्रियात्मक सेवा भी दो प्रकार की होती है—तनुजा और वित्तजा। भावात्मक सेवा को ही मानसी सेवा कहा गया है, जिसका उद्देश्य कृष्ण में ही अपने आपको पूर्णतया लगा देना है। पहले

१ सूरसागर (सभा) पद ३३६
२ वही, पद ३७५
३ वही, पद ४०७
४ वही, पद ४१६, ४१७
५ वही, पद ११९०

क्रियात्मक सेवा होती है, जिससे ब्रह्म-भावना मे दृढ़ता और मानसिक सेवा की सिद्धि होती है। गुरु-सेवा, सन्त-सेवा, आत्म-निवेदन, ये सब क्रियात्मक सेवा के ही रूप हैं, क्योंकि कृष्ण-सेवा से पहले उनके गुण, स्वरूप और माहात्म्य का ज्ञान आवश्यक है, उसके लिये सेवा के इस क्रियात्मक रूप की आवश्यकता है। भक्त को गुरु और ईश्वर के प्रति अभेद बुद्धि होनी चाहिये और सूरदास की बुद्धि इस उत्कर्ष पर पहुँच चुकी थी। इसलिये अन्तकाल मे चतुर्भुजदास ने कहा है—"जो सूरदास जी परमभगवदीय हैं और सूरदास जी ने श्रीठाकुर जी के लक्षावधि पद किये हैं, परन्तु सूरदास जी श्री आचार्य जी महा-प्रभु को जस-बरनन नाहीं कियो है।" इसको सुनकर सूरदास जी ने कहा है—

"जो मैं तो सगरो जस श्री आचार्य जी को ही बरनन कियो है, जो मैं कछु न्यारो। करतो। पर तैंने भी सो पूछी है, सो मैं तेरे पास कहत हौं। सो या कीर्तन के अनुसार सगरे कीर्त्तन जानियो। सो पद-राग विहागरो—

भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो।
"श्रीवल्लभ नखचन्द छटा बिनु सब जग माँह अँधेरो।
साधन और नही या कलि में, जासो होत निवेरो।
सूर कहा कहे दुर्विध आँधरो बिना मोल को चेरो।"[१]

इस प्रकार सूरदास ने गोवर्द्धनधारी भगवान् कृष्ण और गुरु के स्वरूप में कोई भेद अङ्गीकार नही किया है। आत्म-निवेदन और शरणागति भी पुष्टि-सेवा के क्रियात्मक रूप हैं, जिनका वर्णन हम पहले कर चुके हैं। पुष्टि-मार्ग मे नित्य सेवा-विधि और वर्षोत्सव-विधि का बडा महत्त्व है। नित्य सेवा-विधि प्रात काल से लेकर शयनपर्यन्त तक की होती है, जिसके आठ समय होते हैं, जिनका उल्लेख हम पहले कर आये हैं। हमने पीछे सूरसागर के दो सस्करणो का उल्लेख किया है—सग्रहात्मक तथा द्वादश स्कन्धात्मक का। आजकल जितने कीर्तन सग्रह प्राप्त हैं, वे प्राय सग्रहात्मक रूप में मिलते हैं जिनमें अष्टछाप के कवियो के कीर्तन-पदो का सग्रह, आठो झाँकियो के क्रम से दिया है। सूरसागर का सग्रहात्मक सस्करण भी प्राय. इसी क्रम पर है, जिसकी सूची हम दूसरे प्रकरण में दे चुके हैं। सूरदास जी के लिखे हुए सेवाफल नामक एक पद का भी उल्लेख मिला है, जिसे डा० दीनदयालु गुप्त ने सूरकृत ही माना है। हम इस पद को ज्यों का त्यो उद्धृत करते हैं—

भजो गोपाल भूलि जिनि जावो, मनुषा देह को यहि है ल्हावो।
गुरु सेवा करि भक्ति कमाई, कृपा भई तब मन मे आई:
यही देह सो सुमरो देवा, देह धारि करिए यह सेवा।
सुनो सन्त सेवा की रीति, करे कृपा मन राखे प्रीति।
उठि कें प्रात गुरुन सिर नावे, प्रात समैं श्रीकृष्णहि ध्यावे।
जोई फल माँगे सोई फल पावे, हरि चरनन में जो चित लावे।
जिन ठाकुर को दरसन कियो, जीवन जनम सुफल करि लियो।
जो ठाकुर की आरति करें, तीन लोक वाके पायन परें।
जो ठाकुर को करें प्रनाम, विष्णु लोक तिनको निजधाम।

१ सूरदास की वार्त्ता (अग्रवाल प्रेस, मथुरा) पृष्ठ ६०

जो हरि आगे वाद्य बजावै, तीन लोक रजधानी पावै।
जो जन हरि को ध्यान करावै, गरभ वास में कबहु न आवै।
जो हरि को नित करे सिंगार, ताको पूरन है अङ्गीकार।
जो दरपन ठाकुरहि दिखावै, चन्द सूर्य ताको सिर नावै।
जो ठाकुरहि सुतुलसी चढावै, ताको महिमा कहत न आवै।
जो कीर्तन ठाकुरहि सुनावै, ताको ठाकुर निकट बुलावै।
हरि-मन्दिर में दीपक धरै, अन्ध कूप में कबहु न मरै।
जो ठाकुर की सेज बिछावै, निज पद पाय दास सो कहावै।
पलना जो ठाकुरहि झुलावै, वैकुण्ठ सुख अपने घर लावै।
जो ठाकुरहि झुलावै डोल, नित लीला में करे कलोल।
उत्सव करि मन आरती करे, ता आधीन रहे श्री हरे।
जो ठाकुर को भोग धरावे, सदा परम नित आनन्द पावे।
जो पद दीन्ह यशोदा मात, ता सुख की कछु कही न जात।
ग्वालन सहित गोपाल जिमावें, सो ठाकुर के सखा कहावें।
जो ठाकुर को स्वाद करावे, सो ताको फल तब ही पावे।
गोवर्द्धन की लीला गावे, चरन कमल रज तब ही पावे।
श्री जमुना जल करे जो पान, सो ठाकुर के रहे सन्निधान।
जहाँ समाज वैष्णवी होवे, ताकी सगति नित प्रति जोवे।
श्रीभागवत सुनै आनन्दकरि, ताके हृदै बसें नित श्रीहरि।
जो ठाकुर को देह समर्पै, उत्तम श्रेष्ठ जानि कैं अरपै।
जिन हरि की गागर भरिआनी, तिन वैकुण्ठ अपनी स्थिति ठानी।
जो ठाकुर को मन्दिर लेपे, माया ताको कबहुँ न लेपे।
जो ठाकुर को सीधो बीने, जितने तीरथ तितने कीने।
जो ठाकुर की माला पोवै, सोई परम भक्त नित होवै।
जो ठाकुर को चन्दन लावै, त्रिविध ताप सताप मिटावै।
जो ठाकुर के पात्रन धोवै, सदा सरवदा निरमल होवै।
जो हरि कीर्तन सुख सो करै मुक्ति चारि हू पायन परै।
सेवा में जो आलस करै, कूकर ह्वै के फिर फिर मरै।
मनसा जो सेवा आचरै, तब ही सेवा पूरी परै।
सेवा को आश्रय करि रहै, दुख सुख वचन सब के सहै।
जो सेवा मे आलस लावै, सो जड जनम प्रेत को पावै।
वेद पुरानन में यो भाख्यौ, सेवा-रस व्रजगोपिन चाख्यौ।

सेवा की यह अद्‌भुत रीति, श्रीविट्ठलेश सो राखो प्रीति।
श्री आचार्य प्रभु प्रकट बनाई, कृपा भई तब मन में आई।
सेवा को फल कह्यो न जाई, सुख सुमेर श्री वल्लभराई।
सेवा को फल सेवा पावें, सूरदास प्रभु हृदै समावें।'[1]

इस पद में सूरदास जी ने क्रियात्मक और भावनात्मक और भावात्मक, दोनो ही सेवाओ का उल्लेख किया है और क्रियात्मक सेवा को मानसिक सेवा का साधन माना है तथा मानसिक सेवा का फल मानसिक सेवा ही है।

जिन आठो झाँकियो का हमने ऊपर उल्लेख किया है, उनका 'वल्लभ-पुष्टि-प्रकाश' में विस्तार के साथ विवेचन हुआ है। मगला-झाँकी में गुरुस्मरण तथा वन्दना आदि के पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूप को जगाया जाता है, फिर उनको कलेऊ कराया जाता है, जिसे मगल-भोग कहते है। अनन्तर मगला आरती होती है। यशोदा जी की भावनाओ से भावित होकर ये सब क्रियाएँ की जाती है। 'वल्लभ-पुष्टि-प्रकाश, ग्रन्थ मे ऋतु के अनुकूल वस्त्र और सामग्री आदि का भी वर्णन है।

शृङ्गार की झांकी मे मगला आरती के अनन्तर भगवान् के स्वरूप को उष्ण जल से स्नान कराया जाता है और फिर तैलादि लगाकर वस्त्र-आभरण आदि से स्वरूप को सुसज्जित किया जाता है, जिसके अनन्तर शृङ्गार-भोग होता है।

उसके पश्चात् ग्वाल-भाव मे घैया अरोगाई जाती है, जैसा कि 'वल्लभ-पुष्टि-प्रकाश' में लिखा है, "पाछे पूर्वोक्त रीति सो ग्वाल को घैया की तवकड़ी अरोगाय के उबरा घरके सद्य- फेन समर्पिये।"[2]

ग्वाल के अनन्तर राजभोग की झाँकी है। शीतकाल में भगवान् कृष्ण नन्दादिक के साथ घर में भोजन करते हैं और उष्ण काल मे यशोदा वन में भोजन-सामग्री भेजती है, जिसे छाक भी कहते है। इसके अनन्तर राज-भोग आरती है।

छः घड़ी दिन रहे जब प्रभु को जगाया जाता है, तो उसे उत्थापन कहते हैं तथा जगाने के अनन्तर जब फल-फूलादि का भोग आता है, तब वह भोग की झाँकी होती है। सध्या आरती की झाँकी में वन से गौओ को लेकर श्रीकृष्ण घर आते हैं। इनके अनन्तर आठवीं झाँकी शयन की है। पहले व्यास-शयन-भोग आता है, फिर दर्शन आरती होती है और इसके पश्चात् श्रीकृष्ण को पोढ़ाया जाता है। सूरदास जी ने इन आठो समय की झाँकियो को आधार मानकर अनेक पद लिखे हैं और सूरसागर का सग्रहात्मक सस्करण तथा नित्य-कीर्त्तन के सग्रह इस प्रकार के पदो के भण्डार है।

नित्य सेवा-विधि की भांति वर्षोत्सव-विधि भी पुष्टि-मार्ग में मान्य है। वर्षोत्सवो का क्रम हम पीछे दे चुके है। वर्षोत्सव-विधि पर भी सूरदास के अनेक पद हैं। सूरसागर में राम, नृसिंह और वामन-जयन्तियो का पूरा-पूरा वर्णन है।

१ नाथद्वार, निज पुस्तकालय की पोथी नं० ४६। ५
तथा कांकरोली विद्या-विभाग की पोथी न० ४२। १० सूरदासकृत सेवाफल

२ वल्लभ-पुष्टि-प्रकाश (वेंकटेश्वर प्रेस) पृष्ठ ५४

पुष्टि-मार्गीय सेवा के तीन अग हैं। भोग, राग और शृङ्गार। भोग का अभिप्राय यह है कि खान-पान आदि के उत्तम-उत्तम पदार्थ तैयार करके विधि-पूर्वक श्रीकृष्ण को समर्पित करना। भोग के अनन्तर वह पदार्थ प्रसाद हो जाता है। वल्लभाचार्य ने श्रीमद्भागवत के आधार पर ही इन अगो को महत्ता दी है और इन अगो से व्याप्त जीवन के सब क्रिया-कलापो को भगवान् को समर्पित कराया है, जिससे वे भगवद्भक्त हो जाते हैं। श्रीमद्भागवत मे लिखा है—

काम क्रोध भय स्नेहमैक्य सौहृदमेव च।
नित्य हरो विदधतो यान्ति तन्मयता हिते।[1]

अर्थात्—काम, क्रोध भय, स्नेह ऐक्य, सौहार्द; इनमें से कोई भी भाव यदि हरि के साथ लगाया जाय तो वह लौकिक रूप छोडकर ईश्वरमय हो जाता है। सूर ने भोग की विविध सामग्रियो और प्रकार का विशद विवेचन किया है। सूरसागर के पद १०१४ में इन सामग्रियो की एक सूची दी हुई है।

भोग की भाँति राग सगीत, जो कीर्त्तन-भक्ति का मुख्य अग है, सूरदास में अद्वितीय है। अपने सूरसागर मे उन्होने अनेक राग-रागनियो का प्रयोग किया है। 'सूरसारावली' में तो रागो की एक सूची ही दी हुई है, जिसमे ललित, पचम, षट्, मालकोस, मेघमालव, सारग, नट, भूपाली आदि ३८ राग गिनाये हैं।

हम पहले सकेत कर आये हैं कि गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने भगवान् के आठ शृंगारों की कल्पना की है, परन्तु वे आठो शृगार भगवान् के मस्तक के हैं। कण्ठ, हस्त, कटि, चरण और मुखादि अगो की भी कल्पना की गई। शृगारो के अतिरिक्त सम्प्रदाय में वस्त्रो का भी वर्णन है। सूरसागर में भगवान् कृष्ण के आठो शृगारों से सम्बन्ध रखने वाले पद मिलते हैं। कुछ पद सामूहिक शृगारों के भी हैं। निम्नलिखित पद उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है

एक हार मोहि कहा दिखावति।
नख-सिख लौं अग-अग निहारहु, ये सब कतहिं दुरावति।
मोतिनि माल जराइ को टीको, करनफूल नकबेसरि।
कठसिरी दुलरी तिलरी तर, और हार इक नौसरि।
सुभग हमेल कटाव की अँगिया, नगनि जरित की चौकी॥
बहुँटा कर-ककन बाजूबन्द, एते पर है तौकी।
छुद्र घँटिका पद नेपुर जेहरि, पग बिछिया सब लेखौ।
सहज अग शोभा सब न्यारी, कहत सूर ये देखौ॥[2]

पुष्टि-मार्ग की क्रियात्मक सेवा में सदाचार का भी महत्त्व है। सूर के पदों में स्थान-स्थान पर सत्सगति और सदाचार का वर्णन मिलता है। जहाँ कवि ने गुरु-सेवा और सत्सगति की महिमा का वर्णन किया है, वहाँ सदाचार का महत्त्व भी बताया है। शुद्धाचरण

१ श्रीमद्भागवत, १०। २९। १५
२ सूरसागर (ना० प्र० स०) २१५८

के बिना हरि की भक्ति सम्भव नहीं, इसलिए कवि ने विधि-निषेध में सदाचार का उपदेश दिया है। किन्तु विधि-निषेधमयी शिक्षाओं को सूर साधना-पथ की शिक्षाएँ मानते हैं, इसलिये वे भगवत्कृपा को सदाचार से अधिक महत्त्व देते हैं। यही कारण है कि दशम स्कन्ध में जहाँ कवि ने कृष्ण और गोपियों के रति-व्यापारों का वर्णन किया है, वहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि मानो सूरदास जी ने सदाचार की ओर से आँखें मूंद ली हैं, परन्तु प्रेम भक्ति-रस-विभोर भावुक भक्त का हृदय यह कभी नहीं मान सकता। भक्त का व्यापक उद्देश्य भक्ति को ही साध्य मानना है, साधनों को साध्य नहीं। हम यह भी बता चुके हैं कि दशम स्कन्ध में कवि का भक्ति-विषयक दृष्टिकोण परिवर्तित-सा दिखाई देता है, और इसलिये सदाचार आदि का जितना विवेचन सूर ने विनय के पदों में या पहले स्कन्धों में किया है, उतना दशम स्कन्ध में नहीं। फिर भी पुष्टि-मार्गीय परम्परा के अनुकूल उन्होंने सदाचार-तत्त्व को अपनाया है। मन कामना को जीते बिना सूरदास जी योग, यज्ञ, व्रत आदि को व्यर्थ मानते हैं और स्नान, तीर्थ, भजन और प्राणायाम को निरर्थक। अष्टांग योग आदि का खण्डन भी सूरदास ने सदाचार के आधार पर किया है।[1] वे कहते हैं, "मनुष्य के लिये कटु-वचन, पर-निन्दा, कुसंग, पाप से धन-सञ्चय, गुरु, ब्राह्मण, सन्त, सुजन का संग न करना, भगवद्भजन न करना और पर-पीडन करना, कुटुम्ब-सहित डूबने के कारण हैं।[2] नहुष, और इन्द्र-अहिल्या की कथाओं में उन्होंने पर-स्त्री-प्रेम का दुष्परिणाम दिखाया है तथा सदाचार की शिक्षा दी है।[3] मोहिनी रूप वाले प्रसंग तथा राजा पुरुरवा के वैराग्य की कथा में भी सूरदास जी ने नारी के कुसंग की निन्दा की है, फिर राजा अम्बरीष की कथा में भक्त के सदाचारपूर्ण कार्य-क्रम का उल्लेख किया है।[4] दशम स्कन्ध में सदाचार का उपदेश नगण्य-सा है। जहाँ कहीं श्रीकृष्ण ने गोपियों को सदाचार-पूर्ण मर्यादा-मार्ग अनुसरण करने का उपदेश दिया है, वहाँ उन्हें मुँह की खानी पड़ी है। गोपियाँ मर्यादा-मार्ग का प्रत्याख्यान करती हैं और दीनता पूर्वक भक्ति-भाव से कृष्ण की कृपा की याचना करती हैं। वास्तव में गोपियों द्वारा सूर ने भक्ति की अनन्यता एवं चरम-उत्कर्ष का प्रदर्शन कराके यह सिद्ध किया है कि भक्ति पाप-पुण्य की परिभाषाओं से परे है। कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का ध्यान तभी तक आवश्यक है, जब तक कि भक्ति की पूर्ण-आत्म-समर्पण वाली स्थिति प्राप्त नहीं होती। दशम स्कन्ध में सूरदास जी ने भक्ति की इसी पूर्ण स्थिति की ओर संकेत किया है। यही कारण है कि कृष्ण ने पातिव्रत-धर्म की ओर गोपियों का ध्यान आकर्षित करके उनकी परीक्षा ली और जब उन्हें उत्तीर्ण समझा, तभी उनके साथ रासलीला की। इसलिये गोपियों का जो सदाचार-अतिक्रमण दशम स्कन्ध में मिलता है, उसे हम सामान्य दृष्टि से नहीं देख सकते।

पुष्टि-मार्गीय भक्ति में प्रभु-सेवा से सम्बन्ध रखने वाले और भी कई अङ्ग हैं। हरिनाम-स्मरण का विवेचन पीछे हो चुका है। अनन्याश्रयत्व और भगवान् की भक्तवत्सलता भी इसी के अंग हैं। भगवान् की भक्तवत्सलता का वर्णन गत पृष्ठों में हो चुका है।

---

१ सूरसागर, (सभा) पद ३६२, ३६३, ३६४
२ वही, पद ३५८
३ वही, पद ४१८-४१६
४ वही, पद ४४८

सत्सग का महत्त्व भी सूर की भक्ति-साधना मे बताया जा चुका है। जहाँ तक अनन्याश्रयता का सम्वन्ध है, सूरदास जी अनन्य-भाव से श्रीकृष्ण के उपासक थे। यद्यपि उनकी आस्था भगवान् के सभी लीलावतारो तथा देवो मे थी, और उन्होने कृष्ण के अतिरिक्त राम, नृसिह और वामन आदि अवतारो का भी गुणगान किया है, तथापि उनका पूर्ण आत्म-समर्पण कृष्ण के प्रति ही हुआ है। उनके अनन्याश्रय के भाव को प्रकट करने वाले पदो में से हम केवल दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उडि जहाज को पछी, फिर जहाज पै आवै।
कमल नैन को छाँडि महातम और देव को ध्यावै।
परम गग को छाँडि पियासो दुर्मति कूप खनावै।
जिन मधुकर अम्बुज-रस चाख्यौ क्यो करील फल खावै।
सूरदास प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावै ?[1]

तथा—

मन में रह्यो नाहिन ठौर।
श्री नन्दनन्दन अछत कैसे आनिये उर और।
चलत चितवत द्यौस जागत सपने सोवत राति।
हृदय से वह मदन-मूरति छिन न इत उत जाति।
कहत कथा अनेक ऊधौ लोग लोभ दिखाय।
कहा करौं मन प्रेम पूरन, घट न सिन्धु समाइ।
स्याम गात सरोज आनन ललित मृदु मुख हास।
सूर उनके दरस कारन, मरत लोचन प्यास।[2]

पुष्टि-मार्गीय भक्ति में श्री वल्लभाचार्य और विट्ठलनाथ जी ने जाति-पाँति का कोई भेद नहीं रखा था। सूरदास जी ने भी अनेक पदो में ऐसे भाव प्रकट किये हैं कि भगवान् की भक्ति का द्वार सब के लिये उन्मुक्त है। वहाँ छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष और जाति-पाँति का कोई ध्यान नहीं। श्रीपति के दरबार में कोई जाति-पाँति नही पूछता। वे तो ऐसे पारस पत्थर हैं, जिनके स्पर्श से लोहे का खोट भी मिट जाता है। वे तो भाव के ही ग्राहक हैं।

सूरदास के पदो में दीनता भी स्थान-स्थान पर प्रदर्शित की गई है। पुष्टिमार्ग में हरि को सन्तुष्ट करने का एकमात्र उपाय दीनता है। सूरदास जी के विनय के पदों में दैन्य भाव का निर्मल स्रोत बहाने वाले अनेक पद हैं।

क्रियात्मक सेवा के पश्चात् भावनात्मक मानसी सेवा का प्रारम्भ होता है। इसका प्रारम्भ समर्पण क्रिया के पश्चात् मानना चाहिये, क्योंकि इसकी सिद्धि तनुजा और वित्तजा सेवा द्वारा एकादश इन्द्रियों और मन के विनियोग होने के अनन्तर हो सकती है। इसमे विशुद्ध प्रेम की प्रधानता है, इसीलिए इसका नाम प्रेम-लक्षणा-भक्ति, निर्गुणा-भक्ति, पर

१ सूरसागर (सभा) पद १६८
२ सूरसागर (सभा) पद ४३५०

भक्ति या शुद्ध-पुष्टि कहा गया है। गोपियाँ विशुद्ध प्रेम की प्रतीक हैं। इस प्रेम-भक्ति में आत्म-निवेदन के द्वारा ब्रह्म-सम्बन्ध कराया जाता है और फिर भक्त के लिए भगवान् के अतिरिक्त कुछ नहीं रहता, इसलिए सम्बन्ध-स्थापन, आत्म-निवेदन और शरण-गमन—इन तीनों के एकीकरण को ब्रह्म-सम्बन्ध कहा गया है। हम पहले कह आये हैं कि नवधा-भक्ति प्रेमलक्षणा-भक्ति में साधन है तथा प्रेम की सिद्धि विरह से होती है, क्योंकि विरह में भक्ति की अनन्यता की पुष्टि हो जाती है। सूरदास जी ने नवधा-भक्ति का जो विवेचन किया है, उसका वर्णन हम पीछे कर चुके हैं। इनका विरह-वर्णन भी हिन्दी-साहित्य में बेजोड़ है।

पुष्टि-मार्ग में जो तीन आस्थाएँ मानी गई हैं, उनका वर्णन भी सूरदास के पदों में मिलता है। वे तीन अवस्थाएँ हैं—स्वरूपासक्ति, लीलासक्ति और भावासक्ति। भावासक्ति और स्वरूपासक्ति का विवेचन हम ग्यारह आसक्तियों में कर चुके हैं। लीलासक्ति का अभिप्राय कवि के उन लीला-वर्णनों से है, जिनमें कवि ने अपनी पूरी तल्लीनता दिखलाई है। वास्तव में सारा सूरसागर भगवान् के लीला-सम्बन्धी पदों का संग्रह है। सूरदास जी को वल्लभाचार्य जी ने लीलापद गाने का उपदेश दिया और उन्होंने नन्दालय से लेकर भगवान् की सारी व्रज-लीलाओं का वर्णन किया है। भगवान् कृष्ण की विविध लीलाएँ भक्त की तन्मयता के सुलभ और स्वाभाविक साधन हैं, जिनमें इन्द्रियों की वृत्तियाँ केन्द्रीभूत हो जाती हैं। सूरदास की गोपियाँ आदर्श भक्त हैं और कृष्ण के रूप-माधुर्य तथा उनकी विविध लीलाओं का वर्णन उनके काव्य का प्रधान विषय है। भगवान् के लीलाधाम में सूर की इतनी आसक्ति है कि वे उसे छोड़कर अन्यत्र नहीं जाना चाहते और वस्तव में वे व्रजधाम को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं गए।

जहाँ तक सूर की भक्ति का सम्बन्ध है, उसके विविध अङ्गों पर हम पिछले प्रकरण में प्रकाश डाल चुके हैं। इस प्रकार सूर में पुष्टि-मार्गीय भक्ति के प्रायः सभी तत्त्व मिल जाते हैं, यद्यपि सूरसागर में स्पष्ट रूप से पुष्टि-मार्ग का उल्लेख नहीं है। द्वारकादास परीख ने अपने 'सूर-निर्णय' नामक ग्रन्थ में लिखा है—

"सूरदास जी की प्रायः समस्त रचनाएँ पुष्टि-मार्गीय सिद्धान्तों के अनुकूल हैं। ऐसा होने पर भी कुछ विद्वानों ने आश्चर्यपूर्वक लिखा है कि सूरदास ने पुष्टि-मार्ग का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं किया है। हिन्दी-साहित्य के अनेक विद्वानों ने सूरदास की रचनाओं का भली-भाँति अध्ययन नहीं किया है, इसीलिये उनका सूरदास-विषयक मत कभी-कभी भ्रमात्मक हो जाता है।"[1]

सूर-निर्णय के लेखकों ने सूरदास के ऐसे पदों को उद्धृत भी लिखा है, जिनमें पुष्टि-मार्ग का स्पष्ट उल्लेख है। उनमें से एक पद नीचे दिया जाता है—

हरि मैं तुम सों कहा दुराऊँ।
जानत हौं पुष्टि पथ मोसों कहि-कहि प्रगटाऊँ।
मारग-रीति उदर के काजें सीख सकल भरमाऊँ।
अति आचार चारु सेवा करि नीके करि-करि पंच रिझाऊँ।[2]

---

१ सूर-निर्णय (अग्रवाल प्रेस, मथुरा) पृ० १६६
२- सूरनिर्णय से उद्धृत।

लेखक महोदयो ने इस प्रकार के उदाहरण देकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि सूरदास जी ने अपनी रचनाओ मे पुष्टि-मार्ग का प्रत्यक्ष उल्लेख किया है तथा यह भी सिद्ध करने की चेष्टा की है कि सूरदास की समस्त रचनाएँ पुष्टि-मार्ग के सिद्धान्त के अनुकूल हैं। हम उनकी दोनो बातो से सहमत नही हैं। सूरदास जी के जो उद्धरण उन्होने दिये हैं, उनके हम सूरदास जी के होने में ही सन्देह करते हैं। दूसरे, सूरदास जी को पुष्टि मार्ग का प्रत्यक्ष उल्लेख अपनी रचनाओं मे करने की आवश्यकता भी नही थी। पुष्टि-मार्गीय सेवा उनका परम धाम था और उनका जीवन स्वय पुष्टि-मार्ग की व्याख्या था। इसलिये उनकी रचनाओ में पुष्टि-मार्ग का उल्लेख होने अथवा न होने से अन्तर नही पडता। जहाँ तक रचनाओ का प्रश्न है, हमे यह मानना ही पडेगा कि उनकी बहुत-सी रचनाएँ पुष्टि-मार्ग में दीक्षित होने से पहले की भी हैं, परन्तु इसमें कोई सन्देह नही कि सूरदास जी की रचनाओं में सभी पुष्टि-मार्गीय तत्त्व आ गये हैं। श्रीनाथ जी, नवनीत प्रिय जी और मथुरेश जी, जो पुष्टि-मार्ग के प्रधान स्वरूप हैं, सभी का वर्णन सूर की रचनाओ मे मिल जाता है। इस प्रकार सूरदास जी पुष्टि-मार्ग के स्तम्भ कहे जा सकते हैं। 'वार्त्ता साहित्य' मे हमें इस बात का साक्ष्य मिल जाता है कि सम्प्रदाय में सूरदास जी की बडी मान्यता थी। वे 'अष्टसखान' में से एक थे, अष्टछाप के आठो महानुभाव श्रीनाथ जी के अन्तरग सखा माने गये हैं, जो उनकी नित्य-लीला मे सदा उनके साथ रहते हैं। पुष्टि-सम्प्रदाय में ऐसी मान्यता है कि जब सवत् १५३५ में श्रीनाथ जी का प्राकट्य हुआ, तभी से सखा भी उनकी सेवा करने के लिये भूतल पर प्रकट हुए। श्री हरिराय जी ने 'अष्टसखान' वार्त्ता पर 'भाव-प्रकाश' नामक टिप्पणी लिखी है, जिसमें उन्होने अष्टसखान के साम्प्रदायिक महत्त्व का विवेचन किया है। 'अष्टछाप-परिचय' मे इस विषय में यह लिखा है

"गिरिराज तलहटी नित्य-लीला भूमि है। यहाँ श्रीनाथ जी स्वामिनी-सहित नित्य-लीला करते हैं और ये आठो सखा उनकी लीलाओ में आठो पहर उनके साथ रहते हैं। अष्ट सखाओ के लीलात्मक स्वरूपो की दो प्रकार की स्थिति है, वे दिन में ठाकुर जी के सखा रूप से उनकी वन-लीला का सुख प्राप्त करते हैं और रात में स्वामिनी जी की सखी रूप से निकुञ्ज लीला के सुख का अनुभव करते हैं। गिरिराज नित्य निकुञ्ज के आठ द्वार हैं और अष्टछाप के आठो सखा इनके अधिकारी हैं। वे इन द्वारों पर रहते हुए ठाकुर जी की सेवा सदैव करते रहते हैं। लौकिक लीलाओ में वे भौतिक शरीर से उन द्वारो पर स्थित रहते हैं और लौकिक लीला की समाप्ति पर अपने भौतिक शरीर को त्याग कर अलौकिक रूप से नित्य-लीला में विराजमान रहते हैं। पुष्टि-सम्प्रदाय की भावना के अनुसार अष्ट-छाप की लीलाओ का उभय स्वरूप, उनकी लीलासक्ति और उनके अधिकृत द्वारो का विवरण इस प्रकार है

स०	अष्ट-सखा	लीलात्मक रूप	लीलासक्ति	अधिकृत द्वार
१	कुम्भनदास अर्जुनसखा,	विशाखा सखी	निकुंज-लीला	आन्योर
१	सूरदास कृष्णसखा	चपकलता सखी	मान-लीला	चन्द्र सरोवर
३	परमानददास लोकसखा,	चन्द्रभागा सखी	बाल-लीला	सुरभि कुण्ड
४	कृष्णदास ऋषभसखा,	ललिता सखी	रास-लीला	बिलछू कुण्ड

५	गोविन्द स्वामी श्रीदामा सखा,	भामा सखी	आँख मिचौनी	कदम खण्डी
६	छीतस्वामी सुबल सखा,	पद्मा सखी	जन्म लीला	अप्सरा कुण्ड
७	चतुर्भुजदास विशाला सखा,	विमला सखी	अन्नकूट लीला	रुद्रकूट
८	नन्ददास भोजसखा,	चन्द्ररेखा सखी	किशोर लीला	मानसी गंगा[1]

पुष्टि-सम्प्रदाय के ये आठो महानुभाव दैवी जीव माने जाते हैं। वार्त्ता से यही ज्ञात होता है कि उनको श्रीनाथ जी का साक्षात्कार भी प्राप्त था। उत्थापन-झाँकी के प्रमुख कीर्त्तनकार सूरदास जी थे। उनका इन सब सखाओं में विशेष महत्त्व है। साहित्य और कला की दृष्टि से परमानन्द स्वामी और सूरदास जी को सम्प्रदाय में सागर बताया गया है, परन्तु अष्टछाप का वास्तविक गौरव सूरदास के कारण ही है। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने सूरदास को पुष्टि-मार्ग का जहाज बताया है। सूरदास की वार्त्ता में लिखा है

"सो तब श्री गुसाईं जी आप श्रीमुख सों सगरे वैष्णवन सों आज्ञा किये—जो पुष्टि-मारग को जहाज जात है, जो जाको कछु लेनो होइ सो लेउ और उहाँ जायके सूरदास जी को देखो।"[2]

हरिराय जी की भावना के अनुकूल जहाज का आशय यह है कि जिस प्रकार किसी जहाज में कोई व्यापारी व्यापार के लिये अनेक वस्तुओं को भरता है, उसी प्रकार सूरदास जी के हृदय में नाना प्रकार की अलौकिक वस्तुएँ भरी हैं। श्री चतुर्भुजदास जी ने अन्त समय में सूरदास जी से पूछा है

'जो सूरदास जी तुम बिन अलौकिक भाव कौन दिखावें, जो अब थोरे में श्रीआचार्य जी को यह पुष्टि-मारग है ताको स्वरूप सुनावो, सो कौन प्रकार सों पुष्टि-मारग के रस को अनुभव करियें। वा समय सूरदास जी ने यह पद गायो। सो पद

राग सारंग

भज सखि भाव भावकि देव।
कोटि साधन करो कोऊ, तोऊ न मानै सेव।
धूमकेतु कुमार भाग्यो, कौन मारग प्रीति।
पुरुष ते तिय भाव उपज्यो, सबै उलटी रीति।
बसन भूषन पलटि पहर, भाव सों सजोय।
उलटि मुद्रा दई अङ्कन, बरन सूधे होय।
वेद विधि को नेम नहि, जहाँ प्रेम की पहिचान।
ब्रजबधूवस कियो मोहन, सूर चतुर सुजान।
सो पद सूरदास जी ने सारे वैष्णवन को सुनायो।[3]

अन्तकाल में गुसाईं विट्ठलनाथ जी ने स्वयं सूरदास जी से पूछा, "हे सूरदास जी, इस समय आपकी चित्तवृत्ति कहाँ है?" उस समय सूरदास जी ने ये पद गाये :

---

[1] अष्टछाप-परिचय (अग्रवाल प्रेस, मथुरा) पृष्ठ १८, ६६
[2] सूरदास की वार्त्ता प्रसङ्ग ११ (अग्रवाल प्रेस, मथुरा)
[3] वही ११ (अग्रवाल प्रेस, मथुरा)

राग विहागरी

बलि-बलि हौं कुँवरि राधिका, नन्द सुवन जासो रति मानी।
वे अति चतुर तुम चतुर सिरोमनि, प्रीत करी कैसे रही छानी।
वें जु धरति तन कनक पीतपट, सो तौ सब तेरी गति ठानी।
ते पुनि स्याम सहज वे शोभा, अम्बर मिस अपने उर आनी।
पुलकित अङ्ग अब ही ह्वं आयौ, निरखि देखि निज देह सयानी।
सूर सुजान सखी कैं वूझैं, प्रेम प्रकास भयौ विहसानी।

तथा

राग विहागरी

खञ्जन नैंन रूपरस माते।
अतिसै चारु चपल अनियारे, पल पिंजरा न समाते।
चलि चलि जात निकट स्रवननि के, उलट-पलटि ताटँक फँदाते।
सूरदास अञ्जन गुन अटके, नतर अबहि उडि जाते।[1]

इन पदो के गाने के अनन्तर सूरदास जी ने युगल स्वरूप का ध्यान करके इस लौकिक शरीर को छोड दिया। इस प्रकार सूरदास जी की वार्त्ता के अन्त मे लिखा है

'या प्रकार सूरदास जी मानसी सेवा में सदा मगन रहते। तातें इनके माथे श्री आचार्य जी ने भगवत्सेवा नाही पधराये। सो काहे तें जो सूरदास को मानसी सेवा में फल रूप अनुभव है। सो ये मदा लीला-रस मे मगन रहत हैं।"[2]

सूरदास जी की वार्त्ता में दैन्य और परोपकार का बडा महत्त्व बताया है और अन्त॰ साक्ष्य और वाह्य-साक्ष्य से स्वत ही सिद्ध हो जाता है कि सूरदास जी में पुष्टि-मार्ग के सभी तत्त्व विद्यमान थे और उन्होंने अपने गुरु वल्लभाचार्य जी के वचनो का अनुसरण करके उनकी भक्ति-भावना को स्पष्ट करने के लिए अधिकांश पदों की रचना की।

पुष्टि-मार्गीय तत्त्वो की दृष्टि से श्रीमद्भागवत को सूरसागर की तुलना में नही रखा जा सकता। यह बात अवश्य है कि वल्लभाचार्य जी ने पुष्टि-मार्गीय भक्ति का सूत्र श्रीमद्भागवत से ही ग्रहण किया था और भागवत के दस लक्षणो को बताते हुए भागवतकार ने 'पोषण तदनुग्रह' कहा भी है। इस अनुग्रह का वर्णन, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, विशेष रूप से भागवत के छठे स्कन्ध में हुआ है। इसलिये इस स्कन्ध का पुष्टि-सम्प्रदाय में विशेष महत्त्व है। पुष्टि-सम्प्रदाय के सभी तत्त्व भागवत मे मिल जाते हैं परन्तु उनका स्वरूप इस प्रकार साम्प्रदायिक नही है, जैसा कि वल्लभ-सप्रदाय में। भागवत की भक्ति का विवेचन करते हुए हमने प्राय उन सभी तत्त्वों का विवेचन किया है, जो पुष्टि-मार्ग में गिनाये गये हैं। पुष्टि-मार्ग में भागवत की भाँति भगवान् श्रीकृष्ण को ही सेव्य माना है। अन्तर केवल इतना है कि पुष्टि-मार्ग में भगवान् कृष्ण के सयोग-विप्रयोगात्मक-शृङ्गार-रसरूप को महत्व प्रदान किया गया है और यशोदोत्सग-लालित श्रीकृष्ण पुष्टि-मार्गीय भक्त के आराध्य देव माने गये है। पुष्टि-

१ सूरदास की वार्त्ता प्रसङ्ग ११ (अग्रवाल प्रेस, मथुरा) पृष्ठ ६३, ६४

२ वही पृष्ठ ६५

मार्ग में इन्हीं स्वरूपों की सिद्धि पूर्णतया की गई है और श्री स्वामिनी जी को रमण का मुख्य साधन माना है तथा उनके अनन्तर उनकी सखियों को। शृङ्गार-रस की उद्दीपन-सामग्री वृन्दावन-गोवर्द्धन, यमुना तट आदि को माना है। पुष्टि-मार्ग में सारस्वत-कल्प की लीला का महत्त्व दिया है, क्योंकि कहा जाता है कि सारस्वत-कल्प में ही श्रीकृष्ण का पूर्णावतार था: श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश श्वेत वाराह-कल्प में दिया था। उस कल्प में पुरुषोत्तम का आविर्भाव सकर्षण व्यूह में माना गया है। सारस्वत कल्प की लीला को पुष्टि-मार्ग के अनुकूल भागवत में माना गया है और पुष्टि-मार्ग की उत्पत्ति श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत से मानी है। यह पुष्टि-मार्ग फलरूप है। 'तत्त्वार्थदीप-निबन्ध' के 'भागवतार्थ-प्रकरण' में वल्लभाचार्य ने अलग-अलग प्रकरण मानकर भागवत की व्याख्या की है।

पुष्टि-मार्ग की स्वरूप-भावना, लीला-भावना तथा भाव-भावना—तीनों भावनाओं की सगति श्रीमद्भागवत से लगाई गई है। स्वरूप- भावना का अर्थ स्वरूप-स्थिति-भावना है। श्री जी स्वरूपात्मक और श्रीमद्भागवत पुस्तक लीलात्मक मानी गई है। भागवत के प्रथम और द्वितीय स्कन्ध दो चरणारविन्द, तृतीय और चतुर्थ स्कन्ध दो ऊरु, पचम और पष्ठ स्कन्ध दो जघाएँ, सप्तम स्कन्ध दक्षिण हस्त, अष्टम और नवम स्कन्ध दोनों स्तन, दशम स्कन्ध हृदय, एकादश स्कन्ध मस्तक, द्वादश स्कन्ध वाम हस्त तथा श्री जी दक्षिण हाथ की मुट्ठी बांधकर अगूंठे का प्रदर्शन कराती हैं, जिससे भक्तों के मन का आकर्षण करती हैं। 'वल्लभ-पुष्टि-प्रकाश' के तृतीय भाग में भगवान् के सब स्वरूपों की विस्तृत व्याख्या की गई है और उनकी संगति श्रीमद्भागवत से लगाई गई है।

हम पहले ही कह चुके हैं कि पुष्टि-मार्ग में प्रेम-भक्ति ही साध्य है और वैधी-भक्ति साधन-स्वरूपा है। श्रीमद्भागवत में प्रेम-भक्ति को ही परा-भक्ति कहा गया है। इसलिए पुष्टि-भक्ति के प्रेम-तत्त्व के सूत्र का आधार श्रीमद्भागवत् ही कहा जा सकता है।

सत्ससग-महिमा, भक्त-महिमा, गुरु-महिमा आदि का वर्णन श्रीमद्भागवत में स्थान-स्थान पर हुआ है, परन्तु सेवा-पक्ष और विशेषकर सेवा-विधि पुष्टि-सम्प्रदाय की अपनी है। पुष्टि-सम्प्रदाय में सेवा-विधि के विस्तार का एक और भी कारण था। उस समय मुगलों के वैभव-पूर्ण तथा विलासी जीवन के कारण हिन्दू-समाज अवनति की ओर जा रहा था, पुष्टि-सम्प्रदाय की सेवा-पद्धति ने हिन्दुत्व को रखने में बडी सहायता दी। इस वैभव के समक्ष हिन्दू-समाज ने यवन-वैभव को भी तुच्छ समझा और अपने स्वाभिमान को ठेस न लगने दी। श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में भगवान् की पूजा-विधि का वर्णन हुआ है। हम उस पूजा-विधि को सेवा का रूप न देकर उपासना का ही रूप देंगे। वल्लभाचार्य के समय में और सम्प्रदायों में भी सेवा-विधियाँ प्रचलित थी। व्रज में ही कुछ ऐसे सम्प्रदाय थे, जिनमें सेवा का बड़ा महत्त्व था। वल्लभाचार्य जी ने अपनी सेवा-विधि में प्राय सभी का समन्वय प्रस्तुत किया और उनके अनन्तर उनके सुपुत्र विट्ठलनाथ जी ने उसको व्यवस्थित रूप दिया।

सूरदास जी की भक्ति साधना जहाँ एक ओर भागवत की भक्ति से प्रभावित है, वहाँ दूसरी ओर कवि वल्लभ सम्प्रदाय की मर्यादा का भी यथावत् पालन करता है। वह स्वय एक उच्च कोटि का भक्त है और समाज पर पड़े विदेशी विलासिता के प्रभाव से वह अनभिज्ञ नहीं है। इसके अतिरिक्त अनेक मत-मतान्तरों और सम्प्रदायों के जाल भी उनको

दृष्टि से ओझल नहीं हैं। सूरदास की रचनाओं में इन सभी परिस्थितियो और मर्यादाओं का समन्वय है। पुष्टि-मार्गीय तत्वो का उन्होंने बडा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। कृष्ण-चरित्र में अत्यधिक अतिमानवता का स्वभाव से ही निषेध करके कवि ने पुष्टि-मार्गीय भक्ति को सर्व-साधारण के लिये सुगम बनाने का प्रयत्न किया है, इसलिये सूरदास न तो वैष्णव-आलकारिकों के बन्धन में बँधे, न ही उन्होने भागवत का ही गुण-गान किया और न ही वल्लभाचार्य जी द्वारा प्रतिपादित पुष्टि-भक्ति का विवेचन अपना कर्त्तव्य समझा। इसलिये सूरदास पुष्टि-सम्प्रदाय में दीक्षित होते हुए भी साम्प्रदायिकता से बहुत दूर थे और भागवत का अनुसरण करते हुए भी भागवत-निरपेक्ष थे। उनका अपना अलग व्यक्तित्व है। उनका काव्य एक महान् सागर है, जिसमे अनेक प्रकार के रत्न छिपे हैं। मरजीवा बनकर कोई चाहे तो उन्हें निकालने का प्रयत्न कर सकता है।

एकादश अध्याय

सूर का काव्य-पक्ष

आलोचना का सामान्य रूप

आजकल प्रत्येक कवि के काव्य को आलोचना की कसौटी पर कसने का रिवाज-सा हो गया है। आलोचना के जो मानदण्ड निर्धारित किये गए हैं, उनमें प्राधान्य पाश्चात्य प्रणाली का ही है। यद्यपि काव्य-शास्त्र की परम्परा भारतवर्ष में भी पूर्णता को पहुँची हुई थी, तथापि इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि समालोचना के क्षेत्र में पाश्चात्य विद्वानों की विशेष देन है। आलोचना का रूप यूनानियों से तथा उसका श्रीगणेश 'होमर' से प्रारम्भ हुआ। होमर ने आलोचना-क्षेत्र में पथ-प्रदर्शन के लिए अनेक संकेत और सिद्धान्त निश्चित किये। साहित्य का उद्देश्य मनुष्यों को सत् की ओर प्रवृत्त करना बतलाया गया। प्लेटो ने साहित्य को उपदेशात्मक मान कर समालोचना में आदर्शवादिता का समावेश किया। वह लौकिक सत्य को अलौकिक सत्य की ही छाया मानता था और उसी कला को उत्कृष्ट मानता था, जो नैतिक और दार्शनिक सत्य पर आधारित हो। अरस्तू ने कल्पना का संयोग करके कला का स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित किया। प्लेटो ने उसमें सुन्दर और शिव का समन्वय किया था, अरस्तू ने सुन्दर को शिव से अधिक महत्त्व दिया और कला के सत्य को भाव का सत्य बताया। इस प्रकार कला में रूप-सौष्ठव की प्रतिष्ठा हुई। रोम वालों ने यद्यपि यूनानियों का अनुकरण किया, तथापि उन्होंने कला की उपयोगिता पर विशेष बल दिया। रोम के आलोचकों में 'हॉरेस' का नाम उल्लेखनीय है, जिसने साहित्य को ही प्रधान हित माना है। मध्य-युग के विचारकों ने कविता और कला को विशेष महत्त्व नहीं दिया। काव्य को उन्होंने केवल बुद्धि का विलास बताया और उसे पद्यकृत कल्पित-कथा कहकर चलते बने। सन्त आगस्टिन, डांटे आदि इसी प्रकार के आलोचक हैं। डांटे ने रूप-सौष्ठव पर विशेष बल दिया और पद्य की अपेक्षा गद्य को ही भाषा की आन्तरिक शक्ति का प्रतीक माना है।

पुनरुत्थान काल में यूरोप में अन्य विचारों के प्रसार के साथ-साथ आलोचना को भी नई गति मिली। इस क्षेत्र में इटली ने नेतृत्व किया। फ्रांस में समालोचना का रूप भी व्यवस्थित हुआ और वहाँ शास्त्रीय आलोचना का श्रीगणेश हुआ। वहाँ के आलोचकों ने साहित्य के विभिन्न अंगों को लेकर विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की। आलोचना के इस शास्त्रीय पक्ष का प्रभाव अंग्रेजी-आलोचना पर भी पड़ा और इंगलैंड में भी आलङ्कारिकता, रूप-शैली, भाषा, पद-योजना आदि पर विचार किया गया। अंग्रेज आलोचकों में सिडनी, बेन जानसन और पोप के नाम उल्लेख योग्य हैं। फ्रांसीसी आलोचकों में वोयलो, रेपिन और लेबोस्सू विशेष प्रसिद्ध हुए। १८वीं शताब्दी में इसी प्रकार की आलोचना का उत्थान जर्मनी में भी हुआ; कान्ट और गेटे ने इस ओर विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य किया। कान्ट, सौन्दर्य को विशेष

सू०—३६

महत्त्व देता है और उपयोगिता से उसका सम्बन्ध नही बताता, जबकि गेटे कला और कविता मे व्यक्तित्व को ही प्रधानता देता है और शैली को ही लेखक की अन्तरात्मा की अभिव्यक्ति बताता है। इसके साथ-साथ श्रेष्ठ कविता मे उसने वास्तविकता को महत्त्व दिया है और उसका वाह्य ससार से भी सम्बन्ध बताया है। अठारहवी शताब्दी मे यूरोप में आलोचना-क्षेत्र में एक क्रान्ति हुई और उसके सिद्धान्तो में एक-रूपता न रही। आलोचना की शास्त्रीय पद्धति का विरोध हुआ, कलाकार के लिये कोई बन्धन स्वीकार न किया गया तथा कला और प्रकृति का सम्बन्ध स्थापित किया गया। उन्नीसवीं शताब्दी तक आते-आते आलोचना का और भी विकास हुआ। कार्लाइल, रस्किन, पेटर आदि उन्नीसवी शताब्दी के मुख्य आलोचक हैं। इन आलोचको ने एक प्रकार से अपने पूर्ववर्ती सिद्धान्तो का समन्वय किया तथा रोमान्सवाद व शास्त्रीयता के सामञ्जस्य की पृष्ठ-भूमि पर आलोचना के सिद्धान्त आधारित किये।

आधुनिक आलोचना-शास्त्र पर सर्वाधिक प्रभाव आई० ए० रिचर्ड्स और क्रोचे का है। क्रोचे ने अपने 'Principles of Literary Criticism' नामक ग्रन्थ मे अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। उन्होंने काव्य के सत्य, शिव और सुन्दर की व्याख्या की है। क्रोचे और रिचर्ड्स बहुत-सी बातो मे एक-मत हैं, परन्तु भावो की प्रेषणीयता के प्रश्न पर उनका मत-वैभिन्य है।

भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा वैदिक काल से ही मानी जाती है, क्योकि वेद-मन्त्रों में भी हमे अलङ्कारों, प्राकृतिक दृश्यो तथा व्यग्यात्मक शैली आदि के दर्शन होते हैं। भरत के नाट्य-शास्त्र में रस-सिद्धान्त और गुण-अलङ्कारादि का विवेचन हुआ है। नाट्य-शास्त्र की रचना से प्रतीत होता है कि उससे पहले भी काव्य-शास्त्र के ग्रन्थों की सृष्टि हो चुकी थी, निरुक्त में तो कही-कहीं गुण-दोष-निरूपण की पद्धति के दर्शन होते ही हैं। पुराणो में भी काव्य-शास्त्र के नियमों का उल्लेख मिलता है। ईस्वीय सन् ६०० के पश्चात् तो यहाँ काव्य-शास्त्र विषयक अनेक ग्रन्थ लिखे गये, जिनमें भामह का काव्यालकार, दण्डी का काव्यादर्श, उद्भट का अलकार-सार-सग्रह, वामन का काव्यालकार-सूत्र, रुद्रट का काव्यालकार, आनन्द वर्द्धन का ध्वन्यालोक, राजशेखर की काव्य-मीमासा, कुन्तक का वक्रोक्तिजीवित, धनञ्जय का दश-रूपक, मम्मट का काव्य-प्रकाश, रुय्यक का अलङ्कार-सर्वस्व, विश्वनाथ का साहित्य-दर्पण और पण्डितराज जगन्नाथ का रस-गङ्गाधर प्रसिद्ध हैं। भारतीय परम्परा में आलोचना को पाश्चात्य ढग से विभाजित नही किया गया है। यहाँ के आचार्यो ने काव्य की परिभाषा, प्रयोजन, गुण-दोष तथा विविध अगो पर विचार किया है। रस और अलकारों को विशेष महत्त्व दिया गया है तथा मूल-प्रवृत्ति काव्य की परिभाषा की ओर रही है। भामह ने 'शब्दार्थौ सहित काव्यम्', मम्मट ने 'तददोषौ शब्दार्थौ', विश्वनाथ ने 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' माना है। इन परिभाषाओ में वाह्य अन्तर होते हुए भी वास्तविक अन्तर नही है, क्योकि प्रायः सभी आचार्यों ने रस को ही काव्य की आत्मा अगीकार किया है और छन्द को उसका सहायक तथा गुणो को उत्कर्ष-हेतुक माना है।

अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये विशिष्ट ढग के पदो का प्रयोग करने को 'रीति' सज्ञा दी है, जो वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली-भेद से तीन प्रकार की मानी गई है। गुणो की सख्या

1.75
55
6.55

के विषय मे मतभेद है, परन्तु आचार्य मम्मट द्वारा प्रतिपादित माधुर्य, ओज और प्रसाद—ये तीन गुण ही अधिक मान्य हैं। रीति को ही आधुनिक युग में 'शैली' कहा गया है। काव्य का निर्दोष होना आवश्यक है। दोष वही है, जिससे मुख्य अर्थ का अपकर्ष हो। शब्द, रस और अर्थ-विषयक अनेक प्रकार के दोष माने गये हैं। काव्य के प्रयोजन के प्रश्न पर भी प्रायः सभी आचार्य एकमत हैं और मम्मट के स्वर में स्वर मिलाकर मानते हैं :

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।

अर्थात्—काव्य की रचना, यश की प्राप्ति, धन की अधिगति, व्यवहार-ज्ञान, अमङ्गल-निवारण, श्रवणानन्तर तत्क्षण ही अलौकिक आनन्द की प्राप्ति और कान्तावत् मधुर प्रभावोत्पादक उपदेश के लिये होती है; किन्तु मध्ययुगीन सन्त-कवि यश, अर्थ आदि के प्रलोभनो मे प्रेरित नहीं थे। उस युग के प्रतिनिधि कवि तुलसी ने स्पष्ट लिखा है।

'स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिबन्ध मतिमञ्जुल मातनोति।'

तत्कालीन सभी संत-कवियों के विषय मे यह उक्ति पूर्णतया चरितार्थ होती है। उनका एकमात्र उद्देश्य अपने प्रभु का गुणगान करना था, फिर भी हम प्रचलित परिपाटी के अनुसार काव्याङ्गों को दृष्टिकोण मे रखते हुए सूर के काव्य का विवेचन करेंगे।

काव्य-कला के विषय में पाश्चात्य और पूर्वीय दृष्टिकोणों में विभिन्नता है। प्राचीन यूनान में काव्य-कला में नैतिक दृष्टिकोण को महत्त्व दिया गया और काव्य को कुछ उपदेशक जैसे रूप मे स्वीकार किया गया तथा काव्य में जीवन के सत्य का स्वच्छ प्रतिबिम्ब बताया गया था। अरिस्टोटिल ने काव्य के सम्बन्ध मे अनुकरण को महत्त्व दिया, परन्तु काव्यात्मक अनुकरण को भावना में स्वीकार किया। रोमन आलोचकों ने भी कविता को जीवन का अनुकरण माना है। इटली के आलोचकों ने प्रकृति के अनुकरण को प्रश्रय दिया और प्राकृतिक सत्य और आदर्शों का अनुगमन काव्य-कला के लिये आवश्यक माना। धीरे-धीरे काव्य-कला में कल्पना को प्रधानता मिलती गई। बेकन ने कल्पना को मानसिक शक्ति के अर्थ मे प्रयुक्त किया है और उसे काव्यात्मक सूझ की जननी बताया है। आधुनिक आलोचकों ने कल्पना की अनेक प्रकार से व्याख्या की है। वर्तमान काल के प्रसिद्ध आलोचक आई० ए० रिचर्ड्स ने कल्पना के छः अर्थ किये हैं और कालरिज के अनुसार कवि को संसार की नाना प्रकार की अनुभूतियों का सामञ्जस्य करने वाला माना गया है। भारतीय मत से कवित्व को जन्मसिद्ध बताया गया है और ईश्वर-प्रदत्त शक्ति, निपुणता, शास्त्र-काव्य आदि ग्रन्थो का पर्यवेक्षण, काव्यज्ञो से शिक्षा-ग्रहण एवं पुनः पुनः अभ्यास, इन सब को समन्वित रूप से उसका हेतु माना गया है।[1] कवित्व को संस्कार-जन्य स्वीकार किया गया है। 'काव्य-मीमांसा' मे राजशेखर ने शक्ति को काव्य का हेतु माना है, जो समाधि और अभ्यास से उद्भूत होती है। मन की एकाग्रता को समाधि और बार-बार एक ही क्रिया के अवलम्बन को अभ्यास कहते हैं। वास्तव में कवि पहले अपनी असाधारण सूझ से बाह्य जगत् और अन्तर्जगत् का निरीक्षण करता है और फिर कल्पना, बुद्धि और भाव-तत्त्वों के सहारे उस निरीक्षण को कविता का रूप देता है। उसकी मानसिक अनुभूति ही कविता का रूप धारण करती है। इटली के

१ शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे। काव्य-प्रकाश, प्रथम उल्लास,

आधुनिक मीमासक 'क्रोचे' ने कवि की आन्तरिक अभिव्यक्ति को बहुत महत्त्व दिया है, जबकि 'फ्रायड' स्नायु-व्यतिक्रम के शोध को ही कलात्मक रचना मानता है। युंग और एडलर भी चेतन और अचेतन के व्यापारो के समन्वय में कविता के रूप को देखते हैं। इस प्रकार काव्य-कला का आधार अब ज्ञानात्मक की अपेक्षा भावात्मक अधिक माना जाने लगा है। वास्तव मे सच्ची कविता मे हृदय और मस्तिष्क दोनों ही का सयोग रहता है। भारतीय परम्परा के अनुकूल तो भाव ही रस में परिणत होता है।

भक्त-कवि सूरदास का अध्ययन करते समय यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनके पदों का आधार भाव ही है। भक्ति-भाव से प्रेरित होकर ही वे कविता के क्षेत्र में प्रवृत्त हुए। कवि की रचना में उसके व्यक्तित्व की छाप रहती है। उसका व्यक्तित्व उसकी शैली से साफ झलक जाता है। सूर के भाव-विधान में मनोवैज्ञानिकता को विशेष स्थान मिला है। उनका वात्सल्य और विरह का चित्रण तो विश्व-साहित्य में अपना जोड नहीं रखता। आलोचना के नवीनतम सिद्धान्तों की कसौटी पर भी, जिसके अनुसार मनोविश्लेषण का बडा महत्त्व है, उनकी कविता खरी उतरती है और भारतीय आलोचना-पद्धति के अनुसार भी सूरदास महान् कवि ठहरते हैं। काव्य के भाव-पक्ष और कला-पक्ष दोनों में ही वे अनुपम हैं। इन्हीं दोनो पक्षों को अनुभूति-पक्ष और अभिव्यक्ति-पक्ष भी कहा जाता है। पाश्चात्य समीक्षकों द्वारा प्रतिपादित रागात्मक-तत्त्व, कल्पना-तत्व, बुद्धि-तत्त्व और शैलीतत्व तथा भारतीय आलोचको के भाषा, शैली, रस और अलकार-विधान आदि तत्त्वो का समाहार इन्ही दोनो के अन्तर्गत हो जाता है। अभिव्यक्ति मे शैली ही प्रधान तत्त्व है। यद्यपि शैली एक प्रकार से अभिव्यक्ति का ही ढग है, जिसका सम्बन्ध आकार से ही प्रतीत होता है, फिर भी हम उसे वस्तु अथवा भाव से अलग नहीं कर सकते। भारतीय काव्य-शास्त्र के अनुकूल शैली का सम्बन्ध कवि के व्यक्तित्व से है। दण्डी और कुन्तक ने इसका समर्थन किया है। जिस प्रकार शक्तिमान् व्यक्ति और उसकी शक्ति में भेद नही किया जा सकता, उसी प्रकार व्यक्ति और शैली का भी भेद नही किया जा सकता। यही कारण है कि भारतीय आचार्यो ने शैली का सम्बन्ध काव्य की आत्मा—रस से माना है, और रीतियों को गुणो के आश्रित बताया है। इससे स्पष्ट है कि शैली का सम्बन्ध केवल भाषा से ही नही है। अब हम पहले सूर की शैली पर ही विचार करेंगे।

गेय-पद शैली—

काव्य-शास्त्रियो ने विषयानुसार शैली पर बडा बल दिया है और इसी दृष्टिकोण से वर्णों मे माधुर्य आदि गुणो के अस्तित्व की कल्पना की है। वर्णों का यह गुण-विभाग उनके द्वारा श्रवणेन्द्रिय के माध्यम से उपलभ्य मानसिक आनन्द की मात्रा पर निर्भर है और मानसिक उल्लास की यह मात्रा वर्णों के उच्चारण-स्थान, प्रयत्न आदि से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। वर्णों में भी स्वरो का स्थान प्रमुख है। स्वरो में स्वय कोमलता और माधुर्य रहता है। यही कारण है कि स्वर-हीन सयुक्त वर्णों का प्रयोग कोमल भावो की व्यजना में साहित्य के आचार्यो ने स्पृहणीय नही माना है। स्वरो के उच्चारण-काल को दृष्टिकोण में रख कर उनका ह्रस्व और दीर्घ श्रेणियो में विभाजन किया गया, जिनके आधार पर लय को ध्यान में रखते हुए, स्वरों के आरोह-अवरोह के तारतम्य से और भी अधिक श्रुतिसुखदता का समावेश कर अनेक छन्दों की कल्पना की गई। यद्यपि मात्रिक

छन्दो के अतिरिक्त अनेक वर्णिक छन्द भी पिंगल शास्त्र में बताये गए हैं परन्तु उनका यह भेद औपचारिक ही प्रतीत होता है। वास्तविक बात तो यह है कि वर्णिक छन्दो में भी गुरु, लघु का स्थान-क्रम निश्चित रहता है और यह गुरु-लघु का भेद स्वरो की उच्चारण-काल की मात्रा से ही सम्बद्ध है। संस्कृत के पिंगल शास्त्र में छोटे-बड़े अनेक वर्णिक और मात्रिक छन्द मिलते हैं, जिनमें अधिकांश विरासत के रूप में हिन्दी-साहित्य को भी प्राप्त हुए। वर्णिक छन्दो की अपेक्षा मात्रिक छन्दो में कवि को उपयुक्त शब्दो का प्रयोग करने में अधिक सुविधा और स्वतन्त्रता रहती है, क्योंकि उसमें ह्रस्व और दीर्घ मात्राओं के स्थान-क्रम का उतना ध्यान रखना अपेक्षित नही होता, जितना वर्णिक छन्दो में। यही कारण है कि हिन्दी-साहित्य में मात्रिक छन्दो का ही अधिक प्रयोग हुआ है। धीरे-धीरे अनेक मात्रिक छन्दो की सृष्टि हुई भी। यद्यपि वृत्तो का श्रुतिसुख द्वारा मानसिक आनन्द में योग देने का कार्य अनुपेक्षणीय है, तथापि भावात्मकता ही काव्यानन्द का प्रधान मूल है, जिसके ऊपर आनन्द में केवल सहयोग देने वाले छन्द को प्राधान्य नही दिया जा सकता। परन्तु जब शनैः शनैः लोगो ने आत्मा की अपेक्षा शरीर को महत्त्व देना प्रारम्भ किया—आध्यात्मिकता से भौतिकता को महत्त्वपूर्ण समझा—तो भाव की अपेक्षा शैली, भाषा और छन्द को ही मुख्य समझा जाने लगा, फलस्वरूप ऐसी रचनाओं को भी साहित्य-साम्राज्य में कदम रखने का साहस हो उठा, जो वृत्त के लम्बे-चौडे क्षेत्र में विभिन्न वर्णों की सिस्टमेटिक कवायद ही कही जा सकती है। छन्द के वध में तुक का तुक डालकर खीचातानी होने लगी और ठोक-पीट कर कविराज बनने की धुन बहुतो को सवार हुई। इस काण्ड की प्रतिक्रिया के रूप में इस नवीन युग में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि दासताओं से मुक्त होने के साथ ही साथ छन्द के बन्धन से भी मुक्त होने की बात कवियो को सूझी, प्रयत्न हुए और आखिरकार कवि ने छन्द को दूर से ही नमस्कार किया। अपनी समझ में तो उन्होंने छन्दो से छुटकारा पा लिया, परन्तु छन्द के भूत ने उनका पीछा फिर भी न छोड़ा। उनकी रचना की पंक्तियाँ कही तो लज्जा, भय और संकोच में ठिठक कर अपने आप में ही स्वयं को दुहराती हुई संकीर्ण विचारो वाली कुलवधू-सी प्रतीत होती हैं, तो कहीं अपने क्षेत्र से भी चार कदम आगे हाथ मारती हुई स्वच्छन्द प्रकृति की अत्यन्त फार्वर्ड लेडी का रूप धारण कर लेती हैं। ऐसी रचना को बहुत से लोग 'कविता का कार्टून' कह सकते हैं, पर छन्द प्रेमियो को तो वहाँ भी 'रबड' छन्द और 'केंचुआ' छन्द के लक्षण परिलक्षित हो ही जाते हैं। अस्तु, साहित्य-क्षेत्र में छन्द के निर्वासन में परिणत होने वाली इस 'रक्तहीन' क्रांति का क्या प्रभाव हुआ या होगा, इसका विवेचन करना हमारा विषय नही है। हम तो यही कहना चाहते हैं कि जिस प्रकार निर्मल आत्मा और स्वस्थ शरीर का समन्वय सुन्दर होता है, उसी प्रकार भाव और शैली—जिसके अन्तर्गत छन्द भी है—का उचित समन्वय भी। कहने की आवश्यकता नहीं कि सूर की रचना में यह सामञ्जस्य पूर्णतया सन्तुलित रूप में मिलता है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि स्वरो के आरोह-अवरोह से काव्य में श्रुति-सुन्दरता का संचार होता है और स्वरो के उतार-चढाव का चरमोत्कर्ष राग-रागनियो में मिलता है। यही कारण है कि हृदय के कोमलतम भावो की अभिव्यंजना के लिये कवियो ने प्राय गीत-शैली का ही आश्रय लिया है। हृदय की रागात्मिका-वृत्ति के योग से जब सुख और दुःख की अनुभूति तीव्रतम होकर अनेक भावों की उमडती हुई धारा में समस्त परुषता और

कलुषता का प्रक्षालन करती हुई अकस्मात् कल-कल ध्वनि से कवि के कण्ठ से फूट पड़ती है तो उसे 'गीत' की संज्ञा प्राप्त हो जाती है। तभी तो कविवर सुमित्रानन्दन पन्त ने कहा है।

वियोगी होगा पहला कवि, आह से निकला होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप, वही होगी कविता अनजान॥

'पहला कवि' वियोगी रहा हो या न रहा हो, पर उसका गान 'आह' से ही निकला था; उसकी कविता चुपचाप न सही, आँखों से ही बही थी और अनजान बही थी। सब मानते हैं कि आदि कवि का शोक ही श्लोकत्व को प्राप्त हुआ था।

भगवान् के शील, शक्ति और सौन्दर्य में से हमारे कवि ने उनके सौन्दर्य-रस की मादकता में मस्त होकर 'अनजान' जो गीत गाये, उनमें न तो तुलसी के काव्य के समान शील-पालन-दृढ़ता की कठोरता है और न चारण कवियो के काव्य के समान 'शक्ति' की उद्धतता और विकटता; केवल आँखों से चुपचाप बहती हुई भावधारा है, जो आराध्य के रूपदर्शन से उद्वेलित होकर मोतियो के रूप में झर-झर ध्वनि से उसी के चरणों पर ढुलक जाती है—

त्वदीय वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये।

बाबू गुलाबराय जी ने अपने 'सिद्धान्त और अध्ययन' में प्रगीत का लक्षण देते हुए लिखा है—

"संक्षेप में प्रगीत-काव्य के तत्त्व इस प्रकार हैं—संगीतात्मकता और उसके अनुकूल सरस प्रवाहमयी कोमल-कान्त पदावली, निजी रागात्मकता (जो प्रायः आत्म-निवेदन के रूप में प्रकट होती है), संक्षिप्तता और भाव की एकता, यह काव्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक अन्त प्रेरित (Spontaneous) होता है और इसी कारण इसमें कला होते हुए भी कृत्रिमता का अभाव रहता है।"[1]

सूर की रचना में गीति-काव्य के ये सभी लक्षण पाये जाते हैं। वास्तव में यह कोई नई शैली नहीं थी, अपितु भारतीय साहित्य में युग-युगान्तर से चली आती हुई एक परम्परा थी, जिसमें विशेष विभूतियों द्वारा समय-समय पर परिवर्तन, परिवर्द्धन और संशोधन होते रहे हैं। इस गीत-शैली का उद्भव कब हुआ, यह निर्णय करना अत्यन्त दुष्कर है; किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि गीतों का इतिहास इतना ही पुराना है, जितना स्वयं भाषा का, तथा भाषा के मूलतत्त्वों में गीत के भी मूलतत्त्व निहित मिल सकते हैं। मनुष्य भाषा का आधार लिये बिना ही स्वान्तः सुखाय कुछ गुनगुनाता प्रायः देखा जाता है। अपने भावों को प्रकट करने के लिये स्वर और लहजे में हम अब भी परिवर्तन कर ही लेते हैं—विशेषकर जब भाषा को अपनी मानसिक दशा की सूचना देने में असमर्थ पाते हैं। कदाचित् इसी स्वर-परिवर्तन का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर शनैः शनैः मानव-जाति के विकास के साथ-साथ मनुष्य ने संगीत के स्वरों की कल्पना की और फिर उनका श्रेणी-विभाग कर व्यवस्थित रूप दिया और विकसित होते-होते इसने स्वतन्त्र कला का रूप धारण कर लिया। प्रारम्भ में गीत वैयक्तिक रूप से मनोरंजन के साधन के रूप में प्रचलित रहे होंगे और फिर धीरे-धीरे वे सामाजिक रूप से जनता का मनोरंजन करने में प्रयुक्त होने लगे होंगे। विशेष अवसरों और उत्सवो पर लोकगीतो का आयोजन

१ 'सिद्धान्त और अध्ययन' प्रथम संस्करण, पृष्ठ १०८

अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है। वैदिक काल में अनेक प्रकार के यज्ञ प्रचलित थे, जिनमें 'रथन्तरादि' अनेक प्रकार के गीत गाने की प्रथा थी। अन्य सामाजिक कार्यों और पर्वों पर भी इसी प्रकार के गीत गाये जाते रहे और मनुष्य में जैसे-जैसे सामाजिकता बढ़ती गई, वैसे-वैसे ही गीत भी उत्तरोत्तर सामाजिकता की विस्तृततर परिधि में स्थान पाते रहे। इन गीतों का प्रारम्भिक रूप धार्मिक रहा होगा, क्योंकि प्राचीन भारतीय जीवन के प्रत्येक पहलू पर धर्म की छाप लगी हुई थी; प्रत्येक वस्तु का मापदण्ड धर्म था, जिसका आचरण मुख्य समझा जाता था, और अन्य क्रियाएँ आनुषंगिक। समाज की प्रवृत्तियों का प्रतिबिम्ब कला और साहित्य में झलकना स्वाभाविक है, अतः प्राचीन शान्तिप्रिय, आध्यात्मिकतापर और सरल-प्रकृति समाज के व्यक्ति भी शान्ति और विरक्ति के गीत गाते हुए चले। समय-चक्र के परिवर्तन के साथ-साथ समाज में भी परिवर्तन हुआ, जीवित रहने के लिये प्रत्येक व्यक्ति को संघर्ष में पड़ना आवश्यक हो उठा और शक्तिशाली ही जीने का अधिकारी माना जाने लगा, तो संघर्ष और उग्रता का समावेश गीतों में भी हो गया।

हम यह कह आये हैं कि गीत-शैली हृदय की कोमल भावनाओं को व्यक्त करने के लिए नितान्त उपयुक्त है, क्योंकि गीत लय की मधुर लहरियों को स्वरों के रेशमी सूत्र में बाँध कर चलते हैं। यही कारण है कि प्राचीन गीतों में अधिकतर शृङ्गार, करुण और शान्त रसों की ही अभिव्यक्ति हुई है और वीर-रस के गीत बहुत कम मिलते हैं। धीरे-धीरे भाषा का विकास हुआ, और ओजोमय शब्दों को भी गीतों में ढालने का प्रयास कवि-गण करने लगे। वीरगाथा-काल में इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। राजस्थानी कवियों के गीत इस दिशा में कदाचित् भारत के अन्य प्रदेशों में प्रचलित गीतों में सबसे आगे हैं। आजकल प्रगतिवादी कवियों के उद्बोधनात्मक गीतों में भी पर्याप्त ओज मिलता है, परन्तु उत्तरकालीन संस्कृत-साहित्य में विशेषकर मुक्तक पद्यों में—शृङ्गार की ही भरमार मिलती है। बात यह है कि मनोरंजन को हेय समझकर अनवरत आत्म-चिन्तन में रत रहने वाले आर्य जब आभीर जाति के सम्पर्क में आये, तो उनकी मनोवृत्ति कुछ परिवर्तित हुई। आभीर जाति "खाओ, पियो, मौज उड़ाओ"—वाले सिद्धान्त में विश्वास रखती थी। अनेक प्रकार के मनोरंजन-प्रधान शृङ्गारिक गीत इस जाति में प्रचलित थे। उन लोगों की साधना में भी माधुर्य की चाह थी, वे बालगोपाल की पूजा एवं भक्ति और उसी की मधुर लीलाओं का गान करते थे। संसार को अनित्य मानकर भी उसके लौकिक सुखद पक्ष का यावज्जीवन उपभोग करने के पक्षपाती थे। आर्य जाति पर भी इसका प्रभाव पड़ा, बालगोपाल की पूजा होने लगी और मनोरंजन-प्रधान शृङ्गारिक गीतों की रचना भी।

संस्कृत-साहित्य की यह प्रवृत्ति संस्कृत से अलग होकर स्वतन्त्र रूप से विकसित होती हुई प्रान्तीय भाषाओं में भी आई। सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सुसंगठित, एकच्छत्र साम्राज्य के अभाव में देश की राजनीतिक स्थिति डावाँडोल हो गई। छोटे-छोटे विभिन्न राज्यों के शासक युद्धों में रत हो गये। आठवीं शताब्दी में मुसलमानों के भी कुछ आक्रमण सिन्ध की ओर हुए। इस समय अपभ्रंश भाषा का पर्याप्त विकास हो चुका था और देश-भाषाओं में उसे साहित्यिक भाषा का पद भी प्राप्त हो चुका था। इस काल के साहित्य पर जहाँ एक ओर उत्तरकालीन संस्कृत-साहित्य की शृङ्गारिक परम्परा का प्रभाव पड़ा, वहाँ तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक स्थिति का प्रभाव पड़ने के कारण वीर-रस का भी

समावेश हुआ। यही कारण है कि अपभ्रंश-साहित्य में वीर और शृङ्गार—दोनो ही रस समानान्तर चले। वीरगाथा-काल में भी यही स्थिति रही, जिसके फलस्वरूप शृङ्गार और वीर-रस के तत्कालीन अनेक गेय पद हमें प्राप्त हैं।

इसी बीच में भागवत में प्रतिपादित भक्ति समयानुसार अपना रूप-परिवर्तन करती हुई शङ्कर के मायावाद से टक्कर लेती हुई आगे बढ़ रही थी, यह हम बता चुके हैं। साहित्य में परम्परा से चली आती हुई शृङ्गार और प्रेम की भावना के साथ अनेक कवियो ने भगवत्प्रेम का समन्वय किया। अपने उपास्य का शृङ्गार और प्रणय-वर्णन करने में अनेक कवि भाव-विभोर होने लगे। अपने वर्णनो के लिये इन्होने गीत-शैली को ही चुना। शृङ्गार, भक्ति और वात्सल्य की त्रिवेणी का अपने पदों में समावेश कर इन कवियो ने पग-पग पर प्रयाग का सृजन किया, जिसकी यात्रा करके साधारण जनता भी मन का मैल धोने लगी। जयदेव का 'गीत-गोविन्द' इस सम्बन्ध मे विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसके गीत आज भी उत्तर-प्रदेश के पूर्वी सीमान्त तथा बिहार में साधारण गायक और भजनीको द्वारा गाये जाते हुए सुने जाते हैं। इधर मैथिल-कोकिल विद्यापति ने भी अपने राधाकृष्ण विषयक शृङ्गारिक गीतो की ऐसी तान छेड़ी, जिसकी कूक विविध-कवि-विहगवृन्द की कल-कल ध्वनि को पराभूत कर मिथिला के आम्रकुञ्ज-पुञ्जो को गुञ्जित करती हुई दक्षिण की ओर से प्रवृत्त भक्ति-समीर का आधार ले उत्तर की ओर बढ़कर ब्रज में कालिन्दी कूलस्थ कदम्बो को आन्दोलित करती हुई वृन्दावन के 'कोटिनहू कलधौत के धाम' से भी सुन्दर करीर कुञ्ज-वृन्दो में गूंजने लगी। 'नाथ' और 'सिद्ध' सम्प्रदायो के बानियो ने भी अपनी बानियाँ लोक-भाषा के पदो में ही जनता को सुनाईं और उनके उत्तराधिकारी सन्त कवियों ने 'राम की बहुरिया' बनकर इस गीत-शैली के माध्यम से अपनी प्रेम-भावना को प्रकट किया।

इस प्रकार अपनी भक्ति-भावना को व्यक्त करने के लिये सूर को एक परम्परागत विकसित गीत-शैली प्राप्त थी, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियो का अन्धानुसरण किया है। उनके पदो पर न तो वीरगाथा-कालीन चारण और भाटो का ही प्रभाव लक्षित होता है और न नाथ और सिद्ध-सम्प्रदायो के प्रचारको का ही, हाँ, 'निर्गुनिये' सन्त कवियों का प्रभाव अवश्य दीख पड़ता है। उनके विनय के पदो के भाव, भाषा, पद-विन्यास, सभी सन्त-काव्य से प्रभावित है। बात यह है कि ये पद आचार्य वल्लभ द्वारा पुष्टि-सम्प्रदाय मे दीक्षित किये जाने से पूर्व ही सूर ने लिखे थे। तब तक उनकी भक्ति-भावना में स्थिरता न आ पाई थी। कभी तो वे सन्तो की भाँति साकार और निराकार के बीच में खड़े हुए, कभी इस ओर और कभी उस ओर झुकते, और कभी तुलसी की भाँति "प्रभु हौं सब पतितन कौ टीकौ" कह कर प्रभु के चरणो में सिर टेक देते थे, कभी परमात्मा को भीतर और कभी बाहर खोजते थे। परन्तु पुष्टि-सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पश्चात् जब वे स्थितप्रज्ञ होकर "सब विधि अगम विचारहि ताते सूर सगुन-लीला पद गावै" कहकर भगवान् कृष्ण का चरित-गान करने बैठे, तो उनके पदो का चोला भी बदल गया और उनकी गीत-शैली जयदेव और विद्यापति की शृङ्गार भावना और कोमल-कान्त पदावली को आत्मसात् करती हुई (साथ ही अपने व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता की रक्षा करती हुई) विकसित हुई। सूर ने केवल भाव-पक्ष मे ही नहीं, गीत-शैली के कलेवर भी मे नवीनता का सचार किया है। आचार्य मुन्शीराम शर्मा इस विषय में लिखते हैं।

"इस गायन में ऐसी कौनसी रागिनी है, जो सूरसागर मे न आई हो ? कहा जाता है कि सूर के गान ऐसे राग और रागिनियो में है, जिनमें से कुछ के तो लक्षण भी अब प्राप्त नहीं हैं। ऐसी राग-रागिनियाँ या तो सूर की अपनी सृष्टि है या अब उनका प्रचार नही है।"[1]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत भी इस विषय में उल्लेखनीय है.

"सूरसागर में कोई राग या रागिनी छूटी न होगी। इससे वह सगीत-प्रेमियो के लिये भी बडा भारी खजाना है।"[2]

सूरदास जी का काव्य प्रबन्ध-काव्य नहीं है, उसमे कथा के प्रवाह का निर्वाह नही मिलता; भावात्मक स्थलो का ही मनोरम वर्णन मिलता है और कथा का तारतम्य जारी रखने के उद्देश्य से उन्हे जोडने के लिये यत्र-तत्र एकाध पद में घटनाओं का वर्णन भी कर दिया गया है। घटना-वर्णन में कवि की प्रवृत्ति रमी ही नही है। सत्य तो यह है कि सूर का उद्देश्य घटना-वर्णन अथवा कथा कहना नही था। उनका उद्देश्य था—अपने प्रभु के प्रेम में मस्त होकर उनके सौन्दर्य का वर्णन करते हुए मानस-भाव-रसामृत को पदो के प्रवाह में बहा देना, जिससे सिक्त होकर जन-मनोभूमि में भगवद्-भक्ति का अकुर फूट निकले। वे 'स्वामिनः सुखाय' नही, 'स्वान्त सुखाय' रचना करते थे। महाकवि तुलसी के अनुसार वाणी का उपयोग प्रभु-गुणगान करना ही है। प्राकृतजन का गुणगान करने से तो सरस्वती भी सिर धुनकर पछताने लगती है।

आत्माभिव्यन्जन के लिये मुक्तक-काव्य ही अधिक उपयुक्त है, क्योकि कथा के बन्धन में बँधे हुए कलाकार के भाव बहुत दिनो से पिंजरे में बन्द रहने वाले तोते के समान होते हैं, जो मुक्त कर दिये जाने पर भी अधिक दूर या ऊँचाई तक नही उड सकता और शीघ्र ही पुन स्वय पिंजरे में ही आ जाता है। इसलिये सूर ने मुक्तक-काव्य ही लिखा है। आत्माभिव्यजन और मुक्तक-काव्य दोनो की दृष्टि से गीत-शैली ही अधिक उपयुक्त है। भाव-सुमन-सौरभ के सुन्दर सचार के लिये, पवित्र-प्रेम-प्रवाह के प्रसार के लिये, शृङ्गार मञ्जुमंजरी के मधुमय विकास के लिये और कविता-कामिनी के कौतुकमय विलास के लिये गीत-शैली के सिवा और कौनसी शैली उपयुक्त हो सकती है ? दूसरे, वे पुष्टि-मार्ग मे दीक्षित थे, जिसमे कीर्तन-गान को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है। वे श्रीनाथ जी के प्रधान कीर्तनकार थे, उनसे पहले शायद कुम्भनदास इस पद को सुशोभित करते थे। श्रीनाथ जी की आठो समय की सेवा के अवसर पर कीर्तन के पद गाने की परिपाटी थी। इस प्रकार पुष्टि-मार्गीय भक्ति-पद्धति में आरती और कीर्तन की परम्परा के साथ सगीत का भी सामजस्य हो गया था। इस दृष्टि से भी सूर की रचना गेय होनी आवश्यक थी। इन्ही कारणो से हमारे भावुक भक्त-कवि ने अपने भाव गीत-शैली मे ही प्रकट किये हैं। काव्य और सगीत का जैसा सामजस्य सूर के पदो में मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। श्री शिखरचन्द जैन अपने 'सूर एक अध्ययन' में लिखते हैं :

"सगीत-विषयक इस ज्ञान की कसौटी पर जब सूर कसे जाते हैं, तब वह बहुत ऊँचे

[1] सूर सौरभ, तृतीय सस्करण, पृष्ठ २८२

[2] आ० शुक्ल 'सूरदास' तृतीय संस्करण पृष्ठ २००

उठ जाते हैं। वास्तव मे यदि काव्य और सगीत का सच्चा समन्वय कोई प्रकृत रूप से कर सका है, तो वह सूर ही है।"[1]

तुलसी हिन्दी-साहित्य के सम्राट् हैं, उन्होने भी गीत-शैली मे 'गीतावली', और 'विनय-पत्रिका' की रचना की है, परन्तु सूर जितनी सफलता उन्हें भी प्राप्त नही हुई। सूर और तुलसी की तुलना करते हुए इस विषय में श्री जैन आगे कहते हैं .

"जहाँ तुलसी की पदावली सगीत के माधुर्य को किन्ही अशों मे कम कर देती है, वहाँ सूर की प्रकृत रूप से प्रसुत होने वाली शब्द-लहरी स्वाभाविकता, सादगी, अल्हडपन और प्रसाद को समान रूप से लिये हुए आगे बढ़ती है। तुलसी के अनावश्यक रूप से प्रयुक्त बडे-बडे रूपक भी सगीत-लहरी में अवरोध उपस्थित करते हैं, पर सूर के रूपक—छोटे, आवश्यक, फबते हुए, सरल, आकर्षक और सगीत के लिये उपयुक्त हैं। इसलिये तुलसी सगीत का वह माधुर्य न ला सके, जो उसका शृङ्गार है। ऐसा करने में सूर समर्थ हो सके हैं। उन्होंने सगीत की स्वर-लहरी को सरलता, भावुकता, प्रवणता और दक्षता के साथ प्रवाहित किया है।"

कहने की आवश्यकता नही कि यह गीत-शैली सूर के हाथों में पडकर मँज-सी गई है। जितनी सफलता के साथ सूर ने विभिन्न गेय छन्दो का प्रयोग किया है, उतनी सफलता के साथ अन्य कोई कवि नही कर सका है। उनके पदो की सङ्गीतात्मकता सर्वतोभावेन स्तुत्य है। उनके समस्त पद सगीतमय हैं, प्रत्येक पद के साथ उसमें प्रयुक्त राग के नाम का उल्लेख, इस बात का प्रमाण है।

हम पहले कह आये हैं कि आभीर जाति में बाल-गोपाल की उपासना प्रचलित थी और यह जाति जीवन की सरसता मे विश्वास रखती हुई मनोरजन को पर्याप्त प्रश्रय देती थी। अपने उपास्य की लीलाओ के गीत ये लोग गाते रहते थे। यह परम्परा चलती रही और सूर को भी इससे सम्बद्ध अनेक गीत प्राप्त हुए होंगे। सूर की भक्ति भावना में भावों की प्रवणता, अनुभूति की तीव्रता और विश्वास की असन्दिग्धता का चरमोत्कर्ष है, जिसके कारण उन पदो में गीत की स्वस्थ आत्मा को प्रतिष्ठा हो सकी है। सूर के विशाल मानस मे भाव-रस का इतना उद्रेक था कि वह हठात् वाणी के बाँध को तोडता हुआ फूट पडा है। कृष्ण के सौन्दर्य, हाव-भाव और व्यापारों के चित्रण में, ब्रजवासी नर-नारियो की भावनाओं के प्रकाशन में, गोप-बालकों के बालसखा-सुलभ केलि-कौतुक के अङ्कन मे; किशोरी, युवती और वृद्धाओ के चापल्य, औत्सुक्य, वात्सल्य आदि के अभिव्यजन मे अपनी बन्द आँखो और उन्मुक्त कल्पना से भावजगत् के द्रष्टा और स्रष्टा सूर ने वह कमाल हासिल किया कि हिन्दी के ही नही, विश्व-भाषाओ के गीतकार मात हैं। उनके पदो में उनकी 'सूरता' छिपाये नहीं छिपती। वैयक्तिकता और आत्माभिव्यजन, जो गीत-काव्य का सर्वप्रथम और सर्वप्रमुख लक्षण है, सूर के गीतो मे अथ से लेकर इति तक व्याप्त है। भाव की एकात्मकता, अनुभूति की स्वत पूर्णता और अव्याहत व्याप्ति, जो मुक्तक-काव्य की प्राणवायु है, सूर के गीतो में सचार करती हुई पाठक और श्रोता के हृदय पर अमिट चिह्न बना जाती है। उनका एक-एक राग, एक-एक गीत अपने आप मे पूर्ण और रस-सृष्टि में समर्थ है। आकार की दृष्टि से कहीं-कहीं सूर के पद गीत-काव्य की मर्यादा का उल्लघन कर गये हैं, परन्तु ऐसा उन्ही स्थलो पर हुआ है, जहाँ कवि कथा के तारतम्य को अक्षुण्ण रखने के लिये घटनाओ का वर्णन करता है।

१ सूर- एक अध्ययन (शिखरचन्द जैन) पृष्ठ ३७

ऐसे पद अधिक सख्या मे हैं भी नही। दूसरी बात, जो सूर के पदो मे खटकती है, वह पौराणिक प्रसगो के सकेतो की भरमार तथा वर्ण्य विषय, भाषा आदि की पुनरावृत्ति है। कही-कही आवश्यकता से अधिक अलङ्कारो के भार से दबी हुई उनकी भारती अपनी वीणा के तारो को झकृत करने मे भी अपने आपको असमर्थ-सी पाती है। परन्तु उसके उस गतिरोध में भी चित्रोपम सौन्दर्य है, जिसमें मूक जीवन का सचार स्पष्ट दीख पडता है। इन दोषो की धूमिल कालिमा 'सूरसागर' के जगमगाते रत्नो के प्रकाश को अधिकाधिक देदीप्यमान बनाने मे सहायिका ही प्रतीत होती है। भाव, कल्पना और सौन्दर्य का जैसा समन्वय सूर के पदो मे है, ऐसा अन्यत्र दुष्प्राप्य है। भावपूर्ण गीत-शैली के शास्त्रीय परिष्कार में सूर ने सचमुच बहुत बडा योग दिया है।

महाकवि सूरदास की गेय-पद शैली मे हमे विविधता और विचित्रता दोनो के ही दर्शन होते हैं। यो तो उनसे पहले सन्त कवियो ने भी अपनी भावात्मक अनुभूति को व्यक्त करने के लिये इसी गेय-पद शैली का अनुसरण किया है और उनमे पहले गोरखबानी मे भी इस शैली के दर्शन होते हैं, परन्तु जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, सूर के हाथो में पडकर इस शैली का रूप निखर आया है। एक ओर तो उन्होंने सन्त परम्परा से प्राप्त शैली का अनुसरण किया; और दूसरी ओर उनके काव्य से हमें उस शैली के भी दर्शन होते हैं, जो रागात्मक तत्त्वों से ही ओत-प्रोत है। ऐसे स्थल 'सूरसागर' मे वे हैं, जहाँ सूर अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओ का वर्णन करते हैं या रतिनागर, रसिकेश्वर, गोपीवल्लभ कृष्ण की रति-क्रीडाओ का चित्रण करते हैं अथवा उनके विरह से सन्तप्त गोपियो के हृदय की भावनाओ का अभिव्यजन करते हैं। इन तीनो ही स्थलो पर कवि भावोन्मुख हो उठता है और अपनी कल्पना की उडान मे 'निरकुशा हि कवयः' वाली उक्ति को चरितार्थ करता हुआ प्रतीत होता है। ऐसे स्थलो पर पुनरावृत्ति काव्य का दूषण न होकर भूषण हो जाती है। (कृष्ण और गोपियो के चरित्र-चित्रण में हम उन स्थलो का उल्लेख कर चुके हैं।) एक छोटी-सी बात को लेकर भक्ति-भावना मे तल्लीन कवि न जाने कितनी व्यापार-योजनाएँ प्रस्तुत करता है? कितने सचारियो की उद्भावना करता है और सूक्ष्म से सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक तथ्यो का उद्‌घाटन करता है? यशोदोत्सग-लालित बालकृष्ण सूर के परम इष्ट हैं। इन प्रसगो में आनन्दवर्धनाचार्य की व्यजना, कुन्तक की वक्रोक्ति और विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ की रसानुभूति—मानो दाँव-पेच से अपना-अपना सिक्का जमाने की धुन में हैं। व्यजना के गहन से गहन अद्भुत व्यापार, वक्रोक्ति की विदग्ध जन-मनोरजक शब्द क्रीडा तथा रसो की सहृदय-वेद्य अनुभूति मानो साक्षात् रूप धारण करके अभिव्यजित होती है। यशोदा का हरि को पालने मे झुलाना यो ही उडती नजर से देखे जाने योग्य दृश्य नहीं है, इसमें मातृ-हृदय की विशालता की झाँकी है, जिसके दर्शन मात्र से हृदय पवित्र हो जाता है। हरि और यशोदा की चेष्टाएँ आज के मनोवैज्ञानिक के लिये नूतन भावो को प्रस्तुत करने वाली हैं।

जसोदा हरि पालनै झुलावै।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ-सोइ कछु गावै।
मेरे लाल कौं आउ निंदरियाँ, काहे न आन सुनावै।
तू काहै नहि वेगिहि आवै, तोकौं कान्ह बुलावै।
कबहुँ पलक हरि मूदि लेत हैं, कबहुँ अधर फरकावै।

सोवत जाति मौन ह्वै कै रहि, करि-करि सैन बतावै ।
इहि अन्तर अकुलाइ उठे हरि, जसुमति मधुरै गावै ।
जो सुख सूर अमर-मुनि दुरलभ, सो नन्द भामिनि पावै ।[१]

'हलरावै दुलराइ मल्हावै' मे शब्दो मे कैसा मनोवैज्ञानिक क्रम है ? हलरावै मे कैसी अद्भुत व्यजना है, और पूरे पद में बालसुलभ चपलता और विनोदपूर्ण सरल चेष्टाओ का कितना सुन्दर और स्वाभाविक तारतम्य है ? इस प्रकार बाल्य-वर्णन का प्रत्येक पद नवीन भाव, नवीन अभिव्यक्ति और नवीन कला का द्योतक है। तभी तो आचार्य शुक्ल ने कहा है :

"जितने विस्तृत और विशद रूप में बाल्य-जीवन का चित्रण इन्होंने किया है, उतने विस्तृत रूप मे और किसी कवि ने नहीं किया। शैशव से लेकर कौमारावस्था तक के क्रम से लगे हुए न जाने कितने चित्र मौजूद हैं ? उनमे केवल बाहरी रूपो और चेष्टाओ का ही विस्तृत और सूक्ष्म वर्णन नही है, कवि ने बालको की अन्त प्रकृति में भी पूरा प्रवेश किया है, और अनेक भावों की सुन्दर स्वाभाविक व्यजना की है।[२]

सूर के इस बाल्य-वर्णन से ही वात्सल्य रस की सार्थकता सिद्ध होती है। आगे चलकर ग्वाल-बालो के साथ कृष्ण का खेलना, गोचारण, गोपियो से बाल-बिहार आदि का वर्णन भी भावात्मक गेयपद-शैली मे हुआ है। इन्ही प्रसगो मे सूर के वे गीतात्मक कथानक हैं, जिनमें भावात्मकता की अपेक्षा प्रबन्धात्मकता अधिक है। ऐसे प्रसग या तो कृष्ण के अलौकिक कार्यो से, जैसे—राक्षसो का वध, वत्स-हरण आदि—से सम्बन्ध रखते हैं अथवा उनकी प्रेम-लीलाओ, जैसे—चीरहरण, दानलीला, मानलीला आदि—से सम्बद्ध हैं। इन प्रसगो में सरलता, स्वाभाविकता और सजीवता के ही विशेष दर्शन होते हैं। श्रीकृष्ण के विशिष्ट-क्रीडा-विषयक जो पद हैं, उनसे इन्हें अलग करके देखा जा सकता है, क्योकि क्रीड़ा-विषयक पदो में रूपचित्रण के साथ-साथ सश्लिष्ट योजना और आलङ्कारिकता भी है। वास्तव में ऐसे ही पदो के लिये आचार्य शुक्ल की यह उक्ति चरितार्थ होती है·

"वर्ण्य विषय की परिमिति के कारण वस्तु-विन्यास का जो सकोच सूर की रचना मे दिखाई पडता है, उसकी बहुत कुछ कसर अलङ्कार रूप मे लाये हुए पदार्थों के प्राचुर्य्य द्वारा पूरी हो जाती है। कहने का तात्पर्य यह कि प्रस्तुत रूप में लाये हुए पदार्थो की सख्या बहुत अधिक है। यह दूसरे प्रकार की (आलङ्कारिक) रूप-योजना या व्यापार-योजना किसी और (प्रस्तुत) रूप के प्रभाव को बढ़ाने के लिए ही होती है।"[३]

मुरली-विषयक पदों को भी इसी कोटि में रखा जा सकता है। विरह के पदो में कवि विशेष रूप से मुखर हो उठा है और उसकी गेयपद-शैली अन्तर्मुखी हो गई है। यही कारण है कि इन पदो मे कवि के व्यक्तित्व की पूरी छाप मिलती है। सूर का विरह-वर्णन रीतिकालीन कवियो का विरह वर्णन नही है, उसमें हमें भक्त की अन्तरात्मा के दर्शन होते हैं। काव्य-शास्त्र की दृष्टि से तो यह विरह-वर्णन शृङ्गार का रस-राजत्व प्रतिपादित करता ही है

१ सूरसागर (ना० प्र० स०) पद, ६६१
२ सूरदास (आचार्य शुक्ल) पृष्ठ १७७
३ वही (,,) पृष्ठ १७०-१७१

भक्ति-भावना की दृष्टि से भी हमें इसमें भक्त की विह्वल आत्मा के दर्श
और वैष्णव—दोनों ही सम्प्रदायों में विरह को भक्ति का सोपान माना है,
कि महाकवि सूरदास ने अपने विरह-वर्णन में इस तथ्य का पूर्णरूप से प्रतिपाद॰

दृष्टकूट-पद शैली

सूरदास जी ने दृष्टकूट-पद भी गेय शैली में लिखे हैं। इनमें स्वाभाविकता की अपेक्षा चमत्कारिकता, और सरलता की अपेक्षा दुरूहता अधिक है। 'साहित्य-लहरी' के पद तो दृष्टकूट कहलाते ही हैं। 'सूरसागर' में भी इस प्रकार के पद मिलते हैं, जिनका उल्लेख हम 'सूरदास जी का साहित्य' अध्याय में कर आये हैं। जिस प्रकार सन्त कवि भक्ति-भाव की अभिव्यक्ति के लिये साधारण गेयपद शैली को अपनाते थे, उसी प्रकार रहस्यात्मक भावों को प्रकट करने के लिये वे दृष्टकूट-पदशैली का अनुसरण करते थे। आत्म-चिन्तन के गूढ विषयों को रहस्यात्मक भाषा में प्रकट करने की परम्परा भारत में प्राचीन काल से ही चली आ रही थी। ऋग्वेद में बहुत कुछ प्रतीक रूप में कहा गया है, उपनिषद् तो गुह्यविद्या का ही मुख्य रूप से प्रतिपादन करते हैं। इस शैली में जहाँ एक ओर गूढ विषय का प्रतिपादन होता था, वहाँ दूसरी ओर आलङ्कारिकता भी स्वाभाविक थी। आगे चलकर संस्कृत-काव्यों में तो यह आलंकारिकता और चमत्कारवादिता इतनी अधिक प्रिय हुई कि एक-एक अक्षरों के श्लोक बनाये गए और अन्वयमात्र से भिन्नार्थ रखने वाले काव्यों का प्रणयन हुआ संस्कृत-साहित्य में यह प्रवृत्ति 'नैषध-काव्य' तक चलती रही।

सिद्धों ने अपनी बानियों में इसी रहस्यात्मक प्रवृत्ति को अपनाया। नाथपंथी हठयोगियों और कबीर-पंथियों ने भी इस प्रणाली को ग्रहण किया। कबीर की उलटबाँसियाँ तो प्रसिद्ध ही हैं। उधर चन्द्रबरदायी ने भी अपने 'रासो' में इसी प्रकार के पद लिखे हैं। अमीर खुसरो की पहेलियों को भी हम इसी शृंखला की कड़ी मानते हैं। इस परम्परा में रहस्यात्मक भावनाओं के साथ-साथ पाण्डित्य-प्रदर्शन की लालसा के भी दर्शन होते हैं :

भक्ति-साहित्य में इस शैली का सर्वप्रथम प्रयोग मैथिल-कोकिल विद्यापति ने किया। मलिक मुहम्मद जायसी के 'पद्मावत' में भी कहीं-कहीं हमें इस प्रवृत्ति का साक्षात्कार होता है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी इस शैली में अनेक दोहे लिखे हैं, किन्तु इस शैली का परिमार्जित साहित्यिक रूप हमें सूरदास जी के दृष्टकूट पदों में मिलता है। साहित्य-लहरी इस शैली की प्रौढ रचना कही जा सकती है। सूरदास जी के पदों में जहाँ एक ओर चमत्कार की सृष्टि हुई है, वहाँ दूसरी ओर रहस्यात्मक सौन्दर्य का निरूपण भी हुआ है। सूर ने इस शैली को विद्यापति की भाँति केवल विरह के प्रसङ्गों में ही नहीं अपनाया है, अपितु अन्य प्रसङ्गों का वर्णन भी उन्होंने इस शैली में किया है। सूरदास जी ने इस शैली में राधा-कृष्ण की अनेक भंगिमाओं, मुद्राओं और रति-क्रीडाओं का वर्णन किया है। साधारण पाठक की दृष्टि में यह अश्लीलतापरक ही है, परन्तु सूरदास जी ने तो उन्हें सहज समाधि के पद कहा है। इन पदों में यमक, श्लेष तथा रूपकातिशयोक्ति आदि अलङ्कारों का प्रयोग हुआ है। साथ ही साथ कुछ रूढ शब्द भी इन पदों में प्रयुक्त हुए हैं। ज्योतिष के ग्रन्थों की भाँति गणनापरक शब्दों का व्यवहार भी इन पदों में हुआ है।

वर्णनात्मक शैली

सूरदास जी ने एक और शैली का प्रयोग किया है, जिसे हम वर्णनात्मक शैली कह सकते हैं। इस शैली का प्रयोग कवि ने उन स्थलो पर किया है, जहाँ रूप, भाव अथवा कार्य-व्यापार का चित्रण न करके किन्हीं आख्यान और पौराणिक प्रसगो की ओर सकेत किया है अथवा आचारादि का उपदेश दिया है।

भागवत के वर्णनात्मक आख्यान

श्रीमद्भागवत के कथा-प्रसगों पर आधारित अनेक पद सूरसागर में बिखरे पडे हैं, जिनकी सख्या अन्य स्कन्धो मे नवम तथा दशम स्कन्धो की अपेक्षा अधिक है। ये ही पद इस कथन के आधार हैं कि—'सूरसागर की रचना भागवत के आधार पर हुई है।' इन कथा-प्रसगो की शैली गेयपदो की शैली से भिन्न है। इस शैली मे न तो कवि के व्यक्तित्व का ही प्रतिबिम्ब लक्षित होता है और न वर्णन का विस्तार अथवा सश्लिष्ट चित्रण ही पाया जाता है। काव्य-सौष्ठव का तो ऐसे स्थलो पर अभाव ही है, क्योकि कवि की वृत्ति इन प्रसगों में रमी नही। जान पडता है, जैसे कवि शीघ्रता से जैसे-तैसे वर्ण्य वस्तु का वर्णन करके अपने फर्ज से फारिग होने की धुन में है और जल्दी से इस शुष्क मार्ग को काट कर सुरम्य भावपूर्ण स्थल पर पहुँचना चाहता है, जहाँ उसका मन रम सके। यही कारण है कि इन पदो से कवि की मानसिक स्थिति का परिचय प्राप्त नहीं होता, उसके मानस की गहराई का पता नही चलता, और न ही ये पद उसकी काव्य-प्रतिभा, भावुकता, बहुज्ञता और कला के सच्चे प्रतिनिधि हैं। उनकी शैली मे कोई आकर्षण नही, छन्द भी चौपाई, चौबोला आदि काम चलाऊ ही प्रयुक्त हुए हैं।

दृश्य तथा वर्णन-विस्तार

सूरसागर में अनेक स्थल ऐसे भी हैं, जहाँ कवि ने उत्सवो और दृश्यो का वर्णन किया है। कृष्ण के अन्नप्राशनादि सस्कार तथा भोजन आदि नित्य कर्मो से सम्बद्ध अनेक वर्णन उपलब्ध होते हैं, जिनमे व्यापारो और वस्तुओ की लम्बी-लम्बी सूचियो के अतिरिक्त और कुछ नही दीख पडता। बसन्त, होली-लीला, हिण्डोल-लीला आदि ऐसे ही प्रसग हैं। इन स्थलो पर कवि की कलाकारिक तल्लीनता और गम्भीरता न जाने कहाँ विलीन हो गई हैं ?

वर्णनात्मक कथानक

ब्रह्मा द्वारा बाल-वत्स-हरण, कालिय दमन-लीला, गोवर्द्धन-लीला रास-लीला आदि वर्णनात्मक कथानको में भी कवि का हृदय अनुरक्त नहीं हुआ। श्रीकृष्ण-विवाह के अतिरिक्त ये सभी वर्णन उन कथानको की वर्णनात्मक शैली में आवृत्ति करने के लिये ही कदाचित् किये भी गये हैं, जिन्हे कवि गेयपद शैली में सुना चुका है। इसका उद्देश्य शायद कथा को सक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करने का ही था। कवि का हृदय न रमने के कारण यद्यपि इन पदों में द्रुत-गामिता आ गई है, फिर भी कवि की आगे चलने की उतनी अधीरता द्योतित नहीं होती, जितनी भागवत के छायानुवाद वाले स्थलों में। इन प्रसङ्गो मे छन्दो की नवीनता और रमणीयता के कारण शैली के सौन्दर्य में वृद्धि अवश्य हो गई है, परन्तु भावो का मार्मिक चित्रण नहीं मिलता, फिर भी उस ओर सकेत करना कवि भूला नहीं।

भागवत से सूरसागर की तुलना करते हुए हमने उन प्रसङ्गों का उल्लेख किया है, जहाँ सूर ने पौराणिक आख्यानों को वर्णनात्मक शैली में पदबद्ध किया है। इन प्रसङ्गों में कवि ने इतिवृत्तात्मकता का ही आश्रय लिया है। इनकी घटनाओं के क्रम में संक्षिप्तता ही नहीं, शैली की शिथिलता भी है। प्रायः तत्सम शब्दों का प्रयोग ही इन प्रसगों में हुआ है। संग्रहात्मक प्रतियों को ही प्रामाणिक मानने वाले विद्वान् तो इन प्रसगों को प्रक्षिप्त ही मानते हैं। जहाँ कहीं कवि को सिद्धान्त-प्रतिपादन अभीष्ट है, वहाँ भी उसने वर्णनात्मक शैली का ही अनुसरण किया है। कवित्व की दृष्टि म इस शैली का कोई विशेष महत्त्व नही है, क्योंकि न तो इसमें रूप-कल्पना का योग है, और न ही रागात्मक तत्त्व का समावेश। इन प्रसगों में उसी प्रकार की द्रुतगामिता है, जैसी तुलसी के—'आगे चले बहुरि रघुराई, ऋष्यमूक पर्वत नियराई", जैसे स्थलों मे। दशम स्कन्ध मे आये हुए वर्णनात्मक पद अधिक उबाने वाले नहीं है, क्योंकि वहाँ तो अनेक गेयपदों के अनन्तर एकाध वर्णनात्मक पद भूषण का ही कार्य करता है। परन्तु और स्कन्धों में तो इस प्रकार के पदों की इतनी भरमार है कि पाठक ऊब-सा जाता है। सूरसागर की प्रबन्धात्मकता यत्किञ्चित् रूप में इसी प्रकार के पदों पर आधारित है।

अलङ्कार-योजना

भारतीय काव्य-शास्त्र मे अलङ्कारों की चर्चा रस से भी प्राचीन है। वास्तव में साहित्य-विद्या को प्राचीन आचार्यों ने अलङ्कार-शास्त्र के नाम से ही अभिहित किया है। आचार्य राजशेखर ने तो अलङ्कार-शास्त्र को वेदाङ्ग ही माना है और उसकी उत्पत्ति भगवान् शकर से बताई है। अलकार-शास्त्र की परम्परा शङ्कर से प्रारम्भ होकर ब्रह्मा के भरत, नन्दकिशोर, धिषण तथा उपमन्यु नामक चार शिष्यों द्वारा प्रवृत्त हुई। इन आचार्यों का उल्लेख आगे के काव्य-शास्त्रों में भी कहीं-कहीं मिलता है, परन्तु शास्त्रीय ढग से अलङ्कार-शास्त्र की चर्चा भरत (ईसापूर्व प्रथम शताब्दी) से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ (ईसा की १७वीं शताब्दी) तक संस्कृत वाङ्मय में चलती रही। इस दीर्घकाल में कई सम्प्रदाय चले, परन्तु काव्य के लिये किसी न किसी रूप मे अलङ्कार का महत्त्व सभी ने स्वीकार किया। रस-सम्प्रदाय, अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि-सम्प्रदायों के अनेक आचार्य हुए हैं। प्राकृत और अपभ्रंश में होती हुई यह परम्परा हिन्दी में भी आई, यद्यपि हिन्दी के आदियुग मे कोई इस प्रकार का उल्लेखनीय अलङ्कार-ग्रन्थ नही मिलता। स्वयम्भू आदि प्राचीन कवियों के आधार पर चन्द की रचनाओं मे काव्य-शास्त्र के कुछ उल्लेख मिलते हैं। चन्द की कविता से प्रतीत होता है कि वे रस-सिद्धान्त के पोषक थे, परन्तु उनकी रचना में अलकारों की भी कमी नहीं है। विद्यापति की रचना में तो अलकारों को स्पष्ट रूप से महत्त्व मिला ही है। सादृश्य-मूलक अर्थालंकारों की तो उनके काव्य में प्रचुरता है ही, शब्दालकारों की संख्या भी कुछ कम नहीं है। निर्गुण-सम्प्रदाय के सन्त कवियों ने काव्य की दृष्टि से यद्यपि कुछ नहीं लिखा, तथापि उनकी बानियों में अन्योक्ति, रूपक, उपमा आदि अलकार पर्याप्त संख्या में स्वय ही आ गये हैं, प्रेममार्गीय कवियों—विशेषकर जायसी—की अलङ्कार-योजना तो दर्शनीय ही है। सगुण भक्त कवियों में जहाँ एक ओर हिन्दी की पूर्व-प्रचलित काव्य-शैलियों के परिपक्व और परिनिष्ठित रूप के दर्शन होते हैं, वहाँ दूसरी ओर उनकी अलङ्कार-योजना भी कम महत्त्व की नहीं है। चैतन्य महाप्रभु के वृन्दावन-निवासी छः शिष्यों ने रस और अलकारों को किस प्रकार भक्ति के साँचे में ढाला है, इसका हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। अष्टछापी कवि नन्ददास के विषय में तो प्रसिद्ध ही है :

'और सब गढ़िया, नन्ददास जड़िया।'

काव्य मे अलङ्कारो का महत्त्व तो है, परन्तु उनका स्थान क्या होना चाहिये ? यह बड़ा ही विवादग्रस्त विषय रहा है। आज के युग में अलङ्कारो को सर्व प्रथम स्थान तो नहीं दिया जाता, पर उनकी नितान्त अवहेलना भी साहित्यकार नही कर सके हैं। वे उन्हें भावो के उत्कर्ष-हेतु और सौदर्न्य-बोध में सहायक के रूप में ही ग्रहण करते हैं। किन्तु साधन पर ही दृष्टि केन्द्रित कर उसे साध्य रूप मे देखने वाले 'भामह', 'उद्भट' आदि आचार्यों ने अलङ्कार को भी काव्य में सर्व प्रमुख स्थान दिया। दण्डी ने उन्हें काव्य की शोभा का कारण ही माना।[1] किन्तु 'चन्द्रालोककार' ने तो यहाँ तक आक्षेप किया कि—यदि कोई काव्य को अलङ्कार-रहित मानता है, तो अपने आपको पण्डित मानने वाला यह व्यक्ति अग्नि को उष्णता-रहित क्यो नही मानता—

अङ्गीकरोति य काव्य शब्दार्थावनलकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनल कृती।

हिन्दी में रीति-युग के प्रवर्त्तक केशवदास ने भी इन्हीं आचार्यों के सुर में सुर मिला कर घोषणा कर दी कि—'भूषन बिनु नहिं राजई कविता वनिता मित्त।" वास्तव में अलङ्कार शब्द की व्युत्पत्ति ही (अलकरोति इति अलकारः, जो अलकृत करे) इस बात का प्रमाण है कि—'अलकार स्वय साध्य न होकर, साधन है।' अग्नि-पुराण मे स्पष्ट कहा है—

"वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।"

जीवन-रहित शरीर पर अलकारो की सज्जा हृदय मे आह्लाद उत्पन्न करेगी या ग्लानि ? इसी प्रकार रस और भाव से हीन तुकबन्दी मे यदि काट-छाँट कर अलकार जड़े जायें तो अपनी चमक-दमक से एक बार द्रष्टा की आँखो मे चकाचौंध भले ही उत्पन्न कर दें, उसके मानस में स्पन्दन नही भर सकते। वास्तव में यदि कविता भावपूर्ण है और उसमें स्वाभाविक सौन्दर्य है, तो प्रभावोत्पादकता के लिए उसे अलकारो का मुखापेक्षी नही बनना पड़ता। ऐसी कविता के लिये तो सीधी-सादी उक्ति भी अलकार बन जाती है, 'किमिव हि मधुराणा मण्डन नाकृतीनाम्'।

सूर का काव्य भावो का उमड़ता हुआ सागर है, जिसमें रस की थाह नहीं पायी जा सकती। भक्ति और वात्सल्य के भावों को रस-कोटि तक पहुँचाने का श्रेय सूर को ही प्राप्त है, क्योकि इन भावो का ऐसा तीव्र एव व्यापक अभिव्यजन, जो रस के सारे शास्त्रीय अङ्गो से पुष्ट है, सूर के अतिरिक्त किसी कवि से हो नही पाया। जिस प्रकार उमड़ती हुई सरिता अपने कूल-नियमित सरल पथ में प्रवाहित होने में असमर्थ होकर नवीन-नवीन मार्ग खोज लेती है, इसी प्रकार अनुभूति और भावुकता के चरम विकास की स्थिति में कवि के कण्ठ से निकली हुई भाव-रस-धारा सीधी सरल भाषा के कूलो मे न समाती हुई चमत्कार-पूर्ण वक्र कथनो के विस्तृत क्षेत्र में फैल जाती है। असाधारण भावोद्रेक के कारण वर्णन में, वर्णन-शैली मे वक्रता और चमत्कृति आ ही जाती है, यह स्वाभाविक है। उन पाण्डित्य-प्रदर्शन-परायण कवियों की बात दूसरी है, जिन्हें भाव और अनुभूति के स्थान को चुन-चुन

---

१ काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते, काव्यादर्श।

कर सजाये हुए शब्दो और अलकारो से भरकर कविता-कामिनी को हृदय-रहित प्रस्तर प्रतिमा के रूप में प्रस्तुत करने का व्यसन है। रससिद्ध कवियो की अलकृत शैली उनके भाव-रत्नो की जगमगाहट से परिपूर्ण होने के कारण ही चमत्कार पूर्ण होती है, ऊपरी मुलम्मे वाली वस्तु के समान बाह्य चमक-दमक का मिथ्या आडम्बर ही नहीं रखती। सूर की रचना में जैसी भाव-प्रवणता है वैसी ही चमत्कृति भी। उनकी अलकार-योजना में न तो केशवदास के समान काव्यशास्त्र-ज्ञान-प्रदर्शन की प्रवृत्ति है, और न जायसी के समान एक-एक पक्ति में कई-कई अलकार ठूँसकर सकर और ससृष्टि करने का आग्रह ही। जहाँ रीतिकालीन कवि अनेक अलकारो से सजाने की धुन में अपनी कविता-नागरी को ग्राम्य रूप देकर 'विनायक प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' वाली उक्ति को चरितार्थ कर आलोचकों के उपहास्य बने, वहाँ सूर ने भाव और कलापक्ष का उचित सन्तुलन रखकर अपनी कला को कला' ही बना दिया। आचार्य शुक्ल का कथन है—'सूर में जितनी सहृदयता है, उतनी ही वाग्विदग्धता।"

वास्तव में सूर का वाग्वैदग्ध्य सहृदयता से समन्वित है। यही कारण है कि उनके काव्य मे अलकारो के घटाटोप के दर्शन नही होते और वे अपने रूप-चित्रण में सर्वत्र सवेदनाशील दीख पड़ते हैं। उन्होने अलकारो का प्रयोग विशेषकर सौन्दर्य-बोध के लिये ही किया है। किसी वस्तु के साक्षात्कार से जब कवि की सौन्दर्यानुभूति सजग हो उठती है, हृदय तल्लीन हो जाता है, तो उसकी कल्पना उस वस्तु के सौन्दर्य को अधिक हृदयग्राही और प्रभावोत्पादक बनाने के लिये अप्रस्तुत-व्यवहार योजना का सन्निवेश करने लगती है; उस समय कवि की रचना मे अलकारो का समावेश स्वत हो जाता है। यही कारण है कि सूर की रचना में हमे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति, प्रतिवस्तूपमा आदि अलङ्कारो के ही दर्शन होते हैं। उन्होने अपनी अप्रस्तुत योजना में मानव और मानवेतर सभी व्यापार लिये हैं। इस प्रकार उनकी अलङ्कार-योजना में सहज ही प्रकृति से तादात्म्य हो गया है। जहाँ कवि सासारिकता से ऊबकर खिन्नमन से ऐसा स्थान खोजने को प्रयत्नशील होता है, जहाँ ऐहिक राग-विराग, मानापमान, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वो का अभाव हो, वहाँ स्वाभाविक रूप से ही अन्योक्ति अलङ्कार आ गया है।

सूर के काव्यो मे शब्दालङ्कारो की अपेक्षा अर्थालङ्कारो का ही प्रयोग अधिक और स्वाभाविक हुआ है, क्योकि शब्दालकार तो वर्ण-सौन्दर्य को ही विशेष रूप से प्रस्फुटित करते हैं। रूप-सौन्दर्य के लिये उनका इतना महत्त्व नही, क्योकि सूर का उद्देश्य रूप-सौन्दर्य चित्रण और उसके द्वारा भाव-सौन्दर्य का पोषण करना था। यही कारण है कि शब्दालङ्कार विशेष रूप से 'साहित्य-लहरी' के अतिरिक्त अन्यत्र नही मिलते। 'साहित्य-लहरी' की रचना सम्भवत शब्दालङ्कारो के प्रदर्शन के लिए ही हुई। शब्दालङ्कारो में उन्होने यमक अनुप्रास श्लेष, वीप्सा और वक्रोक्ति का विशेष प्रयोग किया है। श्लेष और यमक दृष्टकूट पदो में प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। अनुप्रास का प्रयोग तो सूर-काव्य में अत्यन्त ही स्वाभाविक है, क्योकि अनुप्रास द्वारा जहाँ एक ओर ध्वन्यात्मक सौन्दर्य का विधान होता है, वहाँ दूसरी ओर उससे वातावरण की सृष्टि भी। वीप्सा अलङ्कार कवि के हृदय की भक्ति-भावना का ही परिचायक कहा जा सकता है, क्योकि उसका प्रयोग उन्होने राधा और कृष्ण के

अंग-प्रत्यङ्ग के सौन्दर्य-रस-पान से तृप्त न होकर बार-बार स्वरूप-वर्णन में किया है। वक्रोक्ति का प्रयोग व्यङ्ग्योक्तियो में है। व्यग्य को शृगार रस का सर्वस्व कहा जा सकता है और शृङ्गार के सयोग और वियोग दोनों ही पक्षो में प्रेमी और प्रेमिकाओ द्वारा इसका आधार ग्रहण किया जाता है। सूर के काव्य मे व्यग्य को भी महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। उसके वात्सल्य में भी हमें व्यग्य के दर्शन होते हैं। विरहिणी गोपियो की उक्तियाँ तो उनके भावो के साथ व्यङ्ग्य को भी लेकर निकलती हैं, इसलिए उनमें वक्रोक्ति के सुन्दर उदाहरण भरे पडे हैं।

सूरसागर में अलङ्कार-रत्नो की कमी नही है। यदि कोई गोता लगाने का साहस कर सके तो चाहे जितने अलङ्कार निकाल सकता है। किन्तु हमारा अभिप्राय यहाँ पर अलङ्कारों का विस्तृत विश्लेषण और विवेचन नही है, केवल कतिपय अलङ्कारो का उल्लेख हम यहाँ करेंगे। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, महाकवि सूर ने अपनी रचना में अनेक अप्रस्तुत व्यापारो का आयोजन किया है, जिसके कारण उसमें साहृश्य-मूलक अलङ्कारो का प्राचुर्य है। साङ्गरूपक का प्रयोग सबसे अधिक हुआ है, जिसके उदाहरण 'सूरसागर' मे भरे पडे हैं। निम्नलिखित पद मे शाही ठाठ से सुशोभित पतितो के राजा 'सूर' को शायद आप पहिचान भी न सकें।

हरि हौं सब पतितन को राजा।
निन्दा परमुख पूरि रह्यो जग, यह निसान नित बाजा।
तृष्ना देश अरु सुभट मनोरथ, इन्द्री खड्ग हमारी।
मन्त्री काम कुमति दीबे कौं, क्रोध रहत प्रतिहारी।
गज अहँकार चढ्यौ दिगविजयी, लोभ छत्र करि सीस।
फौज असत-सगति की मेरैं, ऐसौ हौं मैं ईस।
मोह-मय बदी गुन गावत, मागध दोष अपार।
सूर पाप को गढ दृढ़ कीन्हौं, मुहकम लाइ किवार।[1]

सांसारिक विषयो के चक्र में पडकर नट का वेष धारण कर नाचते-नाचते सूर थक गये और वे अपने आराध्य से प्रार्थना करते हैं कि इस माया-नृत्य से पीछा छुडायें :

अब हौं नाच्यो बहुत गुपाल।
काम क्रोध कौ पहरि चोलना कंठ विषय की माल।
महा मोह के नूपुर बाजत निन्दा-शब्द रसाल।[2]

केवल उपमान का वर्णन कर उपमेय के गुणों की ओर सकेत करने से उक्ति में जो चमत्कार आ जाता है, उसे अप्रस्तुत के द्वारा पस्तुत का प्रशसन करने के कारण अप्रस्तुत प्रशसा कहते हैं। वर्ण्य वस्तु का नाम तक लिये बिना उसकी विशेषताओं के उद्-घाटन का यह सीधा-सादा ढग है। निम्नलिखित पद में गाय के वर्णन द्वारा प्रस्तुत अविद्या (माया) का सुन्दर वर्णन सूर ने किया है ·

१ सूरसागर (सभा) पद १४४
२ वही पद, १५३

माधौ जू यह मेरी इक गाय ।
अब आज तें आप आगें दई, लै आइयै चराइ ।
यह अति हरहाई, हटकत हूँ, बहुत अमारग जाति ।
फिरति वेद-बन ऊख उखारति, सब दिन अरु सब राति ।
हित करि मिलै लेहु गोकुलपति, अपने गोधन माँह ।
सुख सोऊँ सुनि बचन तुम्हारे, देहु कृपा करि बाँह ।
निधरक रहौ सूर के स्वामी, जनि मन जानौ फेरि ।
मन-ममता रुचि सौं रखवारौ, पहिलैं लेहु निवेरि ।[1]

सौन्दर्य की अनुभूति की पराकाष्ठा में सीधी-सादी भाषा में अभीष्ट प्रभाव की अभिव्यक्ति नहीं होती, तो कवि को कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है और वह अपनी सूक्ष्म दृष्टि से अनेकानेक उपमान खोज लाता है, जब इतने पर भी संतोष नहीं होता तो कल्पना द्वारा प्रस्तुत वस्तु के समान धर्म वाली वस्तुओं की सृष्टि कर उनसे उसका तादात्म्य स्थापित करता है । इस प्रकार उत्प्रेक्षा के अनेक रूप उसकी रचना में आ जाते हैं । सूर ने उत्प्रेक्षा का बहुत ही अधिक प्रयोग किया है । कृष्ण के मुख की छवि का वर्णन देखिये :

मुख छवि कहा कहौं बनाइ ।
निरखि निसिपति बदन-सोभा गयौ गगन दुराइ ।
अमृत अलि मनु पिवन आए, आइ रहे लुभाइ ।
निकसि सर तें मीन मानौ, लरत कीर छुराइ ।[2]

उत्प्रेक्षा के न जाने कितने उदाहरण सूर में भरे पड़े हैं ।[3] रूप-चित्रण में दृष्टान्त और उपमा का भी सूर ने खूब प्रयोग किया है । उपमा का एक उदाहरण देखिये :

हरि दरसन की साध मुई ।
उड़ियै उड़ी फिरति नैननि संग, कर फूटें ज्यौं आक रुई ।
× × × ×
सूखति सूर धान-अंकुर सी, बिनु बरसा ज्यौं मूल तुई ।[4]

मुरली मनोहर श्याम के सौन्दर्य का गोपियों पर भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ा है, जिसको द्योतित करने के लिए कवि उल्लेख अलंकार का आश्रय लेता है :

हरि-प्रति-अङ्ग नागरि निरखि ।
दृष्टि रोमावली पर रही, बनत नाहीं परखि ।
कोउ कहति यह काम-सरनी, कोउ कहत नहिं जोग ।
कोउ कहति अलि-बाल-पगति, जुरी एक सँजोग ।

१ सूरसागर (सभा) पद ५१
२ वही पद ६७०
३ वही पद २७१, ७२२, ६६८
४ वही पद ३४७३

वर्णन में व्यतिरेक का प्राचुर्य है। प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में उत्प्रेक्षा और साङ्गरूपक का तथा ससार की असारता, यौवन की क्षणभंगुरता, भगवत्प्रेम आदि के वर्णन मे उपमा के साथ-साथ अर्थान्तिन्यास का विशेष प्रयोग हुआ है।

अलकारों के अतिरिक्त काव्य की कलात्मकता में छन्दो का महत्त्व हम पहले ही बता चुके हैं। सूरदास जी की गेयपद-शैली में राग-रागिनियो का ही विशेष स्थान है, परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि छन्दो की परम्परा भी प्राचीन काल से चली आ रही थी और प्रत्येक कवि छन्दोमयी कविता को ही कविता समझता था। लय और छन्द से कविता की व्यजकता भी समझी जाती थी, क्योकि लय आन्तरिक वेग को प्रकट करने का साधन है। पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में भी इसको महत्त्व दिया गया है। हमारे यहाँ तो छन्दों की सृष्टि ही लय और स्वर के आधार पर हुई। लय के विषय में श्री लीलाधर गुप्त अपने 'पाश्चात्य साहित्यालोचन-शास्त्र' ग्रन्थ से लिखते हैं :

"लय की उत्पत्ति अन्तर्वेग से है और अन्तर्वेग को उत्तेजित करने की उसमें विशेष क्षमता है। लय हमें हँसा सकती है; लय हमें रुला सकती है; लय हमें अपकृष्ट कर सकती है; लय हमें उत्कृष्ट कर सकती है; लय हमें सुला सकती है; लय हमें जगा सकती है, लय हमें शान्त कर सकती है, लय हमे उन्मत्त कर सकती है; लय हमें संसार म अनुरक्त कर सकती है; लय हमें उदासीन कर सकती है, लय हमें हमारा सच्चा रूप दिखा सकती है, लय हमें ब्रह्म-प्राप्ति की ओर उन्नत कर सकती है। लय हमारे शरीर में हरकत कर देती है, हम ताल देने लगते हैं, हम नाचने लगते हैं। लय हमारे हृदय, हमारे फेंफडे, हमारी नाडियों को प्रभावित कर देती है। लय के प्रभाव के हेतु लय का विवेकपूर्ण प्रयोग होना चाहिये। भाव की जहाँ जैसी गति हो, वहाँ वैसी ही लय होनी चाहिये।"[1]

आगे चल कर गुप्त जी पद्य की लय पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं

"पद्य की लय में एकरूपता और नियमितता होती है। उसमे लय और पद का ढांचा भी होता है। ऐसा व्यवस्थित ढांचेदार पद ही छन्द होता है। छन्द का काव्यात्मक मूल्य और भी अधिक है। छन्द प्रवेक्षण (एण्टीसीपेशन) की प्रवृत्ति को उत्तेजित करके शब्दो का एक दूसरे से सम्बन्ध घनिष्ठ कर देता है। छन्द विस्मय द्वारा चेतना को धीमा करके मोहन-निद्रा-सी ले आता है और सुविकारिता, सूचकता, और सवेदनशीलता की वृद्धि करता है। छन्द अपनी गति और ध्वनि से अर्थ-प्रकाशन करता है। यदि अन्तर्वेग अति तीव्र हो, तो छन्द उसकी तीव्रता कम कर देता है और यदि अन्तर्वेग अतिमन्द हो, तो छन्द उसको उत्कृष्ट कर देता है। छन्द कविता का वातावरण उपस्थित कर देता है, काव्यात्मक अनुभव को छन्द साधारण जीवन के रागो से पृथक् कर देता है। छन्द काव्यात्मक अनुभव की अभिव्यक्ति को स्थिर और परिभाषित कर देता है। छन्द कल्पना को प्रज्वलित कर कवि को ऐसी दृश्यमान और श्रोतव्य प्रतिमाएँ प्रदान करता है, जिनसे उसके अनुभव की अभिव्यक्ति स्पष्ट और प्रेरक हो जाती है[2]।

---

१ पाश्चात्य साहित्य-लोचन के सिद्धान्त (लीलाधर गुप्त) पृष्ठ २२६-२२७

२ वही पृष्ठ २२८

गायत्री, त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्, जगती आदि वैदिक छन्द और मन्दाक्रान्ता, द्रुतविलम्बित, शार्दूल विक्रीडित, शिखरिणी, आदि लौकिक संस्कृत के छन्द इसी लय के आधार पर बनाये गये हैं। राग-रागिनियों के मूल में भी वे लय, गति और स्वर ही हैं। हिन्दी के छन्द प्राकृत और अपभ्रंश के छन्दों के ही रूपान्तर हैं। कुछ छन्द तो विशिष्ट कवियों की रचनाओं के आधार पर ही गढ लिये जाते हैं। हमारे कवि सूरदास जी की रचना गेयपद-शैली मे हुई है। उनके अधिकांश पद कीर्त्तन के रूप में हैं, इसलिये छन्दोविधान का कोई विशेष स्थान उनके काव्य मे नहीं है। पिङ्गल शास्त्रीय छन्दो की अपेक्षा संगीत शास्त्रीय राग-रागिनियाँ ही उनके काव्य में पाई जाती हैं। उन्होंने जिन राग-रागिनियो का प्रयोग किया है, उनमें से बहुतों का तो अभी तक नामकरण भी नहीं हुआ। वे भावानुकूल राग-रागिनी का प्रयोग करने में सिद्धहस्त थे और यही उनकी विशेषता थी। उनके पदो को छन्द शास्त्र की कसौटी पर कसना उपयुक्त प्रतीत नही होता, फिर भी काव्य की कलात्मकता दिखाने के लिये छन्दो का निर्देश करना आलोचना की एक पद्धति-सी हो गई है। डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने अपने 'सूरदास' में सूर के छन्दोविधान पर विशेष रूप से विचार किया है और 'सूरसागर' के वर्णनात्मक एवं गेय सभी अंशो का विश्लेषण छन्दो की दृष्टि से किया है। उन्होंने जिन छन्दो को 'सूरदास' में दिखाया है, उनमें से मुख्य-मुख्य निम्नलिखित हैं :

वर्णनात्मक प्रसङ्गो के छन्द

१—चौपई, चौपाई, दोहा, रोला आदि तथा उनसे निर्मित नवीन छन्द।[1]

२—अन्य छन्द।

'सूरसागर' में चरणो के आकार के विचार से छोटे और लम्बे सब तरह के छन्द पाए जाते हैं। जिन छन्दो का ऊपर उल्लेख हो चुका है, उनके अतिरिक्त कवि द्वारा प्रयुक्त—चन्द्र (१०,७) भानु (६,१५) कुंडल (१२,१०) सुखदा (१२,१०) राधिका (१३,९) उपमान (१३,१०) हीर (६, ६, ११) तोमर (१२,१२) शोभन (१४,१०) और रूपमाला (१४,१०) की गणना छोटे छन्दो में हो सकती है तथा गीतिका (१४,१२) विष्णु पद (१६, १०) सरसी (१६,११) हरि पद (१६,११) सार (१६,१२) लावनी (१६,१४) वीर (१६,१५) समान-सवैया (१६,१६) मत्त-सवैया (१६,१६) हंसाल (२०,१७) और हरिप्रिया (१२,१२,१०) को लम्बे छन्दो में गिना जा सकता है।[2]

सूर की भाषा

शैली के विवेचन में हम बता चुके हैं कि सामंजस्य और समन्वय ही रचना की सफलता का मूलमन्त्र है। कलाकार कला के विभिन्न अङ्गों का समन्वय करके आधारभूत वस्तु को हृदयग्राही और प्रभावोत्पादक बनाने का प्रयत्न करता है, परन्तु उसकी शैली का सौन्दर्य; विशेषकर भाषा की समृद्धि पर ही आधारित होता है। वह शब्दों का प्रयोग इस प्रकार करता है कि वे हमारे भावो और विचारो को व्यवस्थित कर देते हैं। उत्तम कलाकार भाषा को अपने आन्तरिक अनुभव के समकक्ष बना लेता है और उसकी भाव-प्रेषणीयता को द्विगुणित कर देता है। इसीलिये अर्थ मे चित्रोपमता और सजीवता लाने के लिये कवि अभिधा, लक्षणा

---

१ 'सूरदास' (ब्रजेश्वर वर्मा) पृष्ठ ५७२

२ वही पृष्ठ ५७६

और व्यञ्जना की सहायता से शब्दो को विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त करता है। कवि के हाथो में पडकर शब्द मे एक विशेष योग्यता आ जाती है और वह अर्थ-विशेष का वाहक बन जाता है। वास्तव में शब्द का मूल्य भी अनुभूति पर आधारित है। इसीलिये एक ही शब्द की व्यंजकता भिन्न-भिन्न कवियो की रचना में विविध रूप में परिलक्षित होती है। यूनानी आलोचक लॉञ्जायनस ने सुन्दर शब्दो को भावो और विचारो का प्रकाशन माना है। शब्द-चयन करता हुआ कवि किसी एक प्रकार की ही शब्दावली की सीमा में आबद्ध नही रहता उसके लिये तो मुख्य वस्तु भावों का अभिव्यञ्जन ही है जिसके अनुकूल वह भावानुकूल शब्दों का प्रयोग करता है, कभी प्राचीन मृत शब्दो को जीवन प्रदान करता है, कभी उपभाषाओ और बोलियो के शब्दो को ग्रहण करता है और कभी विदेशी शब्दो का भी उदारता के साथ स्वागत करता है। भारतीय शास्त्र में तो शब्द को बड़ा ही महत्त्व दिया गया है और उसे ब्रह्म की पदवी तक पहुँचाया है। विष्णु-पुराण' में शब्द को विष्णु का अंश माना है और 'महाभाष्य' में पतञ्जलि ने लिखा है कि—'भली-भाँति जाना हुआ सम्यक् रूप से प्रयुक्त शब्द लोक और परलोक दोनों मे अभीष्ट फलदायक होता है।'

भाषा शब्दों का ही समुदाय है, परन्तु कविता भाषा को भावो और विचारो का प्रतिनिधि बनाने का प्रयास करती है। कविता के लिये भाषा के श्रोतव्य और दृश्यमान दोनों ही चिह्न अपेक्षित हैं। श्रोतव्य चिह्न से कविता में गति, लय, वेग, कोमलता आदि गुण आते हैं और इसीलिए साहित्य-शास्त्र मे जहाँ तक और छन्दो को महत्त्व दिया है, वहाँ दूसरी ओर माधुर्य, ओज और प्रसाद—तीनो गुणों के लिए पृथक्-पृथक् अक्षर और शब्द निर्दिष्ट किये गए हैं। भाषा के दृश्यमान चिह्न से चक्षुरिन्द्रिय के माध्यम से भावो को हृदय तक पहुँचाया जाता है, इसलिये किसी कवि के मूल्याङ्कन में उसकी भाषा का विवेचन भी विशेष महत्त्व रखता है।

सूरदास जी ने अपने काव्य के लिए अपने इष्टदेव की विहार-भूमि ब्रज की ही भाषा को अपनाया। उनकी रचना में हमे ब्रज-भाषा का जो परिनिष्ठित और साहित्यिक रूप मिलता है, उसको देखकर यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि ब्रज-भाषा शताब्दियों से काव्य की भाषा रही होगी, सूर ने तो उसको सुसंस्कृत बनाकर साहित्यिक रूप देने में ही योग दिया होगा। खेद है कि आज हमें सूर के पूर्ववर्ती कवियो की वे रचनाएँ नहीं मिलती, जिनसे सूर की रचना का तारतम्य जोडा जा सके। आज जो साहित्य हमें उपलब्ध है, वह या तो अपभ्रंश मिश्रित डिंगल में है या सधुक्कडी भाषा में। कबीर आदि सन्त कवियों की बानी मे ब्रज-भाषा का जो रूप मिलता है, वह तो भाषा का खिचडी रूप ही कहा जा सकता है। खुसरो की भाषा अवश्य सुसंस्कृत देशी-भाषा का स्वरूप सामने रखती है, लेकिन उसकी प्रामाणिकता असंदिग्ध नही कही जा सकती। लालचन्द हलवाई कृत भागवत-भाषा मे भी ब्रज-भाषा का साहित्यिक रूप नही है। जो कोमल-कान्त-पदावली, भावानुकूल शब्द-चयन, सार्थक अलङ्कार योजना, धारावाही प्रवाह, संगीतात्मकता और सजीवता सूर की भाषा में है उसे देखकर तो यही कहना पडता है कि सूर ने ही सर्व प्रथम ब्रज-भाषा को साहित्यिक रूप दिया। संगीतात्मकता तो ब्रज-भाषा की थाती है। यह शौरसेनी अपभ्रंश का विकसित रूप है और बारहवी शताब्दी से ही इसे साधु-सन्तो और संगीतज्ञो ने अपना लिया था। वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यों और भक्तो ने जब इस भाषा को अपनाया तो

इसकी आशातीत सफलता हुई और यह समस्त भारत की राष्ट्र-भाषा नहीं, तो धर्म-भाषा तो बन ही गई। पश्चिमी हिन्दी वाले प्रान्तों में अब भी गीतों की भाषा ब्रज-मिश्रित ही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी-साहित्य के इतिहास' में लिखा है—

'यहाँ इस बात की ओर ध्यान दिला देना आवश्यक प्रतीत होता है कि 'काव्य-भाषा' का ढाँचा अधिकतर शौरसेनी या पुरानी हिन्दी का ही बहुत काल से चला आता था। जिन पश्चिमी प्रदेशों की बोलचाल खड़ी होती थी, उनमें भी जनता के बीच प्रचलित पद्यों, तुकबन्दियों आदि की भाषा ब्रज-भाषा की ओर झुकी रहती थी। अब भी यह बात पाई जाती है। इसी से खुसरो की हिन्दी रचनाओं में भी दो प्रकार की भाषा पाई जाती है। ठेठ खड़ी बोलचाल, पहेलियों और दो सखुनों में ही मिलती है, यद्यपि उनमें भी कहीं-कहीं ब्रज-भाषा की झलक है, पर गीतों और दोहों की भाषा ब्रज या मुक्त-प्रचलित काव्य-भाषा ही है।''[1]

परन्तु खेद है कि ब्रज-भाषा के विकास पर अभी तक हिन्दी-विद्वानों की दृष्टि नहीं गई है और न ब्रज-भाषा के सम्बन्ध में कोई प्राचीन पुस्तक ही उपलब्ध है। ब्रज-भाषा के साहित्य के इतिहास की भी आवश्यकता अभी बनी हुई है। आधुनिक विद्वानों में डा० धीरेन्द्र वर्मा ने 'ब्रज की भाषा' नामक एक पुस्तक फ्रेन्च भाषा में लिखी थी, किन्तु उनके पश्चात् भाषा-सम्बन्धी कोई वैज्ञानिक कार्य नहीं हुआ है। कहा जाता है कि शाहजहाँ के समय में 'सुन्दर' नाम के किसी विद्वान् ने ब्रज-भाषा पर एक पुस्तक लिखी थी, किन्तु वह अभी तक हमें देखने को नहीं मिली है। डा० दीनदयालु जी से पता चला है कि उसकी एक प्रति किसी म्यूजियम में सुरक्षित है। ब्रज-भाषा के सम्बन्ध में एक और पुस्तक प्राप्त है, जो मिर्जा खाँ ने सन् १६७६ में लिखी थी और जिसका सम्पादन सन् १९३५ ई० में श्री जियाउद्दीन ने "A Grammar of the Brij Bhakha" नाम से किया है। यह पुस्तक 'विश्व-भारती' से प्रकाशित भी हो चुकी है। इस पुस्तक का नाम फारसी में 'तुहफतुए-हिन्द' है। इस पुस्तक का सबसे पहले हवाला सन् १७८४ में 'सर विलियम जोन्स' ने अपने लेख 'On the Musical Modes of the Hindus' में दिया है। इस पुस्तक की पाण्डुलिपि इण्डिया ऑफिस के पुस्तकालय में सुरक्षित है। यह पुस्तक कई दृष्टिकोणों से बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इसमें हिन्दी-साहित्य की कई शाखाओं पर विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त जब फारसी के प्रभाव से उर्दू-भाषा फारसीमय होने लगी तो मिर्जा खाँ ने प्रचलित हिन्दी अथवा भाखा को इस पुस्तक के द्वारा मुसलमानों के अधिक निकट लाने का प्रयत्न किया और भाखा-साहित्य के अध्ययन का साधन प्रस्तुत किया। इस पुस्तक में जो शब्दकोश दिया है, उसमें प्रायः बोलचाल के शब्दों की ही अधिकता है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी यह पुस्तक बड़े महत्त्व की है, क्योंकि इसमें हिन्दी, अरबी और फारसी वर्णों का तुलनात्मक उच्चारण भी दिया है। जहाँ तक हो सका है, हिन्दी के शब्दों का सही उच्चारण देने का प्रयास किया है। इस पुस्तक में 'हिन्दी' और 'भाखा' दोनों शब्दों को पर्याय माना है। जबकि आगे चलकर इन्शाअल्ला खाँ ने अपनी 'रानी केतकी की कहानी' में 'हिन्दवी' और 'भाखा' शब्दों का भिन्न अर्थ में प्रयोग किया है। 'भाखा' का क्षेत्र निश्चित करते हुए,

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास (रामचन्द्र शुक्ल) पृ ५४

मिर्जा खाँ कहते हैं कि 'भाखा' विशेष रूप से ब्रज प्रान्त और उसके आसपास की बोली है। एक दूसरे स्थल पर ग्वालियर और चँदवार जिलो को भी भाखा के प्रान्त माना है।[1]

गगा और यमुना के दोआब की भाषा को उसने प्रभावशाली भाषा कहा है और चूँकि वह भाखा को ही प्रभावशाली मानता था, इसलिये ब्रज-भाखा का प्रसार दोआव मे भी काफी दूर तक था। सगीत वाले पाठ में उसने पजावी, राजपूती, खैरावादी, गुजराती का उल्लेख किया है और भाखा मे प्राकृत और सस्कृत को छोडकर प्राय· सभी वोलियो का समावेश बताया है। प्राकृत की उत्पत्ति भी भाखा और सस्कृत के मेल से बताई है। मिर्जा खाँ ने भाखा को ही सगीत के उपयुक्त बताया है और उसे कवियो और सभ्य मनुष्यो की भाषा कहा है। डा० ग्रियर्सन ने लिखा है

"The Hindi poetry in the Western Hindi language is almost all in Brijbhakha."[2]

सगीत के विषय मे भी इस पुस्तक मे विस्तार से लिखा गया है और छन्दो का भी विस्तृत विवेचन किया गया है। सबसे पहले ७५ मात्रिक छन्द सोदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं। फिर छप्पय छन्दो के ७१ भेद और वर्णिक छन्दो के १२१ भेद बताये हैं, अन्त में सस्कृत के आठ छन्द और हिन्दी के १४ नवीन छन्दो की विवेचना है। लेखक ने अपने हिन्दी-कोष में तीन हजार शब्द दिये हैं।

इस प्रकार यह पुस्तक भूमिका के अतिरिक्त छ अध्यायो में लिखी गई है और दूसरे भाग में हिन्दी-शब्दकोष के साथ भाखा के व्याकरण पर विचार किया गया, जिसमें दस अध्याय हैं। ब्रज-भाषा की दृष्टि से यह पुस्तक बडे महत्त्व की है। जैसा कि डा० ग्रियर्सन ने लिखा है

"I am not aware of any other earlier attempt at a grammar of the Hindi or Hindustani language other than that of Mirza Khan's John Joshua Katelaer wrote his grammar of the Hindustani in about 1715 A. D, which was Published by David Millius in 1743 A D Lalluji Lal of Agra (1803 A. D) is mentioned by Sir A. G Grierson as the author of a grammar, entitled Masadir-i-Bhakha Mirza Khan's Dictionary is again the first attempt at anything like a dictionary of the Hindi language. The dictionary of the Hindustani languge by Fraciscus M Turonesis, referred

---

1 Candwar, Chandwar, Janwar is a district 25 miles east of Agra on the route from Mathura to Etawa, on the river Jamna, and is mostly occupied by Cauhan tribes (Jarrat's Ain-i-Akbari, II p 183)

2 The Indian antiquary for January, 1903, Page 16.

to by J. C Amadutinus, was written in 1704 A D, regarding which he says that it could be seen in the Propaganda Library of Rome till 1761 A. D. Daya Ram Tripathi wrote a dictionary of Hindi in about 1741 A. D.[1]

ब्रजभाषा-व्याकरण की कसौटी पर सूर की भाषा खरी नहीं उतरती, क्योंकि उन्होंने ब्रजभाषा के ही शब्दों को नहीं तोड़ा-मरोड़ा, प्रत्युत अन्य भाषाओं के शब्दों को भी अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा की है, इसीलिये इनकी भाषा शुद्ध परिमार्जित भाषा नहीं कही जा सकती। यद्यपि इस भाषा का पूर्णरूप से परिष्कार रीतिकालीन कवियों ने किया, तथापि बोलचाल की भाषा को साहित्यिक रूप देने का सूर का प्रयास नितान्त सराहनीय है। संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों से तो उनकी भाषा का ढाँचा बनने में सहायता मिली ही है, अन्य देशी भाषाओं और अरबी-फारसी आदि विदेशी भाषाओं के शब्दों का भी महत्त्वपूर्ण योग है। इस प्रकार चलती हुई ब्रजभाषा को व्यापक और प्रभावशाली बनाने का स्तुत्य कार्य सूर ने ही सबसे पहले किया। भावानुकूल भाषा का प्रयोग करना ही अच्छे कवि की पहली विशेषता होती है, जिसके दर्शन सूरदास में सर्वत्र होते हैं। उनकी भाषा पात्र और परिस्थिति के अनुकूल ही है। हाँ, जहाँ कहीं विशेष राग-रागनियों की तुकबन्दी में उन्होंने शब्दों की तोड़-मरोड़ की है, वहाँ अवश्य कुछ खटक होती है, परन्तु ऐसे स्थल बहुत अधिक नहीं हैं। प्रायः अन्त्यानुप्रास के लोभ में ही तोड़-मरोड़ की गई है। विनय तथा भक्ति-सिद्धान्त-प्रतिपादन के पदों में संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों का ही अधिक प्रयोग हुआ है, रूप-चित्रण और प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में भी ऐसे ही शब्दों का प्राचुर्य है। संस्कृत के तत्सम शब्दों में यह बात लक्ष्य करने की है कि उन्होंने उन शब्दों को ब्रजभाषा की ध्वनि के अनुकूल ही बना दिया है। संस्कृत के कर्णकटु शब्दों में ब्रजभाषा के उच्चारण के आधार पर यत्किञ्चित् परिवर्तन कर उनमें उन्होंने माधुर्य लाने का प्रयास किया है। उनकी भाषा में तत्सम शब्दों की अपेक्षा तद्भव शब्दों का आधिक्य है, और कहीं-कहीं तो मूल तद्भव शब्दों से ही नये शब्द भी गढ़ लिये गए हैं। संस्कृत की तत्सम व तद्भव पदावली के अतिरिक्त खड़ी-बोली, अवधी, बुन्देलखण्डी और पंजाबी के शब्दों की भी कमी नहीं है। अवधी भाषा की सम्बन्ध-सूचक विभक्तियों को देखकर कभी-कभी तो सूर के पदों की पाठ-शुद्धि में भी सन्देह होने लगता है।

देशी भाषाओं के अतिरिक्त अरबी, फारसी के भी शब्दों का प्रयोग सूर की भाषा में पर्याप्त अधिकता के साथ हुआ है, परन्तु उन्होंने उन शब्दों को उसके मौलिक रूप में प्रयुक्त न करके प्रचलित रूपों में ही प्रयुक्त किया है। मुसलमान सम्पर्क के कारण देशी भाषाओं में अनेक मुसलमानी शब्दों का प्रवेश हो गया था और जन-साधारण द्वारा वे अपना भी लिये गए थे। यह प्रक्रिया शताब्दियों तक चलती रही। आज भी पश्चिमी हिन्दी के जिलों में अरबी-फारसी के शब्दों का इतना बाहुल्य है कि उनका एक अलग कोष बनाया जा सकता है, परन्तु ध्वनि आदि की दृष्टि से वे अपना रूप बदलकर हिन्दी-शब्दों में इतने घुलमिल

1 The Modern Vernacular Literature of Hindostan P. 101, 103, 75 and 76.
The Indian Antiquary for January 1903 P. 19

गये हैं कि साधारणतया विदेशी प्रतीत ही नहीं होते। ऐसे शब्दो का तो सूर ने खुलकर प्रयोग किया ही है; साथ ही साथ और भी नवीन शब्दो को अपनी भाषा के साँचे मे ढालकर ग्रहण किया है। सूर की भाषा-विषयक यह उदारता व्रजभाषा को समृद्धिशालिनी और प्रभावशालिनी बनाने मे बड़ी सहायक सिद्ध हुई। कुछ विदेशी शब्दो को तो उन्होने नामधातु बनाकर प्रयुक्त किया है। अन्य देशी और विदेशी भाषाओ के शब्दो की सख्या सूर-साहित्य में प्रचुर मात्रा में मिलती है।

सूर की भाषा मे लोकोक्तियो और मुहावरो का भी प्रचुर प्रयोग हुआ है। लोकोक्तियों और मुहावरो द्वारा भाषा की व्यजनाशक्ति कितनी बढ जाती है और साथ ही साथ सजीवता और प्रभावोत्पादकता भी आ जाती है, वह सब जानते हैं। किसी भाव की हृदय पर ठीक-ठीक छाप बिठाने के लिये मुहावरे अपना जोड़ नहीं रखते और जन-साधारण में प्रयुक्त लोकोक्तियाँ किसी अनुभव-विशेष के स्पष्टीकरण मे रामबाण हैं। कहना न होगा, सूरदास जी ने दोनो का ही आश्रय लिया है और एक-एक मुहावरे अथवा लोकोक्ति द्वारा वह प्रभाव उत्पन्न कर दिया है, जो कई-कई पदो से भी सम्भव नही।

डा० दीनदयालु गुप्त के निर्देशन में 'व्रजभाषा-सूर-कोष' लिखा जा रहा है, जिसके चार खण्ड लिखे जा चुके हैं। व्रजभाषा की दृष्टि से यह कार्य महत्त्वपूर्ण है। डा० व्रजेश्वर वर्मा ने भी अपने 'सूरदास' में 'सूरसागर' मे प्रयुक्त देशी, तथा विदेशी शब्दो की सूची दी है, परन्तु इस क्षेत्र में पृथक् रूप से विस्तृत कार्य की आवश्यकता है। यहाँ हम 'सूरसागर' में प्रयुक्त कुछ शब्दो की बानगी प्रस्तुत करते हैं। सुविधा के लिये प्रत्येक शब्द के आगे उस पद की सख्या भी दे दी गई है, जिसमे उस शब्द का प्रयोग हुआ है। यह पद-संख्या नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'सूरसागर' के अनुसार है

तत्सम शब्द

अहिपति (२९) अगीकार (३८) अम्बुज (४१) अधोमुख (५७) अनायास (१०५) अभिराम (४६६) अजिर (४६९) अपरिमित (४७०) अभिलाष (५१४) अवज्ञा (५२३) अवली (७२६) अनुभवति (१०९) आमिष (१०२) आयुध (३२१) आविर्भाव (४५९) आयुध (६२३) इन्दीवर (२४३१) कालिमा (५८) करभ (६९) कामना-कानन (१८७) कमल-दल-लोचन (२५०) कलत्र (३६८) कलेवर (४४०) कौतुक (६३३) कुन्तल (७७२) कोविद (७७२) कनीनिका (९८२) क्वासि (३०७०) खगपति (२५५) गृह (४) ग्राह २१) गह्वर (४८३) चिबुक (७२४) जलज (७१९) डिम्भ (७३५) तनया (३१) दारा (८०) दाहक (१६३) दम्पति (७१६) निरालम्ब (२) नासिका (७७) नारिकेल (७८) नृपति (२२७) प्रहारी (३१) पतित-पावन (१२८) पुनीत (४५६) पिनाक (४७२) प्रतीति (४८६) पन्नग (५०८) परिवेश (२४१४) भगिनी (१७३) मनोरथ (६०) मार (२२९) मम (२४६) महाबल (२५४) मुकुलित (३०७) रसना (३५९) राका (२१०) रुचिर (६९१) रजनीचर (८१७) वसुधा (४४०) समर (२७८) सरसिज (४५५) सघात (५२१) सकुचित (६८३) सत्वर (३७८९) सायक (२९) हाटक (७६९) त्राहि-त्राहि (२४९)

अनेक तत्सम शब्दो के उच्चारण की कठिनता को स्वरभक्ति अथवा कुछ अन्य ध्वनि परिवर्तनो से दूर किया गया। ऐसे शब्दो को अर्ध-तत्सम कह सकते हैं। सूर की भाषा में इस प्रकार के शब्दों की भी बहुत बड़ी सख्या है। यथा .

अँबोधि (१५५) अपजस (२०३) अम्रित (२४२) अँसुमान (४५३) आरत (२५१) कलेस (२५३) कृप्ना (२८५) गनिका (१६०) घिरत (२६०) जनम (२०८) जोजन (५१६) तीरथ (२०८) तदुल (२६७) दुरवासा (१६) पुस्चली (१०४) परतीति (१३४) पदुम (३३०) प्रापत (४४८) पारषद (४५६) परभात (५२७) परमोधत (११७८) तूनीर (४८८) निस्चै (२५७) बिस्राम (५७) विरध (३२६) भच्छि (१४०) निनुमार (११३८) भरमत (५२०) मरजाद (५३७) मरकट (३३२) बिसकर्मा (६५८) स्वारथ (५) स्रवन (२१) सूकर (४१) स्वान (४१) सरवस (६४) सुमृति (१८७) सांति (२३०) सुरसरि (२७४) समरपे (४५१) सृग (४४३) साच्छात् (२८४) सुरूप (२८४) हरता (२१५)।

परन्तु सूर के काव्य का सौन्दर्य बहुत कुछ तद्भव शब्दों के ऊपर है। ब्रज-भाषा के स्वाभाविक माधुर्य ने सूर की भाषा को अत्यत मधुर बना दिया है। उनके काव्य का ढाँचा तद्भव शब्दो से ही बना हुआ है। विशेषकर भ्रमरगीत में, गोपियों की सहज व्यंग्यात्मक उक्तियों में भाषा की सरलता और सरसता पराकाष्ठा को पहुँच गई है—

तद्भव

अँचरा (६६४) अजमरी (६३२) अनलहते (३२६) अनभावत (६४६) आहि (४८६) उचाढ़ी (१३५४) आखर (६५८) अटारी (५४४) औसर (४०) उछंग (६०६) काठ (४८६) कुरुखेत (२६) काँदो (६४५) कापरा (६५८) कोखि (६२२) केहरि (५०२) कोरा कौर (६७१) कोह (६७१) खभ (३२) सई (२६६) खिन (५०६) गुमाई (३) घरनी (५१७) चवाई (१४०) चकचौंधी (१३६२) छहियाँ (४६३) जुगति (२) जदपि (२१०) जोति (२१०) जीभ (५२३) टूटो (२३६) तिय (२०३) तरुनाई (३२६) तमचुर (८२०) डीठ (५४०) दूब (६३७) दीठि (८१८) यार (६३६) धनु (६४८) पाइतरी (२६८) परसना (२६५) पनहियाँ (४६३) पयान (४७७) पसारना (४८५) पाँवरी (४६८) [illegible] (४४१) बियो (३८) बूड़त (६२) बीता (२६१) बनिज (३१०) बीनऊँ (६१८) बिमाहन (८११) भाँडो (१४६) भोंदू (१८६) भूँजब (४८३) भौन (६६८) भुवाल (६२२) मूठि (४५५) मसान (३७८६) बिलम (५५६) बौंडर (६६६) लच्छा (४) रूला (१८६) साँवरो (५) सियार (४१) सीवाँ (२२६) मराय (२२६) मीत (२५६) बछल (२६७) सेज्या (२६८) सतिभाए (२८४) सजनी (४८८) गीध (५०६) राकस (५२३) सरिस (५२७) साँझ (६१३) सकात (८१४) सिकहुरे (६६५) बिज्जु (७००) लिलार (६४२) मोल (२६१०) मूसे (२५४६)।

इनके अतिरिक्त अति-प्रचलित ग्रामीण शब्दों का प्रयोग भी सूरदास ने बहुलता के साथ किया है। कुछ ग्रामीण शब्द ऐसे भी हैं, जिनका प्रयोग अब या तो होता ही नहीं, या विरल रूप में होता है। कुछ प्रचलित शब्द ये हैं

पौंचट (६) करतूति (४६४) करनी (२६६८) खुनुन (१६६) ख्याय (२०२) गनेरे (२०६) औघट (२०८०) ऐंडावत (८६०) घीच (६७८) गोंडियाँ (७६६) चिरिया (२३४) चुटिया (७८०) चुचकारे (८०१) भुगियाँ (२४४) उहूकावें (२३३) टाटे (५४०) डोरन (२८४) ठुकठुक (६०३) टकटोरत (७६२) ढुको (३४६६) तलबेली (२५८३) गुरगुरी (७६२) नेरे (२०६) नौवा=नाई (७६८) बगदाइ (६०) बिरियाँ (१८८) बरोठो (८५०) बोहनी (२०८२) बिगोवै (२८४६) भभकत (५७३) मूट (७) मोट (१८४) माँझ (२४३४) लठयोंगी (१८६) लाहा (३१०) सालना (३८) साँज (१३०) सटिया (१६२)।

हैं—भूपनसिया=सिया का भूपण, सुकसीपज, अर्थात्—मोतियो की माला। पेला (२५६१) ढोरी (२५५६) आदि गुजराती और झहरना (२५३८) आदि बुन्देली शब्द भी जहाँ-तहाँ मिल जाते हैं। तत्सम, अर्द्ध-तत्सम, विदेशी और ग्राम्य-विशेपण शब्दो का निम्नलिखित पद में एक साथ प्रयोग हुआ है

प्रभु जु हौं तो महा अधर्मी।
अपत, उतार, अभागौ, कामी, विपयी, निपट कुकर्मी।
घाती, कुटिल, ढीठ, अति क्रोधी, कपटी, कुमति, जुलाई।
औगुन की कछु सोच न संका, बडो दुष्ट, अन्यायी।
बटपारी, ठग, चोर, उचक्का, गाँठिकटा, लठवाँसी।
चंचल, चपल, चबाइ, चौपटा, लिये मोह की फाँसी।
चुगुल, ज्वारि, निर्दय, अपराधी, झूठौ, खोटौ-खूटा।
लोभी, लौंद, मुकरवा, झगरू, बडो पढैलो, लूटा।
लपट, धूत, पूत दमरी कौ, कौडी कौडी जोरै।
कृपन, सूम नहिं खाइ खवावै, खाइ मारि कै औरै।
लगर ढीठ, गुमानी, टूँडक, महा मसखरा रूखा।
मचला, अकलै-मूल, पातरो, खाँउ-खाँउ करै भूखा।
निर्धन, नीच, कुलज, दुर्बुद्धी, भौंदू नित को रोऊ।
तृष्णा हाथ पसारे निसदिन, पेट भरे पर सोऊ।
बात बनावन कौ है नीकौ, बचन-रचन समुझावै।
खाद-अखाद न छाँडै अब लौं सब मैं साधु कहावै।
महा कठोर, सुन्न हिरदे कौ, दोष देन कौं नीकौ।
बडौ कृतघ्नी और निकम्मा, वेधन, राँकौ फीकौ।
महामत्त बुधि-बल कौ हीनौ, देखि करै अधेरा।
बमनहिं खाइ, खाइ सो डारै, भाषा कहि-कहि टेरा।
मूक, निन्द, निगोडा, भौंडा, कायर काम बनावै।
कलहा, कुष्टी, मूप रोगी अरु काहूँ नैंकु न भावै।
पर-निन्दक, परधन कौ द्रोही पर सतापनि बौरौ।
औगुन और बहुत हैं मोमैं कह्यौ सूर मैं थोरौ।[1]

यह जहाँ-तहाँ से एकत्र किये हुए शब्द-सूत्रो का वाग्जाल नही है, दैन्य की पुनीत अनुभूति में भक्त-कवि के अन्त करण से उमडकर फूट निकलने वाली भाव-धारा है, जिसे किसी एक सकीर्ण दिङ्मार्ग में आबद्ध होकर प्रवाहित होने के लिये बाध्य नही किया जा सकता, अपितु जो अपनी व्यापकता मे चारो ओर अपना रास्ता बनाती हुई चलती है। केवल किसी एक ही प्रकार के शब्दो के प्रयोग का आग्रह न कर, सचमुच सूर ने अपनी भाषा

१ सूरसागर (सभा) पद १८६

को एकदेशीय अथवा पंगु होने से बचा लिया है। हमारे भाव-सम्राट् कवि ने मनोदशा-विशेष के चित्रण में भाषा को भाव के समानान्तर लाने के लिये स्तुत्य प्रयास किया है। भाषा को प्रवाह और प्रभाव प्रदान करने वाली मिली-जुली शब्दावली उसी प्रयास का एक अङ्ग और सूर की उस समन्वयवादी प्रवृत्ति का प्रतीक है, जिसका स्पष्ट प्रस्फुटन 'हरिहर संकर नमोनम.'[1] वाले पद में हुआ है।

मुहावरे और लोकोक्तियाँ

भाषा को प्रौढ़ता प्रदान करने में मुहावरे और लोकोक्तियों का कितना हाथ है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। इन सीधी और सरल उक्तियों में मानव-समाज का चिरकाल का अनुभव संचित है, इनका आधार मनोवैज्ञानिक है, अतएव देश और काल की सीमा से ये परे हैं और मानव मात्र के हृदय को समान रूप से स्पर्श करने की क्षमता रखती हैं। आश्चर्य होता है उस अन्धे कवि की सूक्ष्मदर्शिता, दूरदर्शिता और विस्तृत निरीक्षण पर, जिसने अपनी शब्दावली में अनेक सूक्ति-रत्नों को गूँथकर वाणी का अपूर्व शृङ्गार किया है। सूर द्वारा प्रयुक्त कुछ मुहावरे और लोकोक्तियाँ यहाँ दिये जाते हैं

मुहावरे

अँगुरी गहत गह्यो जिहि पहुँचो (१९२३) अपने ही सिर लानना (२४८६) अपनी सी करना (२९६८) आँखि धूर सी दीन्ही (१३१२) आँख बरसना (३८२७) आँखि बरति है मेरी (४१४६) इतनो कहा गाँठि को लागत (३१८८) उपजे ओछे नछत्र के (३०१४) उनहि हाथ कर पाऊँ (१५१३) एकहु अंग न काँची (१६४८) एक बात की बीस बनाई (३२५०) एक डाल के तोरे (४२१३) ओछे बासन (२९३०) कर मींडे सहचरि पछिताई (१३६६) कछू मूँड पढ़ि परज्यो (२९६५) कैसे मन दै बँसी (१८७७) एक दुख दूनै हाँसी (४६६१)।

गाढे दिन के मीत (३१) गूँगे गुर की रसा गई ह्वै (३१४७) गगन में कूप खोदना (४२१८) गेरे की दूब होना (४६०७) जाति-पाँति उघटना (१९५३) ज्यों-त्यों करि (२८७६) जिय में सूल रही (३९१७) जन्म बिगाड़ना (३९५६) जरे पर जारत (४५२१) भरत रहत दिन-राती (४२९९) चाम के दाम चलावत तुम तो (४६५४) घर के चोर (२८८७)।

टोंका न लगना (११३) ठगमूरी खाई (१९१९) ठगोरी लाई (२६८९) कहा ठगी सी ठाढ़ी (३०३३) ढोल बजाइ ठगो (३८८३) ठग मोदक होना (४०१६)।

तारे गिनना (३९२७) तेरो कह्यो पवन को भुस भयो (४१५८) तिनका तोड़कर डालना (२७५२) दई परयो (१२१३) दई की घाली (१६२१) द्वै कौड़ी के (३८०२) दंत जरे पर लोन (४१४०) नाच नचाना (४२) नैन लगना (२०७५) नन्द महर की कानि करत हों, नतु करती महमानी (२०९७) ना जानों किहि घाट तरे री (२९१२) निपट रई को खोगो (४१५८) पुरही ते माटो खायो है (४५८३)।

---

१ सूरसागर (सभा) पद ७८६

पाठ पढ़ाना (१६०६) पोच करना (२४४६) पीछे-पीछे फिरना (२६६२) पराए होना (३०११) पलक न पडना (३८९५) पैंडे पडना (४२३३) फिरत धतूरा खाए (४६५८) फूटि गई तब चारचौं (१०१) बदति नहिं काहू (१८५६) बातें गढि-गढि बानत (२९२८) बोहित के काग (२९३०) बारह बाने (४१३८) भयौ हाथ पाथरतर का (२५३४) नैना भये बजाइ गुलाम (२८५७) भाँवरि सी परि फिरैं (२९२१) भौंह तानना (२९२८) भुस पर की भीति (३८०२) मनो गढे दोउ एकहिं साँचे (४२०७) मनमानी कहना (४१३६) मनमानी कछु खाते (४१३४) मूठ मारना (३९५६) मन की मन ही माँझ रही (३८९८) मरत लोचन प्यास (३८४६) मूँछहि पकरि अकरतौ (२०३) मूँछहि ताव दिखायौ (३०१) मीठी-खाटी कहना (८७२) मुँह सम्हार तू बोलत नाहीं (११५५) मूँड चढ़ाना (१८८८) मामी पीना (२१०९) मिली दूध ज्यो पानी (२५१६) मन मिलना (२६१८) मधु तोरे की माखी (३७७८) बाल खसना (३७)।

रग भुलाने (१९२२) लीक खीचकर कहना (२५१५) लेन न देन (२८६९) रतन छोरि दियौ माटी (४२१३) सीस चढा लेना (२४८६) हस काग का सग भयौ (४०३६) लाम्बी मेल दई है तुमकौं (४१५८) मन तौ रह्यौ पपि सूरज प्रभु माटी रही धरी (३८९८) कौ द्वै नाव चढ़त हैं (१९०५) मुडी डोर ज्यो तोरी (३९७९)।

लोकोक्तियाँ

अपने स्वारथ के सब कोऊ (४५९३) अपनौ दूध छाँडि को पीवै, खार कूप कौ बारी (४५८३) इतकी भई न उतकी सजनी (२९३५) एक आँधरो हिय की फूटी दौरत पहिरि खराऊँ (४७४४) ओछोई इतरात (१८८९) कचन खोइ, काँच लै आए (३१२९) काटहु अम्ब बबूर लगावहु, चन्दन की करि बारि (४५२७) कहा कथत मासी के आगे, जानत नानी नानन (४५६४) गढी जारी विधना की, जैसी तैसी ताहि (१८९७) खाटी मही कहा रुचि मानै, सूर खवैया घी कौ (४४७६) काकी भूख गई मन लाडू (४४७९)।

जाके हाथ पेड, फल ताकौ (१६५१) जाकौ मन मानत है जासौं, सो तहँ ही सुख मानै (१९२२) जो बुनिये, सोई पुनि लुनिये (२४०३) जो छोटी तेई है खोटी (२६६९) जोइ लीजै सोई है अपनौ (२८८३) जाकी बान परी सखि जैसी सो तहिं टेक रह्यौ (२९३२) जूठे खँये मीठै कारन (२९५९) जोबन रूप दिवस दस ही के (३२१०) जाहि लगै सोई पै जानै (३९५५) ज्यो ऊजर खेरे की पुतरी को पूजै को मानै (४६६२) जैसे बास बसत है कोऊ तैसो होत सयानो (४६४५) जे भयभीत होहिं सृग देखे क्योऽब छुवहिं अहि कारौ (४३६०) जल बूडत अवलम्ब फेन कौ (४२३९) ताकौ कहा परेखौ कीजै जानै छाछ न दूधौ (४५०८) तुमसौ प्रेमकथा का कहिबौ मनो काटिबौ घास (४५७८) दियौ अपनौ लहै सोहि (२४४९) धान का गाँव पयार तै जानो (४२१८) धोखे ही बिरवा लगाइ कै काटत नाहिं बहोरी (४५९२) नीर नारी नीचे ही कौं चलैं जैसे धाय (१८८९)।

मारे कौं मारत हैं बडे लोग माई (२९२१) बाजी ताँति राग हम बूझौं (४२६७) बैंद धागें भेद कैसे (४४८३) लौंडी की डौंडी जगबाजी (४२७०) लेवा देई घराघरि में है कौन रक कौ भूप (४३८७) मूरी के पातन के बदलैं को मुक्ताहल दैहै (४२८२) प्रेम कथा सोई पै जानै जापै बीती होई (४१६०) कही कौन पै कहैं कनूका जिन हठि भुसी पछोरी (४१७१)।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

की भाँति व्याप्त रहते हैं तथा प्रत्येक प्रकार के ज्ञान के मूल कारण होते हैं। भाव प्रत्येक व्यक्ति के अन्तस् का एक धर्म हैं, इसलिये वर्णनातीत हैं और केवल अनुभवगम्य हैं।

इन भावो की सख्या भी अनन्त है. फिर भी विशिष्ट-विशिष्ट लक्ष्यो को दृष्टिकोण मे रखकर विचार करने से हम उन्हे तीन श्रेणियो मे विभाजित कर सकते हैं—इन्द्रिय-जन्य, प्रज्ञात्मक और गुणात्मक। इन्द्रिय-जन्य भाव—इन्द्रियो द्वारा प्राप्त ज्ञान से उत्पन्न होते हैं। किसी मधुर फल के आस्वादन से हमें सुख की उपलब्धि होती है और कटुफल-भक्षण से दु ख की। प्रज्ञात्मक भाव—वर्तमान, भूत या भविष्यत् के अनुभव के आधार पर इन्द्रिय-जन्य भावो को उद्दीप्त करते हैं। हमारे हाथ के कटने से उत्पन्न हुआ शारीरिक दु ख भावी कार्यो के अवरोध-विषयक निश्चय से उद्भूत मानसिक दु ख से युक्त होकर और भी अधिक हो जाता है। भाव किसी स्थूल वस्तु के सम्बन्ध से प्रकट होते हैं। जिस वस्तु से ये अभिव्यक्त होते हैं, उसे विभाव कहते हैं, जो दो प्रकार के होते हैं—आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन-विभाव वे होते हैं, जो मन में किसी चित्र का उदय करते हैं तथा कल्पना की सहायता से उपस्थित होते हैं। उद्बुद्ध भावो को उद्दीप्त करने वाले विभाव उद्दीपन-विभाव कहलाते हैं।

गम्भीरता की मात्रा की दृष्टि से भाव दो प्रकार के होते हैं—सचारी-भाव और स्थायी-भाव। सचारी-भाव वे होते हैं, जो तरङ्गो के सदृश उठ-उठकर तनिक-सी देर मे विलीन हो जाते हैं, परन्तु जो भाव रसास्वादन पर्यन्त मन में ठहरते हैं, उन्हे स्थायी-भाव कहा जाता है। सचारी-भाव स्थायी-भाव के पोषक के रूप में ही आ सकते हैं, उससे बढकर नही हो सकते। वे स्थायी-भाव के रूप मे ही मिल जाते हैं और इस तादूप्य के लिये स्थायी-भाव ही मूल सामग्री उपस्थित करता है।

संचारी-भावो की सख्या सस्कृत आचार्यों ने ३३ मानी है। देव ने 'छल' को भी सचारियो में गिनकर यह सख्या ३४ तक बढाई। स्थायी-भावो की सख्या भरत ने ८ मानी है, जिनका उल्लेख मम्मट ने अपने 'काव्य-प्रकाश' मे इस प्रकार किया है :

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भय तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावा प्रकीर्तिता।[१]

अर्थात्—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय, स्थायी-भाव बताये गए है।

[१] रति—स्त्री-पुरुष के पारस्परिक दाम्पत्य प्रेम को 'रति' कहते हैं।

[२] हास—किसी की वाणी, भङ्ग आदि की विकृति से जनित मानसिक उत्फुल्लता को 'हास' कहते हैं।

[३] शोक—किसी प्रियजन के अनन्त वियोग के कारण उत्पन्न व्याकुलता ही 'शोक' है।

[४] क्रोध—बहुत बडा अहित करने वाले दोषी को दण्ड देने के हेतु उत्तेजना देने वाला मनोवेग 'क्रोध' कहलाता है।

[५] उत्साह—दान, वीरता आदि के प्रसङ्ग से उसमें प्रवृत्त होने की प्रेरणा देने वाली उत्तरोत्तर उन्नतिशील मनोवृत्ति 'उत्साह' है।

---

१ काव्य-प्रकाश, चतुर्थ समुल्लास

[६] भय—प्रवल अनिष्ट के कारणो को देखकर मन में उत्पन्न हुई

[७] जुगुप्सा—घृणोत्पादक वस्तुओ का अवलोकन कर, उनसे दूर करने वाली वृत्ति 'जुगुप्सा' है।

[८] विस्मय—असाधारण वस्तु के अवलोकन से उत्पन्न अ कहलाता है।

'काव्य-प्रकाशकार' ने निर्वेद को स्थायी-भाव मानकर नवम शांत नामक रस को मानने वाले आचार्यों का समर्थन किया है

निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रस.।[१]

सूर का भाव-पक्ष

विभावो द्वारा स्थायी-भाव के उद्दीप्त होने पर आन्तरिक भावो के जो चिह्न वाह्य आकृति और चेष्टाओ के रूप में दीख पडते हैं, वे अनुभाव कहलाते हैं। इन स्थायी,भाव अनुभाव, विभाव और सचारी भावो के योग से रस की निष्पत्ति होती है। किम प्रकार होती है ? इस प्रकार का उत्तर विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने शास्त्र के ढंग पर दिया है। हमारा उद्देश्य यहाँ रस-विवेचन नही है। हमें तो यह कहना है कि हमारे चरित नायक सूर आचार्यो द्वारा गिनाये हुए इन भावो और अनुभावों मे ही वँधकर नही चले। उन्होंने दाम्पत्य-रति के अतिरिक्त भगवद्विपयक रति और वात्सल्य रति को भी रस की कोटि तक पहुँचाया है। और आचार्यों द्वारा प्रतिपादित शृङ्गार रस-सम्वद्ध सञ्चारियो के अतिरिक्त अन्य कितनी ही मनोदशाओ की अभिव्यक्ति कर शृङ्गार को रस-राजत्व प्रदान किया है। यही तो सूर का सूरत्व है। यो तो कृष्ण-कथा पाँच सहस्र से भी अधिक वर्षों से अनेक वक्ताओ के मुख से कही जाती रही है, और इस कारण पिष्टपेषित-सी प्रतीत होती है, किन्तु सूर ने उसमें अपने भावरस का सम्मिश्रण कर कल्पना के दिव्य साँचे में ढालकर उसे इतने सुन्दर रूप मे जनता के सम्मुख रखा कि वह उनके आराध्य युगल की दिव्य सौन्दर्यमयी सफल प्रतिकृति प्रतीत होती है, जिसके हृदय में प्रेम की अनन्त उत्ताल तरगें उठती हैं, पर कोलाहल नही होता, आँखो में वियोग के काले मेघ उमडते हैं, पर गर्जन नहीं होता, भावो का जमघट होता है, परन्तु ओठो में स्पन्दन नही होता। जहाँ आग्रह के साथ सकोच, औत्सुक्य के साथ सन्तोप, किशोर चपलता के साथ यौवन की गम्भीरता, और साधना के साथ साव का असाध्य सामजस्य है।

भगवान् की शील, शक्ति और सौन्दर्य-विभूतियो में से सूर ने केवल सौन्दर्य का ही चित्रण किया है उन्होंने केवल वाल्य और यौवन से सम्वद्ध जीवन-झाँकियाँ ही दिखाई हैं, तुलसी की भाँति समस्त जीवन का, विविध अवस्थाओ का और विभिन्न परिस्थितियो का चित्रण न्उहोंने नहीं किया। यही कारण है कि सूर का वर्ण्य-विपय सीमित हैं, क्योकि इन्ही दोनो अवस्थाओ से सम्वद्ध वात्सल्य और शृङ्गार रसो की अभिव्यक्ति—वाल्य और यौवन अवस्थाओ के भावो और व्यापारों के चित्रण से ही उन्होंने सरोकार रखा है। उन्हे न समाज से कुछ मतलव था, न शोक-मर्यादा का ध्यान। जनता को उपदेश देने की सन्त कवियो वाली प्रवृत्ति भी नहीं थी। वे तो ऐकान्तिक साधक थे। उनकी मथुरा तीन लोक से न्यारी

---

१ काव्य-प्रकाश, चतुर्थ समुल्लास

कंधो, जिसमे कृष्ण, गोपियाँ, उनकी क्रीडाएँ बाल-सुलभ चापल्य, नन्द और यशोदा का वात्सल्य, मुरली, रास, यमुना, वृन्दावन, कालिन्दी-तट के निकुञ्ज आदि ही सम्मिलित थे। प्रेम की साँकरी गली में सूर और उनके व्रजभाषा-वल्लभ श्याम के अतिरिक्त कोई अन्य समा ही कैसे सकता था। उन्होंने सखा बन कर कृष्ण की लीलाओ को साक्षात् देखा। ससार से सम्बन्ध त्याग कर ही वे प्रभु के इतने विश्वासपात्र बन सकते थे। उनके आराध्य का जीवन भी उतना सामाजिक नही था, जितना तुलसी के राम का। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इस विषय मे यह कथन है—

"पारिवारिक और सामाजिक जीवन के बीच हम सूर के बालकृष्ण को ही थोडा बहुत देखते हैं। कृष्ण के केवल बालचरित्र का प्रभाव नन्द, यशोदा आदि परिवार के लोगो और पडोसियो पर पडता दिखाई देता है। इसी बाललीला के भीतर कृष्ण का लोकपक्ष अधिकतर आया है, जैसे—कस के भेजे हुए असुरो के उत्पात से गोपो को बचाना, काली नाग को नाथकर लोगो का भय छुडाना। कृष्ण के चरित मे जो यह थोडा-बहुत लोकसग्रह दिखाई पडता है, उसके स्वरूप मे सूर की वृत्ति लीन नही हुई है। जिस शक्ति से बाल्यावस्था में ऐसे प्रबल शत्रुओ का दमन किया गया, उसके उत्कर्ष का अनुरजनकारी और विस्तृत वर्णन उन्होने नहीं किया, जिस ओज और उत्साह से तुलसीदास जी ने मारीच, ताडका, खरदूषण आदि के निपात का वर्णन किया है, उस ओज और उत्साह से सूरदास जी ने बकासुर, अघासुर और कस आदि के वध और इन्द्र के गर्व-मोचन का वर्णन नही किया है। कस और उसके साथी असुर भी कृष्ण के शत्रु के रूप मे ही सामने आते हैं, लोक-शत्रु या लोक-पीडक के रूप मे नही।"[1]

बात यह है कि शुक्ल जी तुलसी को आदर्श मानकर काव्य को लोक-मर्यादा और लोक-मङ्गल की दृष्टि से ही देखते थे। उनका अपना निजी दृष्टिकोण था, परन्तु जैसा कि हम निवेदन कर चुके हैं, सूर व्यक्तिगत साधना के कायल थे। उन्हें शहर के अन्देशे से दुबला होना इष्ट नही था। इसके अतिरिक्त सूर का काव्य मुक्तक प्रगीत-काव्य है, जिसमें प्रबन्ध-काव्य के महान् कान्तार में उन्मुक्त रूप से विकसित होती हुई घटना-वल्लरियो और व्यापार-पादपो की शाखाओ के प्रसार का आतङ्कमय स्वरूप नहीं मिलता, पर नियमित भावसुमन-वाटिका के मनोहारी दृश्य की रमणीयता अवश्य मिलती है। अपने सीमित क्षेत्र में ही सूर की कला ने ऐसी कमनीय 'कला' का प्रदर्शन किया है कि अन्य कलाकार हेच हैं। उनकी कल्पना को उडने के लिये भले ही लम्बा क्षेत्र नहीं मिला है, पर वह पाठक को अपने साथ इतना ऊँचा उडा ले जाती है, जहाँ पहुँचकर उसे अन्य कवियो की कल्पनाएँ अत्यन्त क्षुद्र दीख पडती हैं। वात्सल्य और शृङ्गार के रस की जो धारा उन्होंने बहाई, उसका प्रसार जितना कम है, गम्भीरता उतनी ही अधिक है। स्वय आचार्य शुक्ल का मत यहाँ उल्लेखनीय है —

"वात्सल्य और शृङ्गार के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बन्द आँखो से किया, उतना किसी अन्य कवि ने नही। इन क्षेत्रो का कोना-कोना वे झाँक आए। उक्त दोनो के प्रवर्त्तक रति-भाव के भीतर की जितनी मानसिक वृत्तियों और दशाओ का

---

१ सूरदास, (आचार्य शुक्ल) पृष्ठ १७२-१७३

अनुभव और प्रत्यक्षीकरण सूर कर सके, उतनी का और कोई नही। हिन्दी-साहित्य में शृंगार का रस-राजत्व यदि किसी ने पूर्णरूप से दिखाया है—तो सूर ने।"[१]

वल्लभ-सम्प्रदाय में वात्सल्यासक्ति और दाम्पत्यासक्ति को बडा महत्त्व दिया गया है। नन्द, यशोदा और राधा के साथ अपने हृदय का तादात्म्य स्थापित कर कृष्णभक्त कवि प्रेममत्त रहते थे और फिर भला उनके हृदय के भावो को वे कैसे न निकाल लाते? सूर ने वात्सल्य और दाम्पत्य—दोनो प्रकार की रति का बडा ही मर्मस्पर्शी अभिव्यजन किया है, जिसमें सयोग और वियोग—दोनो पक्षो के अनेक हृदयग्राही चित्र हैं। नन्द के घर खेलते, डोलते, नाचते कृष्ण का एक चित्र देखिये

वलि गइ वाल-रूप मुरारि।
पाइ पैंजनि रटति रुन-झुन, नचावति नन्द-नारि।
कवहुँ हरि कौं लाइ अँगुरी, चलन सिखवति ग्वारि।
कवहुँ हृदय लगाइ हित करि, लेत अञ्चल डारि।
कवहुँ हरि कौं चितै चूमति, कवहुँ गावति गारि।
कवहुँ ले पाछे दुरावति, ह्याँ नही वनवारि।
कवहुँ अँग भूपन वनावति, राइ-लोन उतारि।
सूर सुर-नर सवै मोहे, निरखि यह अनुहारि।[२]

वात्सल्य रस के समस्त तत्त्व इस पद में मिल सकते हैं। कृष्ण आलम्बन हैं, यशोदा आश्रय, कृष्ण की अनुपम छवि, रुनक-झुनक पैंजनियाँ वजाते हुए चलना, नाचना आदि उद्दीपन हैं। यशोदा का हरि को देखना, चूमना, आंचर में छुपाना, पीछे की ओर दुराना आदि अनुभाव हैं, और हर्ष संचारी-भाव।

एक उदाहरण और लीजिये। वालक कृष्ण मणिमय आँगन में अपने प्रतिविम्व को पकडने की कोशिश मे हैं। कभी वे अपनी छाँह को पकडना चाहते हैं और कभी किलक किलक कर अपनी दँतुलियों का सौन्दर्य दिखाते हैं। यशोदा सुत की क्रीडाओ को देख कर फूली नही समाती। वह वार-वार नन्द को इस सुख में शामिल होने के लिए वुलाती हैं। नारी की मातृत्व-भावना स्वय अकेले ही वात्सल्य का अनुभव कर सतुष्ट नही होती, उसकी पूर्ण सतुष्टि—वात्सल्य का पूर्ण आस्वादन—यहाँ भी पति का योग चाहती है। मातृत्व के साथ दाम्पत्य की यह सयोग-कामना नारी हृदय का गूढ रहस्य है, जिसका उद्घाटन सूक्ष्म निरीक्षण करने वाले सुकवि ही कर सकते हैं। क्षणिक हवाइयाँ छोडने वाले कवि-म्मन्यो के वस की यह वात कहाँ

किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत।
मनिमय कनक नन्द कैं आँगन विम्व पकरिवैं धावत।
कवहुँ निरखि हरि आपु छाँह कौं कर सौं पकरन चाहत।

१ सूरदास (आचार्य शुक्ल) पृष्ठ १६७
२ सूरसागर (सभा) पद ७३६

किलकि हँसत राजत द्वै दँतियाँ, पुनि-पुनि तिहिं अवगाहत ।
कनक भूमि पर कर-पग-छाया, यह उपमा इक राजति ।
करि करि प्रतिपद प्रतिमनि बसुधा, कमल बैठकी साजति ।
बालदसा सुख निरखि जसोदा, पुनि-पुनि नंद बुलावति ।
अँचरा तर लै ढाँकि सूर के प्रभु कौं दूध पियावति ।[१]

सांसारिक अनुभवों से दूर रहते हुए भी सूर ने सांसारिक सम्बन्धों का अप्रतिम वर्णन किया है । पुरुष होकर भी वे माता के हृदय से विभूषित थे और अन्धे होते हुए भी सूक्ष्मदर्शी और दूरदृष्टा थे । माँ के हृदय की कोमल कामनाओं का निम्नलिखित पद में कितना सुन्दर स्फुरण हुआ है

जसुमति मन अभिलाप करै ।
कब मेरो लाल घुटुरुनि रेंगै, कब धरनी पग द्वैक धरै ।
कब द्वै दाँत दूध के देखौं, कब तोतरे मुख बचन भरै ।
कब नन्दहिं बाबा कहि बोलै, कब जननी कहि मोहिं ररै ।
कब मेरो अँचरा गहि मोहन, जोइ सोइ कहि मोसो झगरै ।
कब धौं तनक-तनक कछु खैहै, अपने करसौं मुखहिं भरै ।
कब हँसि बात कहैगो मोसो, जा छवि तें दुख दूरि हरै ।[२]

बच्चे के विकास के प्रति माँ के हृदय में अदम्य उत्सुकता रहती है । उसकी समस्त क्रियाएँ और भावनाएँ उसी मे केन्द्रित हो जाती हैं । वह उस दिन को देखने के लिये लालायित रहती है, जब उसका लाल घुटनो चलकर उसके पास तक आने लगेगा, प्रथम बार तोतली वाणी से निकले हुए 'माँ' शब्द के माधुर्य पर वह संसार की समस्त विभूति को न्योछावर कर सकती है । त्याग की यह भावना मातृत्व की देन है, स्वार्थ का तकाजा नहीं । वह अपने पुत्र को इसी-लिये प्यार करती है कि वह उसका पुत्र है, इन्ही भावनाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति इस पद मे हुई है । माँ का भीरु हृदय पुत्र के अनिष्ट की आशंका से विचलित हो उठता है, वह ऐसी नौबत ही क्यो आने दे कि उसके बच्चे को किसी की नजर भी लग सके ? तभी तो वह भौंह पर दिठौना लगा देती है (यदि मैथिलीशरण जी की "हेतु बन रहा था आप दीठ का दिठौना ही", उक्ति के अनुसार उसको नजर लगने की सम्भावना बढ़ ही जाय, तो माँ का क्या कुसूर है ?), वह तो अपना सर्वस्व बच्चे के ऊपर वार देती है .

लालन, वारी या मुख ऊपर ।
माई मोरिहि दीठि न लागै तातैं मसि-बिन्दा दियो भ्रूपर ।
सरबस मैं पहिले ही वारयौ, नान्हीं नान्ही दँतुली दू पर ।
अब कहा करौं निछावरि सूरज, सोचति अपने लालन जू पर [३]

---

१ सूरसागर (सभा) पद ७२८
२ सूरसागर (सभा) पद ६६४
३ वही (,,) पद ७१०

बच्चे को दूध न पीता हुआ देखकर समवयस्को के प्रति उसके 'स्पर्धा' के भाव को उद्‌बुद्ध कर दूध पिलाती हुई माता का चित्र देखिये

कजरी कौ पय पियहु लाल, जासौ तेरी वेनि वढ़ै।
जैसैं देखि और व्रज-वालक, त्यौं वल-वैस चढ़ै।
यह सुनि कै हरि पीवन लागे, ज्यों त्यौं लयो लढ़ै।[1]

बच्चे के नामकरण और अन्नप्राशन आदि सस्कारों के अवसर पर माता का हृदय फूला नहीं समाता। कनछेदन में उसके हृदय मे मोद के साथ धुक-धुक भी होती रहती है, उसके बच्चे को कान छिदाने में कष्ट भी तो होगा! और जव कान छेदे गये तो यशोदा की क्या दशा थी :

'लोचन दोऊ भरि-भरि माता कनछेदन देखत जिय मुरकी'।[2]

माँ का हृदय वड़ा ही शङ्कालु होता है। घर से निकलते ही उसके वच्चे पर न जाने क्या आपत्ति आ जाय? छोटा-सा वालक खेलने के लिये दूर चला जाय, तो न जाने कहाँ बहक जाय? पर वच्चे तो वच्चे होते हैं। उनकी जिद का क्या कहना? मजवूर होकर माँ को साम छोडकर दाम नीति का आश्रय लेना पड़ता है। देखिये, कल्पित 'हाऊ' का कृष्ण को कैसा भय दिखाया जा रहा है

खेलन दूर जात कत कान्हा।
आजु सुन्यौ मैं हाऊ आयौ, तुम नहिं जानत नान्हा।
इक लरिका अवहीं भजि आयौ, रोवत देख्यौ ताहि।
कान तोरि वह लेत सवनि के, लरिका जानत जाहि।[3]

घर में मङ्गल करने वाले बच्चो को खेलते देखकर जव माता-पिता का वात्सल्य उमडता है तो वे तन्मय हो जाते हैं, उनका वचपन लौट आता है और वे अपने आप भी वच्चे के साथ में वालक की भाँति खेलने लगते हैं, वही हार-जीत की सम्भावना से प्रेरित स्पर्धा का भाव माधुर्य का आवरण धारण करके उनके हृदय में आ वैठता है। देखिये, नन्द और यशोदा की प्रतियोगिता के कारण वेचारे कृष्ण की स्थिति 'नट के वटा' की सी हो रही है, उन्हे खिलौना ही वना लिया गया है.

कवहुँक दौरि घुटुरुवनि लपकत, गिरत उठत पुनि धावैं री।
इततैं नन्द वुलाइ लेत हैं, उततैं जननि वुलावैं री।
दम्पति होड करत आपुस में, स्याम खिलौना कीन्हो री।[4]

कृष्ण कुछ वडे होते हैं, माखन-चोरी की आदत पड गई, नित घर-घर कमोरी साफ होने लगी, अकेले ही नही, सखाओ का गिरोह भी वना लिया; खाते तो कम थे, पर विखेरते

१ सूरसागर (सभा) पद ७९२
२ वही (,,) पद ७९८
३ वही (,,) पद ८३८
४ वही (,,) पद ७१९

बहुत थे। जब 'नित-प्रति हानि होति गोरस की' तो ब्रजनारियो के नाको दम आ गया। यशोदा से शिकायत करनी पड़ी, पर क्या यशोदा का मातृ-हृदय कृष्ण के विरुद्ध इस अभियोग को आँख मूँद कर मान लेता ? उसे यकीन आ सकता है, विशेषकर यौवन मदमाती ग्वालिनों का :

मेरो गोपाल तनक सो, कहा करि जानै दधि की चोरी।
हाथ नचावति आवति ग्वारिनि, जीभ करै किन थोरी।
कब सीकैं चढ़ि माखन खायो, कब दधि-मटुकी फोरी।
अँगुरी करि कबहूँ नहिं चाखत, घर ही भरी कमोरी।[१]

× × ×

कहै जनि ग्वारिन झूठी बात।
कबहूँ नहिं मनमोहन मेरो, धेनु चरावत जात।
बोलत है बतियाँ तुतरोहो, चलि चरननि न सकात।
कैसे करै माखन की चोरी, कत चोरी दधि खात।
देहीं लाइ तिलक केसरि को, जोवन-मद इतराति।
सूरज दोष देति गोविन्द कों, गुरु लोगनि न लजाति।[२]

कृष्ण का उत्साह और भी बढ़ जाता है, वे पक्के चोर बन गये। [illegible] रस भी तो मिलता था। अब चोरी के साथ उत्पात भी चला, जिससे ग्वालिनो की चूड़ियाँ और चोलियाँ भी तहस-नहस होने लगी। वे आती और यशोदा को अपनी खाली मटकी दिखातीं, यशोदा उन्हे मक्खन से भर देती, इस डर से कि कही कोई उसके लाल को कोसे नहीं। अपने बच्चे के अनिष्ट के विषय मे किसी के द्वारा कुछ शब्दो के प्रयोग की आशङ्का-मात्र माता के हृदय को कँपा देने के लिये पर्याप्त है, तभी तो .

करि मनुहर कोसबे के डर भरि-भरि देति जसोदा मात।[३]

एक दिन यशोदा को क्रोध आ ही गया। एक गोपी शिकायत कर ही रही थी कि दूसरी चोरी करते कृष्ण का हाथ पकड़ कर ही ले आई। यशोदा खीझ उठी, कृष्ण को ऊखल से जकड़ दिया और हाथ में साँटी लेकर सजा देना प्रारम्भ किया, पर क्या ग्वालिनें वास्तव में कृष्ण को सजा दिलाने आई थी ? वे यशोदा को बुरा-भला कहने लगी। यह भी खूब रही, उन्होने शिकायत की और वे ही अब उसे बेवकूफ बना रही हैं। यशोदा खीझ उठी, पर इस खीझ मे गोपियो के प्रति अमर्ष का मूल कारण कृष्ण-विषयक वात्सल्य ही है, और साथ ही यशोदा का पश्चात्ताप और व्याकुलता भी झलक पड रहे हैं। सुनिये [illegible]

कहन लगी अब बढ़ि-बढ़ि बात।
ढोटा मेरो तुमहि बँधायो, तनकहि माखन खात।[४]

---

१ सूरसागर (सभा) पद ६११
२ वही, ,, पद ६१२
३ वही, ,, पद ६५०
४ वही, ,, पद ६७३

सीधी-सादी डेढ़ पंक्ति है, न कोई वक्रोक्ति है और न अलङ्कार, पर एक-एक शब्द यशोदा के मातृ-हृदय का पूरा चित्र खीचने के लिये पर्याप्त है। 'कहन लगी अब बढि-बढ़ि बात' से गोपियो की (यशोदा के अनुसार) झूठी सहानुभूति और यशोदा का उनके प्रति अम व्यञ्जित हैं। 'ढोटा' शब्द से कृष्ण की अबोधता और उसके प्रति यशोदा की ममता फूट पडती है।

कृष्ण को गोचारण के लिये यशोदा इसलिये भेजती है कि उनका मन बहल जाय पर जब सभी ग्वाल-बाल अपनी गायें उन्हीं से घिरवाते हैं, कृष्ण थक जाते हैं और यशोदा से बताते हैं, उसकी ममता जाग्रत हो जाती है, वह ग्वालो को गाली तक दे बैठती है। वास्तव में उसका हृदय इतना कठोर नहीं कि वह किसी का अनिष्ट चाहे। यह तो पुत्र की ममता के— उसके प्रति असीम वात्सल्य के—उफान का स्वाभाविक विकास है। वह कहती है .

मैं पठवति अपने लरिका कौं, आवै मन बहराइ।
सूर स्याम मेरौ अति बालक, मारत ताहि रिंगाइ।[1]

बाल्यावस्था का बड़ा ही सुन्दर और स्वाभाविक वर्णन सूर ने किया है। बच्चों की मनोवृत्तियो, व्यापारो और चेष्टाओ का साकार और सजीव चित्रण सूरसागर में मिलता है। सूर की अन्तर्दृष्टि मानव-मानस की तह में गोता लगाकर भावरत्न लाने में बेजोड है। बालको की दैनिक चर्या के सूक्ष्म भेद को, छोटे से छोटे व्यापार को और गूढ़ से गूढ अनुभूति को चित्रित करना कवि भूला नही। एक के बाद दूसरा चित्र इस सफाई से कवि ने दिया हैं कि उसकी चित्रपटी का सौन्दर्य देखते ही बन पडता है। माखन खाते हुए कृष्ण का एक धूलिधूसर चित्र देखिये :

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुनि चलत रेनु-तन-मंडित, मुख दधि लेप किए।

यह तो हुआ कृष्ण का वह स्वाभाविक रूप, जो उन्होंने स्वयं अपनी हरकतो से बनाया है, इससे बिल्कुल सटा हुआ उनका अलंकृत रूप भी देखिये—

चारु कपोल, लोल लोचन, गोरोचन-तिलक दिए।
लट-लटकनि मनु मत्त मधुप-गन, मादक मधुहिं पिए।
कठुला-कंठ, वज्र केहरि-नख, राजत रुचिर हिए।[2]

इन दोनो स्वरूपो के समन्वय की गङ्गा-जमुनी आभा से शाब्दिक चित्रकार सूर का वह चित्र कितना मनोहर हो उठा है ? यह सहृदय विद्वान् स्वयं अनुभव कर सकते हैं, पर यह लीजिये, ये माखन खाते हुए खीझने क्यो लगे ? शायद मन के मुआफिक माखन नही मिला

खीझत जात माखन खात।
अरुन लोचन, भौंहें टेढ़ी, बार-बार जँभात।
कबहुँ झुकि कै अलक खैंचत, नैन जल भरि जात।[3]

---

१ सूरसागर (सभा) पद ११०८
२ वही, (सभा) पद ७१७
३ वही, (,,) पद ७१८

पैरो चलने के प्रयत्न मे डगमगाकर गिरते हुए कृष्ण का चित्र देखना हो, तो इधर आइये .

चलन चहत पाइन गोपाल।
लए लाइ अँगुरी नँदरानी, सुन्दर स्याम तमाल।
डगमगात गिरि परत पानि पर, भुज भ्राजत नँदलाल।[1]

मथानी के घमरके के साथ कृष्ण का नृत्य दर्शनीय है। बाजे के साथ बच्चो का मन और तन दोनो नाच ही उठते हैं। सूर का यह शब्द-चित्र नृत्य को गति का भी स्पष्ट अनुभव कराता है

आनन्द सौं दधि मथति जसोदा, घमकि मथनियाँ घूमै।
निरतत लाल ललित मोहन, पग परत अटपटे भू मे।[2]

तथा

त्यौं-त्यौं मोहन नाचै ज्यौ ज्यौं रई घमरकौ होइ री।[3]

बच्चो में स्पर्धा का भाव बडा तीव्र होता है। वे किसी चीज में अपने हमजोलियो से पीछे नही रहना चाहते। एडलर के अनुसार बच्चो की यही भावना उन्हे उन्नत बनने में सहायता देती है। कृष्ण की चोटी से बलराम की चोटी बडी है, वे अपनी चोटी को बढाना चाहते हैं। यशोदा उनकी इस प्रवृत्ति का लाभ उठाकर उन्हे चोटी बढने का लोभ देकर दूध पिलाती है, क्योकि वे वैसे दूध पीते नही, पर जब फिर भी चोटी न बढी तो वे यशोदा से शिकायत करते हैं।

मैया कबहिं बढैगी चोटी।
किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति बल की बेनी, ज्यौं ह्वै है लाँबी-मोटी।
काढ़त-गुहत-न्हवावत जै है, नागिन सी भुईं लोटी।
काचौ दूध पियावति पचि-पचि, देति न माखन रोटी।[4]

और न्हाने से गुरेज करना बच्चो की कितनी स्वाभाविक मनोवृत्ति है

जसुमति जबहिं कह्यौ अन्हवावन, रोइ गए हरि लोटत री।
तेल उबटनौ लै आगै धरि, लालहिं चोटत-पोटत री।
मैं बलि जाऊँ न्हाउ जनि मोहन, कत रोवत बिनु काजै री।[5]

कभी-कभी बच्चा इतना मचलता है कि मानता ही नही। बाल-हठ तो पसिद्ध हो है न, क्षोभ में वह अपने वस्त्रों को भी बकोटने लगता है। यदि कोई उसे हाथ भी लगाता है

१ सूरसागर (सभा) पद ७३२
२ वही, (,,) पद ७६५
३ वही, (,,) पद ७६६
४ वही, (,,) पद ७९३
५ वही, (,,) पद ८०४

तो वह और भी मचल कर अपनी रोदन-क्रिया को जारी रखता है, प्रसन्न होता है तो स्वयं ही अपनी मौज में आकर। बच्चे की इस मनोवैज्ञानिक दशा का सूर ने सुन्दर चित्रण किया है

चचल अधर, चरन-कर चचल, मचल अँचल गहत वकोटनि।
लेति छुड़ाइ महरि कर सौं कर, दूरि भई देखति दुरि ओटनि।[1]

समवयस्कों द्वारा—विशेषत: अपने ही बड़े भाई द्वारा—चिढ़ाये जाने पर बच्चो के हृदय में जो आत्म-गौरव की भावना जागरित होती है, वह उन्हें शिकायत करने के लिये उत्तेजित करती है। बच्चे अपने सुख-दुःख की बात सबसे अधिक अपनी माता से ही कहना चाहते हैं, क्योंकि उनके लिये वही सबसे अधिक निश्छल स्नेह रखती है। यही कारण है कि जब खेल ही खेल में बलराम ने कृष्ण को मोल लिया हुआ बताया, तो कृष्ण ने भी घर आकर शिकायत की—

मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायो।
मोसौं कहत मोल को लीन्हौं, तू जसुमति कब जायो।
गोरे नन्द जसोदा गोरी, तू कत स्यामल गात।
चुटकी दँदै ग्वाल नचावत, हँसत सबै मुसकात।[2]

ऐसे बच्चो के साथ न खेलना, और उनसे दूर रहने की चेष्टा करना, बाल-हृदय का स्वभाव है। बालक-हृदय स्नेह का भूखा होता है, वह उनके साथ क्यों खेले, जिनसे उसे खीझ और झुँझलाहट के अतिरिक्त और कुछ नही मिलता—

खेलत अब मेरी जाइ बलैया।
जबहिं मोहिं देखत लरिकनि-सग तबही खिझत बल भैया।[3]

खेलने में झगड़ते हुए बालकों के 'क्षोभ' का कितना सुन्दर उदाहरण निम्नलिखित पद मे मिलता है—

खेलन में को काको गुसैयाँ।
हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैयाँ।
जाति-पाँति हमते बड नाही, नाही बसत तुम्हारी छैयाँ।[4]

बलराम तथा अन्य ग्वाल-बालो को गोचारण के हेतु जाते देखकर कृष्ण की बाल-स्वभाव-सुलभ अनुकरण की प्रवृत्ति जाग उठती है। वे स्वय भी गोचारण के लिये जाना चाहते हैं, क्योंकि अब वे बड़े हो गये हैं—

मैया हौं गाइ चरावन जैहौं।
तू कहि महर नन्द बाबा सौं, बडो भयो न डरैहौं।[5]

---

१ सूरसागर (सभा) पद ८०५
२ वही ,, पद ८३२
३ वही ,, पद ८३५
४ वही ,, पद ८६३
५ वही ,, पद १०३०

प्रकृति की सुरम्य पृष्ठ-भूमि पर गोचारण के अत्यन्त सुन्दर दृश्य सूरदास जी ने चित्रित किये हैं। ग्वाल-बालों की स्वाभाविक सरल चित्त-वृत्तियो के साथ उनके क्रिया-कलापो के भी क्रमबद्ध अनेक चित्र आपको सूरसागर में दीख पड़ेंगे। बलराम कृष्ण की गैया खुद घेरते हैं और उन्हें वन के फल तोड-तोड कर देते हैं—

मैया री मोहि दाऊ टेरत।
मोकौं बन-फल तोरि देत हैं, आपुन गैयन घेरत।
और ग्वाल सग कबहुँ न जैहौं, वे सब मोहि खिझावत।
मैं अपने दाऊ संग जैहौं, बन देखैं सुख पावत।[1]

खिझाने वालो के साथ न जाकर वनफल तोडकर देने वाले दाऊ के साथ जाने का आग्रह कृष्ण की बाल-प्रवृत्ति का द्योतक है, जिसके अनुसार बालक स्नेह का व्यवहार ही ही पसन्द करता है। बालको को अपने से बडो के कार्य करने में आत्मा के प्रसार से उद्भूत आनन्द का आस्वादन होता है, अतएव उस कार्य के लिये उनके हृदय मे बहुत ही अधिक उत्साह और चाव रहता है। कृष्ण के हृदय में गोचारण की इतनी उत्सुकता है कि वे कलेऊ करते-करते ही भाग खडे होते हैं, किन्तु जब भूख सहन नही होती तो घर जाने वाले ग्वालो से यशोदा के पास खबर भेजते हैं। यशोदा घर की ही एक ग्वालिन को छाक लेकर भेजती है। भूख मे चाहे भजन न हो, परन्तु मनोविनोदी व्यक्ति तो विनोद किये विना नही चूकता। कृष्ण और बलराम—दोनों छिप जाते हैं, वेचारी ग्वालिन सारे वृन्दावन को छानती फिरती है। बार-बार टेर लगाने पर हजरत निकल कर आते हैं—

वृन्दा आदि सकल बन ढूंढ्यो, जहँ गाइन की टेर।
सूरदास प्रभु दुरत दुराए, डुंगरनि ओटि सुमेर।[2]

तथा

बहुत फिरी तुम काज कन्हाई।
टेरि-टेरि हौं भई बावरी, दोउ भैया तुम रहे लुकाई।[3]

कृष्ण पहाडी पर चढकर सखाओ को टेरते हैं और छाक-जेंवन के लिए बैठते हैं। ग्वाल-बालो के प्रति कृष्ण की ममता इतनी है कि वे सब का जूंठन लेकर खाते हैं—

ग्वालनि कर तें कौर छुड़ावत।
जूठौ लेत सबनि के मुख को, अपने मुख लै नावत।
षट्रस के पकवान धरे सब, तिनमे रुचि नहिं लावत।
हा-हा करि-करि माँग लेत हैं, कहत मोहि अति भावत।[4]

'सह नौ भुनक्तु' का यह आचरण, गोपालो का यह पारस्परिक स्नेह, सहभोज का यह प्रभावशाली दृश्य भी वस्तुत द्रष्टव्य है, जिसमें आधुनिक सभ्य मित्रो की तकल्लुफ और

---

१ सूरसागर (सभा) पद १०४२
२ वही (,,) पद १०८०
३ वही (,,) पद १०८४
४ वही (,,) पद १०८६

फार्मेलिटी से पूर्ण पार्टी का मजा चाहे न हो, पर सरल हृदयों से उमडती हुई प्रेमरस धारा का माधुर्य बरस रहा है।

कभी-कभी वच्चो मे खेल-खेल मे ही एक-दूसरे को डराने की भावना भी आ जाती हैं, इसी के कारण कभी-कभी ऐसी घटनाएँ भी घटती थीं, जिनके कारण कृष्ण को शिकायत भी करनी पड जाती थी :

मैया वहुत बुरो वलदाऊ।
कहन लग्यो वन वडौ तमासो सव मौडा मिलि आऊ।
मोहूँ को चुचकारि गयो लै, जहाँ सघन वन झाऊ।
भागि चलो, कहि गयो उहाँते, काटि खाइ रे हाऊ।[1]

इस प्रकार के न जाने वाल्यावस्था के कितने स्वाभाविक चित्र सूरसागर मे भरे पडे हैं, विस्तार-भय से हम अधिक चर्चा नही करते।

कृष्ण और गोपियो के प्रेम का विकास प्रकृति के सुन्दर वातावरण में हुआ है, वाल्यावस्था में साथ-साथ खेलमे वाले सरल प्रकृति वाले सखा और सखी, किशोरावस्था के आकर्षण, कौतूहल, जिज्ञासा आदि भावों से गुजरते हुए यौवन काल के प्रिय और प्रिया बन गये। उनके प्रणय की निष्पत्ति में साहचर्य और सौन्दर्य-प्रियता, दोनों का ही योग है। यह प्रेम अचानक ही वैठे विठाये गैव से टूट पडने वाली चीज नही है, जो अपनी आकस्मिक चमक से मनुष्य को हक्का-वक्का वनादे और आँखो देखकर भी जिस पर मनुष्य विश्वास न कर सके। यह तो उस प्रथम स्वाभाविक आकर्पण का परिपाक है, जो दो हृदयो को चञ्चल वनाकर स्वाभाविक गति से एक-दूसरे की ओर चलने के लिए प्ररित करता है और स्वय सघन होता हुआ उन्हें परिवेष्टित कर अन्त में एक-दूमरे से दृढता के साथ जकड देता है, जो साथ-साथ हँसने-खेलने, उठने-वैठने और चलने-फिरने में स्वाभाविक हँसी-मजाक और छेड-छाड के साथ परिपुष्ट हुआ है और जिसका स्फुरण मन्द, किन्तु निश्चित और नियमित गति से हुआ है। यह वह लोभ नहीं है, जो वासन्ती उपा में अँगडाई लेकर चटकती हुई कलियो के अन्तराल से उडते हुए सौरभ का समीरण से परिचय पाकर रस-पान लिप्सु मधुपो को एक के अनन्तर दूसरी की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा देता है। गोपियो के प्रेम का अकुर वरसाती घास-फूँस नही है। इसकी जड इतनी गहरी है कि उसे वाह्य सिञ्चन की आवश्यकता ही नही पडती, केवल आन्तरिक रस से ही हरा-भरा रहता है। इस विपय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत उल्लेखनीय है। वे लिखते हैं

"इस प्रेम को हम जीवनोत्सव के रूप मे पाते हैं, सहसा उठ खडे हुए तूफान या मानसिक विप्लव के रूप में नही, जिसमें अनेक प्रकार के प्रतिवन्धो और विघ्न-वाधाओ को पार करने की लम्वी-चोडी कथा खडी होती है।"[2] वाल्यावस्था से ही पली हुई यह प्रेम-लतिका क्या परित्याग का निष्ठुर झटका देकर तोडी जा सकती है? सूर की गोपियाँ साफ कहती हैं—"लरिकाई का प्रेम कहो अलि कैसे छूटै।" साहचर्य तो पशु-पक्षी, वन-उपवन, वृक्ष-लता, यहाँ तक कि ईंट-पत्थरो के साथ भी हमारे हृदय में अनुराग उत्पन्न कर

१ सूरसागर (सभा) पद १०६६
२ सूरदास (आ० शुक्ल)

देता है। आज भी हमारे बचपन की क्रीडाओ के स्थल और साधन-भूत वृक्ष-लताओ आदि के दर्शन हमारी स्मृति को जागरित करके भाव विभोर कर देते हैं। किराये के मकान को छोड कर जाते समय, जिसका वास्तव में हमारे जीवन मे सराय से अधिक महत्त्व नही, हमारे हृदय पर उन्मनस्कता क्यों छा जाती है? इस सब का कारण खोजने के प्रयत्न में हमारे अन्त करण के किसी कोने में साहचर्य-जन्य अनुराग ही झाँकता दीख पडेगा।

कृष्ण का सौन्दर्य वैसे ही व्रज में सार्वजनीन चर्चा का विषय था, फिर उनकी कैशोर्य जन्य चपलता और वेणु-वादन-निपुणता ने मिलकर गोपियो पर टोना ही कर दिया। कृष्ण के सौन्दर्य का प्रभाव बडा ही व्यापक है। उनके शरीर के प्रत्येक अङ्ग से छवि फूटी पड़ती है। गोपियाँ उनके सौन्दर्य पर अपना सर्वस्व वारने को प्रस्तुत हैं .

तरुनी निरखि हरि-प्रतिअङ्ग।
कोउ निरखि नख-इन्दु भूली, कोउ चरन-जुग-रग।
कोउ निरखि नूपुर रही थकि कोउ निरखि जुग जानु।
कोउ निरखि जुगजंघ-सोभा करति मन-अनमानु।
कोउ निरखि कटि पीत कछनी मेखला रुचिकारि।
कोउ निरखि हृदनाभि की छवि डारयौ तन-मन वारि।[१]

स्याम के जिस सौन्दर्य ने 'वन उपवन सरिता सब मोहे', वह यदि गोपियो को इस स्थिति पर पहुँचा दे कि—'सूर स्याम विनु और न भावै, कोउ कितनो समुझावै' तो क्या आश्चर्य? कृष्ण के विशाल लोचन, चारु कपोलों पर डोलते हुए चचल कुण्डल, अरुण अधरो पर थिरकती हुई माधुर्यवाहिनी मुरलिका, नीले मेघ और धूम्रपटल-सी रोमराजि, कमल-कोमल-चरण; सब कुछ इतने मादक हैं कि इनकी सौन्दर्य-सुरा के खुमार में व्रजनारियाँ मत्त हैं:

तरुनी स्याम रस मत वारि।
प्रथम जोबन-रस चढायौ, अतिहि भई खुमारि।
दूध नहिं, दधि नही, माखन नही, रीतौ माट।
महारस अंग-अंग पूरन, कहाँ घर कहँ बाट।
मातु-पितु गुरुजन कहाँ के, कौन पति, को नारि।
सूर प्रभु कै प्रेम-पूरन छकि रही व्रजनारि।[२]

माखन-चोर कृष्ण का सौन्दर्य गोपियों का चित्तचोर बन गया तो फिर भोली राधिका उसकी चपेट से कैसे बच सकती थी? एक दिन कृष्ण खेलने के लिये निकले और यमुना-तट पर जा पहुँचे, वहीं राधा का प्रथम दर्शन हुआ

खेलन हरि निकसे व्रजखोरी।
गये स्याम रवि तनया के तट, अङ्ग लसति चन्दन की खोरी,

१ सूरसागर (सभा) पद १२५२
२ वही ,, पद २४४२

औचक ही देखी तहँ राधा, नैन विसाल भाल दिये रोरी।
नील वसन-फरिया कटि पहिरे, वेनी पीठि रुलति झकझोरी,
सग लरिकिनी चलि इत आवति, दिन थोरी अति छवि तनगोरी।
सूर स्याम देखत ही रीझे, नैन-नैन मिलि परी ठगोरी।[1]

राधा भी कुछ कम सुन्दरी नही थी। उसके सौन्दर्य ने कृष्ण को आकृष्ट किया और :

बूझत स्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहति, काकी तू वेटी, देखी नाहि कबहूँ व्रज-खोरी।
काहे को हम व्रजतन आवति, खेलति रहति आपनी पौरी।
सुनत रहति स्रवननि नँद-ढोटा करत रहत माखन दधि चोरी।
तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं, खेलन चलौ सग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि बातनि भुरइ राधिका भोरी।[2]

प्रथम परिचय के पश्चात् ही साथ-साथ खेलना, एक-दूसरे के घर आना-जाना और परस्पर कार्य में हाथ बँटाना आदि बातें उस परिचय को प्रेम के रूप में परिणत करने लगी। बीच-बीच में हास-परिहास, मनोविनोद और नोक-झोंक के मन्द-तेज, शीत-उष्ण वातावरण में प्रेमरस के मधुर और चरपरे अनुभव होते रहे—साहचर्य रस पाकर प्रेम का अकुर लहलहाने लगा। एक दिन राधा ने कृष्ण से दूध दुहने की प्रार्थना की, क्योंकि उसकी चूनरी का रग दूध की बूंदो से फीका हो जाता। कृष्ण गाय दुहने लगे परन्तु

हाथ धेनु-थन, वदन तिया-तन छीर छाँटि छल छोरे।

राधा को भी मजाक सूझी। वह विगड गई, कृत्रिम मान धारण किया और बोली

तुम पै कौन दुहावै गैया।
इत चितवत उत धार चलावत, यहै सिखायो मैया।[3]

इतना ही नही, और भी दो-चार खरी-खोटी सुनाई और अन्त में 'अल्टीमेटम' दे दिया :

करि न्यारी हरि आपुनि गैयाँ।
नही अधीन तेरे बाबा के, नहिं तुम हमरे नाथ-गुसैयाँ।
हम तुम जाति-पाँति के एकै, कहा भयौ अधिकी द्वै गैयाँ।
जा दिन तै सचरे गोपिनि में, ताही दिन तैं करत लँगरैयाँ।

वेचारे कृष्ण का मुँह फक पड गया और उन्हें हार माननी पडी :

---

१ सूरसागर (सभा) पद, १२९०
२ वही, ,, पद, १२९१
३ वही, ,, पद, १३५२

मानी हार सूर के प्रभु तब, बहुरि न करिहौं नन्द दुहैया ।[१]

पर कृष्ण की हार में भी जीत ही रही। उन्हे भुला देना हँसी-खेल नही, गोपियाँ कितना ही मान करें, रूठने का अभिनय करें, पर उनके लोभी नयन धोखा देते ही हैं। अपना ही लोहा खोटा हो, तो लोहार का क्या कसूर? और कृष्ण का रूप ही ऐसा है कि वे अजनबी ही बने रहते हैं। तभी तो राधा कहती हैं :

स्याम सो काहे की पहिचानि ।
निमिष निमिष वह रूप, न वह छवि रति कीजै जेहि ।
× × × ×
इत लोभी, उत रूप परमनिधि कोउ न रहत मिति मानि ।[२]

"क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूप रमणीयताया:" को चरितार्थ करने वाले सौन्दर्य के समक्ष तो 'मान उडि जात ज्यों कपूर उडि जात है।'

इसी प्रकार प्रतिदिन पनघट-प्रस्ताव, यमुना-विहार, भरे घर में सकेतो द्वारा वार्तालाप, हिंडोला, रास आदि की लीलाएँ होती रहीं, जिनके द्वारा विकसित होता हुआ वह प्रेम स्वच्छन्द रमण के साम्राज्य में जा उतरा। राधा और कृष्ण के स्वच्छन्द-विहार का एक दृश्य देखिये

नवल किशोर नवल नागरिया ।
अपनी भुजा स्याम-भुज ऊपर, श्याम-भुजा अपने उर धरिया ।
क्रीडा करत तमाल-तरुन-तर, स्यामा स्याम उमँगि रस भरिया ।
यौं लपटाइ रहे उर-उर ज्यौं, मरकत मनि कचन मैं जरिया ।
उपमा काहि देउँ, को लायक, मन्मथ कोटि वारने करिया ।
सूरदास बलि-बलि जोरी पर, नन्द-कुँवर वृषभानु-कुँवरिया ।[3]

इस प्रकार राधाकृष्ण की क्रीडाओ के वर्णन में सूर ने न जाने कितने भावो की कल्पना की है? उनका सयोग-वर्णन रीतिकालीन कवियो की भाँति गुलगुली गिलमो और गलीचो तक ही नही रह गया है, उसमें प्रकृति का अनन्त प्रसार है, सीमित सचारियो की कृत्रिम धारा के स्थान पर सरस हृदय का उन्मुक्त भाव-वर्षण है। आचार्य शुक्ल का यह कथन कितना सत्य है

"उनकी उमडती हुई वाग्धारा उदाहरण रचने वाले कवियो के समान गिनाये हुए सचारियो से बँध कर चलने वाली न थी"[४] तथा "सूर का सयोग-वर्णन एक क्षणिक घटना नहीं है, प्रेम-सगीतमय जीवन की एक गहरी धारा है, जिसमें अवगाहन करने वाले को दिव्य माधुर्य के अतिरिक्त और कहीं कुछ नही दिखाई पडता'।"[५]

---

१ सूरसागर (सभा) पद, २३५३
२ वही ,, पद २४७०
३ वही ,, पद १३०६
४ सूरदास (आचार्य शुक्ल) पृष्ठ १६७
५ वही (,, ,,) पृष्ठ १८२

सूरदास के शृङ्गार का वर्णन करते समय हमे यह नहीं भूल जाना चाहिये कि वे पहले भक्त थे, और वाद मे कुछ और। उन्होंने जो कुछ कहा है, माधुर्य-भक्ति के आवेश में। उनकी रचनाएँ शृङ्गार-रस से सम्वद्ध उदाहरणों के उद्देश्य से नही लिखी गईं। सूर को तो बस इतना ध्यान था कि वे अपने प्रभु के सौन्दर्य का गान कर रहे हैं। उन्होंने यह कभी न सोचा होगा कि आगे चलकर उनके साहित्य का क्या प्रभाव पडेगा अथवा उनको रचनाओं में काव्य-शास्त्र के लक्षणो के उदाहरण भी आये हैं? इतना जरूर मानना पडेगा कि वे जयदेव, विद्यापति आदि भक्त-शृङ्गारी कवियो से प्रभावित अवश्य थे, अतः अनायास ही उनके मुँह से जो शृंगारमयी उक्तियाँ निकली, उनमें काव्य-शास्त्र के अनेक लक्षणों का समन्वय हुआ है। 'साहित्य-लहरी' में तो नायिका-भेद के अनेक उदाहरण प्राप्त होते ही हैं, किन्तु उसे नायिका-भेद का ग्रन्थ नही माना जा सकता, क्योंकि उसमें लक्षणो का अभाव है। 'सूरसागर' में भी ऐसे वहुत से पद मिल जाते हैं। आगे चलकर रीति-कालीन आचार्यों ने नायिका-भेद का अलग ही साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया, जिससे वह काव्य-शास्त्र का एक स्वतन्त्र ही विषय वन गया, उनसे पहले यह रस का ही एक अङ्ग माना जाता था।

यद्यपि प्रेममार्गी कवियो ने परकीया के प्रेम की वाधाओं के वर्णन द्वारा प्रेम-मार्ग की कठिनाइयों का वर्णन किया, किन्तु पुष्टि-सम्प्रदाय में स्वकीया के प्रेम को ही प्रश्रय दिया गया है। वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुसार राधा स्वकीया, और चन्द्रावली परकीया है। सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार सूरदास ने भी स्वकीया का ही अधिक वर्णन किया है, परन्तु परकीया भक्ति के भी अनेक उदाहरण उनकी रचनाओ मे मिल जाते हैं। विस्तार-भय से हम नायिका-भेद के थोडे से ही उदाहरण यहाँ दे सकेंगे :

गोपियो के यौवन-विकसित अंगो को ओर कृष्ण उपमानो द्वारा संकेत करते हैं, पर उन्हे अभी अपने अन्दर इस परिवर्तन की मानसिक अनुभूति नही हुई। अत. वे कृष्ण की टेढ़ी वात को नही समझ पाती हैं। उनकी उक्ति 'अज्ञात यौवना' की उक्ति प्रतीत होती है :

यह सुनि चकित भई व्रज-वाला।
तरुनी सव अपुस मे वूझति, कहा कहत गोपाला।
कहाँ तुरग, कहाँ गज केहरि, हँस सरोवर सुनियै।
कचन-कलस गढ़ाये कव हम, देखो धौं यह गुनिये।[1]

वचन-विदग्धा—

तव राधा इक भाव वतावत।
मुख मुसकाइ सकुचि पुनि सहजहि, चली अलक सुरझावति।
एक सखी आवति जल लीन्हें, तासौं कहति सुनावति।
टेरि कह्यौ मेरैं घर जैहौ, मैं जमुना तैं आवति;
तव सुख पाइ चले हरि घर कौं हरि प्रियतमहिं मनावति।
सूरज-प्रभु वितपन्न-कोक-गुन, तातैं हरि-हरि ध्यावति।[2]

क्रिया विदग्धा—

स्याम को भाव दै गई राधा।
नारि नागरिनि काहूँ लाख्यौ, कोउ नहीं, कान्ह कछु करत हैं वहुनु राधा।

---

१ सूरसागर (सभा) पद २१६=
२ वही (,,) पद २६४२

चितै हरि-बदन याकौं हँसत मैं लखी, वै उतहिं गए कछु हरपि कीन्हे।
भावते भाव के संग नाहीं सुने, ये महाचतुर चतुराई लीन्हे।
आजुही रैनि दोउ संग ये मिलैंगे, हरैं कहि परस्पर मनहिं जानी।
सूर अजनागरी नारि नागरिनि संग, फिरी व्रज तुरत लै जमुन पानी।[1]

बासकसज्जा—

राधा रुचि-रुचि सेज सँवारति।
तापर सुमन सुगंध बिछावति, बारम्बार निहारति।
भवन गवन करिहैं हरि मेरैं, हरपि दुखहिं निरुवारति।
आवैं कबहुँ अचानक ही कहि, सुभग पाँवडे डारति।
इहि अभिलाखहिं मैं हरि प्रगटे, निरखि भवन सकुचानी।
वह सुख श्री राधा माधो को, सू उनहिं जिय जानी।[2]

खण्डिता—

प्यारी चितै रही मुख पिय को।
अंजन अधर, कपोलनि चन्दन, लाग्यौ काहू तिय को।
तुरत उठी दर्पन कर लीन्हें, देखौ वदन सुधारौ।
अपनौ मुख उठि प्रात देखिकैं, तब तुम कहूँ सिधारौ।
काजर चंदन, अधर कपोलनि, सकुचे देखि कन्हाई।
सूर स्याम नागरि-मुख जोवत, बचन कह्यो नहिं जाई।[3]

मानवती (सखी की शिक्षा)—

मन-मन पछितायो रहि जैहै।
सुनि सुन्दरि यह समौ गए तैं, पुनि न सूल सहि जैहै।
मानहु मैन-मजीठ प्रेम-रँग, तैसे ही गहि जैहै।
काम हरष, हरेरे हरि अम्बर, देखत ही बहि जैहै।
इते भेद की बात सखी री, कत कोऊ कहि जैहै।
बरत भवन खनि कूप सूर त्यौं, मदन-अगिनि दहि जैहै।[4]

उत्कण्ठिता—

ललिता कौं सुख दै गए स्याम।
आजु बसैंगे रैनि तिहारैं, प्रान-पियारी हो तुम बाम।
यह कहिकैं अनतहिं पगु धारे, बहु नायक के भेद अपार।
साँझ समय आवन कहि आए, सौहैं बहुत करि नंदकुमार।
वह बैठी हरि-मारग जोवति, इकइक पल बीतत इक जाम।
सूर स्याम आवन की आसा, सेज सवारति व्याकुल काम।[5]

---

१ सूरसागर (सभा) पद २६४२
२ वही ,, पद २६४७
३ वही ,, पद ३१००
४ वही ,, पद ३१६८
५ वही ,, पद ३०६६

...त पतिका—

बिछुरे री मेरे बाल-सँघाती।
निकसि न जात प्रान ये पापी, फाटति नाहिन छाती।
हौं अपराधिनि दही मथति ही, भरि जोबन मदमाती।
जो हौं जानति हरि को चलिबौ, लाज छाँडि सँग जाती।
ढरकत नीर नैन भरि सुन्दर, कछु न सोह दिन-राती।[1]

विप्रलब्ध—

राधा चकृत भई मनमाही।
अबही स्याम द्वार ह्वै झाँकि, ह्याँ आये क्यो नाही।
आपु न आइ तहाँ जो देखें, मिले न नद-कुमार।
आवत ही फिरि गए स्याम-घन अति भयौ विचार।
सूनै भवन अकेली मैं ही, नीकैं उझकि निहारचो।
मोतें चूकि परी मैं जानी, तातैं मोहिं बिसारचो।
इक अभिमान हृदय करि बैठी, एते पर झहरानी
सूरदास प्रभु गए द्वार ह्वै, तब व्याकुल पछितानी।[2]

कलहान्तरिता—

सखि मिलि करौ कछुक उपाउ।
मार मारन चढ्यौ विरहिनि, निदरि पायौ दाउ।
हुतासन-धुज जात उन्नत, चँल्यौ हरिदिसि बाउ।
कुमुम-सर-रिपु-नद-वाहन, हरषि हरषित गाउ।
वार अबकी प्रानप्रीतम, विजय सखा मिलाउ।
रति विचारि जु मान कीन्हौ, सोउ वहिं किन जाउ।
सूर सखि सुभाउ रहिहौं, सग सिरोमनि-राउ।[3]

प्रेम के उद्भव और विकास में अन्य इन्द्रियो की अपेक्षा नेत्रो का ही अधिक रहता है। प्रेमी युगल के हृदयो को जोडने मे वे माध्यम का कार्य करते हैं, परस्पर कर, लगकर या लडकर वे हृदय को अटूट प्रेम-पाश में जकड देते हैं और बेचारा हृद ज्यो सुरभि चहत, भज्यो त्यों त्यो उरझ्यो जात।' नेत्रो के कारनामे का खमियाज हृदय को उठाना पड रहा है। उधर स्वय कृष्ण (आलम्बन) के नेत्र ही ऐसे गज कि खोजने पर भी कोई उपमा मिलती ही नही—

देखि हरि जु के नैननि की छबि।
इहै जानि दुख मानि जु अनुदिन, मानहुँ अम्बुज सेवत हैं रवि।
खजरीट अति वृथा चपल भये, गए वन मृग जलमीन रहे दवि।
तहँउ जानि तनु तजत, जबहिं कछु, पटतर देवैं कहत कबहुँ कवि।
इनसे येई, पचि हारि रही हौं, आवैं नही कहत कछु वह फवि।[4]

१ सूरसागर सभा पद ३६६६
२ वही पद २६६३
३ वही पद २७०३
४ वही, पद १८७३

अनन्वय अलकार द्वारा नयनो के लोकोत्तर सौन्दर्य की अभिव्यञ्जना की गई है, ऐसे नेत्रो का वार क्या खाली जा सकता है ? पर दोष तो सब अपने ही नेत्रो का है, अपना ही लोहा खोटा हो, तो लुहार का क्या दोष ? तभी तो एक ब्रज-युवती कहती है—

नैन आपने घर के री।
लूटन देहु स्याम-अंग-सोभा, जो हम पर वे तरके री।
यह जानी नीकै करि सजनी, नहीं हमारे डरके री।[1]

अफसोस, 'इस घर को आग लग गई, घर के चिराग से।' इन नैनो ने मुझे बडा सताया है। कहना न मानकर सौन्दर्य-सलिल के भँवर में पड ही गये, उन्होंने लोक-लाज को खो दिया है और श्याम के रंग में ही वे रग गये हैं। इन नैनो का विश्वास ही क्या ? ये चोर हैं, पर चोरी करना जानते नहीं। श्याम के सौन्दर्य को चुराने गये थे, परन्तु हृदय को बन्दी करा आये। सारा अपराध इन्ही का है। ये धृष्ट नयन घर की ही चोरी करते हैं, इनकी बानि छूट थोडे ही सकती है। ये तो बचपन से ही चपल रहे हैं—

जाकी जैसी बानि परी री।
कोऊ कोटि करै नहीं छूटै, जो जिहिं धरनि धरी री।
बारे ही तैं इनके ये ढँग, चञ्चल चपल अनेरे।
बरजत हीं बरजत उठि दौरे, भये स्याम के चेरे।
ये उपजे ओछे नक्षत्र के, लपट भये बजाइ।
सूर कहा तिनकी सगति, जे रहे पराएँ जाइ।[2]

'ये उपजे ओछे नक्षत्र के' में गोपियो की खीझ और अमर्ष के साथ रमणी-हृदय की पीर भी फूटी पडती है। इन भावो की अभिव्यक्ति के लिये, नारी-हृदय से निकली हुई परम्परा-प्राप्त इस सीधी-सादी उक्ति के अतिरिक्त और कोई चमत्कारपूर्ण कथन उपयुक्त होता, इसमें सन्देह है।

प्रिय की समस्त वस्तुएँ और क्रियाएँ प्रेमी को आकृष्ट करती हैं, उनसे उसे 'अपनापन' अनुभव होता है, इसलिने उससे चुटकी लेना प्राय स्वाभाविक ही है। तभी तो गोपियाँ कृष्ण की मुरली से भी ठठोली करने मे नहीं चूकती। वे उसके भाग्य की सराहना करती हैं। पर नारी-हृदय की इस उदारता की भी सीमाएँ हैं। वह प्रिय की वस्तु को प्यार करता है, परन्तु जब प्रिय किसी वस्तु से इतना लगाव रखने लगता है कि आठों पहर उसी के रग मे मस्त रहकर अपने प्रेमी की ओर से उदासीन हो जाय, तो उस वस्तु से उसे (प्रेमी को) ईर्ष्या भी हो जाती है, जो स्त्रियो में सौतिया डाह की सीमा तक पहुँच जाती है। अहर्निश कविता-कामिनी के स्वागत मे आँखें बिछाकर एकाग्रचित्त से उसकी साधना करने वाले कवि के हाथ से उसकी प्रेमिका द्वारा कागज पेंसिल का छीना जाना सुना है,[3] पुस्तको से फुरसत न पाने वाले अध्ययन-व्यसनी विद्वान् की अर्धाङ्गिनी पुस्तको को कोसती हुई देखी गई हैं; फिर यदि

१ सूरसागर नमा पद २८३९२
२ वही ,, पद ३०२४
३ देखिये सुदर्शन की कहानी "कवि की स्त्री"

दिन-रात गोपीवल्लभ के अधरो पर गर्व और शान से थिरकती हुई मुरलिका गोपियों की ईर्ष्या-भाजन बन जाय, तो क्या आश्चर्य ? इस मुरली ने तो गोपियो से 'आरज-पथ' का त्याग कराकर कृष्ण से नाता जुडवाया था, और इसी ने "अङ्गीकृत सुकृतिन परिपालयन्ति" की उपेक्षा करके तुडवा भी दिया। यदि इसे चुरा लिया जाय तो कैसा रहे ? न रहे बाँस, और न बजे बाँसुरी।

सखी री मुरली लीजै चोरि।
जिन गुपाल कीन्हे अपनैं बस, प्रीति सबन की तोरि।
कबहूँ कर, कबहूँ अधरनि, कटि कबहूँ खोसति जोरि।
ना जानौं कछु मेलि मोहनी, राखे अँग अँग मोरि।
सूरदास प्रभु को मन सजनी, बाँध्यौ राग की डोरि।[1]

पति प्रेम-गर्विता नायिका की भाँति गर्विता मुरली किसी को बदती ही नहीं—

(माई री) मुरली अति गर्व, काहूँ बदति नाहिं आजु।
हरि कै मुख कमल-देस, पायो सुख राजु।[2]

वियोग-वर्णन (वात्सल्य-वियोग)

सयोग की भाँति वियोग का वर्णन भी सूर ने वात्सल्य से ही प्रारम्भ किया है। कृष्ण की लीलाओ से व्रज-भूमि का चप्पा-चप्पा मुखरित हो रहा था। चारों ओर सुख और सन्तोष का राज्य था। यशोदा, नन्द, गोप, गोपियाँ सब प्रसन्न थे, पर एक दिन रग में भग हुआ। अक्रूर जी कस का निमत्रण लेकर आये और कृष्ण-बलराम को ले जाने का प्रस्ताव रखा। यशोदा पुत्र-वियोग की आशका से सिहर उठी, पुत्र की सुकुमारता और कस की दुष्टता को देखकर उसका वियोग और भी तीव्र हो उठा·

देखि अक्रूर नर-नारि बिलखे।
धनुभंजन जस हेत बोले इन्हें, और डर नहीं सब कहि सतोषे।
महरि व्याकुल दौरि पाँइ गहि लै परी, नंद उपनद सग जाहु लैकै।
कहति व्रज-नारि नैननि नीर ढारि कै, इन्हनि को काज मथुरा कहा है ?
सूर नृप क्रूर अक्रूर क्रूरै भए, धनुष देखन कह्यौ कपटी महा है।[3]

लाड़-प्यार में पले हुए जो कृष्ण गुरुजनो को भी प्रणाम करना नहीं जानते, वे राज-सभा के नियमो को क्या जानें ? मथुरा के हत्यारे असिधारी असुर क्या इन बातो को सह सकेंगे ? यशोदा का मातृ-हृदय यह सोचकर व्याकुल हो उठता है :

ये कहा जानैं राज-सभा कौं, ये गुरुजन विप्रहुँ न जुहारे।
मथुरा असुर-समूह बसत है, कर-कृपान जोधा हत्यारे।[4]

कृष्ण के बिना घर-आँगन, गोकुल सब कुछ सूना है। जिस कृष्ण के बिना यशोदा पलभर भी नही रह सकती थी, उसे वह कैसे वियुक्त कर दे ? चाहे कस बन्दी बना ले, उसे

---

१ सूरसागर सभा, पद १२७५,
२ वही, ,, पद १२७१
३ वही ,, पद ३५८५
४ वही ,, पद ३५८६

पर्वाह नही, पर वह अपनी आँखों के तारे कृष्ण को अलग नही करना चाहती। चाहे प्राण ही क्यो न देने पड़ें

मेरो माई निधनी को धन माधो।
बारम्बार निरखि सुख मानति, तजति नही पल आधो।
छिनु-छिनु परसति अङ्कम लावति, प्रेम प्रकृत ह्वै बाँधो।
करिहै कहा अक्रूर हमारो, दैहैं प्रान अबाधो।
सूर स्यामघन हौं नहिं पठवौं, अबहिं कंस किन बाँधो।[१]

निधनी को धन' मे कितनी निरीहता और विवशता है? संतोष के शान्त-सागर में पुत्र वियोग के विक्षोभ से जनित कितनी तरगें हैं? शायद आप गिन नही सकते। यह कृष्ण के लिए यशोदा का स्नेह नही है, पुत्र के प्रति माता की ममता है, जिसकी गम्भीर धारा में ससार के सारे सम्बन्ध और स्वार्थ डूब जाते हैं, माँ के हृदय से निकला हुआ वह नि श्वास है, जो समस्त विश्व को प्राणवान् बनाता है, मातृत्व का अदम्य त्याग है, जिसमें स्वय मिटकर भी पुत्र की कल्याण-कामना की पावन भावना अन्तर्हित है। आज यशोदा को गोकुल मे कोई ऐसा हितैषी नहीं दीख पडता, जो कृष्ण को मथुरा जाने से रोक दे :

जसोदा बार-बार यो भाषै।
है कोउ ब्रज में हितू हमारो, चलत गुपालहि राखै।[२]

वियोग की सभावना ही सयोग के सुखों की स्मृति द्वारा हृदय की व्याकुलता को बढ़ाने के लिए पर्याप्त है। यशोदा के मुख से निकले हुए ये शब्द कितने मर्मस्पर्शी हैं?

जिहि मुख तात कहत ब्रजपति सौं, मोहि कहत है माइ।
तेहि मुख चलन सुनत जीवति हौं, विधि सौं कहा बसाइ।
को कर-कमल मथानी धरि है, को माखन अरि खैहै।
बरषत मेघ बहुरि ब्रज ऊपर, को गिरि बल कर लैहै।[३]

नन्द के मुख से यद्यपि इतनी विह्वलता-पूर्ण उक्तियाँ नही निकलती, तो क्या उनके हृदय मे वियोग का सागर नही उमड रहा? उनकी वियोगजन्य अधीरता फूटती नही, क्योंकि पुरुषत्व का बाँध उसे रोके हुए है। हृदय पर पत्थर रख कर वे यशोदा को समझाते हैं। उनके भाव, बुद्धि और तर्क से सयत है, इसलिए अबाध रूप से उबल नहीं पडते :

भरोसौ कान्ह का है मोहि।
सुनहि जसोदा कंस-नृपति-भय तू जनि व्याकुल होहि।[४]

परन्तु माता का हृदय क्या इस प्रकार के आश्वासनो से आश्वस्त हो सकता है? एक ओर तो यशोदा बेहाल हो रही है और दूसरी ओर रोहिणी का यह चित्र कितना मार्मिक है .

---

१ सूरसागर सभा पद ३५९१
२ वही ,, पद ३५९२
३ वही ,, पद ३५९५
४ वही ,, पद ३५९६

'ये दोउ भैया जीवन हमरे' कहति रोहिणी रोइ।
धरनी गिरति उठति अति व्याकुल, कहि राखत नहिं कोइ।[१]

और जब पुत्र ही माता को संसार की नि.सारता चार दिन फूलने वाली सायन की बेल का उदाहरण देकर समझाता है, तो उसका हृदय ही टूट जाता है :

यह सुनि गिरी धरनि झुकि माता।
कहा अक्रूर ठगोरी लाई, लिये जात दोउ भ्राता।
विरध समय की हरत लकुटिया, पाप पुन्य डर नाहीं।
कछू नफा है तुमको यामे, सोचो धों मन माहीं।
नाम सुनत अक्रूर तुम्हारो, क्रूर भए हो आइ।
सूर नन्द-घरनी अति व्याकुल, ऐसेंहि रैनि विहाइ।[२]

यशोदा की इच्छा तो यही रहती है कि उसका कृष्ण उससे जननी का नाता रखे। चलते-चलते वह फिर पुत्र का मुख देखना चाहती है और 'जनम के खेरे' को निरखने को कहती है—

मोहन नैंकु वदन तन हेरो।
राखौं मोहि नात जननी को, मदनगुपाल लाल मुख फेरो।
बिछुरन भेंट देहु ठाढ़े ह्वै, निरखो घोष जनम को खेरो![३]

सुख-दुख की अनुभूति में एक दशा वह भी आती है, जब हृदय इतना भर आता है कि वाणी भावो को अभिव्यक्ति करने में असमर्थ होकर मूक हो जाती है, कण्ठ गद्‌गद् हो जाता है और टूटे-फूटे शब्द ही मुख से निकल पाते हैं। इस दशा मे वाणी का काम आँखें करती हैं। सूर की विरह की चरम अनुभूति का यह चित्रण देखिये :

जबही रथ अक्रूर चढे।
तब रसना हरि नाम भाषिकै, लोचन नीर बढे।
महरि पुत्र कहि सोर लगायो, तरु ज्यों धरनि लुटाइ।
देखति नारि चित्रसी ठाडी, चितये कुँवर कन्हाइ।[४]

कृष्ण चले गये, यशोदा को आशा थी कि नन्द के साथ ही कृष्ण भी लौट आयेंगे। परन्तु कृष्ण ने मथुरा से नन्द को जब यह कहकर विदा कर दिया :

पुत्र-हेत प्रतिपार कियो तुम, जैसें जननी तात।
गोकुल बसत, हँसत, खेलत मोहिं, द्यौस न जान्यो जात।
होहु विदा, घर जाहु गुसांई, माने रहियो नात।[५]

और नन्द असह्य व्यथा को हृदय मे लिये हुए अकेले आते दीख पडते हैं, तो यशोदा पुत्र-वियोग की तीव्रता के कारण आपे में नही रहती। वेदना के आधिक्य के कारण वह इस

१ सूरसागर (सभा) पद ३५६३
२ वही ,, पद ३५६८
३ वही ,, पद ३३०८
४ वही ,, पद ३६१०
५ वही ,, पद ३७४२

बात को भूल जाती है कि स्वय नन्द भी विवश हैं और उनकी भी उसी जैसी दशा है। वह उन्हे भी जी भरकर बुरा-भला कहती है :

जसुदा कान्ह-कान्ह कै बूझै।
फूटि न गईं तुम्हारी चारौं, कैसे मारग सूझै।
इक तौ जरी जात बिनु देखें, अब तुम दीन्हौ फूंकि।
यह छतिया मेरे कान्ह कुँवर बिनु, फटि न भई द्वै टूकि।
धिक् तुम धिक् ये चरन अहो पति, अध-बोलत उठि धाए।
सूर स्याम बिछुरन की हम पै, दैन बधाई आए।[1]

यशोदा के ये कटुवचन पति के प्रति पत्नी की धृष्टता नही, अपितु पुत्र वियोगिनी माता के हृदय की उस गहरी व्यथा को सूचित करते हैं, जिसमें प्रिय वस्तुएँ भी अप्रिय-सी लगती हैं। ये उसकी विक्षिप्त-मनोदशा के ध्वनिमय चित्र हैं, जिनमें एक-दूसरी से मिलती हुई अनेक भाव-रेखाएँ दीख पडती हैं, जिनका विश्लेपण करना किसी के वस की वात नहीं।

नन्द को दशरथ के समान पुत्र-वियोग के कारण प्राण-त्याग न करने पर यशोदा जो उलाहना देती हैं, उसी के सदृश उसकी सखी का यह उलाहना कितना मनोवैज्ञानिक और स्वाभाविक है

तब तू मारिबोई करति।
रिसनि आगें कहि जु आवति, अब लै भाँडे भरति।
रोस कै कर दाँवरी लै, फिरति घर घर धरति।[2]

यशोदा को पुत्र-वियोग इतना अखर रहा है कि वह ब्रज छोडकर मथुरा में देवकी और वसुदेव की दासी बनकर रहने को तैयार है। प्रेम में आत्म-विस्मृति की भावना गहरी हो जाती है और मिलन की उत्सुकता का उद्रेक समस्त भावो को तिरोभूत कर देता है ·

हौं तौ माई मथुरा ही पै जैहौं।
दासी ह्वै वसुदेव राइ की, दरसन देखत रैहौं।
मोहि देखि कै लोग हँसैगे, अरु किन कान्ह हँसै।
सूर असीस जाइ दैहौं, जनि न्हातहु बार खसै।[3]

अन्तिम शब्दो में मातृ-हृदय का समूचा वात्सल्य मानो एक-बारगी उमड पड़ा है, पुत्र कहीं भी हो, सकुशल रहे, यही माता की कामना होती है। 'जनि न्हातहु वार खसै" का आशीर्वाद सुत के प्रति माता के नि स्वार्थ प्रेम-भाव का सन्देश-वाहक है।

पुत्र के प्रिय खाद्य पदार्थों को देखते ही उसकी याद आ जाना स्वाभाविक ही है। माता को यह भी विश्वास नही होता कि उसके बिना अन्य कोई उसके पुत्र के खाने-पीने आदि की समुचित व्यवस्था कर सकता है। यह अविश्वास वात्सल्य-जनित ही है। कृष्ण राजा हो गये हैं, फिर भी यशोदा को चिन्ता है कि उन्हें प्रात काल ही कौन बिना माँगे माखन रोटी देता होगा .

---

१ सूरसागर (सभा) पद ३७५२
२ वही (,,) पद ३७५६
३ वही (,,) पद ३७८८

जद्यपि मन समुझावत लोग ।
सूल होत नवनीत देखि मेरे मोहन के मुख जोग ।
प्रातकाल उठि माखन-रोटी को बिनु माँगे दैहै ।
को मेरे वा कान्ह-कुँवर कौं छिनु-छिनु अकम लैहै ।[1]

विप्रलम्भ

सयोग की अपेक्षा वियोग-शृङ्गार को साहित्यिको ने अधिक उच्च स्थान दिया हैं, क्योकि जहाँ सयोग में प्रिय-सान्निध्य से प्राप्त सुख हृदय की अनेक सात्विक वृत्तियो को तिरोहित किये रहता है, वहाँ वियोग उन्हे उद्बुद्ध कर भावो के प्रसार के लिए समस्त विश्व का क्षेत्र खोल देता है । सयोग मे प्रेमी-युगल एकान्त चाहते हैं, उन्हे अन्य की सहानुभूति की आवश्यकता नही रहती, पर वियोग मे उनकी आत्मा का प्रसार हो जाता है और वे प्राणिमात्र के साथ ही नही, जड पदार्थों के साथ भी तादात्म्य स्थापित करते हैं । वियोगी व्यक्ति अपनी स्थिति को भूलकर उस सामान्य-भाव-भूमि पर आ जाता है, जहाँ से उसकी दृष्टि प्रत्येक छोटी-मोटी वस्तु की सत्ता पर पडती है । उसके हृदय की अनुभूति रेचन का साधन न मिलने के कारण घनीभूत और तीव्र होती चली जाती है । समस्त ससार मे उसे उसका प्रिय ही दीख पडता है, इसी कारण से सहृदय कवियो ने सयोग की अपेक्षा वियोग को ही अधिक पसन्द किया है

सङ्गम-विरहविकल्पे वरमिह विरहो न सङ्गमस्तस्या ।
सङ्गे सैव तथैका त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे ।

अर्थात्—सगम और विरह में प्रियतमा का विरह ही श्रेष्ठ है, क्योकि मिलन मे तो वह एक रहती है, पर विरह में त्रिभुवन ही तन्मय हो जाता है । शृङ्गार-रस के सिद्ध कवि अमरुक ने विरहावस्था में समस्त विश्व मे अपनी प्रेयसी के स्वरूप का दर्शन करते हुए अद्भूत अद्वैत का प्रतिपादन किया है—

सा-सा-सा-सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवाद ।

यह वह सात्विक अवस्था है, जिसमें मानव-हृदय से दुराव का आवरण हट जाता है और वह अपने स्वाभाविक निर्मल रूप मे उक्तियो के साथ लिपटा चला आता है । पशु-पक्षियो और लता-पादपो के साथ भी सम्बन्ध जोडने की प्रेरणा देने वाला यह भाव धन्य है। इसी दशा मे कालिदास के यक्ष ने अपनी प्रियतमा को सन्देश भेजने के हेतु आषाढ के प्रथम मेघ को रोक लिया, जायसी की रूप-गर्विता नागमती ने भौंरे और काग के हाथो प्रिय को 'सदेसडा' भेजने का विचार किया और तुलसी के राम 'खग, मृग' और 'मधुकर श्रेणी' से सीता का पता पूछते फिरे । शृङ्गार को रस-राजत्व प्रदान करने वाला तत्त्व वियोग ही है, क्योकि इसमे सयोग-जन्य सुख के सदृश उथलापन नही रहता, अपितु अनुभूति की गहनता रहती है ।

सयोग-शृङ्गार के समान वियोग का भी सूर ने व्यापक वर्णन किया है । कृष्ण के चलने के समय व्रज-युवतियो को वियोग-जन्य जडता घेर लेती है —

१ सूरसागर (सभा) पद ३७९१

चलत जानि चितवति ब्रज-जुवती, मानहु लिखी चितेरें।
जहाँ सु तहाँ एक टक रहि गईं, फिरति न लोचन फेरें।
बिसरि गई गति भाँति देह की, सुनति न स्रवनन टेरें।
मिलि जु गईं मानो पै पानी, निवरति नही निवेरैं।[1]

गोपियों की आँखो से आँसू बह निकलते हैं। उन्हें रह-रहकर ख्याल आता है—'अब देखि ले री स्याम कौ मिलनौ बडी दूरि।' विरहानल की जलन से वे तडप उठती हैं, उनकी दृष्टि में अनल से विरहाग्नि अधिक दाहक है—

अनल ते विरह अगिनि अति ताती।
माधव चलन कहत मधुवन कौं, सुने तपति अति छाती।
न्याइहिं नागरि नारि बिरह-बस, जरति दिया ज्यौं वाती।
जे जरि मरी प्रगट पावक परि, ते तिय अधिक सुहाती।[2]

'नैषधकार' श्रीहर्ष की दमयन्ती ने भी विरहाग्नि के विषय में ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं।[3] कृष्ण का रथ चला गया और गोपियाँ लौटकर घर की ओर चली, परन्तु पैर आगे को नहीं पडते और आँखें, जिनके रूप-लोभ ने यह गति बनादी, अब भी पीछे की ओर ही लगीं थीं। उनके मन की मन मे रह गई। यदि ईश्वर ने उन्हे पवन, पताका या धूलि बना दिया होता तो वे श्याम के साथ ही चली जाती—

पाछै ही चितवत मेरे लोचन, आगे परत न पाँय।
मन लै चली माधुरी मूरति, कहा करौ ब्रज जाय।
पवन न भई पताका अम्बर, भई न रथ के अङ्ग।
धूरि न भईं चरन लपटाती, जाती उहँ लौं संग।
ठाढी कहा करौ मेरी सजनी, जिहिं बिधि मिलहिं गुपाल।
सूरदास प्रभु पठै मधुपुरी, मुरझि परी ब्रजबाल।

'मुरझि परी ब्रजबाल' से कृश, विषण्ण और विवर्ण गोपियो का सजीव चित्र सामने आ जाता है। गोपियों के विरह का वर्णन करते हुए स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—

"परिस्थिति की गम्भीरता के अभाव से गोपियो के वियोग में भी वह गम्भीरता नहीं दिखाई पडती, जो सीता के वियोग मे है। उनका वियोग खाली बैठे का काम-सा दिखाई पडता है। सीता अपने प्रिय से वियुक्त होकर कई सौ कोस दूर दूसरे द्वीप में राक्षसों के बीच पडी हुई थी। गोपियो के गोपाल केवल दो-चार कोस के एक नगर में राज-सुख भोग रहे थे। सूर का वियोग-वर्णन 'वियोग-वर्णन' के लिए ही है, परिस्थिति के अनुरोध मे नही। कृष्ण गोपियो के साथ क्रीडा करते-करते कुंज या झाडी में जा छिपते हैं, या यो कहिए कि थोडी देर के लिए अन्तर्धान हो जाते हैं। बस, गोपियाँ मूर्च्छित होकर गिर पडती हैं।[4]"

---

१ सूरसागर (सभा) पद, ३५७८

२ वही ,, पद, ३५८१

३ दहनजा न पृथुर्दवथुर्व्यथा विरहजैव पुनर्यदि नेदृशम्।
दहनमाशु विशन्ति कथं स्त्रियः प्रियमपासुमुपासितुमुद्धुराः।
नैषध, चतुर्थ सर्ग

४ सूरदास (आचार्य शुक्ल) पृष्ठ १७२

आचार्य शुक्ल जी के इस कथन की आलोचना हमारा ध्येय नहीं . हमारा तो यही निवेदन है कि वियोग—वियोग ही है, चाहे वह क्षणिक हो या अनन्त, प्रियतम कही समीप हो छिपा हो या दूर । प्रेमाप्लावित हृदय मे विरह के तूफान से विक्षोभ उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है । विरह की गम्भीरता की माप क्या प्रिय के निवास की दूरी ही पर आधारित है ? हमारी समझ मे तो प्रिय के चले जाने पर यह निश्चय कि न जाने अब कभी मिलन होगा या नही, विरह की पूर्ण अनुभूति के लिये पर्याप्त है, उसमें काल या देश का हस्तक्षेप हमे उपयुक्त नहीं जंचता । रास की चरमावस्था और सयोग की मधुरतम अनुभूति में वियोग—क्षण भर के लिए ही सही—क्या असह्य नही होगा ?

कृष्ण के वियोग मे गोपियो की दशा दयनीय हो गई । उनके दिन कृष्ण की क्रीड़ाओ के वर्णन में ही व्यतीत होते हैं । व्रज में सब कुछ पहले की ही चीजें हैं, परन्तु फिर भी वह पहले का व्रज नही । जब व्रजपति ही नही, तो व्रजबालाओ का व्रज भी सूना है । उन बेचारियों के औसान ही नही बनते ·

बिचारत ही लागे दिन जान ।
तुम बिनु नन्द-सुवन इहि गोकुल, निसि भइ कल्प समान ।
मुरलि सब्द, कल धुनि की गुंजनि, सुनियत नाही कान ।
चलत न रथ गहि रही स्याम, को अब लागी पछितान ।
है कोउ जाय कहै माधो सौं, धीरज धरहि न प्रान ।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिनु, फुरत नाहि औसान ।।[1]

गोपियाँ अपना सर्वस्व कृष्ण पर वार बैठी थीं । उनके वियोग मे उनका तन, मन, यौवन—सब विषधर की फुंकार के समान है । कालिदास के "प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता" के अनुसार रमणी का सौन्दर्य और शृङ्गार प्रिय को लुभाने के लिए ही होता है । जब प्रिय ही नही, तो शृङ्गार ही कैसा .

मुख तमोर नैननि नहि अञ्जन, तिलक ललाट न दीन ।
कुचिल वस्त्र, अलकैं अति रूखी, दिखियत है तन छीन ।
प्रेम-तृषा तीनों जन जानैं, विरही, चातक, मीन ।
सूरदास बीतति जु हृदय मे, जिन जिय परवस कीन ।[2]

अपने प्रियतम का स्वप्न मे दर्शन करने वाली नारियाँ धन्य हैं, परन्तु बेचारी गोपियो के लिये यह भी सम्भव नही, क्योकि प्रियतम के जाने से भी चार दिन पहले उनकी निद्रा जा चुकी थी

सुनहु सखि धन्य ते नारि ।
जो आपने प्रान-वल्लभ की, सपनै हूँ देखति अनुहारि ।
कहा करो री चलत श्याम के पहिलैंहि नीद गई दिन चारि ।[3]

---

१ सूरसागर (सभा) पद ३८३१
२ वही (,,) पद ३८८५
३ वही (,,) पद ३६८८

दिलवर को दिल नजर करने के बाद बहुत से उर्दू शायर भी 'करवटें लेते ही लेते साफ उड जाती है नीद' कहते हुए नीद का रोना रोते देखे गये हैं, परन्तु गोपियों की नीद तो कृष्ण के जाने से भी चार दिन पूर्व जा चुकी है, मानो वह स्वय इस भावी विपत्ति को अपनी आँखो देखना नहीं चाहती थी। गोपियो के विरह का अन्त नही, मिलन की आशा मे विरह कम हो जाता है, पर यहाँ तो यह भी नही

उदित सूर चकई मिलाप निसि अलि जु मिलैं अरविन्दहि।
सूर हमैं दिन राति दुसह दुख, कहा कहैं गोविन्दहि।[1]

कृष्ण के विना मुरली कौन सुनावे। उनके विना व्रज का सब कुछ सूना है। कृष्ण की मुरली फिर बजी ही नही :

माई बहुरि न वाजी वेन।
को जैहै मेरे खरिक दुहावन, गाइनि रही फिरि ऐन।
सूनौ घर सूनी सुख सेज्या, जहाँ करत सुख सैन।
सूने ग्वाल-बाल सव गोपी, नही कहूँ उन चैन।[2]

मानव-हृदय के भावो का प्रकृति के साथ सभी भारतीय कवियो ने सामञ्जस्य स्थापित किया है। वह मनुष्य के सुख-दुख मे हँसती और रोती है। पाश्चात्य आलोचक चाहे इसे Pathetic fallacy कहकर अनुपयुक्त ही मानें, परन्तु जड और चेतन जगत् की एक ही ब्रह्म से उत्पत्ति मानने वाले भारतीय मनीषी तो उनमे अभेद देखते ही हैं। यही कारण है कि वियोगिनी गोपियो को यमुना नदी भी कृष्ण के वियोग ज्वर से काली पडी हुई दीख पडती है :

देखियति कालिन्दी अति कारी।
अहो पथिक कहियो उन हरिसौं, भई बिरह जुर जारी।
गिरि-प्रजक तैं गिरति धरनि धँसि, तरंग तरफ तन भारी।
तट बारू उपचार चूर, जलपूर प्रस्वेद प्रनारी।
निसि दिन चकई पियजु रटति है, भई मनौ अनुहारी।
सूरदास प्रभु जो जमुना गति, सो गति भई हमारी।[3]

परन्तु मधुवन अब भी हरा-भरा खडा है। वही मधुवन, जिसने गोपी-वल्लभ की अगणित क्रीडाओ का साक्षात्कार किया था, जिसके निकुञ्ज कृष्ण की वशी के मधुर स्वर के साथ कामिनी-कलकण्ठो से निर्गत कोमल ध्वनियो से गूँजते रहे थे, जिनके हृदय में रासकर्त्ता मोहन के पद्चिन्ह आज भी बने हुए हैं, कृष्ण के वियोग में गोपियो का साथी न बना। साथी वही है,जो दुख में साथ दे, सुख मे तो कोई भी साथ दे सकता है। मधुवन की यही विषमता गोपियो को क्षुब्ध कर देती है और वे उसे कोसने लगती हैं

मधुबन तुम क्यो रहे हरे?
विरह बियोग स्यामसुन्दर के ठाढ़े क्यो न जरे।

---

१ सूरसागर (सभा) पद ३८ ८
२ वही (,,) पद ३६६८
३ वही (,,) पद ३८०६

मोहन वेनु बजावत तरु तर साखा टेकि खरे।
मोहे थावर अरु जड जगम, मुनि-जन ध्यान टरे।
वह चितवनि तू मन न धरत है, फिरि-फिरि पुहुपु धरे।
सूरदास प्रभु विरह दवानल, नख सिखलौं न जरे।[1]

विरह की अवस्था में चित्त स्थिर नही रहता। अतः एक ही वस्तु कभी अनुकूल और कभी प्रतिकूल दीख पड़ने लगती है। अभी-अभी जो यमुना गोपियो को अपने ही समान विरह जुर-जारी लग रही थी, अब यम के समान लगने लगी—क्योकि वह गोपियों और कृष्ण के बीच में बाधा बनकर बह रही है। विरह-जन्य-चित्त-विभ्रम के अभिव्यञ्जन मे कवियो ने प्राय. ऐसी ही उक्तियो का आश्रय लिया है :

मोकौं माई जमुना जम ह्वै रही।
कैसें मिलौं स्यामसुन्दर कौं, वैरिनि बीच बही।[2]

इसी प्रकार चातक भी कभी तो उन्हे जीवन दाता और कभी विरहणी नारी के रूप में दीख पडता हैं, तो कभी जली हुई को और जलाता हुआ ज्ञात होता है। पी-पी रटने वाला वेचारा चातक स्वयं विरह में काला पड़ गया है। समान दु ख वालो में पारस्परिक समवेदना का होना स्वाभाविक ही है। तभी तो गोपियाँ चातक के प्रति स्नेह प्रदर्शित करती हैं :

बहुत दिन जीवौ पपिहा प्यारौ।
बासर रैनि नाम लै बोलत, भयौ विरह जुर कारौ।
आपु दु.खित पर दुखित जानि जिय, चातक नाम तुम्हारौ।
सूरदास-प्रभु स्वाति बूंद लगि, तज्यौ सिंधु करि खारौ।[3]

और कभी-कभी उसकी उद्दीपक 'पी-पी' की वाणी को सुनकर वे तिलमिला जाती हैं और उसकी अदूरदर्शिता पर उसे खोटी-खरी सुनाती हैं :

(हौं तौ मोहन के) विरह जरी, रे तू कत जारत।
रे पापी तू पँखि पपीहा, पिय पिय करि अधराति पुकारत।
करी न कछु करतूति सुभट की, मूठि मृतक अबलनि सर मारत।
रे सठ तू जु सतावत औरनि, जानत नहिं अपने जिय आरत।
सब जग-सुखी दुखी तू जल बिनु, तऊ न उर की व्यथा विचारत।
सूर स्याम विनु व्रज पर बोलत, काहैं अगिलो जनम बिगारत।[4]

जो नैन प्रेम के प्रवर्त्तक थे, जिनके उत्पात के कारण गोपियाँ कृष्ण के प्रेम-पाश में बद्ध हुई, उनकी भी वियोग मे सावन-भादो की मेघ-घटाओ के समान दशा हो गई। मेघ तो कुछ देर के लिये रुक भी जाते हैं, पर गोपियो के नैन निश-दिन बरसते हैं।

१ सूरसागर (सभा) पद ३८२८
२ वही ,, पद ३८९२
३ वही ,, पद ३९५५
४ वही ,, पद ३९५६

सबसे पहले शायद महाकवि कालिदास ने दुष्यन्त की पहली रानी हँसपदिका द्वारा शकुन्तला के प्रेम मे डूबे हुए दुष्यन्त को लक्ष्य कर भ्रमर-विषयक उक्ति द्वारा उपालम्भ दिलाकर साहित्य में एक नई रूढि का बीजवपन किया और इसके बाद विकटनितम्बा, गोवर्धन आदि सस्कृत कवियो की रचनाओ और अपभ्रश के दूहो में से गुजरती हुई यह परम्परा हिन्दी साहित्य मे पहुँची। कृष्ण भक्ति का विकास और उसमे माधुर्य भाव की प्रतिष्ठा हो जाने पर तो इस धारा को एक नई दिशा ही मिल गई, जिसका सकेत भागवत के उद्धव-गोपी-सवाद के प्रसग में मिलता है। यहाँ आकर भ्रमरोपालम्भ, जो अब तक भौतिक प्रेम के क्षेत्र मे ही सीमित रहा था, आध्यात्मिक क्षेत्र में भी अवतीर्ण हुआ। धीरे-धीरे इसमे अनेक तत्वो का समावेश होता गया और एक ओर तो एक विशिष्ट दार्शनिक पृष्ठ-भूमि में इसकी जड जमी, और दूसरी ओर कई दार्शनिक विचारधाराओं से इसका सघर्ष भी हुआ। अनेक शताब्दियो की दीर्घ अवधि में बदलती हुई परिस्थितियो और विकसित होती हुई भक्ति-साधना के साथ कवित्व का मणिकाञ्चन योग हो जाने के कारण इस परम्परा ने जो रूप धारण किया, वह हिन्दी साहित्य में 'भ्रमर-गीत साहित्य' के नाम से प्रसिद्ध है। यह श्रेय हिन्दी के ही भाग्य मे बदा था। वस्तुत कवित्व और भक्ति का जैसा सुन्दर समन्वय पूर्व मध्य-कालीन हिन्दी साहित्य में हुआ, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

भागवत के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध मे ४६ वें और ४७ वें अध्यायों मे भ्रमर-प्रसंग आया है। कृष्ण अपने प्रियसखा उद्धव को यह कहकर कि—"तुम व्रज में जाकर मेरे माता-पिता और गोपियों को, जिनका मन मुझ मे रमा रहता है, मेरा सन्देश देकर वेदनामुक्त करो" उन्हें व्रज भेजते हैं। उद्धव ब्रज जाते हैं और नन्द तथा यशोदा को समझाते हैं। यशोदा मूक होकर अश्रु बरसाती हुई उनके ज्ञान की बातें सुनती हैं और उससे प्रभावित तो नही होती—हाँ, हतप्रभ-सी अवश्य हो जाती हैं।

सूर्योदय के समय गोपियाँ नन्द के द्वार पर खडे रथ को देखकर अटकलें लगाने लगीं कि यह किसका रथ है? इस प्रसग में उनका वार्तालाप अक्रूर के प्रति घृणा और तीखे व्यङ्ग्यो से भरा पडा है। जब उन्हे पता चलता है कि कृष्ण के समान रूप-रग और वेष-भूषा वाले अभ्यागत उनका सन्देश लेकर आये हुए उनके सखा हैं, तो वे उनका सत्कार करती हैं और उनसे जो कुछ कहती हैं, उसका सार यह है—

"उद्धव जी! आप व्रजनाथ, नही-नही, यदुनाथ जी के पार्षद हैं। उन्होंने अपने माता-पिता को सुख देने के लिये आपको यहाँ भेजा है। और उनका यहाँ है भी कौन? अपने माता-पिता के अतिरिक्त दूसरो के साथ जो प्रेम-सम्बन्ध किया जाता है, वह स्वार्थवश होता है। (मतलब निकल जाने पर प्रेम का स्वाँग समाप्त हो जाता है। भौंरों का पुष्प से, और पुरुष का स्त्री से ऐसा ही प्रेम होता है)। यहाँ सब प्रेम-सम्बन्ध स्वार्थ पर आधृत हैं। धन न रहने पर वेश्या अपने कामुक को धता बता देती है; अध्ययन समाप्त होने पर कितने शिष्य अपने आचार्यो की सेवा करते हैं? वृक्ष पर फल नहीं रहते तो पक्षी भी उड़ जाते हैं। वन में आग लगी कि पशु भाग खडे हुए। स्त्री के हृदय में कितनी ही आसक्ति हो, व्यभिचारी पुरुष मतलब निकल जाने पर उलट कर भी नहीं देखता। ससार के प्रेम-सम्बन्ध ऐसे ही होते हैं।"

गोपियो के कथन में उनकी मनोदशा का चित्रण है। वैभव की खाई के कारण वे कृष्ण को अपने से कितना दूर समझती हैं ? इसीलिये तो ब्रजनाथ कहते ही यदुनाथ कह उठती हैं। वे सोचने लगी कि जब उनमे प्रेम की पवित्रता ही नही, तो वे हमारे हृदय की व्यथा को क्या समझें ? भ्रमर क्या कभी पुन: कली के पास लौटता है ? स्वार्थ, ग्रानन्द और उपभोग में लिप्त अवसरवादी दूसरे का ध्यान कब करता है ? और कृष्ण भी इसके अपवाद नहीं, अपितु प्रमाण ही हैं।

यद्यपि इस कथन मे कही कृष्ण का नाम नहीं आया है, तथापि अप्रत्यक्ष रूप से कृष्ण पर ही सब व्यंग्य किये गए हैं। प्रेम का प्रतिदान न पाकर ही गोपियो ने उद्धव के समक्ष व्यङ्ग्य किये, क्योकि वे समझती थी कि उनके द्वारा कृष्ण तक उनकी भावाभिव्यक्ति पहुँच जायेगी। कृष्ण की सब लीलाएँ उनकी आँखो में छा जाती हैं और वे फूट-फूट कर रो पडती हैं। नारी के दो ही अस्त्र हैं—व्यग्य और रुदन। एक गोपी को कृष्ण-मिलन की लीलाओ का स्मरण हो रहा था कि एक भ्रमर गुनगुनाता हुआ उधर आ निकला। गोपी ने उसे कृष्ण-सखा का प्रतीक मान कर कहना प्रारम्भ किया:

"कपटी के सखा भ्रमर ! सपत्नी के कुचो से मसली हुई माला के कुकुम में सनी हुई अपनी मूछो से हमारा स्पर्श न कर। तुम जिनके दूत हो—वे कृष्ण ही मथुरा में अपनी मानिनी नायिकाओ को मनावें। केवल एक बार अपनी अघर सुधा की मोहिनी पिलाकर वे हमें ऐसे ही छोड़कर चले गये, जैसे तुम फूलो को छोडकर चले जाते हो, पता नही लक्ष्मी उनकी चरण सेवा क्यो करती है ? शायद उनकी चिकनी-चुपड़ी बातो में आ गई है। तू हमारे सामने कृष्ण का गान क्यो कर रहा है ? हमें मानने के लिये ही तो ! पर वे तो हमारे जाने-पहचाने हैं। जा, उनकी मथुरावासिनी सखियो के सामने ही उनका गुणगान करना; हम जानती हैं—वे कितने निर्मम हैं। काम-सतप्ता शरणागता सूर्पणखा को उन्होंने विरूप कर दिया, वामन रूप मे बलि से मुँह माँगी वस्तु पाकर भी उसके साथ क्या किया ?" वरुणपाश से बाँधकर पाताल में डाल दिया। तू मेरे पैरो मे सिर मत टेक ! क्या तू भी श्रीकृष्ण से चाटुकारिता सीख आया है ? हम कालो की मित्रता से बाज आई। किन्तु क्या करें, कृष्ण की याद आती ही है। हम चाहने पर भी उनकी चर्चा नही छोड सकती। जैसे हरिणी व्याघ के सुमधुर गान के चसके में मारी जाती हैं, वैसे ही हम भोली-भाली गोपियाँ कृष्ण के प्रेमजाल में फँस गई। तू इस विषय में कुछ न कह। यदि तुझे कुछ कहना ही है, तो कुछ अन्य बात कर। इतने मे ही भौंरा कुछ दूर उडकर फिर लौट आता है, तब गोपियाँ कुछ आदर के साथ कहना प्रारम्भ करती हैं·

प्रियतम के प्यारे सखा ! तुम हमारे माननीय हो। कहो, तुम्हारी क्या इच्छा है ! सच कहो, क्या हमे वहाँ ले जाना चाहते हो। पर उनके पास जाकर लौटना कठिन है। हम तो उनकी हो चुकी हैं। पर हमे वहाँ ले जाकर क्या करोगे ? उनके हृदय मे तो उनकी प्यारी पत्नी लक्ष्मी रहती है न। अच्छा, प्रियतम के प्रियदूत मधुकर ! बताओ तो कि कृष्ण मधुपुरी में सुख से तो हैं। क्या वे कभी नन्द बाबा, यशोदा, और ग्वाल-बालों की भी याद कर लेते हैं ? क्या हम दासियो का भी कभी जिक्र करते हैं ? बताओ, वे कब अगर के समान दिव्य सुगन्ध से युक्त अपनी भुजा हमारे सिर पर रखेंगे ? क्या हमारे जीवन मे ऐसा शुभ अवसर आयेगा ?

भागवत के इस प्रसग में भ्रमर-गीत के सभी तत्त्वो का मूलरूप विद्यमान है। 'भ्रमर-गीत' अन्योक्ति के उपकरण—गोपी, कृष्ण, उद्धव, भ्रमर, उपालम्भ—सभी इसमें आ गये हैं। भ्रमर को कितवबन्धु कहा गया है, जो एक अप्रस्तुत व्यङ्ग्य है, जिसका लक्ष्य कृष्ण ही नही, उद्धव भी हैं। कृष्ण की चाटुकारिता और कपट के वश में होकर गोपियाँ अपने मन को खो बैठती हैं। उनके अलौकिक प्रभाव के कारण उनकी ओर से ध्यान हटाने मे असमर्थ हैं। अपनी इस परवशता के कारण वे विवश हैं, कृष्ण के विरह में व्याकुल हैं। उनका नारी हृदय काम के बाणो से पीडित है। मधुपुर की चतुर नागरिकाओ से कृष्ण के प्रणय सम्बन्ध का अनुमान ही उनके मर्मवेध के लिए पर्याप्त है। सौतों के आलिङ्गन से मलिन माला में कुकुम की कल्पना उनके हृदय में सपत्नीभाव-जन्य ईर्ष्या को भी जन्म देती है। इस प्रकार गोपियो को साधारण मानवी रूप भी प्रदान कर दिया गया है।

भागवत के इन प्रसगो मे हृदय और बुद्धि का समानान्तर प्रभाव लक्षित होता है। गोपियाँ, नन्द और यशोदा कृष्ण-लीलाओं की स्मृति सँजोये उनका चिन्तन करते रहते हैं और उद्धव उनके निराकार परब्रह्म रूप का प्रतिपादन करते हैं। अन्त में भागवत की गोपियाँ उद्धव की ज्ञान-चर्चा से सतुष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार भागवत में निराकार उपासना का ही स्वर प्रबल सुनाई पडता है, फिर भी इसमे सन्देह नही कि भागवतकार ने कृष्ण के जीवन को एक नवीन भावात्मक रूप प्रदान किया।

भागवत के अतिरिक्त सस्कृत साहित्य में अन्यत्र कही भ्रमर-गीत की रचना उपलब्ध नही होती। भ्रमर-दूत और भ्रमर-सन्देश नामक दो दूत-काव्य अवश्य मिलते हैं जो कथानक विषय और शैली—सब की दृष्टि से बिल्कुल भिन्न वस्तुएँ हैं। इनमें कृष्ण-कथा के स्थान पर राम-कथा की घटनाओ का वर्णन है। अपभ्रंश में कृष्ण-लीला गान की परम्परा तो चली आ रही थी, पुष्पदत्त के महापुराण में एतद्विषयक कई गीत मिलते हैं। भ्रमर-विषयक अन्योक्ति द्वारा उपालम्भ देने की परम्परा भी अक्षुण थी, किन्तु इन सब तत्त्वों का एकीकरण कर भ्रमर-गीत जैसी रचना की सृष्टि करने का प्रयास अपभ्रंश साहित्य में नहीं हुआ।

भागवत के पश्चात् विद्यापति मैथिल कोकिल के कतिपय पद ऐसे मिलते हैं, जो भ्रमर-गीत परम्परा में स्थान पाने के अधिकारी हैं। वे पद ये हैं

(१)

कत दिन माधव रहब मधुरपुर विहि वाम।
दिवस लिखि लिखि नखा खो आयनु बिछुरत गोकुल नाम।
हरि हरि काह कहब सम्बाद!
सुमरि सुमरि नेह खिन मेला मोर देह, जिवनक अब कौन साथ।
पूरब पियारि नारि हम अछ्‌ल, अब दासनहु सदेह।
भ्रमर भ्रमरी भ्रमि सबहु कुसुम रमि, नँहि तजे कमलनि नेह।
आस निगड करि, जिउ कत राखब अबहि ज करत परान।
विद्यापति कह आसहीन नह अउब सो कर कान।[1]

---

१ मैथिल कोकिल विद्यापति (बाबू ब्रजनन्दन सहाय) पद २८

(२)

ऊधव कब हमसो ब्रज जाइब ।
कब प्रिय छवलि सरमि स्यामलि, तेइ सखन स दूध दुहाइब ।
कब श्रीदामा सुबल प्रिय मित, मिलि कानन धेनु चराइब ।
कब जमुना तिर नीप तरुतर मोहन वेनु बजाइब ।
कब वृप भानु किशोरि गोरि सौं, कुंजहि रास रचाइब ।
कब ललितादि सखी सुन्दरि कहें, सादर अंक लगाइब ।
विद्यापति कह अइसन सुभ दिन राइक मान मनाइब ।।[1]

(३)

प्रेम अंकुर जात आत मेल न मेल जुवल पलाशा ।
प्रतिपद चाँद उदय जैसे भामिनी सुख लव मैं गैल निराशा ।
सखि हे अब मोहे निठुर मधाई अवधि रहलि विसराई ।
के जाने चाँद चकोरिणी बचब माधव मधुप सुजान ।
अनुभवि कानु पिरीति अनुमामिये विघटित विहि निरमान ।
पाप पराण आन नहि जानत कान्ह कान्ह करि भूरन ।
विद्यापति कह निकरुण माधव गोविन्ददास रस पूरन ।[2]

इन स्फुट पदो के अतिरिक्त भ्रमर-गीत का व्यवस्थित कथात्मक स्वरूप विद्यापति की पदावली में प्राप्त नहीं होता । विद्यापति हिन्दी के पहले कवि हैं, जिन्होने भागवत के इस प्रसंग की अवतारणा हिन्दी में की । परिमाण की दृष्टि से उनकी यह रचना नगण्य है । परम्परा का विकसित रूप भी उसमे नही मिलता, किन्तु इससे उनके मूलसूत्र उद्घाटन का महत्व कम नही हो जाता । यदि सांख्य शास्त्र की शब्दावली प्रयोग करने की छूट हो तो हम कह सकते हैं कि भ्रमर-गीत की पुष्ट परम्परा इसी मूल प्रकृति की विकृति है । भ्रमर-गीत प्रसंग को व्यापक-विकसित और व्यवस्थित रूप देने का श्रेय सूरदास जी को ही है । सूर-सारावली और सूरसागर दोनो में ही यह प्रसग पाया जाता है । सूर सारावली का कथानक श्रीमद्भागवत पर ही आधृत है, किन्तु उद्धव को ब्रज भेजने के कारण में भेद है । भागवत में कृष्ण गोपियो पर अनुग्रह करके उन्हें सुख देने के लिए उद्धव को वहाँ भेजते हैं, किन्तु सारावली में गोपियों की चरण रेणु सिर पर धर उद्धव को अभय पद प्राप्त करने के लिए वे ऐसा करते हैं । काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से सारावली के इस प्रसंग का अधिक महत्व नही है ।

सूरसागर मे तीन भ्रमर-गीत मिलते हैं। एक तो लगभग ३०० पदो मे है, जिसमें नन्द, यशोदा और गोपियो का विरह वर्णन है । इसकी समता हिन्दी साहित्य का कोई भी शब्द नहीं कर सकता । इस विस्तृत भ्रमर-गीत के अतिरिक्त एक भ्रमर-गीत की रचना केवल दो पदो मे की गई है । प्रथम पद मे उद्धव ब्रजागमन, गोपियो की आशा-निराशा, कुब्जा पर व्यङ्ग्य, और कृष्ण के पुनर्मिलन की आशा का वर्णन है, और दूसरे में उद्धव द्वारा ज्ञानोपदेश,

---

१ मैथिल कोकिल विद्यापति (बाबू ब्रजनन्दन सहाय) पद ६८
२ विद्यापति (नगेन्द्रनाथ गुप्त) पद ६७०

गोपियो का प्रतिवाद और उद्धव के भक्त बन कर लौटने का वर्णन है। अन्त में भ्रमर-गीत के सुनने सुनाने का महत्त्व है।[१] उद्धव का मथुरा-गमन प्रसग और उससे पहले व्रज की दशा का चित्रण इसमे नही है। निर्गुण-सगुण चर्चा इसका प्रमुख विपय है और अन्त मे उद्धव गोपियो को गुरु मान लेते हैं। तीसरा भ्रमर-गीत केवल एक ही पद में है, जो सत्तर पंक्तियो का है। कथानक की दृष्टि से दूसरे सक्षिप्त भ्रमर-गीत से इसमें अन्तर है, क्योकि इसका प्रारम्भ उद्धव के उपदेश से ही होता है; जैसे—नन्ददास के भ्रमर-गीत का। इसके अन्तर्गत गोपियाँ अधिक व्यवहार कुशल प्रतीत होती हैं। गोपियों की तल्लीनता देखकर उद्धव के सकोच, पाती-सन्देश और ज्ञान-चर्चा का उल्लेख इसमे भी है। उद्धव कुछ दिन प्रेममग्न होकर व्रज में रहते हैं और जब कृष्ण के पास जाते हैं, तब कृष्ण अपने प्रेम व्यवहार से उन्हे शान्त करते हैं।[२] दोनो ही सक्षिप्त भ्रमर-गीतो में भ्रमर के आने का उल्लेख नहीं है। हाँ, 'अलि' और 'मधुप' शब्दो का प्रयोग अवश्य मिलता है।

सूर का विस्तृत भ्रमर-गीत बडा ही महत्त्वपूर्ण है। इसके अन्तर्गत विभिन्न घटनाओ और पात्रो के व्यापारो का विकास बडे ही मनोवैज्ञानिक ढंग से हुआ है। स्थूल रूप से इसका विभाजन दो भागों में किया जा सकता है। प्रथम भाग में कृष्ण के वियोग मे व्रजवासियो की दशा और कृष्ण के प्रति यशोदा, नन्द आदि के द्वारा भेजे गये सन्देशो से लेकर उद्धव के व्रज-आगमन तक के पद रखे जा सकते हैं, और दूसरे मे उद्धव-गोपी-सवाद से लेकर उद्धव के प्रेमाभक्ति से प्रभावित होकर व्रज लौटने तक के। प्रथम भाग को पुन: दो अशो में विभाजित किया जा सकता है— १—व्रज की दशा और व्रजवासियो के सन्देश। २—मधुपुर वासियो के सन्देश से उद्धव के आगमन तक के पद, जिन्हे हम भ्रमर-गीत की क्रमशः पूर्वपीठिका और उत्तरपीठिका कह सकते हैं।

समूचा भ्रमर-गीत उपालम्भ जिस भावना से ओत-प्रोत है, उसकी कुञ्जी व्रज-वर्णन-प्रसग में वह पद है, जिसमें एक ग्वाला मधुपुरवासी कृष्ण के सम्बन्ध में कहता है कि—'मधुपुरी जाकर कृष्ण अब बडे वश वाले बन गए हैं, राजा हो गए हैं, सूतजन उनका गान करते हैं, राजसी वेष-भूषा से वे सज्जित हैं और अहीर कहलाने में लज्जा का अनुभव करते हैं। उनके माता-पिता यशोदा और नन्द नहीं, देवकी और वसुदेव हो गए हैं। कुब्जा उनकी अर्धाङ्गिनी बन गई है, जिसके वशीभूत होकर वे विभिन्न प्रकार के रास-रग में लीन हैं।'[३] गोप द्वारा दी गई इस सूचना की गोपियो पर भारी प्रतिक्रिया होती है। कृष्ण पर अपना एकाधिकार रखने वाली गोपियो को यह कैसे सह्य होता कि वे किसी और के होकर रहें? उनका भावुक, शङ्कालु नारी-हृदय कृष्ण के मथुरावास के अन्य कारणो को बहानामात्र तथा कुब्जा के प्रणय को मूल कारण मान बैठता है, और उनकी विचार-धारा कुब्जा पर ही केन्द्रित हो जाती है। वे उस पर व्यङ्ग्य करती हैं, उसके कारण कृष्ण को भी अधिकाधिक उपालम्भ देती हैं और फिर अपनी परवशता पर रोती-बिसूरती हुई कुब्जा के कूबड का मजाक उडाकर ही मन को शान्त करना चाहती हैं, पर व्यर्थ, घूम-फिर कर उनका ध्यान कृष्ण पर पहुँचता है और वे खीझ कर कह उठती हैं—"सखी री काके मीत अहीर!

१ सूरसागर पद ४७११, ४७१२

२ वही पद ४०९५

३ वही पद ३७५९

अपना ही लोहा खोटा है, तो लुहार का क्या दोष ? निरीह गोपियाँ कभी अपने रूप-रस लोभी नेत्रों को कोसती हैं, तो कभी कपटी हृदय को। ऐसी मनःस्थिति में प्राकृतिक-सौन्दर्य भी उन्हे काटने दौड़ता है। अतः चन्द्रोपालम्भ और उद्दीपन रूप में प्रकृति-वर्णन के भी बहुत से पद मिलते हैं।

विरह वेदना से पीडित गोपियाँ कृष्ण को सन्देश भेजती हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार से अपनी दशा प्रकट करती हैं। इतने सन्देश भेजे कि मधुपुरी के कूप भर गए, पर कृष्ण का प्रति-सन्देश नही मिला। ऐसी स्थिति में कुब्जा और कृष्ण के प्रति उनके हृदय में उपालम्भ की भावना का और भी उद्दीप्त हो जाना स्वाभाविक ही है। यशोदा भी सन्देश भेजती है कि—यद्यपि लोग मेरे हृदय को समझाते हैं, फिर भी मक्खन देखकर मेरे हृदय में पीडा होती है। पथिक ! कृष्ण से कहना कि मेरे जैसी माँ के होते हुए वे क्यो दुःख पा रहे हैं ![1] तभी यशोदा को गोप की बात याद आ जाती है। ध्यान आता है—कृष्ण की माँ तो देवकी है। तब वे कहती हैं कि—यदि कृष्ण माँ का नाता नहीं मानते, तो धाय समझ कर ही दर्शन दे जायें। फिर वे सोचती हैं, क्यो न देवकी के पास ही कृष्ण के भेजने के लिये सन्देश भेजा जाये। यही तो उचित है, इसी बीच मे यशोदा का वात्सल्य फिर उसे आत्म-विस्मृत कर देता है और वह यह भूल कर कि—कृष्ण देवकी के पुत्र हैं, देवकी को सन्देश भेजती है:

तुम रानी हो और मैं अहीर। मुझे ऐसी हँसी अच्छी नहीं लगती, यहाँ मेरी गायें कौन चराये। मेरे पुत्र को भेज दो ! वहाँ उसे चाहे जितना ऐश्वर्य प्राप्त हो, पर उसे तो मक्खन भाता है न ?[3] इस प्रकार गोपियाँ और यशोदा के हृदय में जो विचार उठते हैं, वे परस्पर सम्बद्ध और मनोवैज्ञानिक हैं। गोप द्वारा व्रज-कृष्ण के ऐश्वर्य की सूचना देना, कुब्जा का प्रेम, यशोदा और गोपियो के सन्देश—सूर की अपनी कल्पना की उपज हैं। भागवत मे ये प्रसग नही हैं।

इसी प्रकार भागवत में उद्धव को व्रज भेजने का उद्देश्य बिल्कुल दूसरा है। वहाँ वे गोपियो को ज्ञानोपदेश देने के लिये भेजे जाते हैं, पर सूर के कृष्ण उन्हें प्रेम-भक्ति का उपदेश ग्रहण करने के लिये भेजते हैं, ज्ञान के घमड में फूले उद्धव को वे प्रेम-भजन की प्राप्ति के लिये व्रज भेजना उचित समझते थे।[4] स्वय कृष्ण को उनके योग की बात अच्छी नहीं लगती थी। वे कहते हैं—

सग मिलि कहौं कासौं बात।
यह तो करत जोग की बातैं, जामैं रस जरि जात।[5]

उद्धव को व्रज भेजने का कारण सूर के चतुर कृष्ण सकेतित भी कर देते हैं, किन्तु ज्ञान-मद में मत्त उद्धव—उसे समझ भी नहीं पाते :

सूर स्याम इहि कारन पठवत, ह्वै आवैगो सत।

---

१ सूरसागर पद ३७९०
२ वही पद ३७९१
३ वही पद ३७९७
४ वही पद ४०३१
५ वही पद ४०३२

इस प्रकार उद्धव को व्रज भेजने का कारण उनके योग-नीरस-हृदय को भक्ति-रस से पूरित करना (योग के ऊपर भक्ति का महत्व प्रतिपादन करना) तथा व्रजवासियो की दशा जानना है। गोकुल से आये हुए सन्देशों के उत्तर रूप में सूरदास—देवकी, कुब्जा और कृष्ण द्वारा प्रतिसन्देश भिजवाना नही भूले हैं। कृष्ण मौखिक रूप में तथा पत्र के रूप मे भी सन्देश देते हैं। यशोदा ने धाय बनकर दर्शन की कामना की थी, जिसके उत्तर में कृष्ण ने सन्देश भेजा कि—हम उन्ही के पुत्र हैं।[1] यहाँ के अवशिष्ट कार्य को पूरा कर हम वहीं लौटेंगे, अन्यत्र हमें कहाँ सुख मिल सकता है। धाय कहला भेजना—हमें अच्छा नहीं लगा।[2] जब से तुमसे वियुक्त हुए हैं, कोई कन्हैया कहने वाला नही मिला। और न ही सवेरे उठकर कलेवा किया, और न घैया ही, चाखी।[3] नन्द बाबा को उपालम्भ पूर्ण सन्देश यह भेजा कि—मथुरा पहुँचाकर उन्होने फिर सुधि ही नहीं ली।[4] गोपियो के लिये केवल जोग का ही सन्देश भेजा, क्योंकि इसी के द्वारा उनका अभीष्ट (उद्धव के ज्ञान का गर्व दूर होना) सिद्ध हो सकता था। जोग के सन्देश द्वारा उन्होने गोपियों के हृदय की प्रतिक्रिया को उद्दीप्त करना चाहा।

शिष्टता और स्नेह के नाते वसुदेव-देवकी भी यशोदा के सन्देश का उत्तर लिखकर देते हैं कि—नन्द और यशोदा! तुम धन्य हो, हमारे पुत्र का पालन कर तुमने हमें उपकृत किया; यहाँ आकर उनसे क्यो नही मिल जाते? उन्हें मैं भेज तो दूँगी ही, बाल-लीला का आनन्द तो तुम्हें ही मिला। मुझे तो वे कुमार मिले हैं।[5]

इसके बाद सूर ने कुब्जा द्वारा गोपियों को पत्र लिखाया है। वह स्वय गोपियों के आक्रोश, उपालम्भ और व्यङ्ग्य का आस्पद रही थी। शिष्टता के नाते ही सही, उसे अपनी सफाई में कुछ कहना ही चाहिये था। उसने लिखा—"मुझ पर तो कृष्ण की अकस्मात् कृपा हो गई, मुझ पर क्रोध क्यो करती हो। कडवी तुम्बी को तो घूरे पर स्थान मिलता है, पर जब वह वाद्य-निर्माता के हाथ पड जाती है तो सुन्दर राग उत्पन्न करने लगती है। यही दशा मेरी थी। मैं त्रिभङ्गी शरीर! कस की दासी! करुणाकर ने कृपा कर दी। अपने हाथ से मुझे सँवार दिया।[6] उसने मौखिक सन्देश देते हुए उद्धव से कहा उद्धव राधा से कहना, मैं तो इनकी सेविका हूँ, मुझ पर क्रोध न करो। जैसे कृष्ण ने मुझ पर कृपा की है वैसे ही वे भी करती रहे। तुम तो श्याम की अर्धाङ्गिनी हो। मैं तुम्हारे समान कहाँ,[7] इतनी नम्रता दिखाने के पश्चात् कुब्जा का अभिमान जाग उठा और वह उपालम्भ के बदले में उपालम्भ देती हुई बोली—

सुनियत ऊधो लए सँदेसो, तुम गोकुल कों जात।
पाछे करि गोपिन सों कहियो, एक हमारी बात॥
मातु पिता को नेह समुझि कैं, स्याम मधुपुरी आए।
नाहिन कान्ह तुम्हारे प्रीतम, ना जसुदा के जाए॥

---

१ सूरसागर ४०५३
२ वही ४०५६
३ वही ४०५७
४ वही ४०५७
५ वही ४०६०
६ वही ४०६२
७ वही ६०६४

देखो बूझि आपने जिय में तुम धौं कौन सुख दीन्हे।
ये वालक तुम मत्त ग्वालिनी, सवै मूँड करि लीन्हे॥
तनक दही माखन के कारन, जसुदा त्रास दिखावै।
तुम हँसि सब बाँधन कौं दौरीं, काहू दया न आवै॥
जो वृषाभान-सुता उत कीन्ही, सो सब तुम जिय जानो।
ताहीं जाल तज्यो ब्रजमोहन, अब काहें दुख मानो॥[1]

भागवत मे केवल कृष्ण का मौखिक सन्देश है। वसुदेव, देवकी और कुब्जा के सन्देश कवि की मौलिक प्रतिभा के परिणाम हैं। भागवत में राधा का नाम नहीं मिलता, किन्तु सूर ने राधा को प्रधानता दी है। कुब्जा और कृष्ण राधा को ही सन्देश भेजते हैं। गोपियो का विरह राधा के विरह की धुरी पर ही घूमता है और अन्त में उद्धव भी उसी की 'अति मलीन' दशा से प्रभावित होकर कृष्ण से कहते हैं कि—"अति मलीन वृषभानु कुमारी"। सन्देश-प्रतिसन्देश की यह कल्पना पूर्णतया घटनाओ के मनोवैज्ञानिक विकास के ऊपर आधारित है।

मधुपुरियों के सन्देश गाँठ में बाँधकर ऊधो चल दिये। इसके बाद सूर ने व्रज मे होने वाले शुभ शकुनों और गोपियो के उत्कण्ठित हृदयो का सुन्दर चित्रण किया है। एक भारतीय सस्कृति और आचारों का प्रतीक है, तो दूसरा सञ्चारियो के अभिव्यञ्जन की दृष्टि से उच्च-साहित्यिक आदर्श का प्रतिविम्ब है। शुभ-शकुन तो हो ही रहे थे, मथुरा की ओर से आता हुआ कृष्ण का रथ भी दूर से दीखने लगा। गोपियो के हृदय में कृष्ण-मिलन की आशा दृढ हो गई। रथ कुछ पास आया तो उसमें एक व्यक्ति दीख पड़ा। कृष्ण अकेले नही आ सकते थे, वे तो बलराम के साथ होते। आशा निराशा में परिणत हो गई। लगा, जैसे कृष्ण मिलकर बिछुड गए हो। नवीन विरह जग गया और गोपियो के हृदय से खीझभरा उपालम्भ निकल पडा—

सूरदास यहाँ कत आवें, बँधे कुबिजा रस-दाम।[2]

यशोदा तो मूच्छित होकर ही गिर पडी। गोपियाँ अपना दुःख भूल गई और यशोदा को सान्त्वना देने लगी :

भल भई हरि सुरति करी।
उठो महरि कुशलात बूझिए, आनन्द उमग भरी।[3]

इस प्रकार आत्म-विस्मृत विरह-विधुरा ग्रामीण गोपियो में भी सूर ने कर्त्तव्य, बुद्धि और सहानुभूति की प्रतिष्ठा की है, जो उनके सरल स्वभाव को और भी आकर्षक बना देती है।

सूरसागर में उद्धव के व्रजागमन का प्रसङ्ग विभिन्न पदो में भिन्न-भिन्न प्रकार से मिलता है।

एक अन्य स्थान पर उद्धव-गोपी-मिलन का प्रसङ्ग भागवत के समान दिया है। नन्द के द्वार पर खडे रथ को देखकर गोपियाँ शंकित होती हैं कि—कही फिर अक्रूर आ गए।

१ सूरसागर (सभा) पद ४०६५
२ वही ,, पद ४०८५
३ वही ,, पद ४०८८

जब उन्हे उद्धव के दर्शन होते हैं, तो वे उन्हें कृष्ण का सखा समझ कर प्रणाम करती हैं। कहती हैं—'तुम्हारे दर्शन पाकर हम धन्य हुईं, तुमसे मिलकर वैसा ही सुख हुआ, जैसे मछली को पानी मिलने पर होता है।'

स्वभावत' गोपियाँ उद्धव से एकदम प्रश्न करती हैं कि—'कृष्ण कुशलपूर्वक तो हैं! उन्होने यहाँ आने के लिये कहा है या नहीं!' सब गोपियाँ सन्देश सुनने के लिए दौड आईं, उद्धव ने कृष्ण की पाती उन्हे दी।

कह्यौ तुमकौं ब्रह्म ध्यावन, छाँडि विषय विकार।
सूर पाती दई लिखि मोहिं, पढौ गोप कुमारि।[1]

इस प्रकार सूर के उद्धव योग का कटु सन्देश विस्तार पूर्वक न कहकर पाती से ही परिस्थिति स्पष्ट कर देते हैं। पत्रिका प्राप्त कर गोपियाँ प्रेम-विभोर हो जाती हैं। यहाँ सूर ने सम्बन्ध-भावना का उत्तम निदर्शन प्रस्तुत किया है। गोपियाँ कृष्ण की पाती को कभी नेत्रो पर धरती हैं और कभी छाती से लगाती हैं। पर इससे कृष्ण का विरह और भी अधिक अखरने लगता है, और वे कह उठती हैं कि—इस पाती का हम क्या करें? वे सोचती हैं कि कृष्ण हमसे रुष्ठ हैं, तभी तो इस प्रकार स्वय न आकर 'मधुप' के हाथो सन्देश और पाती भेज दिये हैं। उद्धव की योग-चर्चा उन्हे तनिक नही सुहाती। वे व्याकुल हो जाती हैं और—

इहिं अन्तर मधुकर इक आयौ।
निज स्वभाव अनुसार निकट ह्वै सुन्दर सब्द सुनायौ।
पूछन लागी ताहि गोपिका कुबिजा तोहिं पठायौ।
को धौं सूर स्यामसुन्दर को हमें सन्देसौ लायौ।[2]

यही से मूल भ्रमर-गीत का प्रारम्भ होता है। भ्रमरागमन के पूर्व के दो पदो में गोपियों ने भी उद्धव को ही 'मधुप' और 'अलि' नाम से सबोधित किया है:

'कहियौ मधुप सदेश सुचित दै, मधुवन स्याम उजागर'।[3]
'याही तें लिखि पठवत अलिकर बातें प्रेम छकोही'।[4]

वस्तुत यहाँ उन्होने कृष्ण के सखा उद्धव को कृष्ण का ही प्रतिनिधि समझकर ऐसा किया है। गोपियो के प्रेम प्रवाह में उद्धव का ज्ञान बह जाता है और उनका कहना 'पवन का भुस' हो जाता है। अन्त में वे प्रेमा-भक्ति से ओत-प्रोत हृदय होकर लौटने लगते हैं, तो यशोदा और गोपियाँ पुन. भावपूर्ण सन्देश देती हैं।

भागवत और सूर के भ्रमर-गीत की तुलना से स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि सूर ने भागवत का आश्रय लिया है, तथापि अपनी प्रतिभा से ऐसी-ऐसी घटनाओं की उद्भावना की है, जिनसे मानव हृदय की शाश्वत वृत्तियो की अनुभूति होती है। उनके कृष्ण भागवत के कृष्ण के समान केवल कर्त्तव्य निष्ठता के आग्रह से ही गोपियो को सदेश भेजने मे प्रवृत्त नही होते,

---

१ सूरसागर (सभा) पद ४१०३
२ वही ,, पद ४११५
३ वही ,, पद ४०१३
४ वही ,, पद ४०१४

अपितु भावुक हृदय होने के कारण विरह की कसक का अनुभव भी करते हैं। उनका प्रेम मानवीय धरातल पर ही पल्लवित हुआ है। सूर ने उद्धव को भागवत के उद्धव के समान मुखरता भी प्रदान नहीं की; वे बहुत कम बोलते हैं। कारण यही है कि गोपियो के रूप में स्वयं सूरदास अपनी प्रेमा-भक्ति का प्रतिपादन करते हुए ज्ञानी उद्धव को बोलने का अवसर ही नही देते। उन्हे वे मुखरता तभी प्रदान करते हैं, जब वे स्वय सूर के भक्ति सम्प्रदाय में दीक्षित हो जाते हैं और मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय को प्रमुखता देने लगते हैं।

भ्रमर का अवतरण होने के पश्चात् मूल भ्रमर-गीत का प्रारम्भ होता है। गोपी-उद्धव के इस सवाद में गोपियाँ उद्धव को बोलने का बहुत ही कम अवसर देती हैं। योग की बात सुनकर वे उद्धव से तावडतोड प्रश्न करती चली जाती हैं, उस पर व्यग्य कसती हैं। उसकी बुद्धि पर तरस खाती हैं, कभी उसे मतवाला कहती हैं और कभी कपटी, कभी व्रज भेजकर कृष्ण द्वारा उसका मूर्ख बनाये जाने की बात कहती हैं, तो कभी उस पर अहसान जताती हैं कि हमसे तुमने योग की कहनी-अनकहनी बात कहली, चलो कोई बात नहीं; यदि अन्य किसी स्त्री को अपना पति छोड कर अन्य को कर लेने का उपदेश देते तो कुछ मेहमानी खाते। वस्तुतः गोपियो की स्वत. प्रेरित भावपूर्ण उक्तियो के आगे उद्धव की बोलती बन्द हो जाती है। गोपी-उद्धव सवाद के इन पदो मे अनायास ही अनेक प्रकार के तत्त्व—दार्शनिक, साहित्यिक; सांस्कृतिक, सामाजिक आदि प्रविष्ट हो गये हैं।

भ्रमर-गीत का दार्शनिक-दृष्टिकोण

हम पहले कह आए हैं कि सूरदास का उद्देश्य किसी दार्शनिक वाद-विवाद के झमेले में पडना नही था। वे भक्त थे और भगवान् की प्रेमा-भक्ति की महिमा की अनुभूति को ही अपनी रचनाओ में व्यक्त किया करते थे। यद्यपि वे पुष्टि-सम्प्रदाय में दीक्षित थे, तथापि उनका उद्देश्य उसके सिद्धान्तो का प्रतिपादन करना नही था। फिर भी सामयिक वातावरण और अभिव्यक्ति की सहज लपेट मे कुछ सामान्य दार्शनिक बातें भी आ गई हैं, जिनका सम्बन्ध पुष्टि-सम्प्रदाय से ही अधिक है।

सूर के समय मे ज्ञान, योग और भक्ति का त्रिकोण संघर्ष चल रहा था। वेदान्ती लोग अन्त करण की शुद्धि, जप, तप, आदि को प्रमुखता देते थे और नाथ-पथी योग को। इधर सन्त-मत, जिसने उक्त दोनो ही सम्प्रदायो से कुछ न कुछ लिया था, निराकार निर्गुण की उपासना का प्रचार कर रहा था; साथ ही साकार की उपासना और भक्ति का आन्दोलन भी जोर पकड चुका था। इस प्रकार भ्रमर-गीत मे निवृत्ति और प्रवृत्ति मार्गो का सघर्ष है।

उद्धव गोपियो की विरह-व्यथा का कारण अज्ञान ही मानते हैं। अत वे गोपियों से कहते हैं—"ज्ञान बिना कहुँवे सुख नाही।[1]" वे परब्रह्म का ही ध्यान करने का उपदेश देते हैं[2]; जिसे जीव अज्ञानवश नही देख पाता।[3] तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करके ही गोपियाँ सोना बन सकती हैं :

---

१ सूरसागर ४२२४

२ वही ४३०३

३ वही ४७१३

तत्व भजै वैनी ह्वै जैहौं, पारस परसैं लोहु।
मेरो वचन सत्य करि मानो, छांडो सवको मोहु।[1]

क्योंकि—

जव लगि ज्ञान हृदै नहि आवै।
तव लगि कोटि जतन कर कोऊ, विन विवेक नहि पावै।[2]

किन्तु प्रेम-रस से मत्त भक्ति की प्रतीक गोपियां ज्ञान के पारस को अपने लिए व्यर्थ समझती हैं, वे तो स्वय कृष्ण के प्रेम में सुवर्णमयी हो गई हैं। पारस का महत्त्व लोहे के नजदीक कुछ भी हो, सोने को उसकी क्या जरूरत?

सोहत लौह परसि पारसि को, ज्यों सुवरन वरवानि।
पुनि वह कहा चारु चुम्वक सों लटपटाइ लपटानि।[3]

भगवान् के वियोग मे तडपने वाले भक्त के नयनो के लिये तो उनके दर्शन ही पथ्य हैं, ज्ञान की वात तो शलाका का ही काम करती है।[4] जिनके कान कृष्ण की वेणु का रस पिये हुए हो, उन्हें ज्ञान की कथा?[5]

उद्धव समझे कि ज्ञान की वात घनी वारीक है और गोपियो की बुद्धि मोटी। इसलिए पहले ज्ञान के स्थूल पक्ष 'साधना' को ही इनके गले उतारा जाये। इसलिए वे योग के साधना-पक्ष की मानसिक और शारीरिक—दोनो प्रकार की क्रियाओं को अपनाने के लिए कहते हैं, और फुनगी छोडकर जड पकड लेते हैं.

कर समाधि अन्तरगति ध्यावहु, यह उनको उपदेश।[6]
यह सदेश कह्यो है माधो, करि विचार जिय साधन साधो।
इडा पिंगला सुषमन नारी, सुन्य सहज मे वसत मुरारी।[7]

अब तो गोपियों को—हरि के प्रेम का आस्वादन करने वाली गोपियो को—सन्देह ही हो गया। वे समझने लगी कि उद्धव को कृष्ण ने नहीं भेजा; क्योंकि जिस कृष्ण ने—

अंग-अंग आभूषन अपने, कर करि हमहि वनाए।
सूरदास प्रभु कैसें तुम कर, कंथा जोरि पठाए।[8]

जरूर कुछ दाल में काला है। कहीं उद्धव परिहास ही तो नहीं कर रहे!

सूरदास योग की अपेक्षा भक्ति के महत्त्व का अधिक प्रतिपादन करते हैं, किन्तु वे योग को सर्वथा हीन-दृष्टि से नही देखते। योग का मजाक उड़ाने से उनका तात्पर्य यही

---

१ सूरसागर ४१५७
२ वही ४४०६
३ वही ४१५६
४ वही ४१८८
५ वही ४५४५
६ वही ४१२०
७ वही ४६६७
८ वही ४४६०

है कि भक्ति—योग की अपेक्षा सहज साध्य है। योग की साधना कठिन है, अत सुकुमार नारियो को योग-साधन की सलाह देना एक विषमता मात्र है। उनके भावुक हृदय के लिये तो प्रेम-मार्ग का अनुकरण ही श्रेयस्कर है—

आए हैं ब्रज के हित ऊधो, जुवतिनि को लै जोग।
आसन, ध्यान, नैन मूँदें सखि, कैसे कढ़ै वियोग ॥[1]

सच्चे भक्त का लक्ष्य तो एक ही है—भगवत्प्राप्ति। भगवान् जिस मार्ग से सहज ही मिल जायँ, वही ग्राह्य है। अगर योग द्वारा फौरन ही हरि के मिलने की गारंटी हो, तो गोपियाँ उसे भी ग्रहण करने के लिए तैयार हैं—

ऊधो तो हम जोग करैं।
जो हरि वेगि मिलैं अब हमकौं, वैसे वेष धरैं।[2]

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध' के अनुसार चित्त की वृत्तियो को रोकना ही योग है, किन्तु गोपियो का चित्त तो कृष्ण ने चुरा लिया, फिर योग-साधन कैसा ? कौनसे मन से योग-साधना की जाय ?

ऊधो मन नाही दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम सग, को अवराधै ईस।[3]

यदि वे अपना मन वापस पा लें, तो इतनी रुचि के साथ लाये हुए योग को अवश्य स्वीकार कर लें।[4] वास्तविक वात तो यह है कि वेदों और उपनिषदो के इस तत्व (योग) को वेचारी अवला कैसे साध सकती हैं ? समाधि लगाना साधारण मानव के वस की वात नही !

यह तो वेद उपनिषद मत हैं, महापुरुष व्रतधारी।
हम अवला अहीर व्रज-वासिन नाही परत सँभारी।[5]

भला निर्गुण ब्रह्म से कैसे प्रेम किया जावे ?

अति अगाध स्रुति वचन अगोचर, मनसा तहाँ न जाई।
जाकैं रूप न रेख -वरन वपु, सग न सखा सहाई।
ता निरगुन सो नेह निरन्तर, क्यो निवहै री माई।[6]

इसीलिए सूर की गोपियाँ सगुन को ही पसन्द करती हैं—

ऊधो निरगुनहि कहत, तुमही सो लेहु।
सगुन मूरति नन्दनन्दन, हमहि आनि देहु।

---

१ सूरसागर ४२०८
२ वही ४४१२
३ वही ४१४४
४ वही ४३३७
५ वही ४५१६
६ वही ४५४२

अगम पंथ परम कठिन, गौन तहाँ नाहिं।
सनकादिक भूलि फिरे, अबला कहँ जाहिं॥[1]

उस निर्गुण के सगुण रूप को पास कर गोपियो का हृदय स्थिर हो गया। अब उन्हे अन्य किसी की आवश्यकता नहीं। चित्त की यह स्थिरता योग से क्या कम है? उन्होंने सगुण के प्रकाश को पा लिया है, जिसके अभाव मे उद्धव का जीवन स्वयं ज्ञान के अन्धकार मे डूबा हुआ है:

इहिं व्रज सरगुन दीप प्रकास्यौ।
सुनि ऊधौ त्रिकुटी त्रिवेद पर, निसिदिन प्रकट अभास्यौ।
सब के उर सरवास नेह भरि, सुमन तिली को वास्यौ।
गुन अनेक ते गुनि कपूर सम, परिमल बारह मास्यौ।
साधन भोग निरजन तेरे, अन्धकार तम नास्यौ।
वा दिन भयो तिहारो आवन, बोलत हो उपहास्यौ।
रहि न सके तुम सीक रूप ह्वै, निरगुन काज उकास्यौ।
बाढी जोति सुकेस देस लौं टूट्यौ ज्ञान मवास्यौ।
दुर्वासिना सलभ सब जारे जे—छै रह्यौ अकास्यौ।

गोपियो के इस कथन से सूरदास के मत का स्पष्टीकरण हो जाता है। उन्होने ज्ञान और योग की अपेक्षा भक्ति को प्रधानता दी है, और भक्ति के क्षेत्र में भी निर्गुण के स्थान में सगुण की उपासना का प्रतिपादन किया है। किन्तु सूर के भ्रमर-गीत का यह पक्ष सर्वथा गौण है। अपने दार्शनिक विचारो को ही व्यक्त करने के लिए उन्होने भ्रमर-गीत की रचना नहीं की। उनका प्रमुख लक्ष्य है—प्रेम की पीर को अभिव्यक्ति करना; जिसके साथ-साथ तत्कालीन समाज मे प्रचलित अन्य धार्मिक विचार धाराओ का भी उद्घाटन स्वत. ही हो गया है। हिन्दी के विद्यार्थी के लिए भ्रमर-गीत का साहित्यिक महत्त्व ही अधिक आकर्षक है। विप्रलम्भ शृङ्गार का इतना उत्कृष्ट उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है।

उद्धव ने यह कह कर कृष्ण का सन्देश और पाती गोपियो को दी; कि—

"कह्यौ तुमकौं ब्रह्म ध्यावन, छाँडि बिषय बिकार।
सूर पाती दई लिखि मोहि, पढ़ौ गोप कुमारि।"[2]

प्रिय-प्रेषित वस्तु के दर्शन से प्रेमी के हृदय मे प्रेम का अन्त स्रोत फूट पडता है और वियोगावस्था में घनीभूत अनुभूति सात्विक भावो के रूप मे विकास पाती है। कृष्ण की पत्रिका को प्राप्त कर गोपियाँ निहाल हो जाती हैं और प्रेम के अतिशय सचार के कारण उद्धव की पहली बात (कह्यौ तुम कौ ब्रह्म ध्यावन) को भूल ही जाती हैं। कृष्ण की पाती उनके लिए अपूर्व सम्पत्ति है, जिसे प्राप्त कर वे फूली नहीं समाती। भावसागर का मन्थन करने वाले सूर ने गोपियो की इस मानसिक दशा की अभिव्यक्ति के लिये कैसे प्रभावपूर्ण अनुभावो की कल्पना की है:

१ सूरसागर (सभा) पद ४५१७
२ वही ,, पद ४१०१

निरखति अङ्क स्याम सुन्दर के, वार-वार लावति छाती ।
लोचन-जल कागद-मसि मिलि कै, ह्वै गई स्याम स्याम की पाती ।[1]

प्रिय-रूप-रस-पिपासु नेत्रो से निर्गत सात्त्विक वाष्प के मसि-मिश्रित हो जाने से तो श्याम की पाती चक्षु इन्द्रिय से देखने मे श्याम (काली) दीख पडी थी, परन्तु वियोगावस्था में प्रिय द्वारा प्रेषित होने के कारण वह प्रेम-जागर्ति का साधन होकर भी गोपियो की मानसिक एकाग्रता के फलस्वरूप भावात्मक दृष्टि से उससे भी पहले श्याम (कृष्णमय) हो चुकी है; तभी तो वे उसे वार-वार छाती से लगा कर प्रिय के अङ्क के आश्लेष का आनन्द प्राप्त करती हैं। वियोगानल-सतप्त मानस मे प्रिय-प्रेषित वस्तु अपूर्व शीतलता और शान्ति का सञ्चार करती है, परन्तु सच तो यह है कि इस शान्ति के क्षणिक सञ्चार की परिणति प्रिय-मिलन-अभिलाष की तीव्रता मे होती है। यही कारण है कि कृष्ण की याद मे विह्वल गोपियो के कण्ठ से अनायास ही निकल पडता है :

प्राननाथ तुम कर्बाहि मिलौगे, सूरदास प्रभु बाल-सँघाती ।[2]

गोपियो ने इतने सन्देशे भेजे कि मथुरा के कूप सन्देशो से भर गये। जिस पथिक को वे उधर जाता देखती, उसी के द्वारा सन्देश भी भेजतीं। सन्देश ले जाने के डर से पथिको ने उस मार्ग से जाना ही छोड दिया। इतने पर भी जब कृष्ण को उनकी याद आई तो उन्होंने स्वय आने का कष्ट-वहन न कर पत्रिका भेज दी, जिसने वियोग मे योग का सन्देश देकर संयोग की आशा पर ही पानी फेर दिया। ऐसी पत्रिका का क्या किया जाय :

ऊधौ कहा करैं लै पाती ।
जौ लौ मदनगुपाल न देखै, विरह जरावत छाती ।[3]

योग के उपदेश द्वारा उद्धव गोपियो के हृदय से कृष्ण की स्मृति को भी निकालना चाहते हैं। प्रिय से सम्बन्ध-विच्छेद कराने की चेष्टा करने वाले व्यक्ति के प्रति झल्लाहट उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है, चाहे वह प्रिय का कितना ही प्रिय क्यो न हो? उद्धव के कृष्ण का त्याग और निर्गुण की उपासना वाले उपदेश को सुनकर गोपियाँ झुँझला उठी। इस झुँझलाहट को व्यक्त करने के लिए सूरदास ने एक भ्रमर की कल्पना की, जो उडता हुआ गोपियो और उद्धव के निकट जा निकला। फिर तो गोपियो ने भ्रमर के बहाने उद्धव पर खूब व्यङ्ग्य-बाणो की वर्षा की। भला उन्हें निर्गुण से क्या लेना? उनके कृष्ण सलामत चाहिये :

रहु रे मधुकर, रहु मतवारे !
कौन काज या निरगुन सौं, चिर जीवहु कान्ह हमारे ।[4]

अन्तिम शब्दो में मानो गोपियो का चिरसञ्चित प्रेम मुखरित हो उठा है। प्रेम की उच्च अनुभूति में स्वार्थ, वासना आदि की गन्ध तक नही रहती, केवल प्रिय के हित को ही

१ सूरसागर (सभा) पद ४१०५
२ वही ,, पद ४१०५
३ वही ,, पद ४११२
४ वही ,, पद ४१२२

कामना होती है। वह चाहे जितना निष्ठुर हो, चाहे जितना अन्याय करे, चाहे सुधि तक भी न ले, परन्तु प्रेमी यही चाहता है :

जहाँ रहौ तहँ कोटि वरप लगि, जियो स्याम सुख सों ही ।

वियोग की अनुभूति भी विचित्र होती है। जहाँ एक ओर गोपियों का नारी-हृदय सौतिया डाहवश मुरली और कुब्जा को उपालम्भ देता हुआ नहीं थकता, वहाँ प्रिय की ममता उनसे यह भी कहला लेती है :

व्याही लाख धरौ दस कुवरी, अन्तहि कान्ह हमारो ?[1]

प्रेम के घनत्त्व में अन्तर्हित यह प्रसार, वियोग की रसात्मक अनुभूति मे हृदय की उदारता के साथ साफ प्रकट हो जाता है, प्रिय के समस्त दोप दृष्टि से ओझल हो जाते हैं; उसके अपराधों से मान के स्थान मे दीनता-मिश्रित सहिष्णुता, निष्ठुरता से विरति के स्थान में अनिर्वचनीय रत्युकर्ष और शठता से अविश्वास के स्थान में विश्वास ही का उदय होता है, यह वस्तुत आश्चर्य की वात है। प्रेम की सीख देने वाले रासविहारी श्याम स्वय कुब्जा के रग में रगकर गोपियो को योग का सन्देश भेज सकते हैं, यह वात उनके गले ही नहीं उतरती। उनकी उक्तियो में इस अविश्वास की साफ अभिव्यक्ति हुई हैं

ऊधो स्याम-सखा तुम साँचे ?
की करि लियो स्वाँग वीचहिं तैं वैसहिं लागत काँचे ।[2]

तथा

ऊधो जाहु तुमहिं हम जाने ।
स्याम तुम्हे ह्याँ नहिं पठायो, तुम हो वीच भुलाने ।[3]

उद्धव कृष्ण के मित्र हैं, यह सम्बन्ध-भावना गोपियो को उनसे चुटकी लेने और उन्हें बनाने के लिये मुखरित कर देती है। कृष्ण को छोडकर निर्गुण को भजने का उपदेश देने वाले उद्धव पर परिहासपूर्ण डाँट डालती हुई वे कहती हैं .

जैसी कही हमहिं आवत ही, औरनि कहि पछिताते ।
अपनो पति तजि और वतावत, मेहमानी कछु खाते ।

अपने पति को त्याग कर और का उपदेश देने वाले व्यक्ति को क्या नारी सहन कर सकती है ? ऐसे व्यक्ति की पूजा हो जाना कोई आश्चर्य की वात नही। परन्तु कृष्ण से सम्बन्ध होने के कारण उद्धव को यह कहकर भी पछताना नही पड़ा और इसी के कारण उन्हें 'कपट चतुरई साने', 'धूत' और 'वे सरम' जैसे स्नेह भरे हुए खिताव मिल सके।[4] सूर के प्रेम-परिहास के विपय में स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं

"प्रेम के जिस हास-क्रीडामय स्वरूप को सूर ने लिया है, विप्रलम्भ दशा के अश्रु

१ सूरसागर (सभा) पद ४११३
२ वही ,, पद ४१३४
३ वही ,, पद ४१३६
४ वही ,, पद ४१३८-४२ तथा ४१४३

ौर दीर्घ निःश्वास के बीच-बीच में भी बराबर उसकी क्षणिक और क्षीण रेखा झलक जाती है।"[1]

गोपियो के द्वारा प्रेम-मार्ग को ही अपनाये रहने का आग्रह पाकर भी उद्धव योग-योग ही गाये चले जाते है, तो उन्हे कुछ और झुँझलाहट आ जाती हैं। वे उद्धव को सलाह देती हैं क कदाचित् तुम्हें सन्निपात हो गया है। पहले इसका उपाय तो कर लो, पीछे ही किसी को उपदेश देने का कष्ट करना :

समुझि न परति तिहारी ऊधो।
ज्यों त्रिदोष उपजैं जक लागत, बोलत बचन न सूधो।
आपुन को उपचार करो अति, तब औरनि सिख देहु।
बडो रोग उपज्यो है तुमकों, भवन सवारें लेहु।[2]

शुष्क योग की बातें सुनते-सुनते और उद्धव को बनाते-बनाते कृष्ण की स्मृति पुनः उनके प्रेम को उद्बुद्ध कर देती है और वे कृष्ण-दर्शन के लिये भटकती हुई आँखो की दयनीय दशा का मर्मस्पर्शी चित्रण करती हैं। कृष्ण ने उन्हे भुला दिया, यह कितनी विडम्बना है—

वे हरि बातें क्यो बिसरी ?
आवत राधा पथ चरन-रज हित सों अङ्क भरी।
भाँति-भाँति किसलय कुसुमावलि, सेज्या सोभ करी।
सुरति स्नमित स्यामा रस-रंजित, सोवति रंग भरी।
आपुन कुसुम-व्यजन कर लीन्हे, करत मरुत लहरी।
गोचारण मिस जात सघन वन, मुरली अधर धरी।
नाद-प्रनालि प्रवेश घोष मैं, रिझवत तिय सिगरी।[3]

अभी-अभी जो गोपियाँ कृष्ण और उद्धव को खरी-खोटी सुना रही थी, संयोग-घटनाओ की स्मृति में तथा उद्दीप्त वियोग-संताप में उनकी दशा कितनी शोचनीय हो गई है ? वे दीनता पूर्वक कृष्ण के दर्शन की याचना करती हैं। उन्हे और कुछ अभीष्ट नहीं।

ऊधो हमरो दोष नहि कछु, वै प्रभु निपट कठोर।
हम हरि-नाम जपति हैं निसदिन, जैसे चंद चकोर।
हम दासी बिन मोल की ऊधो, ज्यों गुडिया बिनु डोर।
सूरदास प्रभु दरसन दीजै, नाही मनसा और।[4]

अतीत की मधुर स्मृति से विह्वल गोपिकाओं के मानस से विप्रलम्भ-रस की जो निर्मल धारा बही, उसमें उद्धव के ज्ञान का अहङ्कार-मैल घुल गया। गोपियों को कुछ नही सुहाता। जिस

१ सूरदास (आचार्य शुक्ल) पृष्ठ २२१-२२२
२ सूरसागर (सभा) पद ४१४७
३ वही पद ४२५१
४ वही पद ४२५३

प्रेम-बाण की कठिन चोट लगी ही नही, वह उनका दुख-दर्द क्या जाने ? अन्धे के आगे रोने से क्या लाभ ? उद्धव से प्रेम-कथा का कहना घास काटना है, फिर भी उनका हृदय अपनी व्यथा को उँडेल कर हल्का होना चाहता है। वे अनेक प्रकार से अपनी दीन दशा का वर्णन करती है और अन्त मे उद्धव के हाथ कृष्ण को अपनी पत्रिका और सदेश भेजती हैं।

ऊधौ इक पतिया हमारी लीजै।
चरनि लागि गोविन्द सौं कहियौ, लिखौ हमारी दीजै।
हम तौ कौन रूप गुन आगरि, जिहिं गुपाल जू रीझैं।
निरखत नैन नीर भरि आये, अरु कचुकि पट भीजैं।
तलफत रहति मीन चातक, ज्यौं जल बिनु तृषा न छीजैं।
अति व्याकुल अकुलाति बिरहिनी, सुरति हमारी कीजै।
अँखियाँ खरी निहारति मधुवन, हरि बिनु ब्रज विष पीजै।
सूरदास प्रभु कबहिं मिलेगे, देखि देखि मुख जीजै।[1]

उनका अभिलाष यही है कि कृष्ण उन्हें याद करते रहें। नैराश्य पूर्ण प्रेमी हृदय के सतोष का यह कितना सूक्ष्म और दृढ आधार है :

नदनंदन सौं इतनी कहियौ।
जद्यपि ब्रज अनाथ करि डारचौ, तद्यपि सुरति फिरउ चित रहियौ।
तिनका तोर करहु जनि हमसौ, एक बास की लाज निबहियौ।[2]

'एक बास की लाज निबहियौ' शब्दों में गोपियो की निरीहता और दीनता की चरम काष्ठा है, कृष्ण के स्नेह और सहानुभूति को जागरित करने के लिए साहचर्य की स्मृति दिलाने के अतिरिक्त उनके पास उपाय ही क्या है ? वे कृष्ण के साथ हँसी-खेली और उठी-बैठीं हैं। अब कृष्ण बडे हो गए हैं, वे राजा हैं, उन पर कुछ जोर नही चल सकता। बस एक बास का ध्यान ही उन्हें गोपियो की सुधि लेने को प्रेरित कर सकता है। इतने पर भी जब उन्हें सन्तोष नहीं होता तो वे नन्द, यशोदा और गायो की दयनीय दशा सुनाने को कहती हैं। उनका एकमात्र उद्देश्य है—कृष्ण-दर्शन। वे जैसे भी आवें, उद्धव को अपनी समझ से वैसे ही कहना चाहिए।

तुम कहियौ जैसे गोकुल आवैं।
दिन दस रहे भली सो कीन्ही, अब जनि गहरु लगावै।
नहिं न सुहात कछू हरि तुम बिनु, कानन भवन न भावै।
धेनु विकल अति चरति नही तृन, बच्छ न पीवन धावैं।
देखत अपनी आँखिनि तुमही हम कहि कहा जनावै।
सूरदास प्रभु कठिन होत कत, वै अजनाथ कहावै।[3]

१ सूरसागर (सभा) पद ४९८२
२ वही ,, पद ४९८४
३ वही ,, पद ४८८६

परन्तु उनके प्रभु ऐसे कठोर तो नहीं हैं। उन पर कुब्जा ने ही कुछ जादू कर दिया है। गोपियाँ झुँझला उठती हैं और कुब्जा को भला-बुरा कहकर अपनी मनोगत स्त्री-सुलभ सापत्न्य-जनित ईर्ष्या व्यक्त करती हैं। उनकी उक्तियाँ पारदर्शी हैं, जिनके बीच से उनका वियोग-व्यथित हृदय स्पष्ट झलक रहा है

ऊधो अब कछु कहत न आवै।
सिर पर सौति हमारै कुबिजा, चाम के दाम चलावै।
कछु इक मंत्र करयौ चँदन मैं, तातैं स्यामहिं भावै।
अपनैं ही रँग रचे साँवरे, सुक ज्यौं बैठि पढावै।
तब जो कहत असुर की दासी, अब कुल-बधू कहावै।
नटिनी लौं कर लिये लकुटिया, कपि ज्यौं नाच नचावै।
टूट्यौ नातौ या गोकुल कौ, लिखि-लिखि जोग पठावै।
सूरदास प्रभु हमहिं निदरि, दाढे पर लोन लगावै।[1]

यद्यपि प्रेमी के लिये प्रिय का वियोग असह्य होता है और वह सर्वदा उसे अपने साथ देखना चाहता है, परन्तु स्वय दुःख झेलकर भी वह प्रिय को दुःखी देखना नहीं चाहता। यदि कहीं दुःखमय स्थान पर उसे रहना पडे, तो वह अकेला रहकर वियोग के असह्य सताप को सहने के लिये तैयार हो जाता है, किन्तु अपने प्रिय को उस स्थान के दुःखों में डालना नही चाहता। गोपियाँ कृष्ण के दर्शन के लिये तडपती हैं, परन्तु फिर भी यह नहीं चाहती कि वे वियोगी ब्रज की विषम परिस्थिति से उद्भूत दुःख में पड़ें.

ऊधौ इतनी जाइ कहौ।
सबै बिरहिनी पा लागति हैं, मथुरा कान्ह रहौ।
भूलिहुँ जनि आवहु इहिं गोकुल, तपति तरनि ज्यौं चन्द।
सुन्दर बदन स्याम कोमल तन, क्यौं सहिहैं नँद नँद।[2]

सूर के वियोग वर्णन की पूर्णता देखे ही बन पडती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की सम्मति है—'वियोग की जितनी अन्तर्दशाएँ हो सकती हैं, जितने ढगों से उन दशाओं का साहित्य में वर्णन हुआ है और सामान्यत. हो सकता है, वे सब उसके भीतर मौजूद हैं।'[3] रीति-आचार्यों ने विरह की ग्यारह अवस्थाओं का उल्लेख किया है—

(१) अभिलाषा, (२) चिन्ता, (३) स्मरण, (४) गुण-कथन, (५) उद्वेग, (६) प्रलाप, (७) उन्माद, (८) व्याधि, (९) जडता, (१०) मूर्च्छा, और (११) मरण।

सूर के अनेक पदो में इन अवस्थाओं का वर्णन हुआ है। यहाँ सक्षेप में इनके उदाहरण दिये जाते हैं·

(अभिलाषा)

ऐसे समय जो हरि जू आवहिं।
निरखि निरखि वह रूप मनोहर, नैन बहुत सुख पावहिं।

---

१ सूरसागर (सभा) पद ४२५७
२ वही (,,) पद ४३८५
३ सूरदास (आ० शुक्ल) पृष्ठ १८७

प्रेम-बाण की कठिन चोट लगी ही नहीं, वह उनका दुख-दर्द क्या जाने ? अन्धे के आगे रोने से क्या लाभ ? उद्धव से प्रेम-कथा का कहना घास काटना है, फिर भी उनका हृदय अपनी व्यथा को उँडेल कर हल्का होना चाहता है। वे अनेक प्रकार से अपनी दीन दशा का वर्णन करती है और अन्त में उद्धव के हाथ कृष्ण को अपनी पत्रिका और संदेश भेजती हैं।

ऊधो इक पतिया हमारी लीजै।
चरनि लागि गोविन्द सौं कहियो, लिखौ हमारौ दीजै।
हम तौ कौन रूप गुन आगरि, जिहिं गुपाल जू रीझै।
निरखत नैन नीर भरि आये, अरु कंचुकि पट भीजै।
तलफत रहति मीन चातक, ज्यौं जल बिनु तृषा न छीजै।
अति व्याकुल अकुलाति बिरहिनी, सुरति हमारी कीजै।
अँखियाँ खरी निहारति मधुवन, हरि बिनु ब्रज विष पीजै।
सूरदास प्रभु कबहिं मिलेंगे, देखि देखि मुख जीजै।[१]

उनका अभिलाष यही है कि कृष्ण उन्हे याद करते रहें। नैराश्य पूर्ण प्रेमी हृदय के संतोष का यह कितना सूक्ष्म और दृढ आधार है

नंदनंदन सौं इतनी कहियो।
जद्यपि ब्रज अनाथ करि डारयौ, तद्यपि सुरति फिरउ चित रहियौ।
तिनका तोर करहु जनि हमसौं, एक बास की लाज निबहियो।[२]

'एक बास की लाज निबहियौ' शब्दों में गोपियो की निरीहता और दीनता की चरम काष्ठा है, कृष्ण के स्नेह और सहानुभूति को जागरित करने के लिए साहचर्य की स्मृति दिलाने के अतिरिक्त उनके पास उपाय ही क्या है ? वे कृष्ण के साथ हँसी-खेली और उठी-बैठी हैं। अब कृष्ण बडे हो गए हैं, वे राजा हैं, उन पर कुछ जोर नही चल सकता। बस एक बास का ध्यान ही उन्हें गोपियो की सुधि लेने को प्रेरित कर सकता है। इतने पर भी जब उन्हे सन्तोष नहीं होता तो वे नन्द, यशोदा और गायो की दयनीय दशा सुनाने को कहती हैं। उनका एकमात्र उद्देश्य है—कृष्ण-दर्शन। वे जैसे भी आवें, उद्धव को अपनी समझ से वैसे ही कहना चाहिए।

तुम कहियो जैसे गोकुल आवैं।
दिन दस रहे भली सो कीन्ही, अब जनि गहरु लगावैं।
नहिं न सुहात कछू हरि तुम बिनु, कानन भवन न भावैं।
धेनु विकल अति चरति नही तृन, बच्छ न पींवन धावैं।
देखत अपनी आँखिनि तुमही हम कहि कहा जनावैं।
सूरदास प्रभु कठिन होत कत, वै अजनाथ कहावैं।[३]

---

१ सूरसागर (सभा) पद ४६८२
२ वही ,, पद४६८४
३ वही ,, पद ४८८६

परन्तु उनके प्रभु ऐसे कठोर तो नही हैं। उन पर कुब्जा ने ही कुछ जादू कर दिया है। गोपियाँ झुँझला उठती हैं और कुब्जा को भला-बुरा कहकर अपनी मनोगत स्त्री-सुलभ सापत्न्य-जनित ईर्ष्या व्यक्त करती हैं। उनकी उक्तियाँ पारदर्शी है, जिनके बीच से उनका वियोग-व्यथित हृदय स्पष्ट झलक रहा है

ऊधौ अब कछु कहत न आवै।
सिर पर सौति हमारैं कुबिजा, चाम के दाम चलावै।
कछु इक मत्र करयौ चँदन मैं, तातैं स्यामहिं भावै।
अपने ही रँग रचे साँवरे, सुक ज्यौं बैठि पढावै।
तब जो कहत असुर की दासी, अब कुल-बधू कहावै।
नटिनी लौं कर लिये लकुटिया, कपि ज्यौं नाच नचावै।
टूट्यौ नातौ या गोकुल कौ, लिखि-लिखि जोग पठावै।
सूरदास प्रभु हमहिं निदरि, दाढे पर लोन लगावै।[१]

यद्यपि प्रेमी के लिये प्रिय का वियोग असह्य होता है और वह सर्वदा उसे अपने साथ देखना चाहता है, परन्तु स्वय दु:ख झेलकर भी वह प्रिय को दु खी देखना नहीं चाहता। यदि कही दु खमय स्थान पर उसे रहना पडे, तो वह अकेला रहकर वियोग के असह्य सताप को सहने के लिये तैयार हो जाता है, किन्तु अपने प्रिय को उस स्थान के दु खो में डालना नही चाहता। गोपियाँ कृष्ण के दर्शन के लिये तडपती हैं, परन्तु फिर भी यह नही चाहती कि वे वियोगी ब्रज की विषम परिस्थिति से उद्भूत दु ख में पडें

ऊधौ इतनी जाइ कहौ।
सबै बिरहिनी पा लागति हैं, मथुरा कान्ह रहौ।
भूलिहुँ जनि आवहु इहिं गोकुल, तपति तरनि ज्यौं चन्द।
सुन्दर बदन स्याम कोमल तन, क्यौं सहिहैं नँद नँद।[२]

सूर के वियोग वर्णन की पूर्णता देखे ही बन पडती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की सम्मति है—'वियोग की जितनी अन्तर्दशाएँ हो सकती हैं, जितने ढगो से उन दशाओ का साहित्य में वर्णन हुआ है और सामान्यत हो सकता है, वे सब उसके भीतर मौजूद हैं।'[३] रीति-आचार्यो ने विरह की ग्यारह अवस्थाओ का उल्लेख किया है—

(१) अभिलाषा, (२) चिन्ता, (३) स्मरण, (४) गुण-कथन, (५) उद्वेग, (६) प्रलाप, (७) उन्माद, (८) व्याधि, (९) जडता, (१०) मूर्च्छा, और (११) मरण।

सूर के अनेक पदो में इन अवस्थाओ का वर्णन हुआ है। यहाँ सक्षेप में इनके उदाहरण दिये जाते हैं

(अभिलाषा)

ऐसे समय जो हरि जू आवहिं।
निरखि निरखि वह रूप मनोहर, नैन बहुत सुख पावहिं।

---

१ सूरसागर (सभा) पद ४२५७
२ वही (,,) पद ४३८५
३ सूरदास (आ० शुक्ल) पृष्ठ १८७

कबहुँक संग जु हिलि मिलि खेलहिं, कबहुँक कुंज बुलावहिं ।।
बिछुरे प्रान रहत नहिं घट मैं, सो पुनि आनि जियावहिं ।
अबकैं चलत जानि सूरज-प्रभु, सब पहिलैं उठि धावहिं ।[१]

(चिन्ता)

ऊधो अँखियाँ अति अनुरागी ।
इक टक मग जोवति अरु रोवति, भूलेहुँ पलक न लागी ।
बिनु पावस पावस करि राखी, देखत हो बिदमान ।
अब धौं कहा कियौ चाहत हौ, छाँडौ निरगुन ज्ञान ।[२]

(स्मृति)

मेरे मन इतनी सूल रही ।
वे बतियाँ छतियाँ लिखि राखी, जे नँदलाल कहीं ।[३]

(गुण-कथन)

एक द्यौस कुञ्जनि में माई ।
नाना कुसुम लेइ अपनैं कर, दिए मोहिं सौं सुरति न जाई ।
इतने मैं घन गरजि वृष्टि करी, तनु भीज्यौ मो भई जुडाई ।
कंपत देखि उढ़ाइ पीत-पट, लै करुनामय कंठ लगाई ।
कहँ वह प्रीति रीति मोहन की, कहँ अब धौं ऐती निठुराई ।
अब बलबीर सूर-प्रभु सखि री, मधुबन बसि सब प्रीति भुलाई ।[४]

(उद्वेग)

तुम्हारी प्रीति किधौ तरवारि ।
दृष्टि-धार धरि हती जु पहिलैं, घायल सब ब्रजनारि ।
गिरी सुमार खेत वृन्दावन, रन मानी नहिं हारि ।
बिह्वल बिकल सँभारति छिनु-छिनु बदन-सुधा-निधि वारि ।[५]

(प्रलाप)

सखि मिलि करौ कछुक उपाउ ।
मार मारन चढ्यौ बिरहिनि, निदरि पायौ दाउ ।
हुतासन-धुज जात उन्नत, चल्यौ हरि-दिस बाउ ।[६]

---

१ सूरसागर (सभा) पद ४००
२ वही ,, पद ४१६१
३ वही ,, पद ४०१३
४ वही ,, पद ४००२
५ वही ,, पद ४२८०
६ वही ,, पद २७०३

(व्याधि)

बिनु गुपाल बैरिनि भइ कुंजैं।
तब वै लता लगति तन सीतल, अब भईं विषम ज्वाल की पुंजैं।
वृथा बहति जमुना खग बोलत, वृथा कमल-फूलनि अति गुंजैं।
पवन, पान, घनसार, सजीवन, दधिसुत किरनि भानु भई भुंजैं।[१]

(उन्माद)

ऊधो इतनी कहियो जाइ।
अति कृस गात भईं ये तुम बिनु, परम दुखारी गाइ।
जल-समूह बरषति दोउ अँखियाँ, हूँकति लीन्हे नाउँ।
जहाँ जहाँ गोदोहन कीन्हौ, सूँघति सोई ठाउँ।[२]

(जड़ता)

देखी मैं लोचन चुवत अचेत।
मनहुँ कमल ससि त्रास ईस कौ, मुक्ता गनि गनि देत।
कहुँ कंकन कहुँ गिरी मुद्रिका, कहुँ टाड कहुँ नेत।
चेतति नही चित्र की पुतरी, समुझाई सोचेत।[३]

(मूर्च्छा)

तब तैं इन सबहिनि सचु पायौ।
जब तैं हरि संदेस तुम्हारौ, सुनत ताँवरौ आयौ।
फूले ब्याल दुरे ते प्रगटे, पवन पेट भरि खायौ।[४]

(मरण)

अति मलीन वृषभानु कुमारी।
हरि-स्रम-जल भींज्यौ उर-अञ्चल, तिहिं लालच न धुवावति सारी।
अधमुख रहति अनत नहिं चितवति, ज्यौं गथ हारे थकित जुवारी।
छूटे चिकुर बदन कुम्हिलाने, ज्यौं नलिनी हिमकर की मारी।
हरि सदेस सुनि सहज मृतक भई, इक बिरहिनि दूजे अलिजारी।[५]

'भ्रमर-गीत' सूर की सर्वश्रेष्ठ रचना है, इसमें एक ओर विप्रलम्भ शृङ्गार की उद्दाम सरिता का अबाध प्रवाह ब्रज-नारियों के नयनाम्बु से पूरित होकर उमड़ता हुआ पाठक की मनोभूमि को आप्लावित करता चलता है, और दूसरी ओर सगुण भक्ति का निर्झर ऊँची-नीची

---

१ सूरसागर (सभा) पद ४६८६
२ वही ,, पद ४६८८
३ वही ,, पद ४७३१
४ वही ,, पद ४७५६
५ वही ,, पद ४६६१

और समतल भाव-भूमि में योग-मार्ग की कठोर प्रस्तर-शिलाओ को तोडता और निर्गुण उपासना के घास-फूस को आत्मसात् करता हुआ प्रवाहित होता है। गोपियो के भक्ति-भाव एव विश्वास से पुष्ट सरस तर्कों की झञ्झा में उद्धव की निर्गुण-साधना का शुष्क भुस कहीं का कही उड गया[1]। यद्यपि भ्रमर-गीत का दार्शनिक पहलू भी है। विरह-विधुरा गोपियाँ परमात्मा से वियुक्त आत्मा की प्रतीक कही जा सकती हैं, तथापि प्रेम का लौकिक पक्ष ही उसमें अधिक उभरा हुआ प्रतीत होता है। सूर की गोपियाँ मिलन ही नही, उसका उपभोगमय उपयोग भी चाहती हैं।

अन्य रस

यद्यपि मुख्य रूप से सूर वात्सल्य और शृङ्गार के ही कवि हैं तथापि उनकी रचनाओं में अन्य रसो का आस्वादन भी किया जा सकता है। उक्त दोनो रसो के बीचो-बीच कभी-कभी अन्य रस की धारा भी 'सूरसागर' को तीर्थराज बनाती हुई दीख पडती है। प्रसग के अनुसार हास्य, करुण, वीर आदि रसों का परिपाक भी उनकी रचना में मिलता है।

हास्य

सूरदास जी की शैली से ही उनकी विनोद-प्रियता टपकती है। प्रारम्भ से अन्त तक उनके सुख और उल्लास, अश्रु और नि श्वास—सभी में हास्य का पुट मिलता है। बाल-लीला-वर्णन मे कृष्ण की चेष्टाएँ, बहाने और राधा की सरल उक्तियाँ हास्य की सृष्टि करते हैं। सयोग में राधा या अन्य गोपी की साडी और आभूषण धारण कर लेना और फिर भेद खुलने पर चातुर्यपूर्ण उत्तर बनाना आदि तथा विप्रलम्भ में गोपियो द्वारा उद्धव के निर्गुण की धज्जियाँ उडाकर उन्हे बनाना, हास्य का सञ्चार करने वाली घटनायें हैं। वात्सल्य-वर्णन के अनेक उदाहरण, जिनमें हास्य का पुट है, हम पीछे दे चुके हैं। ऐसे स्थलो पर हास्य रस की कोटि तक प्राय नही पहुँचा है। यहाँ एक-दो उदाहरण दिये जाते हैं।

एक ग्वालिन ने कृष्ण को दही की चोरी करते हुए ऐन मौके पर पकड लिया। मुद्दा पूरा था, कृष्ण इन्कार नहीं कर सकते क्योंकि उनका हाथ दधि-भाजन में था। अब किया क्या जाय ? उन्होने फौरन ही बात बनाई—

मैं जान्यौ यह मेरो घर है, तो धोखे मे आयौ।
देखत ही गोरस में चींटी, काढन को करि नायौ।[2]

उनकी बात पर विश्वास हो या न हो, पर चतुरता-पूर्ण उत्तर सुनने वाले के अधरो पर हास्य थिरक ही उठेगा।

कभी-कभी किसी व्यक्ति को झूँठ-मूँठ बनाया जाता है, वह हैरान होता है और देखने वाले हँसते हैं; परन्तु सूर के माखन-चोर इस आर्ट का प्रयोग अपनी चोरी छिपाने के लिए सफलता-पूर्वक करते हैं, जिससे हास्य-भाव और भी उद्दीप्त हो जाता है।

माखन चोआइ बैठ्यौ, तौलौ गोपी आई।
देखे सब बोल्यो कान्ह, ऊतर यौं बनाई।

---

१ देखिये इसी ग्रन्थ का परिशिष्ट
२ सूरसागर (सभा) पद ८६७

आँखे भरि लीनी उराहनो देन लाग्यो।
तेरो री सुवन मेरी मुरली लै भाग्यो।

इतना ही नही जनाव ने आँसू भी निकाल लिये :

दैरी मोको ल्याइ वेनु, कहि, कर गहि रोवें।
ग्वालिनी डराति जियहिं, सुनै जनि जसोवै।
तू जो कह्यो ऐसो वेनु, इहाँ नाहि तेरो।
मुरली मे जीवन-प्रान वसत अहै मेरो।
मेवा मिष्ठान ओर वसी इक दीनो।
लागी तिय चरन ओ बलैया झुकि लीनी।[1]

यदि चोर उलटे कोतवाल को डाँटता हुआ न देखा हो, तो यहाँ देख लीजिये। जब उपालम्भ देने वाली गोपियो का ताँता ही लग गया तो यशोदा ने अपने कुल की मर्यादा की दुहाई देकर कृष्ण को माखन-चोरी से विरत करना चाहा। परन्तु चोर पक्का है, वह स्वीकार ही नही करता कि उसने चोरी की हैं। यद्यपि चोरी का माल उसके हाथ में है, किन्तु तर्क ऐसा देता है कि आश्चर्य होता है। 'नान्हे कर वाले' हाजिर जवाव इस चोर की वातो पर जब दण्डनायक को ही हँसी आ जाती है, तो औरो का तो कहना ही क्या।

मैया मैं नहि माखन खायो।
ख्याल परै ये सखा सबै मिलि, मेरै मुख लपटायो।
देखि तुही सींकें पर भाजन, ऊँचै धरि लटकायो।
हौं जु कहत नान्हे कर अपने मै कैसें करि पायो।
मुख दधि पोछि, बुद्धि इक कीन्ही, दोना पीठि दुरायो।
डारि साँटि, मुसुकाइ जसोदा, स्यामहि कण्ठ लगायो।[2]

इस पद मे हास्य रस की कोटि तक पहुँच जाता है। कृष्ण आलम्वन हैं, यशोदा आश्रय। कृष्ण की वातें वनाना तथा दोना छिपाना आदि उद्दीपन विभाव हैं और यशोदा का हर्षित होना मुस्काना आदि अनुभाव।

करुण

दावानल के प्रसङ्ग में करुणरस की व्यञ्जना हुई है :

अव कै राखि लेहु गोपाल।
दसहूँ दिसा दुसह दवागिनि, उपजी है इहि काल।
पटकत वाँस-काँस कुस चटकत, लटकत ताल तमाल।
उचटत अति अङ्गार फुटत पर, झपटत लपट कराल।
धूम धूँधि वाढी उर अम्बर, चमकत विच-विच ज्वाल।
हरिन-वराह-मोर-चातक-पिक, जरत जीव वेहाल।[3]

१ सूरसागर सभा पद ६०२
२ वही ,, पद ६५२
३ वही ,, पद १२३३

इस पद में दुःख एवं शोक स्थायी-भाव हैं। अङ्गारों का उचटना, बाँसों का पटकना, कराल लपटों का झपटना और बेहाल जीवों का जलना—उद्दीपन एवं आलम्बन विभाव, तथा कृष्ण को रक्षा के लिए पुकारना—'स्मरण' संचारी-भाव है।

रौद्र

ब्रजवासियों द्वारा कृष्ण के कहने पर, इन्द्र की पूजा त्याग कर गोवर्द्धन पर्वत का पूजन होने पर इन्द्र का कोप 'रौद्र रस' की कोटि तक पहुँच गया है

प्रथमहिं देउँ गिरिहिं बहाइ।
बज्रघातनि करौं चुरकुट, देउँ धरनि मिलाइ।
मेरी इन महिमा न जानी, प्रगट देउँ दिखाइ।
बरसि जल ब्रज धोइ डारौं, लोग देउँ बहाइ।
खात-खेलत रहे नीकैं, करी उपाधि बनाइ।
बरस दिन मोहिं देत पूजा, दई सोउ मिटाइ।
रिस सहित सुरराज लीन्हें, प्रलय मेघ बुलाइ।
सूर सुरपति कहत पुनि-पुनि, परौ ब्रज पर धाइ।[1]

इस पद में क्रोध स्थायी-भाव, इन्द्र आश्रय, ब्रजवासी आलम्बन, पूजा को मिटा देना उद्दीपन विभाव, पर्वत को धूल में मिलाना, मेघों को बुलाकर ब्रज को बहाने के लिये आदेश देना आदि अनुभाव और खोई हुई पूजा की स्मृति—संचारी-भाव है।

वीर

आजु जो हरिहिं न सस्त्र गहाऊँ।
तौ लाजौं गंगा जननी कौं, सांतनु-सुत न कहाऊँ।
स्यन्दन खण्डि महारथि खण्डौं, कपिध्वज सहित गिराऊँ।
पांडव-दल-सम्मुख ह्वै धाऊँ, सरिता रुधिर बहाऊँ।
इती न करौं सपथ तौ हरि की, छत्रिय-गतिहिं न पाऊँ।
सूरदास रन-भूमि विजय-बिनु, जियत न पीठि दिखाऊँ।[2]

इस पद में भीष्म नायक (आश्रय), कृष्ण प्रतिनायक (आलम्बन), कृष्ण की शस्त्र ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा उद्दीपन और उसकी स्मृति संचारी तथा स्यन्दन और महारथों को खण्डित करने, खून की नदी बहाने आदि की प्रतिज्ञा अनुभाव हैं।

मथुरा में कंस के मल्लों और कंस के वध-वर्णन वाले पदों में भी वीर-रस ही है।[3]

सूर ने शृङ्गार के अंग-रूप में भी वीर-रस का चित्रण किया है। शृङ्गारान्तर्गत वीर-रस का एक उदाहरण देखिये :

---

१ सूरसागर (सभा) पद १४७०
२ वही ,, पद २७०
३ वही ,, पद ३६६१ और ३६९७

रुपे सग्राम रति-खेल नीके ।
एक तैं एक रनवीर जोधा प्रबल, मुरत नहिं नैंकु अति सबल जीके ।
भौंह कोदण्ड, सर नैन, धनुषि काम, छुटनि मानो कटाच्छनि निहारैं ।
हँसन दुज-चमक करतरनि लौंहैं झलक, नख निछत घात नेजा सम्हारैं ।
पीत पट डारि कचुकी मोचित करन, कवच सन्नाह सो छुटै तन तैं ।
भुजा-भुज धरत, मनु द्विरद सुँडनि लरत, उर उरनि भिरे दोउ जुरे मन तैं ।
लटकि लपटानि मानो सुभट लरि परे खेत, रति सेज रुचि ताम कीन्हे ।
सूर प्रभु रसिक प्रिय राधिका रसिकिनी, कोक-गुन सहित सुख लूटि लीन्हे ।[1]

भयानक

भहरात झहरात दवानल आयौ ।
घेरि चहुँ ओर, करि सोर अदोर बन, धरनि आकास चहुँ पास छायौ ।
बरत बनबांस, थरहरत कुसकांस, जरि उडत है भांस, अति प्रबल धायौ ।
झपटि झपटति लपट फूल-फल चट-चटकि फटत, लटलटकि द्रुम-द्रुम नवायौ ।
अति अगिनि-झार भभार धुंधार करि, उचटि अगार झझार छायौ ।
बरत बनपात, भहरात झहरात अररात, तरु महा धरनि गिरायौ ।
भए बेहाल सब ग्वाल व्रजबाल तब, सरन गोपाल कहिकैं पुकारयौ ।
तृनावर्त, केसी सकट, बकीवक अघासुर, बामकर राखि गिरिज्यौं उबारयौ ।[2]

यहाँ पर भयकर दावानल को देखकर उद्भूत भय स्थायी-भाव है । दावानल आलम्बन, और ग्वाल-जन आश्रय हैं । वृक्षो का भहराकर गिरना, लपटो का झपटना आदि उद्दीपन, ग्वालो का बेहाल होना, कृष्ण को पुकारना आदि अनुभाव तथा केशी, अघासुर आदि का वध कर उनकी रक्षा करने की पूर्व स्मृति सञ्चारी-भाव है ।

वीभत्स

सूर कोमल-भावो के कवि थे । उनकी रचनाओ में पलायन के स्थान में 'प्रवृत्ति' और सकुचन के स्थान में 'प्रसारण' ही अधिक लक्षित होता है । यही कारण है कि किसी वीभत्स-रस की रचना को उनके काव्य में से खोज निकालना दुस्तर कार्य है ।

अद्भुत

बालक कृष्ण मिट्टी खा रहे थे । यशोदा को पता चला, मुँह खुलवा कर देखा तो देखती ही रह गई । कृष्ण के नन्हे-से मुख मे पूर्ण ब्रह्माण्ड देखकर चकित हो गई ·

नन्दहिं कहत जसोदा रानी ।
माटी कैं मिस मुख दिखरायौ, तिहूँ लोक रजधानी ।

---

१ सूरसागर (सभा) पद २४४७
२ वही ,, पद १२२४

स्वर्ग, पताल, धरनि, वन, पर्वत, वदन माँझ रहे आनी।
नदी, सुमेर देखि चकित भई, याकी अकथ कहानी।
चितै रहे तब नन्द जुवति-मुख, मन-मन करत बिनानी।
सूरदास तब कहति जसोदा, गर्ग कही यह बानी।[1]

शान्त

सूर के विनय के पदो में शान्त-रस की प्रचुरता है। इस रस का स्थायी-भाव निर्वेद है, जिसके मूल मे ससार से विरक्ति की भावना कार्य करती है। संसार की नि सारता अपने पापों की गणना और किये पर पश्चात्ताप आदि अनुभाव तथा हर्ष, आत्म-ग्लानि आदि सचारी-भाव हैं

थोरे जीवन भयौ तन भारौ।
कियौ न सत समागम कबहुँ, लियौ न नाम तुम्हारौ।
अति उन्मत्त मोह माया बस, नहिं कछु बात विचारौ।
करत उपाव न पूछत काहूँ, गनत न खाटो-खारौ।
इन्द्री-स्वाद-विवस निसि-बासर, आप अपुनपौ हारौ।
जल औंडे मैं चहुँ दिसि पैर्‌यौ, पाउँ कुल्हारौ मारौ।
बाँधी मोट पसारि त्रिविध गुन, नहिं कहुँ बीच उतारौ।
देख्यौ सूर विचारि सीस परी, तब तुम सरन पुकारौ।[2]

अपने भावो की ईप्सित अभिव्यक्ति के लिए प्रत्येक कवि प्रकृति का भी आश्रय लेता है, क्योंकि भावों के उद्भव, विकास और उद्दीपन में प्रकृति का बहुत घना योग रहता है। इसलिए किसी कवि के प्रकृति-चित्रण पर प्रकाश डाले बिना भाव-पक्ष का निरूपण अधूरा ही रह जाता है, अतएव हम सक्षेप मे सूर के प्रकृति-वर्णन का विवेचन करेंगे।

प्रकृति चित्रण

प्रकृति और मानव का सम्बन्ध अनादिकाल से है। जन्म से मरण तक फैले हुए जीवन के विस्तृत क्षेत्र में प्रकृति सदा उसके साथ रह कर भाव-विकास और आनन्द-प्रसार में योग देती रही है। इस अनादि साहचर्य के कारण प्रकृति की ओर मानव की रागात्मिका वृत्ति सदैव सजग रही है, परन्तु ज्यों-ज्यो सभ्यता की शृङ्खलाओं से जकड़ा हुआ मनुष्य उससे दूर होता गया, त्यों-त्यो उसकी आनन्दानुभूति भी निष्प्राण होती गई। यही कारण है कि प्रकृति के निरीक्षण से वंचित रहने वाले कवियों की रचनाओ में भावों की व्यापकता की कसक बनी ही रही। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार—'मनुष्य शेष प्रकृति के साथ अपने रागात्मक सम्बन्ध का विच्छेद करने से अपने आनन्द की व्यापकता को नष्ट करता है। बुद्धि की व्याप्ति के लिए मनुष्य को जिस प्रकार विस्तृत और अनेक रूपात्मक क्षेत्र मिला है, उसी प्रकार भावों की व्याप्ति के लिए भी।'[3]

१ सूरसागर (सभा) पद ८७४
२ वही (,,) पद १५२
३ चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृष्ठ ५

कविता की आत्मा भाव है और भावो का परिष्कार प्रकृति के विविध रूपो तथा व्यापारो के साथ सामञ्जस्य होने पर ही सम्भव है। इसलिये काव्य मे प्रकृति-चित्रण का समावेश स्वत ही हो गया। विभिन्न कवियो की प्रवृत्ति, निरीक्षण और अनुभूति के अनुसार प्रकृति का चित्रण कई ढगो से हुआ है।

१—आलम्वन रूप में —

(क) जव कवि किसी प्राकृतिक दृश्य अथवा व्यापार का सूक्ष्म एव सश्लिष्ट चित्रण करता है, तथा उसके रूप-रंग, अङ्ग-प्रत्यङ्ग, परिस्थिति आदि का सम्यक् विवरण देता है तो पाठक के हृदय में अन्तर्हित प्रकृति-साहचर्य-जनित अनुराग उद्बुद्ध होकर आनन्दानुभूति मे परिणत हो जाता है। ऐसे स्थलो पर प्रकृति का चित्रण आलम्वन रूप में माना जाता है। अत कुछ आचार्यो का यह मत कि—अचेतन होने के कारण प्रकृति की ओर से कवि के अनुराग की समुचित प्रतिक्रिया दीख नही पडती। अतएव वह रसानुभव की कोटि तक नही पहुँच सकता, निर्भ्रान्ति नही कहा जा सकता। आचार्य शुक्ल ने तो स्पष्ट ही कहा है—"मैं आलम्बन मात्र के विशद वर्णन को श्रोता में रसानुभव करने में पूर्ण समर्थ मानता हूँ।"[1]

(ख) जव कवि प्रकृति के विभिन्न व्यापारो में व्यक्तिगत जीवन का आरोप कर लेता है तो पशु-पक्षी, वृक्ष-लता—सभी में उसे मानव-क्रिया-कलाप की झलक दीख पडती है। प्रकृति का यह चित्रण मानवीकरण के नाम से प्रचलित है।

(ग) जव प्रकृति का सौन्दर्य कवि के हृदय में रम जाता है और वह प्रकृति-सौन्दर्य की चेतना से ऊपर उठ जाता है, तो प्रकृति का सौन्दर्य स्वय आनन्द रूप होकर अभिव्यक्ति की प्रेरणा वन जाता है। इसी आत्म-तल्लीनता की दशा में प्रकृतिवादी रहस्यानुभूति होती है।

२—उद्दीपन रूप मे —

जव प्रकृति से इतर आलम्वन को लेकर कोई भाव आश्रय के मन में अन्तर्हित रहता है और प्रकृति स्वय उस भाव द्वारा विहित आश्रय की मनोदशा की सतह पर आकर उसका उद्घाटन करती है या व्यक्त भाव को उद्दीप्त करती है, तो उसका चित्रण उद्दीपन रूप में माना जाता है।

(क) प्रकृति का आलकारिक वर्णन—जव कवि प्रकृति से अनेक उपमान लेकर साम्य या वैपम्य का सयोग उपस्थित कर अलकारो द्वारा अभीप्ट रूप का चित्रण और भाव का अभिव्यजन करता है, तो प्रकृति का चित्रण आलकारिक माना जाता है। इस रूप में प्रकृति का सवसे अधिक वर्णन हुआ है। इस प्रकार का चित्रण जव लक्ष्य-च्युत होकर और साधन न रह कर साध्य वन जाता है, तो उपहासास्पद हो जाता है।

(ख) प्रकृति—भावो अथवा मानव-क्रिया-कलाप की पृष्ठ-भूमि के रूप में—

कभी-कभी कवि कथानकों की साधारण परिस्थितियो एव घटना-स्थितियो को उपस्थित करने के लिये भी प्रकृति का वर्णन करता है। इस प्रकार के चित्रण का ध्येय केवल वस्तुस्थिति को ही समझ रखना नहीं होता, अपितु भाव-ग्रहण योग्य वातावरण भी उपस्थित

१ चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृष्ठ ३७

करना होता है। प्रकृति का व्यञ्जनात्मक वर्णन एक ओर तो भावात्मक वातावरण का निर्माण करता है, और दूसरी ओर आगामी भावों को उद्‌बुद्ध करके सामने लाता है। इस रूप मे प्रकृति अनुकूल या प्रतिकूल होकर घटनाओ के लिये वातावरण या मानवीय क्रिया-कलाप के लिये पृष्ठ-भूमि उपस्थित करती है।

कभी-कभी कवि प्रकृति के स्वत सम्भवी उपमानो से अभीष्ट सिद्धि न देखकर उनके सौन्दर्य में घटा-बढी करके अथवा अनेक उपमानो के विशेप-विशेप गुणो को एकत्र कर कल्पित उपमान बनाकर प्रयोग करता है। ऐसी स्थिति में यदि कल्पना अस्वाभाविकता और असम्भवता लिये हुए होती है तो काव्य में चमत्कार या वैचित्र्य भले ही आ जाय, उसके स्वाभाविक रस में विरसता आ जाती है।

(३) कवि-समय

कविगण कुछ प्राकृतिक पदार्थों का ऐसे रूप में भी वर्णन करते आए हैं, जो वस्तुत प्रकृति के क्षेत्र में दीख नही पडता, जैसे—नदियो में कमल का खिलना, चकोर का चिनगारियाँ चुनना, चकवा-चकवी का रात्रि में वियुक्त होना आदि। इस रूप में केवल निश्चित पदार्थों का ही वर्णन किया जा सकता है, जिनके विषय में कवियो का समझौता-सा हो गया है। इसीलिये इन्हे 'कवि-समय-सिद्ध' कहा जाता है।

सस्कृत के कवियों ने प्रकृति का आलम्बन और उद्दीपन—दोनो रूपो में समान रूप से चित्रण किया है। कालिदास के 'रघुवश' और 'कुमार-सम्भव' मे बीच-बीच मे प्रकृति के सुन्दर और सश्लिष्ट वर्णन हैं। 'मेघदूत' का 'पूर्वमेघ' तो उत्तरी भारत का सजीव प्राकृतिक चित्र ही है। भवभूति के 'उत्तर रामचरित' में भी प्रकृति के सुन्दर श्लिष्ट चित्रो की कमी नही है। उत्तरकालीन सस्कृत-साहित्य में प्रकृति का उद्दीपन रूप मे अधिक चित्रण हुआ है। हिन्दी साहित्य ने अन्यान्य प्रवृत्तियो के साथ यह प्रवृत्ति भी उससे ग्रहण की।

मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में निर्गुण और सगुण नाम से दो काव्य धाराएँ प्रवृत्त हुई, जिनके प्रवर्त्तको की भावनाओं के अनुसार प्रकृति-चित्रण भिन्न-भिन्न रूप मे हुआ। सन्त-कवियों ने जहाँ प्रेम की महत्ता स्वीकार की है और परमात्मा को पति-रूप मे माना है, वहाँ उनका प्रकृति-वर्णन प्रेम-भाव को उद्दीप्त करने का कार्य करता है। आध्यात्मिक तथ्यो की व्यञ्जना में उन्होने अतिप्राकृत पदार्थो का आश्रय लिया है और उनकी उलट-बाँसियो के विचित्र उपमान मन में आश्चर्य ही उत्पन्न करते हैं। प्रेम-मार्गी कवियो ने जहाँ प्रकृति में परमात्मा की रहस्यमय सत्ता का दर्शन किया है, वहाँ भौतिक रूप-वर्णन में प्रकृति के पदार्थों को उद्दीपन रूप में भी सँजोया है और भक्त कवियो के आराध्य के सम्पर्क ने तो प्रकृति में चिरन्तन सौन्दर्य और सजीवता ही फूंक दी है। उसमें परिवर्तन और क्षणिकता के लिए स्थान ही नहीं रहा। सच्चिदानन्द के साहचर्य से वह आनन्दमयी ही हो उठी है।

सूरदास के उपास्य कृष्ण ब्रज-भूमि में अवतरित हुए थे। उनका व्यक्तित्व प्रकृति की ही गोद में विकसित हुआ और प्रकृति का उन्मुक्त क्षेत्र ही उनकी बाल-लीलाओ और किशोर-केलियो का रङ्ग-स्थल बना। उनके लोकोपकारी कार्यो की कर्म-भूमि भी प्रकृति ही रही। वन मे गोचारण करते हुए गिरिधर ने यही विकट असुरो का वध करके जनता के आतङ्क को दूर किया। राधा और कृष्ण के प्रथम मिलन का दृश्य आज भी यमुना की आँखो में धूम

रहा है। प्रेमालाप और रति-क्रीडाओ से मुखरित कुंज अब भी रासलीला की अपूर्वता की गवाही दे रहे हैं और कृष्ण के स्पर्श से पुलकित, और संकेत से पूजित गोवर्द्धन आज भी पूजा जा रहा है। यमुना का पवित्र प्रवाह, कदम्ब वृक्षो का कमनीय कानन, करील के कल-निकुंज और कालिन्दी-कछार में फैले हुए लता-पादप अपनी मनोमुग्धकारी छटा से आकृष्ट कर ही लेते हैं। फिर कृष्ण की सम्बन्ध-भावना के कारण तो उनमें लोकोत्तर सौन्दर्य और चेतना का भी समावेश हो गया है, जिससे नटनागर की लीलाओ का गानकर वे हमारे हृदय को भक्ति-भाव-विभोर कर देते हैं। इसी भावना के वशीभूत होकर करीर की कुंजो के ऊपर 'कोटिनहू कलधौत के धाम' वारने वाले रसखान तो पक्षी, पशु और पत्थर तक बनने के लिए तैयार थे। यदि उन्हे कालिन्दी-कूल-कदम्ब की डालियो पर, नन्द की धेनुओ के मध्य में और गोवर्द्धन पर्वत के अचल में बसेरा लेने, चरने और पडे रहने की छूट दे दी जाती, फिर व्रज-भूमि तो सूर की अपनी ही जन्म-भूमि थी। उनके शरीर के एक-एक परमाणु में यही के तत्त्व व्याप्त थे। इस 'स्वर्गादपि गरीयसी' भूमि के प्रति सूर का अनन्य प्रेम स्वाभाविक ही है :

कहाँ सुख व्रज को सौ ससार।
कहाँ सुखद वसी वट जमुना, यह मन सदा विचार।
कहूँ बनधाम कहाँ राधा सँग, कहाँ सँग व्रज बाम।
कहूँ रस रास बीच अन्तर सुख, कहाँ नारि तन ताम।
कहाँ लता तरु-तरु प्रति बूझनि, कुँज-कुँज नव धाम।
कहाँ विरह सुख बिन गोपिन सँग, सूर स्याम मन काम।[1]

सूर ने प्रकृति के क्षेत्र मे विचरण करने वाले गोपाल कृष्ण को ही अपने काव्य का नायक बनाया है, गीता के योगिराज कृष्ण अथवा महाभारत के राजनीति-विशारद कृष्ण को नही। वस्तुत व्रज की प्राकृतिक लीलाओ और राधा कृष्ण की प्रेम-लीलाओ में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि प्रकृति-वर्णन के बिना राधा-कृष्ण के प्रेम-व्यापारो का वर्णन किया ही नही जा सकता। इस लीला-क्षेत्र मे कृष्ण की लीला के साथ-साथ प्रकृति की जो लीला चला करती है, उसे छोडकर कोई भी कवि कृष्ण-काव्य की चर्चा नही कर सकता था। इसीलिये सूरदास को अपने नायक कृष्ण के जीवन के साथ यमुना, कदम्ब, कुंज, ऋतु-परिवर्तन, दावानल, और न जाने प्रकृति के कितने अग गूंथ देने पडे ?[2] कृष्ण का विकास जैसे व्रज की प्रकृति मे होता है, उसी प्रकार सूर-साहित्य का विकास भी व्रज-प्रकृति की छाया में ही होता है। व्रज की प्रकृति ने उन्हें केवल उपमाओ और उत्प्रेक्षाओ के लिये ही सामग्री नहीं दी है, वह उनके काव्य के केन्द्र में प्रतिष्ठित हुई है।[3]

यहाँ पर इस बात का उल्लेख असगत न होगा कि कृष्ण के लीलाधाम वृन्दावन को वल्लभ-सम्प्रदाय में आचार्य वल्लभ के दर्शन-पक्ष के गोलोक का छायारूप तथा शाश्वत माना गया है। इसी धाम मे आचार्य वल्लभ ने अपने इष्टदेव श्रीनाथ जी के मन्दिर की प्रतिष्ठा की।

१ सूरसागर (सभा) पद ४०३४
२ रामरतन भटनागर 'सूर साहित्य की भूमिका' पृष्ठ २
३ वही, पृष्ठ २१

सूर ने जहाँ अपने प्रान्त के ब्रज-प्रदेश की परिवर्तनशील प्रकृति का वर्णन किया है, वहाँ इस शाश्वत ब्रज की ओर सकेत करना भी वे नही भूले हैं

नित्य धाम वृन्दावन स्याम। नित्य रूप राधा ब्रजबाम ॥
नित्य रास जल नित्य बिहार। नित्य मान खण्डिताऽभिसार ॥
नित्य कुँजे सुख नित्य हिंडोर। नित्यहिं त्रिविध समीर झकोर ॥
सदा बसन्त रहत जहँ वास। सदा हर्ष जहँ नहीं उदास ॥
कोकिल कीर सदा तहँ रोर। सदा रूप मन्मथ चित चोर ॥
बिबिध सुमन वन फूले डार। उन्मत मधुकर भ्रमत अपार ॥[१]

सूर के पात्र प्रकृतिमय हैं। उनके हृदय का अध्ययन सूर द्वारा उपस्थित प्रकृति-चित्र-पटी के सहारे भली-भाँति किया जा सकता है। साहचर्य के कारण उनका प्रकृति के साथ ऐसा तादात्म्य हो गया है कि किसी भी घटना-व्यापार की प्रतिक्रिया पहले किस पर हुई और बाद में किस पर, यह बताना बडा ही कठिन है। कृष्ण के वियोग में गोपियो की भाँति प्रकृति भी पूर्ण वियोग का अनुभव करती है और सयोग में पूर्ण सयोग का। ऐसी स्थिति मे सूर-काव्य में असम्बद्ध प्रकृति-चित्रण की खोज करना मानव और प्रकृति के भावात्मक मिलन को चुनौती देना ही है। उनके पात्रो की मनोदशाओ के वर्णन में प्रकृति के विभिन्न रूपो और व्यापारो का अनायास ही समावेश हो गया है। हाँ, बीच-बीच मे आलम्बन रूप में भी प्रकृति-चित्रण की झलक दिखाई दे जाती है। प्रात काल का स्वाभाविक वर्णन देखिए।

बोले तमचुर, चारयो जाम को गजर मारयो,
पौन भयो सीतल तमि तैं तमता गई।
प्राची अरुनानी, भानु किरनि उज्यारी नभ छाई,
उडुगन चन्द्रमा मलीनता लई।
मुकुले कमल, वच्छबधन बिछोह्यौ ग्वाल,
चरैं चली गाइ, द्विज तैंती कर कौ दई।
सूरदास राधिका सरस बानी बोलि कहै,
जागो प्रान प्यारे जू सवारे की समै भई।[२]
चिरई चुहचुहानी, चाँद की ज्योति परानी,
रजनी बिहानी, प्राची पियरी प्रवान की।
तारिका दुरानी, तम घट्यौ, तमचुर बोले,
स्रवन भनक परी ललिता के तान की।
भृंग मिले मारुता, बिछुरी जोरी कोक मिले;
उतरी पनच अब काम के कमान की।
अथवंत आए गृह, बहुरि उवत भानु,
उठौ प्राननाथ महा जान मनि जानकी।[३]

१ सूरसागर (सभा) पद ३४६२
२ वही, पद २६५६
३ वही, पद २६५७

रात्रि भर कुंज-सुखानुभव करने के पश्चात् प्रात काल होता हुआ देखकर गुरुजन-भय से घर जाने के लिये सकेत करती हुई राधा की कृष्ण के प्रति इस उक्ति का किसी न किसी रूप में शृ गार से ही सम्बन्ध है, परन्तु निम्नलिखित पद मे प्रात:काल का वर्णन बिल्कुल शुद्ध रूप में हुआ है .

जागिए, व्रजराज कुँवर कमल-कुसुम फूले ।
कुमुद-वृन्द सकुचित भए, भृ ग लता भूले ।
तमचुर खग-रोर सुनहु, बोलत बनराई ।
राँभति गो खरिकनि में, बछरा हित धाई ।
विधु मलीन, रवि प्रकास, गावत नर नारी ।
सूर स्याम प्रात उठौ, अम्बुज कर धारी ।[1]

मेघो के उमड-उमड कर गिरने का वर्णन निम्नलिखित पद में हुआ है

मावौ महामेघ घिरि आयौ ।
घर को गाइ बहोरौ मोहन, ग्वालनि टेरि सुनायौ ।
कारी घटा सुघूम देखियत, अति गति पवन चलायौ ।
चारौं दिसा चितै किन देखहु, दामिनि कौंधा लायौ ।
अति घनस्याम सुदेस सूर-प्रभु, कर गहि सैल उठायौ ।
राखे सुखी सकल ब्रजवासी, सुरपति गरब नवायौ ।[2]

किन्तु ध्यान से देखने पर कवि के इस वर्णन का उद्देश्य गोवर्द्धन-धारण करने की घटना के लिए उचित परिस्थिति उपस्थित करके, 'कर गहि सैल उठायौ' और 'सुरपति गरब नवायौ' के द्वारा अपनें आराध्य की अलौकिक शक्ति की ओर इगित करना ही लक्षित होता है, जो १४८८ वें पद मे आए हुए 'नाम गिरिधर परचौ भक्त काजैं' से स्पष्ट हो जाता है। सूरदास जी ने अपने भावो के अनुकूल प्रकृति के कोमल रूपो को ही प्राय ग्रहण किया है। लीला-पुरुषोत्तम की प्रणय-लीलाओ का साक्षात्कार करने वाले नेत्र प्रकृति के रौद्र-रूप के दर्शन करना कैसे पसन्द करें ? फिर भी अवसर के अनुकूल जहाँ कहीं उन्होंने प्रकृति के उग्र-रूप का चित्रण किया है, वहाँ वे पूरी तरह सफल हुए हैं और अपने काव्य मे आलम्बन रूप में प्रकृति-वर्णन के अभाव की शिकायत को दूर कर सके हैं। दावानल के चित्रण का एक ही उदाहरण इस तथ्य की पुष्टि कर देगा

भहरात झहरात दवा (नल) आयौ ।
घेरि चहुँ ओर, करि सोर अन्दोर बन, धरनि आकास चहुँ पास छायौ ।
बरत बनबाँस, थरहरत कुसकाँस जरि, उडत है भाँस अति प्रबल धायौ ।
झपटि झपटत लपटे, फूल-फल चटचटकि, फटत लटलटकि द्रुम-द्रुम नवार
अति अगिनि-झार, भभार- धुंधार करि, उचटि अगार झझार छायौ ।
बरत बनपात, भहरात झहरात अररात तरु महा, धरनी गिरायौ ।[3]

---

१ सरसागर (सभा) पद ८२०

२ वही ,, पद १४८३

३ सूरसागर १२१४

वन के बाँसो के जलने, कुश और काँस के जल कर क्षार होकर उड़ने, लपटों के झपटने, फूल-फलो के चटक-चटक कर फटने, वृक्षों के झुलस कर लटक जाने, ज्वाला के फैलने, अँगारो के उचटने और धुँआ छा जाने के व्यापारों के वर्णन ने दावानल का साक्षात् चित्र उपस्थित कर दिया है, जिसमें विभिन्न वर्णों का अनुप्रास वन-दहन-क्रिया में होने वाले वास्तविक घोष का अनुकरण करता हुआ तादात्मक सौन्दर्य द्वारा गति और सजीवता भर रहा है।

रहस्यानुभूति-विषयक प्रकृति-चित्रण भी सूर के कुछ पदो में मिल जाता है

चलि सखि, तिहि सरोवर जाहि।
जिहि सरोवर कमल कमला, रवि बिना बिकसाहि।
हँस उज्ज्वल पख निर्मल, अग मलि मलि न्हाहि।
मुक्ति-मुक्ता अनगिने फल, तहाँ चुनि-चुनि खाहि।
अतिहि मगन महा मधुर रस, रस न मध्य समाहि।
पदुम-वास सुगन्ध-सीतल, लेत पाप नसाहि।
सदा प्रफुलित रहैं जल बिनु, निमिष नहि कुम्हिलाहि।
सघन गुंजत बैठि उन पर, भौंरहू बिरमाहि।[1]

वस्तुत सूर के प्रकृति-वर्णन का महत्त्व उद्दीपन रूप मे ही सर्वाधिक है। ब्रज-भूमि की मोदमयी गोद में खेलते हुए राधा और कृष्ण के हृदय मे जो पारस्परिक स्नेह का अकुर फूटा, उसे ब्रज की प्रकृति ने अपनी सरसता से पल्लवित और पुष्पित किया। फिर उससे जो आनन्दमय प्रेम-भक्ति-सौरभ उडा, वह सांसारिक विषयों के कटु-रस में बहते हुए जनमन-मधुपो को प्रेरणा देकर सच्चे आनन्द-रस का आस्वादन करा सका। चतुर सखी की भाँति प्रकृति राधा और कृष्ण के मिलन के लिए उनके प्रेम-भाव को उद्दीप्त करने के लिए अनुकूल वातावरण उपस्थित करती है। शरद् ऋतु की चाँदनी वृन्दावन के श्री कुञ्ज में छिटक कर रास का निमत्रण दे रही है

सरद चाँदनी रजनी सोहै, वृन्दावन श्री कुंज।
प्रफुलित सुमन बिबिध-रग जहँ-तहँ, कूजत कोकिल पुंज।
जमुना पुलिन स्याम घन सुन्दर, अद्भुत रास उपायो।[2]

× × ×

आजु निसि सोभित सरद सुहाई।
सीतल मन्द सुगन्ध पवन बहै, रोम रोम सुखदाई।
जमुना पुलिन पुनीत परम रुचि, रचि मडली बनाई।[3]

राधा और कृष्ण के प्रथम मिलन के समय ही प्रकृति अपने कामोद्दीपन कर्त्तव्य को उचित रूप से पूरा करती है और देखते ही देखते गगन घहरा उठता है, काली घटाएँ छा

१ सूरसागर पद ३३८
२ सूरसागर (सभा) पद १७६६
३ वही ,, पद १७५६

गईं, पवन झकोरे लेने लगा, चपला चमकने लगी, आकाश श्याम-वर्ण हो गया, दोनो रोमाञ्चित हो गये, काम जाग उठा;[1] और फिर तो –

नयौ नेह, नयौ गेह, नयौ रस, नवल कुँवरि वृषभानु-किशोरी।
नयौ पिताम्बर, नई चूनरी, नई-नई बूँदनि भीजति गोरी।
नये कुंज, अति पुंज नये द्रुम, सुभग जमुन जल पवन हिलोरी।
सूरदास प्रभु नव रस विलसत, नवल राधिका जोवन भोरी।[2]

नवल वृषभानु किशोरी ही नहीं—नई-नई बूँदो, नवीन कुंजों और नये द्रुम-पुंजो से सजी हुई प्रकृति रस-विलास कर रही है।

सयोग की भाँति वियोग में भी प्रकृति भावोद्दीपन का कार्य करती है। प्रिय के साथ में उद्दीपन पदार्थ भावों का उत्कर्ष कर सुखदायी बनते हैं, किन्तु वियोग में उनके द्वारा उद्दीप्त हुए भावों का आलम्बन प्रिय के समक्ष न होने के कारण प्रणय-चेष्टाओ द्वारा रेचन सभव नही होता। अतएव वियोगी हृदय भार का अनुभव करता हुआ व्यग्र हो उठता है और उसे वे ही सुखदायी पदार्थ दाहक प्रतीत होने लगते हैं। वही वर्षा ऋतु, जो संयोग केलियों में चक्षुओ में रस उँडेल देती थीं, कृष्ण के वियोग में गोपियो के नयनों से झर लगा देती है।[3] बादल क्या हैं? मानो मदन के हाथी हैं, जिन्होंने बन्धनो की अवहेलना कर विरहिणी बालाओ पर चढ़ाई ही कर दी है.

देखियत चहुँ दिसि तैं घन घोरे।
मानौ मत्त मदन के हथियनि बल करि बंधन तोरे।
स्याम सुभग तन चुवत गडमद, बरषत थोरे थोरे॥
रुकत न पवन महावत हू पै, मुरत न अंकुस मोरे।
मनो निकसि बग-पक्ति दत, उर-अवधि-सरोवर फोरे।
बिनु बेला बल निकसि नयन जल, कुच कचुकि बद बोरे।
तब तिहि समय आनि ऐरापति, ब्रजपति सों कर जोरे।
अब सुनि सूर कान्ह-केहरि बिनु, गरत गात जस भोरे।[4]

कामदेव के इन भयानक हाथियो के आक्रमण को देखकर प्रलय-मेघो से रक्षा करने वाले ब्रजपति गिरिधर की याद आना स्वाभाविक ही है। दादुर, मोर और कोकिल बोलते हैं, सघन बादल छा गए हैं, दामनी और इन्द्र-धनुष काम का शृङ्गार कर रहे हैं, ऐसे में हरि को यह सदेश कौन सुनावे? 'यदि कृपा करके वे दर्शन दें, तो गोपियो को सुख मिले।'[5] सावन का महीना आ गया, सरोवर जल से भर गए और मोहन के आने का मार्ग भी बन्द हो गया। सावन के दिन कैसे कटें, वे तो रावण के सिर ही हो गए हैं—

---

१ सूरसागर (सभा) पद १३०२
२ वही ,, पद १३०३
३ वही ,, पद ३९१७
४ वही ,, पद ३९२१
५ वही ,, पद ३९३०

कैसे कै भरिहैं री दिन सावन के।
हरित भूमि भरे सलिल सरोवर, मिटे मग मोहन आवन के।
दादुर मोर सोर चातक पिक, सूही निसा सिरावन के।
गरज चहूँ घन घुमडि दामिनी, मदन धनुप धर धावन के।
पहिरि कुसुम सारी कँचुकि तन, झुंडनि झुंडनि गावन के।
सूरदास-प्रभु दुसह घटत क्यों, सोक त्रिगुन सिर रावन के।[१]

शरद की पीयूष-वर्षिणी निशा, जो कभी रास-रस-आस्वादन कराती थी, आज आग ही बन गई है, जो आँसुओं की अविरल धारा से शान्त ही नही होती, और भी भड़क उठती है। इधर श्याम रासलीला को भूल गए, यह बात ब्रज-युवतियों को बहुत ही चुभ रही है.

गोविन्द बिनु कौन हरै नैननि की जरनि।
सरद निसा अनल भई, चन्द भयौ तरनि।
तन में सताप भयो, दुरयौ आनन्द धरनि।
प्रेम पुलक बार-बार, अँसुअन की ढरनि।
वै दिन जौ सुरति करौं, पाइनि की परनि।
सूर स्याम क्यों बिसारी, लीला बन करनि।[२]

वर्षा और शरद ही नहो, सभी ऋतु ब्रज में कुछ और ही बन गई हैं.

सबै रितु और लागति आहि।
सुनि सखि वा ब्रजराज बिना, सब फीकौ लागत चाहि।
वै घन देखि नैन बरषत हैं, पावस गए सिरात।
सरद सनेह सँचै सरिता उर, मारग ह्वै जल जात।
हिम हिमकर देखे उपजत अति, निसा रहति इहि जोग।
सिसिर विकल काँपत जु कमल उर, सुमिरि स्याम रस भोग।
निरखि बसन्त बिरह बेली तन, वे सुख दुख ह्वै फूलत।
ग्रीषम काम निमिष छाँडत नहिं, देह दसा सब भूलत।
षट् ऋतु ह्वै इक ठाम कियो तनु, उठे त्रिदोष जुरे।
सूर अवधि उपचार आजु लौं, राखे प्रान जुरे।[३]

सूर का यह प्रकृति-वर्णन उद्दीपन रूप मे होता हुआ भी बडा महत्वपूर्ण है। यह किसी दिलचले रूप-लिप्सु के शोर करते हुए दिल की दास्तान नहीं, घनश्याम के रस से वञ्चित आधार-हीन ब्रजबाला-वल्लरियो के मुरझा कर गिरने का इतिहास है, कलेजे में

---

१ सूरसागर (सभा) पद ३९३४
२ वही ,, पद ३९६३
३ वही ,, पद ३९६१

सैंकडो घावों को लिये हुए फिरने वालो का असम्वद्ध प्रलाप नही, वचपन से ही प्रेम-पयोधि मे गहरा गोता लगाने वाले हृदय के वियोग की तपती हुई मरु-भूमि में निर्वासित किये जाने पर फूट निकलने वाले उद्‌गार हैं।

यह वह मनोदशा है, जो मानव को अह की सकुचित परिधि से निकाल कर विश्व के पदार्थ-मात्र से तादात्म्य स्थापित करने के योग्य बनाती है और प्रकृति के विभिन्न पदार्थों में प्राण-प्रतिष्ठा कर उन्हें मानव का अनुभूतिशील हृदय प्रदान करती है। तभी तो कृष्ण के वियोग में कालिन्दी की ऐसी दशा हो जाती है कि वह विरहिणी गोपियो की उपमान बन जाती है :

देखियति कालिन्दी अति कारी।
अहो पथिक कहियो उन हरि सों, भई विरह जुर जारी।
गिरि-प्रजक तैं गिरति धरनि धँसि, तरंग तरफ तन भारी।
तट वारू उपचार चूर, जलपूर प्रस्वेद पनारी।
विगलित कच कुस काँस कूल पर, पँक जु काजल सारी।
भौंर भ्रमत अति फिरति भ्रमित गति, दिसि-दिसि दीन दुखारी।
निसि दिन चकई पिय जु रटति है, भई मनो अनुहारी।
सूरदास प्रभु जो जमुना गति, सो गति भई हमारी।[१]

सूरदास ने अलङ्कारो के रूप मे प्रकृति का वहुत ही अधिक प्रयोग किया है। उनकी उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ वडी सुन्दर वन पडी हैं और 'अद्भुत एक अनूपम वाग' वाला उनका पद तो अतिशयोक्ति-जगत् मे अपना सानी ही नही रखता। परन्तु उनके अधिकांश उपमान परम्परा-प्राप्त एव कवि-समय-सिद्ध हैं। प्रकृति के गिने-चुने स्वरूपो का ही उन्होंने वार-वार वर्णन किया है। कही-कहीं तो उपमा पर उपमा और उत्प्रेक्षा पर उत्प्रेक्षा लादने की धुन में सूर की कल्पना हास्यास्पद ही हो गई है। 'हरि-कर राजत माखन रोटी' के प्रसङ्ग में 'मनो वराह भूधर-सह पृथिवी धरी दसनन की कोटी' कहकर छोटी-सी रोटी पर पहाड़ सहित पृथ्वी का बोझ लाद देना ऐसी ही वात है। किन्तु सूर के विशाल 'सागर' में विलीन हुआ यह दोप महाकवि कालिदास के 'एकोहि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दो किरणेष्विवाङ्क." कथन की स्मृति दिलाता है।

सूर का प्रादुर्भाव हिन्दी-साहित्य में एक चमत्कार है, उनकी कला अकल्पनीय शिल्प का नमूना है तथा उनके चरित्र सुचारु चातुर्य और अप्रतिम प्रतिभा के प्रदर्शक हैं।

---

१ सूरसागर (सभा) पद ३८०९

परिशिष्ट १

सूर-साहित्य की कुछ ज्ञातव्य बातें।

सूरदास जी पुष्टि-सम्प्रदाय मे दीक्षित थे। उनका सारा जीवन सम्प्रदाय की सेवा-प्रणाली मे ही व्यतीत हुआ। अपने इष्टदेव परब्रह्म-स्वरूप श्रीकृष्ण का कीर्त्तन ही उनकी नित्य-जीवन-चर्या थी, परन्तु वे कोरे कीर्त्तनकार ही नही, उच्चकोटि के साहित्य-मर्मज्ञ और भावुक कवि भी थे। युग-द्रष्टा की भाँति उन्होंने सच्चे अर्थ में अपने युग का प्रतिनिधित्व किया है। पुष्टि-मार्ग मे दीक्षित होने से पहले ही वे ससार को अपनी बन्द आँखों से पूर्णतया देखकर व्यापक अनुभव कर चुके थे, विभिन्न मत-मतान्तर और सम्प्रदायो की मर्यादाओ का उन्हें ज्ञान था। आज का आलोचक उनकी कविता को अश्लील और मर्यादा-रहित कह उड़ाने की चेष्टा कर सकता है, परन्तु यदि निष्पक्ष और सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो उसमें ऐसी विशेषताएँ परिलक्षित होगी, जो सूर को सार्वभौम और सार्वजनीन बनाने के लिये पर्याप्त हैं। सूर सामञ्जस्यवादी कवि थे। साम्प्रदायिकता की दृष्टि से उनकी कविता में चाहे कोई कितनी ही त्रुटियाँ क्यो न निकाले, परन्तु शुद्ध काव्य की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य में उनके जोड का कवि नहीं है। उनका आविर्भाव हिन्दी-जगत् के लिए एक विशेष चमत्कार ही समझना चाहिये। उनके काव्य-पक्ष का विवेचन हम पहले कर चुके हैं। यहाँ हम कुछ ऐसी बातो की ओर सकेत करते हैं, जो हमारे चरितनायक कवि सूर को सार्वकालिक सिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं। सूर की कविता का मुख्य प्रेरक तत्त्व तो उनकी भक्ति-भावना ही थी, चाहे वह सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पहले की हो या बाद की। सम्प्रदाय मे दीक्षित होने के पश्चात् उनकी भक्ति-भावना का प्राण अवश्य बदल गया था। इस भक्ति-भावना के साथ उनके साहित्य की सृष्टि मे तत्कालीन परिस्थितियो का भी योग है। वे परिस्थितियाँ सामाजिक, धार्मिक, सास्कृतिक और राजनीतिक—सभी प्रकार की थीं। अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, उनके काव्य में इन परिस्थितियों का प्रभाव लक्षित होता है। काव्य-कला के लिये शैली का अपना अलग महत्त्व है। भाषा और शैली की दृष्टि से सूरदास जी ने ब्रजभाषा-साहित्य की समृद्धि मे जो योग दिया है, उसका उल्लेख भी हम पहले कर चुके हैं। पुष्टि-सम्प्रदाय के भक्ति-पक्ष को जन-साधारण के लिये सुलभ और सुबोध बनाने का काम सूरदास जी ने ही किया है। इनकी भक्ति-भावना वास्तव में साम्प्रदायिक सकीर्णता से बहुत ऊपर उठ चुकी थी, और यही कारण है कि सारे वैष्णव सम्प्रदाय सूर को अपना-अपना बताने मे गौरव का अनुभव करते हैं। हम पीछे दिखा चुके हैं कि किस प्रकार सूर ने सम-सामयिक प्रचलित वैष्णव-सम्प्रदायों की भक्ति-भावना का सामञ्जस्य प्रस्तुत किया है। विशेष लक्ष्य करने की बात तो यह है कि उनके साहित्य मे तत्कालीन प्रचलित वैष्णवेतर सम्प्रदायो का भी उचित प्रतिनिधित्व हुआ है। सूफियों की प्रेमाश्रयी शाखा के व्यापक प्रभाव का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं, इसके अतिरिक्त दूसरे उल्लेखनीय सम्प्रदाय पश्चिमी भारत मे नाथ-पथ और कबीर-पथ थे। बगाल के सहजिया सम्प्रदाय की भक्ति-भावना को तो चैतन्य-सम्प्रदाय आत्मसात् कर चुका

था और उसका प्रभाव स्पष्ट रूप से पुष्टि-सम्प्रदाय पर पर्याप्त मात्रा में पडा था, जिसका सकेत हम पीछे कई बार कर चुके हैं। सूर की रचना मे नाथ-योगियो के सिद्धान्तो का इतना उल्लेख है कि कभी-कभी तो यह धारणा होने लगती है कि सम्प्रदाय मे दीक्षित होने से पहले सूर का नाथ-सम्प्रदाय से विशेष सम्पर्क रहा होगा। उस समय के उत्तर भारत मे नाथ-योगियो का काफी प्रभाव था।

भक्ति-आन्दोलन की पृष्ठ-भूमि का विवेचन करते हुए हमने यह बताया है कि नाथ-पथ बौद्धो और शैवो के मतों से प्रभावित था और एक योग-सम्प्रदाय के रूप में था। बौद्धों की वज्रयान शाखा के—जो तन्त्रवाद को लेकर चली थी—चौरासी सिद्ध भी नाथ-पथियो के समान हठ-योग में विश्वास रखते थे। सूर के काव्य में स्थान-स्थान पर हठ-योग के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि भक्त सूरदास नाथ-पथ की तुलना मे भक्ति-योग को श्रेष्ठ सिद्ध करने में बडे प्रयत्नशील हैं। जहाँ कही उन्होंने भक्ति-योग के महत्त्व का प्रतिपादन किया है, वहाँ अनिवार्य रूप से दो बातो का उल्लेख करना वे नही भूले हैं—एक तो शिव और विरञ्चि की भक्ति को कृष्ण-भक्ति से निम्नकोटि की बताना, और दूसरे अष्टाग योग और उसकी क्रियाओ को जन-साधारण के लिए अगम्य दिखाकर उनकी अनुपयोगिता को प्रमाणित करना।

सूरदास निराकार ब्रह्म की उपासना को मन और वाणी से अगम, अगोचर मानकर सगुणोपासना को ही श्रेयस्कर मानते हैं

मन-बानी कौं अगम-अगोचर, सो जानै जो पावै।
रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति-बिनु, निरालम्ब मन चकृत धावै।
सब विधि अगम विचारहिं तातैं, सूर सगुन लीलापद गावै।[१]

सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पहले सूर की उपासना का रूप निश्चित नही था, क्योंकि उन्होने बार-बार अपने पदो में अपने अतीत पर खेद प्रकट किया है .

जनम तौ बादहिं गयौ सिराइ।
हरि सुमिरन नहिं गुरु की सेवा, मधुवन बस्यौ न जाइ।
अब की बार मनुष्य-देह धरि, कियौ न कछू उपाइ।[२]

उन्होंने स्पष्टत स्वीकार किया है कि यदि भगवान् कृष्ण की कृपा उन पर नही होती, तो वे

"औघड असत कुचीलनि सो मिलि मायाजल में तरतो।"[३]

बिना गोविन्द-भक्ति के और सब साधनाओ को तो वे बादल की छाँह के समान मानते थे

और सकल मैं देखे-ढूँढे, बादल की सी छाहीं।[४]

---

१ सूरसागर (सभा) पद २
२ वही ,, पद १५५
३ वही ,, पद २०३
४ वही ,, पद ३२१

गोविन्द-भक्ति के सम्मुख और सब मार्गों को वे हेय समझने लगे थे। उन्होने स्पष्ट लिखा है

भक्ति पथ कौं जो अनुसरै। सो अष्टांग जोग कौं करै।
यम, नियमासन, प्रानायाम। करि अभ्यास होइ निष्काम।
प्रत्याहार-धारना-ध्यान। करै जु छांडि वासना आन।
क्रम-क्रम सौं पुनि करै समाधि। सूर स्याम भजि मिटै उपाधि।[1]

इन छुट-पुट पदो के द्वारा भक्ति के महत्त्व का प्रतिपादन करने-मात्र से सूरदास जी को सन्तोष नहीं हुआ। जब वे नन्दालय की लीला गा चुके, कृष्ण-लीलाओ का विस्तार से गान कर चुके और उनका मानस भक्ति के निर्मल सलिल से परिपूर्ण हो गया, तब उन्हे अभिनयात्मक ढग से अष्टाङ्ग-योग की हीनता और भक्ति की महत्ता प्रतिपादित करने की सूझी, और यह सुयोग उन्हे 'भ्रमर-गीत' के प्रसङ्ग में मिल गया। साहित्यिक दृष्टि से 'भ्रमर-गीत' का चाहे जो कुछ महत्त्व हो, किन्तु जैसा कि हम कह आए हैं, धार्मिक और दार्शनिक दृष्टिकोण से तो उसका सार केवल इतना ही है कि उसमें निराकार की उपासना के ऊपर साकार-साधना की विजय के गीत गाये गए है। निराकारपरक योग-साधना और साकारपरक भक्ति-साधना ही 'भ्रमर-गीत' की आधार-भूमि हैं। हरि का सदेश सुनाते हुए उद्धव जी गोपियो से कहते हैं .

सुनौ गोपी हरि कौ सदेस।
करि समाधि अन्तर गति ध्यावहु, यह उनकौ उपदेस।[2]

इस सन्देश को सुनकर गोपियां उद्धव पर बिखर पडती हैं और अनेक प्रकार से अष्टाङ्ग-योग की अनुपयोगिता सिद्ध करती हैं। उनकी व्यङ्ग्योक्तियाँ सूर की अपनी भावना की प्रतीक हैं। इस प्रकार के कुछ पदो के नमूने नीचे दिये जाते हैं

मधुकर कौन देस तै आए।
आसन ध्यान, वायु-आराधन, अलि मन-चित तुम ताए।
अतिहिं विचित्र बुद्धि सुलच्छन, गुनी जोग मत गाये।
मुद्रा, भस्म, विषान, त्वचा-मृग, व्रज-जुवतिनि नहिं भाए।
अतिसी-कुसुम-वरन मुख मुरली, सूरज-प्रभु किन लाए।[3]

सूर की गोपियाँ गोकुलनाथ की आराधना करती हैं। माता-पिता हित, निगम-पथ आदि का त्याग कर सुख-दु ख को भ्रम समझकर, मानापमान में सतोष रखकर गुरुजन-मर्यादा की अग्नि चारो ओर रखकर उपहास का धूम पीती हुई व्रज युवतियाँ प्रेम-योग की कठिन साधना करती हैं

हम अलि गोकुलनाथ अराध्यौ।
मन, क्रम, वच हरि सौं धरि पतिव्रत, प्रेम-जोग तप साध्यौ।
मातु-पिता हित, प्रीति निगम-पथ, तजि दुख-सुख भ्रम नाख्यौ।
मानऽपमान परम परितोषी, सुस्थल थिति मन राख्यौ।

---

१ सूरसागर (सभा) पद ३६४
२ वही ,, पद ४११०
३ वही ,, पद ४१२३

सकुचासन कुल सील करषि करि, जगत वंद्य करि वन्दन।
मौनऽपवाद पवन आरोधन, हित-क्रम काम-निकन्दन।
गुरुजन कानि अगिनि चहूँदिसि, नभ तरनि ताय विनु देखे।
पिवत धूम उपहास जहाँ तहँ, अपजस सवन अलेखे।
सहज समाधि सारि वपु वानक, निरखि निमेष न लागति।
परम ज्योति प्रति अग माधुरी, धरति यहै निसि जागति।
त्रिकुटि सग भ्रूभग तराटक, नैन-नैन लगि लागैं।
हँसनि प्रकास सुमुख कुण्डल मिलि, चन्द सूर अनुरागैं।
मुरली अधर स्रवन धुनि सो सुनि, सवद अनाहद कानैं।
वरषत रस रुचि वचन संग सुख, पद आनन्द समानैं।
मन्त्र दियो मन जात भजन लगि, ज्ञान ध्यान हर्ष ही को।
सूर कहौ गुरु कौन करैं अलि, कौन सुनै मत फीको।[१]

योग की कथा का उत्पात ब्रज जैसी सीधी-सादी नगरी मे कोई क्या समझे ? अबलाओं को योग का उपदेश देना वस्तुत. शठ का ही काम है .

फिरि फिरि कहा सिखावत मौन।
वचन दुसह लागत अलि तेरे, ज्यौं पजरे पर लौन।
शृंगी, मुद्रा, भस्म त्वचा-मृग, अरु अवराधन पौन।
हम अवला अहीरि सठ मधुकर, धरि जानहिं कहि कौन।
यह मत जाइ तिनहिं तुम सिखवहु, जिनहिं आजु सव सोहत।
सूरदास कहुँ सुनी न देखी, पोत सूतरी पोहत।[२]

वेचारी गोपियाँ वियोग में भी योग कर ही रही हैं, यदि किसी मोटी बुद्धि वाले को सूझे ही नही, तो उनका क्या दोष ? कृष्ण के मथुरा जाते ही गोपियो ने योग ले लिया हैं :

हम तो तवहिं तैं जोग लियौ।
जवही तैं मधुकर मधुवन कौं मोहन गौन कियौ।
रहित सनेह सिरोरुह सव तन, श्रीखड भसम चढ़ाए।
पहिरि मेखला चीर पुरातन, फिरि-फिरि फेरि सियाए।
स्रुति ताटक मेलि मुद्रावलि, अवधि अधार अधारी।
दरसन भिच्छा माँगति डोलति, लोचन पात्र पसारी।
वाँधे वेनु कठ सिंगी, पिय सुमिरि सुमिरि गुन गावत।
करतल वेंत दड डर डरत, न सुनत स्वान दुख धावत।
रहत जु चित्त उदास फिरति, वन वीथिनि दिन अरु राति।
वारक आवत कुटुम्ब जातरा, सोऊ अव न सुहाति।
भोग भुगति भूलैं नहिं भावत, भरी विरह वैराग।

---

१ सूरसागर (सभा) पद ४१४८
२ वही ,, पद ४३०८

गोरख सब्द पुकारत आरत, रस रसना अनुराग।
भोगी को देखन इहि ब्रज में, जोग देन जिहि आए।
जानी सिद्धि तुम्हारे सिव की, जिन तुम इहाँ पठाए।
परम गुरू रतिनाथ हाथ सिर, दियौ मन्त्र उपदेस।
चतुर चेटकी मथुरानाथ सौं, जाइ करौ आदेस।
सूर सुमति प्रभु तुमहिं लखायौ, सोई हमरै ध्यान।
अलि चलि औरै ठौर दिखावहु, अपनौ फोकट ज्ञान।[1]

कहीं-कहीं तो सूरदास ने योगमत के आचार्य का नामोल्लेख कर अपने मन्तव्य को और भी स्पष्ट कर दिया है, उक्त पद की रेखाङ्कित पंक्ति में उन्होंने गोरख का नाम स्पष्ट लेकर योग का खण्डन किया है। जैसा कि ऊपर प्रतिपादित किया गया है, गोपियों का योग तो दूसरा ही है -

ऊधौ करि रही हम जोग।
कहा एतौ बाद ठान्यौ, देखि गोपी भोग।
सीस सेली केस मुद्रा, कान वीरी वीर।
विरह भस्म चढाइ बैठी, सहज कथा चीर।
हृदय सिंगी टेर मुरली, नैन खप्पर हाथ।
चाहतीं हरि दरस, भिच्छा देहि दीनानाथ।[2]

विना गुरु के योग सिखायेगा कौन ? गोपियाँ उद्धव से मथुरा ले जाने के लिए कहती हैं, जहाँ जाकर वे अपने गुरु श्याम से योग सीख लें। केवल सदेश से तो सीखा जा नहीं सकता

जोग विधि मधुवन सिखिहैं जाइ।
मन-वच-कर्म सपथ सुनि ऊधौ, सगहि चलौ लिवाइ।
सब आसन, रेचक अरु पूरक, कुम्भक सीखहिं भाइ।
विनु गुरु निकट सँदेसनि कैसैं, यह अवगाह्यौ जाइ।
हम जो करत देखि हैं कुविजहिं, तेई करव उपाइ।
सद्धा-सहित ध्यान एकहिं सँग, कहत जाहिं जदुराइ।
सूर-सुप्रभु की जा पर रुचि है, सो हम करिहैं आइ।
आग्या-भग करैं हम क्यों करि, जो पतिव्रत विनसाइ।[3]

और असल वात तो यह है कि अगम-अगाध की उपासना कैसे की जाय ? जिसने प्रेम का पूर्ण सुख प्राप्त किया हो, वह योग का अपूर्ण सुख क्यो ले ? माणिक्य को त्याग कर राख को पल्ले बांधना कहाँ की बुद्धिमानी है—

हमरैं कौन जोग व्रत साधै।
वटुआ, झोरी, दंड, अधारी, इतननि को अवराधै।
जाको कहूँ थाह नहिं पैयै, अगम अधार अगाधै।
गिरिधरलाल छवीले मुख पर, इसे वांध को वांधै।

१ सूरसागर (सभा) पद ४३११
२ वही, ,, पद ४३१२
३ वही, ,, पद ४३२८

बिरहा बुरहा जिनि कहो, बिरहा है सुलतान।
जिस घट बिरह न संचरै, सो घट सदा मसान।

जाति-पाँति की निन्दा करने वाले पदो की कबीर मे तो भरमार है ही, सूर में भी कमी नहीं है—

'जात, गोत कुल नाम गनै नहिं, रक होइ कै रानो।'[१]
'काहू के कुल तन न विचारत।'[२]
'जन की ओर कौन पति राखै।'
'जाति-पाँति कुल-कानि न मानत, वेद पुराननि साखै।'[३]
श्रीभागवत सुनै जो कोई, ताको हरि-पद प्रापति होई।
ऊँच नीच ब्योरो न वडाई, बाकी सखी मैं सुनि माई।[४]
कह्यो एक श्रीभागवत विचार।
जाति-पाँति कोई पूछत नाही, श्रीपति के दरबार।[५]

इस प्रकार के अनेक पद सूरसागर मे प्राप्त होते हैं।

सूर के विनय के पदो मे ऐसे अनेक पद हैं, जो कबीर के पदों की तुलना में रखे जा सकते हैं।

'सूर' के 'अपुनपो आपुन ही मे बिसरयो।'[६]
तथा 'अपुनपो आपुन ही मैं पायो।'[७]

पदो का उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं। इन भावो को व्यक्त करने वाले कबीर के अनेक पद हैं, जैसे—'मुझको क्या ढूंढे बन्दे, मैं तो तेरे पास मे' तथा 'कस्तूरी मस्तक बसै, मृग ढूंढ़े बन माँहि', आदि। इस प्रकार के सूरदास के अन्तःसाधना-परक और भी पद हैं, जो कबीर के पदो की तुलना में रखे जा सकते हैं। कबीर के—'काहे री नलिनी तू कुम्हलानी' तथा 'पानी में मीन प्यासी, मोहि देखत लागै हाँसी' वाले पद को सूर के निम्नलिखित पद से मिलाइये—

धोखैं ही धोखै डहकायो।
समुझि न परी विषय-रस गीध्यो, हरि हीरा घर माँझ गँवायो।
ज्यौं कुरग जल देखि अवनि को, प्यास न गई चहूँ दिसि धायो।
जनम-जनम बहु करम किये हैं, तिनमें आपुन आपु बँधायो।
ज्यौं सुक सेमर सेब आस लगि, निसि-बासर हठि चित्त लगायो।
रीतो परयो जब फल चाख्यो, उडि गयो तूल ताँबरो आयो।

---

१ सूरसागर (सभा) पद ११
२ वही (,,) पद १२
३ वही (,,) पद १५
४ वही (,,) पद २३०
५ वही (,,) पद २३१
६ वही (,,) पद ३६९
७ वही (,,) पद ४००

ज्यो कपि डोरि बाँधि बाजीगर, कन-कन कौं चौहटें नचायौ ।
सूरदास भगवन्त भजन बिनु, काल-व्याल पै आपु डसायौ ।[१]

ऐसा प्रतीत होता है कि वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पहले सूरदास जी इसी सत परम्परा के भक्त थे, इसका विशद विवेचन हम पीछे कर चुके हैं। यद्यपि सूर ने उलटवाँसियाँ नहीं लिखीं, तथापि उनके दो-एक पद ऐसे अवश्य मिल जाते हैं, जिनसे उनकी इस प्रवृत्ति का पता चलता है। एक उदाहरण देखिये

अब मेरी राखौ लाज मुरारी ।
सकट मैं एक सकट उपज्यौ, कहै मिरग सौं नारी ।
और कछू हम जानति नाही, आई सरन तिहारी ।
उलटि पवन जब बाबर जरियौ, स्वान चल्यौ सिर झारी ।
नाचन-कूदन मृगिनी लागी, चरन कमल पर वारी ।
सूर स्याम प्रभु अविगत-लीला, आपुहि आपु सँवारी ।[२]

सत कवि अनेक प्रकार के रूपक और अन्योक्तियो द्वारा एक मन कल्पित परम-धाम की ओर सकेत करते रहे हैं। अनूठी अन्योक्तियो द्वारा ईश्वर-प्रेम की व्यजना सूफियो में भी प्रचलित थी। कबीर ने अपने कई पदो मे उस स्थान की ओर सकेत किया है—'जहाँ उदय न अस्त सूर्य नही ससहर ताको भाव भजन करि लीजै।' सिद्धो की रचनाओ मे भी ऐसे स्थानो का उल्लेख मिलता है

जहि मन पवन न सचरहि, रवि शशि नाहि पवेश ।
तहि वट चित्त विपाण कर, सरहहि कहिए कुवेश ।

सत-समाज मे दीर्घ काल से चली आती हुई इस प्रवृत्ति के दर्शन सूरदास जी के भी अनेक पदो में होते हैं,.

चकई री चलि चरन-सरोवर, जहाँ न प्रेम-वियोग ।
जहँ भ्रम-निसा होत नहि कबहूँ, सोइ सायर सुख जोग ।
जहाँ सनक-सिव हस, मीन मुनि नख रवि प्रभा प्रकास ।
प्रफुलित कमल, निमिप नहि ससि-डर, गुञ्जत निगम सुवास ।
जिहि सर सुभग मुक्ति मुक्ताफल, सुकृत अमृत रस पीजै ।
सो सर छाँडि कुबुद्धि विहगम, इहाँ कहा रहि कीजै ।
लक्ष्मी सहित होत नित क्रीडा, सोभित सूरजदास ।
अब न सुहात विपय-रस छीलर, वा समुद्र की आस ।[३]

× × ×

१ सूरसागर (सभा) पद ३२६
२ वही ,, पद २२१
३ वही ,, पद ३३७

चलि सखि तिहिं सरोवर जाहिं।
जिहिं सरोवर कमल कमला, रवि बिना विकसाहिं।
हस उज्जल पख निर्मल, अग मलि-मलि न्हाहिं।
मुक्ति-मुक्ता अनगिने फल, तहाँ चुनि-चुनि खाहिं।
अतिहिं मगन महा मधुर रस, रसन मध्य समाहिं।[१]

'भृङ्गी री भजि स्याम-कमल-पद, जहाँ न निस कौ त्रास',[२] तथा 'सुवा चलि ता बन कौ रस पीजै'[३] भी ऐसे ही पद हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर सूरदास जी ने सभी सम-सामयिक वैष्णव-सम्प्रदायो के सिद्धान्तो को अपनाया है, वहाँ वे अवैष्णव सम्प्रदायो के प्रभाव से भी अछूते नही रहे हैं।

सूर-साहित्य के विषय मे दूसरी ज्ञातव्य बात यह है कि उन्होने अपने काव्य मे प्रत्यक्ष रूप से तो सामाजिक परिस्थितियो का वर्णन नहीं किया है, परन्तु अपने इष्ट-देव के माध्यम से अपने समय के प्रचलित सभी सस्कारो, सामाजिक व्यवस्थाओं और मनोविनोद के साधनो का वर्णन किया है। ब्रज-प्रान्त की सामाजिक परिस्थितियों का जितना विस्तृत वर्णन हमें सूर के काव्य में मिलता है, उतना किसी भी इतिहास-ग्रन्थ मे नही मिलता। इस दृष्टि से भी सूर के साहित्य का बडा महत्त्व है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, विनय के पदो में तो उनकी ज्ञान और वैराग्य की वे ही उक्तियाँ हैं, जो उन्हे परम्परा से प्राप्त थी और जिनका अनुसरण शकर के माया-मिथ्यात्ववाद को मानने वाले करते चले आ रहे थे, परन्तु लीला के पदो में सूरदास जी ने सामाजिक परिस्थितियो के वास्तविक चित्र प्रस्तुत किये हैं। हम पहले ही कह चुके हैं कि पुष्टि-सम्प्रदाय मे मानवीय वासनाओं को कृष्णाभिमुख करने का सफल प्रयत्न किया गया था और इनके कृष्ण राजसी ठाठ-बाट के प्रतीक थे। कृष्ण के जन्म से लेकर मथुरा-गमन की दिनचर्या का सूरदास जी ने बडे विस्तार के साथ वर्णन किया है। यह ठीक है कि भक्ति के आवेश मे इस वर्णन में उन्होने अतिशयोक्ति का आश्रय लिया है, जो स्वाभाविक ही है, परन्तु ये अतिशयोक्तियाँ तत्कालीन रीति-रिवाजो की अनुमिति मे बाधक नही है। 'गोकुल प्रगट भए हरि राई' वाले पद से ही ब्रज के रीति-रिवाज का प्रारम्भ हो जाता है। वृद्धावस्था में नन्द-यशोदा की पुत्रोत्पत्ति बडे सौभाग्य की सूचक थी, इसलिये नेवगियों का अपने-अपने नेग के लिये झगडना स्वाभाविक ही था। प्रत्येक प्रसग का सूर ने विस्तृत वर्णन किया है। कृष्ण-जन्म के अवसर पर ब्रजवासियों के हर्ष का पारावार उमडा पडता है

ब्रज भयो महर कैं पूत, जब यह बात सुनी।
सुनि आनन्दे सब लोग, गोकुल गनक-गुनी।[४]

सूरसागर के ६३२ से ६६० तक के पदो में सूरदास जी ने जन्मोत्सव की बधाइयो, ‍गल-गानो आदि का वर्णन किया है। ६५८ सख्या वाले पद में छठी का, और फिर

१ सूरसागर (सभा) पद ३३८
२ वही ,, पद ३३६
३ वही ,, पद ३४०
४ वही ,, पद ६४२

नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगांठ, कनछेदन आदि का बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। ये सस्कार उत्तरी भारत मे आज भी प्रचलित हैं और अपने-अपने सामर्थ्य के अनुकूल सभी द्विजो के यहाँ इनकी मान्यता है। सस्कारो के विषय में सूर ने मर्यादा का निर्वाह बडी कुशलता के साथ किया है। वे कृष्ण का उपनयन-सस्कार गोकुल में नही कराते, क्योकि शास्त्रीय परम्परा के अनुसार यह सस्कार द्विज बालको के लिये ही विहित है। अतएव कृष्ण का उपनयन सूर ने मथुरा मे कराया है, जिसका उन्होने साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया है।[1] कृष्ण का विवाह-सस्कार रास-लीला के अन्तर्गत आता है, जिसमें सभी प्रचलित परम्पराओ—जैसे—निमन्त्रण, मण्डप, गान, गालियाँ देना आदि का पालन हुआ है।[2] कृष्ण और रुक्मिणी के विवाह का वर्णन भी सूर ने उसी शान-शौकत से कराया है।

इन सस्कारों के अतिरिक्त भोजनादि की व्यवस्था का भी विस्तृत वर्णन सूर ने किया है। कृष्ण की दिनचर्या के साथ-साथ कलेऊ, भोजन और व्यालू—सभी का वर्णन हुआ है। भोज्य सामग्रियो की लम्बी-लम्बी सूचियाँ भी इन वर्णनों में मिलती हैं,[3] जिनका उल्लेख पुष्टि-सम्प्रदाय के प्रभाव का परिचायक है; क्योकि इस सम्प्रदाय की सेवा-पद्धति में भोग-पद्धति को विशेष महत्त्व दिया गया है। अन्नकूट के दिन श्रीनाथ जी को छप्पन प्रकार के भोग लगाने की प्रथा है।

कृष्ण की दिनचर्या के प्रसगो मे ही पूजा के विधि-विधानो, व्रतो और उत्सवो का भी वर्णन है, जिनका उल्लेख हम पुष्टि-सम्प्रदाय की सेवा-प्रणाली मे कर चुके हैं।

रासलीला और होली-धमार व्रज की अपनी विशेषता है। सूर ने इनका भी सविस्तार वर्णन किया है, जिसका उल्लेख हम पीछे कर आये हैं। इस प्रकार सूरदास जी ने उन सभी सस्कारो और उत्सवो को, जो उस समय व्रज-प्रान्त में प्रचलित थे, कृष्ण के सम्पर्क से अमर बना दिया। उनके वर्णन इतिहास-पूरक होते हुए भी प्रभु के सम्पर्क से अलौकिक हो गए। परिशिष्ट २ में हमने 'सूर-साहित्य मे व्रज-सस्कृति' पर कुछ विस्तार से विचार किया है।

सूर-साहित्य की एक और विशेष बात का उल्लेख करके हम इस प्रकरण को समाप्त करेंगे। सूर के चरित्र-चित्रण मे यह दिखाया जा चुका है कि सूर के राधा-कृष्ण और गोपियां अति-प्राकृत की अपेक्षा प्राकृत अधिक हैं। उनके चरित्र अलौकिक होते हुए भी मानव-भूमि पर खडे हुए हैं। सूर के युग में माधुर्य-भाव की प्रेमा-भक्ति का ही अधिक प्रचार था और उसको जन-साधारण तक पहुँचाने का श्रेय सूर को ही था। राधा और कृष्ण का प्रेम-वर्णन तथा गोपिका-विहार यद्यपि अश्लीलता की कोटि तक पहुँचे दिखलाई पडते हैं, तथापि यह निर्विवाद है कि वे सूर की सच्ची भक्ति-भावना के उद्गार हैं। उन्होंने लौकिक रस की गीति-परम्परा को रागात्मिका भक्ति के साँचे में ढाला था। भक्ति-भाव को रस की कोटि तक पहुँचाना सूर का ही काम था, परन्तु आगे चलकर भक्ति-भावना के इस प्रवाह का रीतिकालीन कवियो ने दुरुपयोग किया और राधा-कृष्ण की प्रेम-

१ सूरसागर (वेंकटेश्वर प्रेस) पृष्ठ ४७३ पद २६

२ देखिये, सूरसागर (सभा) पद १६८६ से १७०१

३ वही ,, पद २०१४ तथा १८३१

लीलाओ को लेकर अनेक प्रकार की कुरुचिपूर्ण कल्पनाएँ की, जिनसे वे उपास्य के स्थान में उपहास्य ही बन गये। 'उज्ज्वल नीलमणि' ग्रन्थ का उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं, जिसमें 'रूप गोस्वामी' ने भगवान् कृष्ण की प्रेयसियो और मित्रो के विस्तार के साथ भेद-प्रभेद किये हैं। सूर-साहित्य का सहारा पाकर दबी हुई लौकिक-रस की काव्य-धारा फिर उभर आई और रीति-कालीन कवियो ने बात का बतङ्गड ही बना दिया। सूर ने तो शृङ्गार-भाव को भक्ति का पोषक मानकर ही लिया था, परन्तु आगे के कवियो ने तो भक्ति के बहाने शृगार का खुल्लम-खुल्ला नग्न नृत्य कराया

'आगे के सुकवि रीझि हैं तो सुकविताई,
न तु राधा-गोविन्द सुमिरन को बहानो है।'

यह कहना अनुचित न होगा कि आगे के कवियो की भाव-सृष्टि का मूल स्रोत इन कृष्ण-भक्त कवियो का साहित्य ही था। इस दृष्टि से सूर-साहित्य का परवर्ती हिन्दी-साहित्य पर बडा बुरा प्रभाव पडा। इसके साथ-साथ यह भी नही भूलना चाहिये कि रीति-काल के अनेक कवि प्रेम-पथ के सच्चे पथिक भी थे। घनानन्द और देव की कविता मे सच्ची भक्ति-भावना की झलक मिल ही जाती है। महाकवि देव के तो बहुत से पद सूर के पदो के ही परिवर्तित रूप से दिखाई पडते हैं। रीति-कालीन कवियो के अधिकाश उपमान भी सूर-साहित्य के ही हैं।

भाव-पक्ष के अतिरिक्त कला-पक्ष मे भी सूर-साहित्य ने परवर्ती साहित्य को पर्याप्त प्रभावित किया है। सूर ने स्वय तो नायिका-भेद पर कोई ग्रन्थ नही लिखा, परन्तु उनके साहित्य मे वे सकेत अवश्य आ गये हैं, जो नायिका-भेद की धारा के मूल स्रोत कहे जा सकते हैं। उन्होने 'साहित्य-लहरी' की रचना नन्ददास के लिये की थी, इसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। नन्ददास की 'रस-मञ्जरी' हिन्दी में नायिका-भेद की प्रथम पुस्तक मानी जाती है, जिसकी रचना भानुदत्त की 'सस्कृत-रस-मञ्जरी' के आधार पर हुई थी। आगे चलकर तो रीति-कालीन हिन्दी-कवियो ने सस्कृत-काव्य-शास्त्र के अनुकरण पर अनेक ग्रन्थो की रचना की। कला-पक्ष में चाहे हिन्दी के परवर्ती साहित्य पर सूर-साहित्य का प्रभाव न रहा हो, परन्तु यह तो मानना ही पडेगा कि आज तक जितने भी कृष्ण-काव्य रचे गए हैं, उन पर सूर का प्रभाव अवश्य लक्षित किया जा सकता है।

परिशिष्ट २

सूर-साहित्य और व्रज-संस्कृति

संस्कृति की व्याख्या और उसका सभ्यता से भेद

आजकल 'सस्कृति' और 'सभ्यता' शब्दो का प्रयोग प्राय एक ही अर्थ मे किया जाने लगा है। इसमे सन्देह नही कि सभ्यता और सस्कृति एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। सभ्यता उसका वाह्य रूप है, और सस्कृति आन्तरिक। यह इन दोनो शब्दो की व्युत्पत्ति से ही स्पष्ट हो जाता है। सभ्यता शब्द का सम्बन्ध सभा से है। पाणिनि के अनुसार सभा में साधु आचरण करने वाले को सभ्य कहा जाता है।[1] सभ्य से ही भाव-वाचक सज्ञा सभ्यता का जन्म हुआ। सस्कृति का अर्थ है—सम्यक् करने का भाव अथवा क्रिया। अत स्पष्ट है कि सभ्यता का क्षेत्र सकीर्ण है, और सस्कृति का व्यापक। सभा मे ठीक ढंग से उठने-बैठने, बात-चीत और व्यवहार करने मात्र से ही किसी को सभ्य कहा जा सकता है, किन्तु सस्कृत बनने के लिए इतना ही काफी नही हैं। सस्कृति न केवल सभा में, अपितु सर्वत्र ही साधु आचरण की गारण्टी देती है। किसी विशिष्ट समाज द्वारा दीर्घ सामाजिक अनुभवो के आधार पर साधु आचरण के जो मापदण्ड स्थिर कर दिए जाते हैं, वे जब सूक्ष्म भावनात्मक रूप में परिणत होकर समाज के दैनिक जीवन मे अनायास ही व्यवहृत होने लगते हैं, तो सस्कृति का नाम पाते हैं। सभ्यता सस्कृति के वस्त्र का कार्य करती है, इसीलिए उसकी नकल आसानी से की जा सकती है, परन्तु सस्कृति की नही। सच तो यह है कि आधुनिक युग में बनावट का ही दूसरा नाम सभ्यता हो गया है। इसलिए सभ्यता का आवरण जितना सघन होता जाता है, सस्कृति उतनी ही अलक्ष्य होती जाती है। यही कारण है कि भारतीय सस्कृति का अधिक स्पष्ट स्वरूप नई रोशनी से जगमगाते हुए शहरो मे नही, चाँद सूरज के नैसर्गिक प्रकाश से प्रकाशित ग्रामो में दीख पडता है। विद्युद्दव्य जनो के वायुमण्डल मे नही—जगल में अमराइयो, खलिहानो, देवालयो और पीरो के मजारो के स्वस्थ वातावरण में भारतीय सस्कृति के श्वासो की आहट सुन पडेगी। भुमिया के मठ, शिव के मन्दिर और जहारपीर के मजार के निकट से गुजरता हुआ ग्रामीण भारतीय हाथ जोड कर अपनी श्रद्धा प्रकट करना नही भूलेगा। खलिहान में रास (अन्न-राशि) उठाने से पहले किसान पुजारी जी के भाग को मन्दिर पर पहुँचा देगा। जन्म-मरण, विवाह-शादी और इसी प्रकार के अन्य अवसरो पर जिन नेग-जोग और टेहलो का परम्परागत विधान चला आया है, वे हिन्दू-सस्कृति की सुन्दर झाँकी प्रस्तुत करते हैं। इनको व्यवहार में लाने वाले लोग चाहे पढे-लिखे न हो, तकल्लुफ, नजाकत और नफासत की शिष्ट भाषा से परिचित न हो, उनके तन पर सूट-बूट और नैकटाई के स्थान पर चाहे हाथ के कते-बुने गाढे के मलिन फटे हुए ही वस्त्र क्यो न हो; और एक शब्द

---

१ "तत्र साधु" के अधिकार मे 'सभाया य' सभा शब्द से य प्रत्यय करता है।

में, आधुनिक शिष्ट-जन की दृष्टि में चाहे वे असम्भ ही क्यो न सही, सस्कृति के सच्चे पोषक और उज्जीवक हैं। साराश यह है कि सस्कृति वह सूक्ष्म भावनात्मक तत्त्व है, जो हृदय की प्रेरणा से बाह्य आचारो में प्रस्फुटिक होकर भी सूक्ष्मता के निकट ही अधिक रहता है; और सभ्यता वह तत्त्व है, जो हृदय की अपेक्षा बुद्धि से अधिक सम्बन्ध रखता है। उसकी जड़ें सूक्ष्म की अपेक्षा स्थूल मे अधिक गहरी उतरी हुई होती हैं, अर्थात्—वह भौतिकता की ओर अधिक झुकी होती हैं, इसीलिए सस्कृति की अपेक्षा सभ्यता अधिक परिवर्तनशील भी है।

लोक-जीवन और सस्कृति

जैसा कि कहा जा चुका है, यदि किसी देश की सस्कृति का वास्तविक रूप देखना हो, तो वहाँ के लोक-जीवन को देखना चाहिए। जन-जीवन में प्रचलित रूढ़ियो को 'अन्ध-विश्वास' की फूंक से उडा देना श्रेयस्कर नही। इन्ही रूढियो पर सस्कृति के विशाल प्रासाद का ढाँचा खडा है। उनका सावधान अध्ययन सस्कृति के विकास मे महत्त्व-पूर्ण शृङ्खला जोड सकता है। विविध पर्वों और उत्सवों के अवसर पर विशेष आचारों का पालन आज भले ही रूढ़ि बन कर रह गया हो, किन्तु वह अतीत की किसी गौरवमयी वास्तविकता की ओर सकेत अवश्य करता है। उदाहरणार्थ—'अहोई अष्टमी' और 'करवा चौथ' के पर्वों पर स्त्रियो द्वारा विशिष्ट देवियो की आकृतियाँ गृह-भित्ति पर चित्रित करने की प्रथा उत्तरी भारत में सर्वत्र पाई जाती है। इसका धार्मिक और पौराणिक महत्त्व चाहे कुछ भी हो, किन्तु ललित-कलाओ के प्रति भारतीय अभिरुचि के औत्सुक्य का यह स्पष्ट निदर्शन है। यहाँ चित्रकला का चौंसठ कलाओ में एक विशिष्ट स्थान रहा है, और प्रत्येक किशोरी के लिए इसमें दक्षता प्राप्त करना आवश्यक समझा जाता था। उपर्युक्त प्रथा भारतीय जीवन की इस वास्तविकता का उद्घाटन करती है। इसी प्रकार साँझी रखने की प्रथा मूर्तिकला के प्रति सम्मान की परिचायिका है। नि सन्देह हमारे गाँव किसी समय अत्यन्त स्वस्थ और सस्कृत थे। गाँवो की स्थापत्य-कला, स्त्रियो द्वारा बनाई गई चित्रकला, मूर्ति तथा देवताओ की मूर्तियो से जान पडता है कि यथार्थ सस्कृति हमारे ग्रामीण जीवन में ही थी।

लोक-साहित्य और संस्कृति

यह कहा जाता है कि साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है। शिष्ट साहित्य के विषय में यह उक्ति कुछ अशो में लागू नहीं भी हो सकती, क्योंकि शिष्ट-जीवन कृत्रिम जीवन होता है और सभ्यता के फेर मे वह बहुत-सी बातो पर पर्दा डाल देता है। यह कृत्रिमता इतनी बढ चुकी है कि इसके अभाव के कारण प्राकृतिक जीवन को 'ग्राम्य' कह कर तिरस्कृत किया जाता है। ग्राम्य और गँवार शब्द असभ्य और हेय के पर्यायवाची बन गए हैं। काव्य-शास्त्रियो के फतवे के अनुसार 'ग्राम्यत्व' एक दोष ही मान लिया गया है। वस्तुत. लोक-साहित्य ही जीवन के अधिक निकट पाया जाता है, क्योंकि वह शिष्ट-साहिय की भाँति सधे-बँधे रूप और पूर्व निर्मित साँचे मे न ढाला जाकर वन्य निर्झर के समान स्वतन्त्र गति से चलता है। शिष्ट-साहित्य में भाव, बुद्धि, तर्क, युक्ति—सभी का सस्कृत रूप रहता है। प्राकृतिक सामग्री को कलात्मक रूप देने के लिए शिष्ट कवि कल्पना का गहरा रग चाढ देता है। वह जीवन की वास्तविकताओ की चोटी पकडता है, जबकि लोक-साहित्य उनके मौलिक स्वरूप को अभिव्यक्त करता है। इसलिए लोक-साहित्य में चाहे कलात्मक सौन्दर्य का अभाव दीख पडे, किन्तु सत्य और शिव का सच्चा स्वरूप उसके प्रकृत सौन्दर्य का

हृदयहारी स्वरूप प्रस्तुत करता है। नरसी का चरित, जहारपीर के झूलने, ढोलामारू का कथानक तथा भर्तृहरि और गोपीचन्द के गीत महाकाव्य के लक्षणो से कोसो दूर भले ही पडते हो, किन्तु सम-सामयिक जीवन के विविध पक्षो का चित्रण करने मे उनसे बहुत आगे दिखाई देते हैं। तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक विचार धाराओ का जैसा सङ्गम इनमें प्रस्तुत हुआ है, वैसा आधुनिक महाकाव्यो में कहां ? इसी प्रकार डुकरिया पुराण का कहानी-साहित्य और गीत-साहित्य भी बडा ही समृद्ध है—आकार की दृष्टि से ही नहीं, अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी। उदाहरण के लिए विवाह के अवसर पर आंधी-पानी को बांधने वाले गीत भारतीय जीवन पर तान्त्रिक प्रभाव के सूचक हैं। रोग दूर करने के लिए झाड-फूंक और टोने का प्रचलन भी इसी की ओर सकेत करता है।

भारतीय संस्कृति मे व्रज का महत्त्व

सस्कृति वास्तव मे एक व्यापक और गतिमान् वस्तु है, जिसे किसी प्रकार की परिभाषा अथवा सीमा मे नही बांधा जा सकता। अनादिकाल से मानव-सस्कृति में विकास होता रहा है। इसलिए सस्कृति से उस स्थिति का बोध होता है, जो समाज के विकास-क्रम की निर्देशिका है, यह एक प्रकार से प्रकृति-सिद्ध है। मानव की सम्पूर्ण जीवन शक्तियो और प्रगतिशील साधनाओ का सामूहिक रूप सस्कृति कहलाता है। इसलिए किसी देश या क्षेत्र विशेष की सस्कृति उस महान् सस्कृति का एक अग ही ठहरती है। प्रत्येक देश प्रत्येक काल मे अपनी-अपनी परिस्थितियो और साधनो के अनुसार इस व्यापक सस्कृति मे योगदान देता रहा है, और देता रहेगा। दैशिक या प्रादेशिक सस्कृतियाँ अगभूत हो सकती हैं। हां, योग-दान की मात्रा में अन्तर अवश्य होता है। जब हम भारतीय सस्कृति का नाम लेते हैं, उस समय इस सस्कृति के उन व्यापक तत्त्वो और मानव के विकास-क्रम मे योग देने वाले शाश्वत सिद्धान्तो की ओर हमारा ध्यान जाता है, जो व्यापक सस्कृति के वृक्ष को पल्लवित एव पुष्पित करने मे सहायक रहे हैं। इस प्रकार सस्कृति समाज की उपज है, जिसमे मानव-समाज के लौकिक, पारलौकिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा सामाजिक अभ्युदय के उपयुक्त मन, बुद्धि, अहकार आदि की चेष्टाएँ और सस्कार सम्मिलित हैं। जीवन का कोई अग इससे अछूता नही है। साहित्य, सगीत, कला, दर्शन, धर्म, विज्ञान आदि सभी तक सस्कृति का विस्तार है। सस्कृति की इस व्यापक परिभाषा में सस्कृति और सभ्यता दोनो का समावेश हो जाता है। हम पहले कह आये हैं कि सस्कृति का साक्षात् सम्बन्ध आत्मा के अभ्युत्थान से है, और सभ्यता का शरीर की साज-सज्जा और मनो-विकारो से, पर सामाजिक जीवन मे दोनो अन्योन्याश्रित हैं। अन्तर केवल पारिभाषिक है, क्योकि दोनो ही मानव-विकास से सम्बन्ध रखती हैं। एक का क्षेत्र मानसिक एव पारमार्थिक विकास है, तो दूसरी का पार्थिव।

भारतीय सस्कृति के अध्येताओ ने उसे कई कालो में विभाजित किया है, परन्तु वह विभाजन हमारी दृष्टि से काल्पनिक ही है। सस्कृति स्वय अविभाज्य है। उसके उदय, विकास और अभ्युदय का कोई निश्चित काल नहीं है। फिर भी विषय-विवेचन के सौन्दर्य के लिए भारतीय सस्कृति को विभिन्न कालो में विभाजित किया जा सकता है। सामूहिक रूप से भारतीय सस्कृति की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं, जो सर्वकालावच्छिन्न कही जा सकती हैं। भारतीय सस्कृति की प्राचीनता में अब किसी को सन्देह नही है। साथ ही साथ उसकी

समन्वय-भावना, विकास-शीलता, सर्वाङ्गीणता और उदारता भी उसके सर्वमान्य गुण हैं। अध्यात्मपरता भारतीय सस्कृति का मूल तत्त्व है। यह अध्यात्मपरता और समन्वय की भावना भारतीय सस्कृति के ऐसे गुण हैं, जिनकी अभिव्यक्ति समाज के प्रत्येक क्षेत्र मे हुई है। सम्पूर्ण वाङ्मय, कला और साहित्य, शासन और समाज, लोक और परलोक, इन दोनो तत्त्वो से ओत-प्रोत हैं। दूसरे देशो की सस्कृतियो को आत्मसात् अथवा समन्वित करने की अपूर्व शक्ति भारतीय सस्कृति में है। यह शक्ति ही वास्तव में भारतीय सस्कृति की जीवनदायिनी अमोघ शक्ति है।

भारतीय सस्कृति की कुछ देशगत विशेषताएँ भी रही हैं, और कुछ क्षेत्रीय विशेषतएँ भी। सामूहिक रूप से भारतीय सस्कृति आर्य सस्कृति के नाम से अभिहित होती रही है। आधुनिक इतिहासकारो ने आर्येतर सस्कृति के तत्त्वो की भी खोज की है और यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही कई सस्कृतियो का सङ्गम रहा है। आधुनिक आलोचकों ने सस्कृति को और भी कई रूपों में बाँटा है, जैसे—राष्ट्रीय सस्कृति, प्रादेशिक सस्कृति, क्षेत्रीय सस्कृति, ग्रामीण सस्कृति, नागरिक सस्कृति; आदि। भारतीय सस्कृति के सम्बन्ध में जब हम व्रज सस्कृति का नाम लेते हैं, तो हमे एक क्षेत्रीय सस्कृति का बोध होता है; अर्थात्—उस क्षेत्र के विभिन्न सस्कार, रीति-रिवाज, वेष-भूषा, परम्पराएँ, कर्म-काण्ड पर्व, उत्सव और खान-पान आदि कैसे रहे हैं, तथा मानव के विकास मे इन सब का क्या योगदान रहा है।

व्रज शब्द भारतीय वाङ्मय में बड़ा पुराना है, पर इसका प्रयोग क्षेत्र अथवा प्रदेश विशेष के लिए अपेक्षाकृत बाद मे हुआ है। ऋग्वेद में व्रज शब्द का प्रयोग 'गोष्ठ' अथवा 'गोशाला' के अर्थ में हुआ है। महाभारत में भी इसका प्रयोग देश अर्थ में न होकर, बडे-बडे सीगो वाली गायो के निवास-स्थान के अर्थ में हुआ है। पुराणों मे अवश्य ही यह शब्द देश-वाचक मिलता है। हरिवश-पुराण, वायु-पुराण, श्रीमद्भागवत-पुराण, वाराह-पुराण, पद्म-पुराण आदि में व्रज की चर्चा है। व्रज की सीमा के सम्बन्ध में भी कुछ मत-भेद के साथ पुराणो में उल्लेख हुआ है। सम्भवत प्रदेश के अर्थ मे व्रज का प्रयोग १३ वी शताब्दी के पश्चात् ही हुआ, और उसी समय यहाँ की भाषा का नाम भी 'व्रज-भाषा' हुआ। श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी ने बडे सुन्दर ढंग से व्रज का इतिहास प्रस्तुत किया है,[१] जिससे व्रज के महत्त्व पर अच्छा प्रकाश पडता है।

भारतीय इतिहास में व्रज के पुनीत क्षेत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस क्षेत्र में विकसित सस्कृति की छाप समूचे उत्तर भारत का सस्कृति पर आज भी देखी जा सकती है। सास्कृतिक और राजनीतिक—दोनों ही दृष्टियो से इसका अमिट प्रभाव पडा। प्राचीन काल में यह भू-भाग शूरसेन जनपद के नाम से प्रसिद्ध, और भारत के जनपदो में विशेष रूप से समादृत था। जिसका राजनीतिक प्रभाव से भी अधिक महत्त्वपूर्ण प्रभाव भाषा, धर्म और कला के क्षेत्र में पडा; और यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ये तीनों ही वस्तुएँ सस्कृति के आधारभूत तत्त्व माने जातेहैं।

---

१ व्रज का इतिहास, श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी, प्रकाशक —व्रज-साहित्य-मण्डल, मथुरा।

इस प्रदेश की भाषा किसी समय शौरसेनी के नाम से सकेतित होती थी। शौरसेनी प्राकृत को सस्कृत साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, और यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि अन्य प्राकृतो की अपेक्षा इसमें माधुर्य-गुण की अधिकता थी। यही कारण है कि कुछ ऐतिहासिक कारणो और साहित्यिक परम्पराओ के प्रभाव से कविता की भाषा के रूप में महाराष्ट्री के प्रतिष्ठित हो जाने पर भी उच्च वर्ग के स्त्री पात्रो की भाषा के रूप मे शौरसेनी ही सस्कृत नाटककारो को अधिक आकृष्ट कर सकी। इसी से उद्भूत व्रज-भाषा का साहित्य के क्षेत्र मे शताब्दियों तक अटल साम्राज्य रहा और आधुनिक हिन्दी के ढाँचे में भी बहुत कुछ शौरसेनी की ही सामग्री लगी हुई है। आज भी यदि व्रज-भाषा के साहित्य को अलग करके देखा जाये, तो हिन्दी साहित्य पूर्णतया निःश्रीक दीख पडेगा। पिछली शताब्दियो मे रचित वैष्णव साहित्य पर—चाहे वह बँगला मे लिखा गया हो या गुजराती में—व्रज-भाषा के वैष्णव साहित्य का पर्याप्त प्रभाव है। धर्म के क्षेत्र मे भी इस जनपद की प्रगति अद्वितीय रही। भारत के प्रमुख धर्म—वैष्णव-धर्म का आविर्भाव इसी जनपद के मूल धार्मिक तत्त्वों के आधार पर हुआ और उसके विकास मे भी इसका योग सबसे अधिक है। किन्तु हमारी दृष्टि से इस जनपद की इससे भी कही अधिक गौरवशाली देन है—समन्वयात्मक दृष्टिकोण। वासुदेव कृष्ण को विष्णु का अवतार मानकर अन्य देवी-देवताओ में भी उन्ही के अश की कल्पना कर सभी के साथ उनका तादात्म्य स्थापित किया गया। प्राचीन काल मे यक्ष, नाग और मातृ-देवो की पूजा शूरसेन जनपद में प्रचलित थी। इनको भी विष्णु की सी विभूति स्वीकार कर मान्यता प्रदान की गई। गिरिमह, इन्द्रमह और नदीमह नामक प्राचीन उत्सवो को गोवर्धन-पूजा, इन्द्र-पूजा और यमुना-पूजा के रूप में अङ्गीकार किया गया, जिनका सूरसागर में स्पष्ट वर्णन हुआ है। हिन्दू, बौद्ध और जैन धर्म यहाँ शताब्दियो तक साथ-साथ फलते-फूलते रहे और यहाँ की सस्कृति को कुछ ने कुछ तत्त्व प्रदान करते रहे। इन तीनों ही धर्मो ने कला के विकास में भी महत्त्वपूर्ण योग दिया। मथुरा में प्राप्त मूर्तियाँ इस बात की साक्षी हैं कि उदात्त धार्मिक भावना और मानवीय सौन्दर्य में पूर्ण समन्वय एतत्प्रदेशीय शिल्पियो का मौलिक लक्ष्य रहा। यही नही, विदेशी आक्रान्ताओ के अभियान भी प्राय मथुरा तक होते थे और मध्य-देश के इस द्वार पर अधिकार करके वे अपनी स्थिति सुदृढ़ समझते थे। उनके सम्पर्क के कारण यूनानी और ईरानी आदि कलाओ का प्रभाव भी यहाँ की कला पर पडा। पह्लवों और शकों ने भी इसमें महत्त्वपूर्ण योग दिया।

व्रजक्षेत्र के इस सांस्कृतिक विकास मे वहाँ के जीवन-साधनो की सुगमता का भी योग कुछ कम नही था। यहाँ की भूमि सोना उगलती थी और गोपालन इतने उच्च स्तर पर पहुँच चुका था कि—'घी-दूध की नदियाँ बहती थी।' वाणिज्य की दृष्टि से भी मथुरा एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। जहाँ कौशाम्बी, साकेत और पाटलिपुत्र से आने वाले सार्थवाह कपिशा, तक्षशिला और शाकल से आने वाले सार्थवाहों के साथ अपने पण्यो का विनिमय करते थे। इन सब साधनो से सम्पन्न प्रदेश में आध्यात्मिक चिन्तन के साथ-साथ सासारिक आमोद-प्रमोद और हास-उल्लास की अभिव्यक्ति के स्रोतो का स्फुटन भी स्वाभाविक ही था। यही कारण है कि सामूहिक रास-नृत्य, वशी-वादन और नारायण-गीतो की परम्परा

यहाँ अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही थी—जिसका प्रभाव आज भी ब्रज के जन-जीवन पर स्पष्टतया लक्षित होता है। मध्य-काल मे इस परम्परा की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई। सूरदास के अमर पद नारायण-गीतो की ही परम्परा में आते हैं, जिनमें वशी-वादन और मण्डलीकृत रास-नृत्य की परम्पराएँ भी पूर्णतया प्रतिबिम्बित हुई हैं।

पुष्टि-सम्प्रदाय का पूर्ण विकास ब्रज-क्षेत्र में हुआ। यह बात आनुषङ्गिक थी कि इस सम्प्रदाय के पल्लवित और पुष्पित होने लिए वह क्षेत्र मिला जो इस सम्प्रदाय के उपास्य की जन्म-भूमि और लीला-भूमि भी थी। पर इस सम्बन्ध में यह बात नही भुलाई जा सकती कि इस क्षेत्र की परम्पराएँ और वातावरण सोलहों आने इस सम्प्रदाय की आचरण-पद्धति से मेल खाने वाली थीं। साथ ही साथ यह भी एक दैविक घटना थी कि सम्प्रदाय के प्रचार और प्रसार का कार्य ऐसे भावुक भक्तों के द्वारा सम्पन्न हुआ, जो प्राय इसी क्षेत्र के रहने वाले थे और यहाँ की प्राचीन परम्पराओ से परिचित थे। सास्कृतिक दृष्टि से चाहे जितने परिवर्तन इस क्षेत्र मे हुए हैं, किन्तु परम्पराओं की दृष्टि से यह क्षेत्र एक सीमा तक अक्षुण्ण ही बना हुआ था। शैव-धर्म और बौद्ध-धर्म भी अपने-अपने ढग से इन्हीं परम्पराओ को लेकर प्रस्तुत हुए थे। अष्ट-छाप के कवि सामाजिक होते हुए भी सामाजिकता से दूर रहे। राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियाँ उन्हें बहुत अधिक प्रभावित न कर सकीं। उनका ब्रज-लोक लौकिक होते हुए भी अलौकिक था, और आमुष्मिक होते हुए भी पारलौलिक था। भौतिक जीवन में ही उन्हे आध्यात्मिक जीवन का सबल था। ब्रज की सस्कृति का चित्रण जिस सहज भाव से उन्होंने किया है, उसमें स्वाभाविकता है और अतिशयोक्ति भी यथार्थ पर आधृत है। भारतीय वाङ्मय में जो अब तक कृष्ण चरित गाया गया था, वह प्राय परम्पराओ मे अथवा रूढ़ियों से बँधा हुआ था। कृष्ण की जन्म-भूमि में, उनकी केलि-स्थली में, आज तक कृष्ण-चरित का इतना व्यापक चित्रण नही हुआ था। जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास—तीनों ने ही ब्रज से दूर रहकर कृष्ण-चरितामृत का स्रोत बहाया था, पर अष्ट-छाप के कवियो को ब्रज-भूमि की पावन रज से अपने मन-मुकुर को पवित्र और शुद्ध करने का अवसर मिला था। सम्प्रदाय मे दीक्षित होने के कारण कुछ धार्मिक भावनाओं और परम्पराओं का समावेश अवश्य उनके काव्य में हो गया है, पर प्रधानता ब्रज की परम्पराओ की ही रही है। इतना अवश्य है कि साम्प्रदायिक भावनाओं ने इन कवियों के वर्णनो को कलात्मक रूप देने में सहायता की है। पुष्टि-सम्प्रदाय में सेवा-भावना का बडा महत्त्व है। इसका विस्तार से वर्णन हम पुष्टि-सम्प्रदाय वाले अध्याय में कर चुके हैं। अष्ट-छाप के सभी कवियों की भक्ति का स्वरूप आत्म-निवेदन है, और उनकी जीवन-चर्चा ही भक्ति के विविध अगों का क्रियात्मक रूप है। ब्रज-लोक उनके लिए नित्य-लोक है। भगवान् कृष्ण की सब लीलाएँ भी उनके लिये नित्य हैं। इस गोलोक मे यमुना, वृन्दावन, निकुञ्ज इत्यादि नित्य रूप में ही विराजते हैं। भगवान् की नित्य लीला-सृष्टि मे प्रवेश करना ही इन भक्तों का साध्य रहा है। इस अनित्य में नित्य को, और लौकिक में अलौकिक की कल्पना इन कवियो ने इतने स्वाभाविक ढँग से की है कि वह कल्पना—कल्पना-सी प्रतीत न होकर सत्य ही प्रतीत होती है। इस कल्पना में भौतिक दृष्टि से तो सभी कुछ लौकिक और ऐहिक है, किन्तु भक्त की दृष्टि में वह सब कुछ व्यापी वैकुण्ठ से सम्बन्ध रखने वाला है। इसलिये प्रवाही जीवो को उनकी कल्पना में कुछ अतिशयोक्ति दीखना स्वाभाविक

ही है। हमारा उद्देश्य यहाँ इस विवाद को उठाकर नीर-क्षीर-विवेक नही है। हम तो केवल यह देखना चाहते हैं कि सूरदास ने जिन आधारो पर कल्पना के इस सुन्दर प्रासाद का निर्माण किया था, वे आधार कौन-से हैं।

सूरदास जी श्रीनाथ जी के मन्दिर मे ठाकुर जी के नित्य और नैमित्तिक उत्सवो, भोगो तथा शृङ्गारो का कीर्त्तन स्वनिर्मित पदो द्वारा किया करते थे। इस गायन-पद्धति मे अनेक राग-रागनियो तथा ताल-स्वर का समावेश था। भगवान् कृष्ण के सभी उत्सव, भोग तथा शृङ्गार व्रज-भूमि में हुए। इसलिये इन सब के लिये व्रज के ही पदार्थो, व्रज की ही कथाओ और व्रज के ही साधनो का उपयोग हो सकता था। यही कारण है कि सूर-साहित्य में व्रज-भूमि के अनेक सस्कारो, प्रथाओ, व्यञ्जनो, वेष-भूषा, विश्वास, पर्व, उत्सव आदिको का समावेश अपने आप हो गया। यहाँ हमें यह बात नही भूल जानी चाहिये कि पुष्टि-सम्प्रदाय का मूल आधार श्रीमद्भागवत रहा है। श्रीमद्भागवत के रचना-काल तथा रचना-स्थल के सम्बन्ध में अभी तक कोई निर्विवाद निर्णय नहीं हुआ है, पर उसके अन्त साक्ष्य के आधार पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि इसका रचना-स्थल दक्षिण भारत में कोई स्थान रहा होगा। इसके वर्णन दक्षिण भारत के नैसर्गिक रूप से ही अधिक मेल खाते हैं। उत्तर भारत का वर्णन प्रत्यक्ष-दर्शन की अपेक्षा श्रुत और परम्परागत ज्ञात होता है। इसमें व्रज का जो वर्णन है, वह भी श्रुति एव परम्परा से ही आया हुआ प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए दशम-स्कन्ध के इन श्लोको को ही ले लीजिए—

वनौकस॰ प्रमुदिता वनराजीर्मधुच्युत ।
जलधारा गिरेर्नादानासन्ना ददृशे गुहा. ।
क्वचिद्वनस्पति क्रोडे गुहायां चाभिवर्षति
निर्विश्य भगवान् रेमे कन्दमूलफलाशन ॥ श्रीमद्भागवत ॥ १०।२०।२७-२८

भील, किरात आदि जातियो का निवास-स्थान तथा गिरि, कन्दराओ आदि का बाहुल्य व्रज-भूमि की अपेक्षा दक्षिण भारत मे ही अधिक है। पुष्पो के वर्णन से भी ऐसा ही प्रतीत होता है, जैसे—

कच्चित्कुरवकाशोकनागपुन्नागचम्पका ।
रामानुजो मानिनीनामितो दर्पहर स्मृत ॥
मालत्यादर्शि व॰ कच्चिन्मल्लिके जातियूथिके ।
प्रीति वो जनयन् यातः करस्पर्शेण माधव ॥

इसी प्रकार भागवत में जिन सास्कृतिक परम्पराओ का वर्णन हुआ है, वे दक्षिण भारत की परम्पराओ से ही अधिक मेल खाती हैं। इसलिए पुष्टि-सम्प्रदाय के कवियो के काव्य में अनजाने ही इन वर्णनो और परम्पराओ का पुट आ गया है, परन्तु यह पुट इतना सूक्ष्म और अल्प-मात्रा मे है कि व्रज की सास्कृतिक परम्पराएँ उनके साहित्य में स्पष्ट रूप से झलकती हैं। सूर-साहित्य में व्रज की सास्कृतिक परम्पराओ की शृङ्खला जोडते समय हमें इस बात का भी

दीपावली

सूरदास जी ने दीपावली का उल्लेख केवल एक ही स्थान पर किया है। इस दिन सर्वत्र दीप जलाये जाते थे। समस्त ग्रामवासी ग्राम-मुखिया के यहाँ एकत्र होकर धूम-धाम से उत्सव मनाते थे। चौक आदि पूरे जाते थे तथा उन पर पुष्प, अक्षत, रोली आदि चढाकर पूजा की जाती थी।

आजु दीपति दिव्य दीप मालिका।

× × ×

गज मोतिन के चौक पुराये, विच-बिच लाल प्रवालिका।

× × ×

झलमल दीप समीप सौंज भरि, लेकर कचन थालिका।
नन्दद्वार आनन्द बढ्यो अति, दिखियत पडन रसालिका।[1]
सूरदास कुसुमन नर बरषत, कर सपुट करि मालिका॥

अन्नकूटोत्सव

यह पकवानो का त्योहार होता था, अनेक प्रकार के षट्रस व्यजन आदि 'बनाकर भगवान् को अर्पित कर व्रजवासी खुशियाँ मनाते थे। महत्त्वपूर्ण वार्षिक पर्व के रूप मे इसे बडे उत्साह-पूर्वक मनाया जाता था। इस दिन इन्द्र की पूजा का विशेष विधान था।

हँसत गोप कहि नन्द महर सौं, भली भई यह बात सुनाई।

× × × ×

वरष दिवस को दिवस हमारो, घर-घर नेवज करो चडाई।
अन्नकूट-विधि करत लोग सव, नेम सहित कर-कर पकवान।
महरि बिनै करि जोरि इन्द्र सौं, सूर अमर कर दीजै कान्ह॥[2]

गोवर्धन पूजा

गोवर्धन पूजा के अवसर पर गिरिराज गोवर्धन की आराधना की जाती थी। आराधना के समय घर-घर से पकवान, मिष्टान्न एव दूध-दही आदि आता था। दूर-दूर के ग्रामो से भी गाडियो में भर-भर कर यह सब सामग्री गोवर्धन की तलहटी में एकत्र की जाती थी। सूर ने पूजा-विधि का उल्लेख करते हुए कहा है कि—वेद, पाठो की मधुर ध्वनि के मध्य ग्राम-मुखिया सर्व प्रथम गिरिराज की स्तुति कर उनकी आराधना करता था। वही उसके शिखर पर सर्व प्रथम दूध से भरे कलशो को डालकर गिरिराज को नहलाता था। उस काल में यह पूजा एक सामूहिक पर्व के रूप मे सम्पन्न होती थी।

गोवर्धन पूजहु जाइ।
मधु मेवा, पकवान, मिठाई, व्यजन वहुत वनाइ।[3]

---

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद ८०६, १४२७
२ वही ,, पद ८१६, १४३४
३ वही ,, पद ८२५ ॥ १४४३ ॥

तथा—

व्रज घर-घर अति होत कुलाहल ।
जहँ, तहँ ग्वाल फिरत उमगे सब, अति आनन्द उमाहल ।
दधि, लवनी मधु माट धरत लैं, राम-स्याम सग राजत ।
सहस सकट मिष्टान्न अन्न बहु, नन्द महर घर ही के ।
सूर चले सब लैं घर-घर तैं, सग सुवन नन्द जी के ॥[1]

तथा—

सकट साजि सब ग्वाल चले मिलि, गिरि पूजा कैं काज ।
घर-घर तें मिष्टान्न चले बहु, भाँति-भाँति के बाज ॥[2] —इत्यादि ।

फाग-(होली)

फाग एक ऐसा पर्व है, जिसे समस्त व्रजवासी चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, बच्चा हो या बूढ़ा, सभी उत्साह और आनन्द-पूर्वक मनाते हैं। यह वहाँ का बडा आकर्षक और महत्त्व-पूर्ण त्योहार है। सूर ने अनेक स्थानो पर इसका बडे विस्तार से उल्लेख किया है। उन्होंने अन्य त्योहारो की अपेक्षा फाग-सम्बन्धी पद ही अधिक सख्या में लिखे हैं। सूर-काल में स्त्री-पुरुष सभी बडी स्वच्छन्दता-पूर्वक फाग खेलते थे। दोनो ही एक-दूसरे पर रग, गुलाल, अबीर चन्दन, चोवा, अरगजा इत्यादि डालते थे। समाज के समस्त बन्धन इस अवसर पर ढीले हो जाते थे। ढोल, मृदग, झाँझ, ढप, झालर आदि अनेक वाद्य-यन्त्र लोगो को उत्साहित करने के लिए निरन्तर बजाये जाते थे।

गोकुल सकल गुवालिनी, घर-घर खेलत फाग ।
× × × ×
चोवा, चन्दन, अरगजा, उडत अबीर गुलाल ।
कर-करताल बजावही, छिरकत सब व्रजनारि ॥[3]

तथा—

हरि सग खेलत हैं सब फाग ।
× × × ×
ढप, बाँसुरी, रुज अरु महुअरि, बाजत ताल मृदग ।
अलि आनन्द मनोहर बानी, गावत उठति तरग ॥[4]

तथा—

हो हो हो हो हो हो होरी ।
खेलत आत सुख प्रीति प्रगट भई, उत हरि इतहि राधिका गोरी ।

---

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद ८२६ ॥ १४४४ ॥
२ वही „ पद ८२८ ॥ १४४६ ॥
३ वही „ पद ३४८२
४ वही „ पद ३४७८

द्वार सतिया देति स्यासा, सात सीक बनाइ।
नव किसोरी मुदित ह्वै-ह्वै, गहति जसुदा पाइ।
× × ×
गाइ बच्छ सँवारि ल्याए, भई ग्वारनि भीर।
मुदित मगल सहित लीला, करैं गोपी ग्वाल।
हरद, अच्छत, दूब, दधि लै, तिलक करैं ब्रजबाल।। —इत्यादि।।[1]

नामकरण संस्कार

इस सस्कार को वश परम्परा से चला आता हुआ परिवार का ज्योतिषी ही सम्पन्न कराता था। ज्योतिष के अनुसार आज ही की भाँति नक्षत्र, ग्रह आदि देखकर शिशु का नामकरण किया जाता था—

आदि ज्योतिषी तुम्हरे घर कौ, पुत्र जन्म सुनि आयौ।
लागन सोधि सब जोतिष गनिकै, चाहत तुमहिं सुनायौ।।[2]

अन्न-प्राशन संस्कार

सूर ने अन्न-प्राशन का विस्तृत वर्णन किया है। शिशु के खाने-पीने योग्य हो जाने पर ही यह सस्कार होता था। इस अवसर पर ग्राम-वधुएँ, अपनी श्रद्धानुसार अनेक प्रकार की वस्तुएँ भेंट स्वरूप लाती थीं। शुभ मुहूर्त पर पिता उस शिशु को गोद मे लेकर बैठता था, तथा अपने सम्मुख रखे अनेक प्रकार के व्यजनों मे से कुछ को शिशु के होठो से स्पर्श करा जूठा कराते थे। फिर इस जूठन में से सब लोग प्रसाद ग्रहण करते थे—

आजु कान्ह करिहैं अनप्रासन।
× × ×
कनक थार भरि खीर धरी लै, तापर घृत-मधु नाइ।
नन्द लै-लै हरि मुख जुठरावत, नारि उठी सब गाइ।
षट्‌रस के परकार जहाँ लगि, लै-लै अधर छुवावत।
बिस्वभर जगदीश जगत गुरु, परसत मुख करुवावत।। —इत्यादि।।[3]

बाल्यावस्था के इन सस्कारो के अतिरिक्त वर्षगाँठ, कर्णछेदन, विद्यारम आदि सस्कार भी वैदिक रीति से होते थे। इन सभी सस्कारो में प्राय भोज, नाच-गान आदि का ही बाहुल्य होता था। इन्ही शुभावसरो पर गौ, वस्त्र, धनादि देकर बदले में याचको से आशीर्वाद प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता था।

यज्ञोपवीत संस्कार

यज्ञोपवीत सस्कार कहीं तो विवाह से पूर्व, और कही विवाह के पश्चात् सम्पन्न होता था। इसमे युवक को दड-कमडलु हाथ में लेकर तथा मृगछाला ओढकर और खडाऊँ

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद ६४४
२ वही ,, पद ७०४
३ वही ,, पद ७०६

धारण कर (ब्रह्मचारी का-सा वेष रखकर) भिक्षा मांगनी पडती थी, तथा गायत्री मन्त्र के उच्चारण सहित विविध अलकारो से सज्जित गायो का दान किया जाता था। तत्पश्चात् सस्कार कर सहभोज और ज्योनार आदि का आयोजन किया जाता था।

वसुद्यो कुल व्योहार बिचारि।
हरि-हलधर कौ दियौ जनेऊ, करि षट्रस ज्योनारि।
× × ×
विधि सो धेनु दई बहु विप्रनि, सहति सर्व अलकार।
जदुकुल भयौ परम कौतूहल, जहँ-तहँ गावति नार॥—इत्यादि॥[२]

विवाह संस्कार

विवाह के समय जो-जो कर्म और क्रियाएँ होती थीं, उन सब का नामोल्लेख सूर ने किया है। ककण, बारात, ग्रन्थि-बन्धन आदि किसी को भी सूरदास जी भूले नही हैं। उन्होने सामान्य बातो का भी उल्लेख किया है यथा—लडके की लग्न आना, भाँवरे पड़ना, ज्योनार आदि का होना इत्यादि। वेद-शास्त्रो के अनुसार ही विवाह की समस्त विधियां सम्पन्न होती थी।[3] कुछ पदो से ऐसा भी ज्ञात होता है कि दहेज प्रथा सूर-काल मे भी प्रचलित थी—

दसरथ चले अवध अनदत।
जनकराइ बहु दायज दै करि बार-बार पद बदत॥[४]

अन्त्येष्टि संस्कार

सूर ने मानव के अन्तिम कर्मों को भी अपने काव्य मे स्थान देने से नही छोडा है। दीप-दान, तेरही आदि सभी का उल्लेख किया है—

गुरु वसिष्ठ भरतहिं समुझावा।
× × ×
चन्दन अगर सुगन्ध और घृत, विधि करि चिता बनायौ।
चले बिमान सग गुरु पुरजन, तापर नृप पौढ़ायौ।
भस्म, अन्त तिल अजलि दीन्ही, देव विमान चढायौ।
दिन दस लौं जल कुम्भ-साजि, सुचि दीप दान करवायौ।
जानि एकादस विप्र बुलाये, भोजन बहुत करायौ।
दान्हो दान बहुत नाना विधि, इहि विधि कर्म पुजायौ।[५]

इस भांति सूर-काल मे मानव संस्कारो को पूर्ण किया जाता था।

विविध देवी-देवता

ब्रज-भूमि अति विस्तृत है। यहां आज अनेक देवी-देवताओ की पूजा एव उपासना होती है। सूर-काल मे भी श्री कृष्ण के अतिरिक्त शिव, राम, सूर्य, चन्द्र, पार्वती, शक्ति, इन्द्र,

---

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद ३७११
२ वही ,, पद १६६१ इत्यादि
३ वही ,, पद ४७१
४ वही ,, पद ९६४

आभूषण पहनने का विशेप शौक था। पैरो मे जेहरि, कमर मे करधनी, हाथो में चूडियाँ और कडे, कानो में तर्की और कर्णफूल, नाक में बेसरि और नथ, गले में कठुला, हमेल, कठ श्री, हार आदि, तथा मस्तक पर शीशफूल ही उन दिनो विशेष प्रिय आभूषण थे। ठोडी पर काले या नीले रग का बिन्दु लगा लेना या गुदना गुदवा लेना शृङ्गार का ही एक अग था।

वनी ब्रजनारि सोभा भारि।
पगनि जेहरि, लाल लहँगा, अग, पचरग सारि।
किंकिनी कटि, कनित ककन, कर चुरी झनकार।
हृदय चौकी चमकि बैठी, सुभग मोतिनि हार।
कठ श्री, दुलरी विराजति, चिबुक स्यामल बिन्दु।
सुभग बेसरि ललित नासा, रीझि रहे नद-नद ॥[1]

तथा—

ससि मुख तिलक दियौ मृगमद को, खुभी जराइ जरी है।
नासा तिल-प्रसून बेसरि छबि, मोतिनि माँग भरी है।
× × ×
सकरी कनक रतन मुक्तामय, लटकन चितहि चुरावै।
कबु कठ नाना मनि भूषन, उर मुकता की माल।
कनक किंकिनी-नूपुर कलरव, कूजत बाल मराल ॥[2] —इत्यादि ॥

केश-कलाप

स्त्री-पुरुष दोनों ही सुन्दर से सुन्दर ढग से बालो को आकर्षक बनाने का प्रयत्न करते थे। स्त्रियाँ कभी माँग को मोतियों से, तथा कभी पुष्पो से सज्जित कर लेती थी।

जसुमति राधा कुँवरि सवारति।
माँग पारि वेनी जु सँवारत, गूँथी सुन्दर भाँति ॥[3]

तथा—

राजति राधे अलक भली री।
मुकुता माँग, तिलक, पन्नगि सिरसुत समेत मप लेन चली री ॥[4]

तथा—

बडे-बडे बार जु एँडिनि परसत, स्यामा अपने अचल में लिए।
वेनी गूँथनि फूल सुगंध भरे, डोलत हरि बोलत न सकुच हियें ॥[5]

---

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद २६६१
२ वही ,, पद २६७३
३ वही ,, पद १३२२
४ वही ,, पद २३२१
५ वही ,, पद ३२३५

पुरुष तथा बाल-शृङ्गार

स्त्रियो की ही भाँति पुरुष भी आभूषण-प्रिय थे। वे भी अपने शरीर को विवि आभूषणो से सज्जित करते थे। कटि में मेखला, हाथों में कडे, अँगुलियो में मुद्रिकाएँ आ पहनने का प्रचलन था। उन्हे भी रगीन वस्त्र ही अधिक प्रिय थे। शरीर पर चन्दन म लेप भी किया जाता था, जो सम्भवत शीतलता के लिए होता होगा। सिर पर रग-बिरगी पा बाँधने का भी प्रचलन था।

कटि-तट पीत वसन सुदेस।
× × ×
कनक मनि मेखला राजत, सुभग स्यामल अग ॥[१]

तथा—

कुडल श्रवन कनक मनि भूषित, जटिल लाल अति लोल मीन तन।
चन्दन चित्र-विचित्र अग पर, कुसुम सुवास धरे नदनदन ॥[२]

तथा—

ऐसे सुन्दर साँवरे तैं चित लियौ चुराइ।
पाग ऊपर गोसमावल, रग-रग की बनाइ।
× × ×
कटि तट काछनि राजई, पीताम्बर छवि देत। —इत्यादि ॥[3]

विविध विश्वास

व्रजवासियो का पुनर्जन्म, जादू-टोना, आदि अनेक वातो में विश्वास था। अप दैनिक कार्यों मे वे इन वातो का ध्यान रखते थे।

पुनर्जन्म

व्रजवासियो का विश्वास था कि मनुष्य एक वार मर कर वार-वार जन्म लेता है सूर ने स्थान-स्थान पर इस ओर सकेत किया है। उन्होंने पौराणिक कथाओ का भी आश्र इसकी पुष्टि के लिए लिया है। उनका यह भी विश्वास था कि नवीन जन्म पिछले जन्म के कर्मानुसार ही मिलता है।

हरिहि मिलत काहे कौं घेरी।
× × × ×
पालागौं छाँडहु अव अचल, वार-वार विनती करौं तेरी।
तिरछौ करम भयौ पूरव कौ, प्रीतम भयौ पाइ की वेरी ॥[४]

---

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद १२५१
२ वही ,, पद ३६५४
३ वही ,, पद १६६०
४ वही ,, पद १४२५

तथा—

कस हेतु हरि जनम लियौ।

× × × ×

पूरब तप बहु कियौ कष्ट करि, इनको वहुत रिनी हौं ॥[1]

जादू-टोना तथा जंत्र-मंत्र

ब्रजवासियो में जादू-टोना आदि का भी भारी प्रचलन था। समाज भी में कुछ लोग ऐसे थे, जो जादू-टोना था जन्त्र-मन्त्र आदि का कार्य करते थे। स्त्रियो का तो ऐसी बातों पर इतना प्रगाढ विश्वास था कि वे अपने मरते हुए बच्चो तक को जादू-टोना आदि से ही बचाने का प्रयत्न करती थी।

टोना-टामनि, जन्त्र-मन्त्र करि ध्यावौ-देव दुआरौ री।

सासु-ननद, घर-घर लिए डोलति, याकौ रोग विचारौ री ॥[2]

तथा—

प्रात गई नीकैं उठि घर तैं।

× × × ×

सूर गारुडी गुन करि थाके, मन्त्र न लागत थर तैं ॥[3]

नजर लगना

सूर की व्यापक दृष्टि ने इस विषय को भी नहीं छोडा। माताएँ जैसा कि आज भी प्रचलन है, अपने बच्चो को दूसरो की कुदृष्टि से बचाने के लिए अपने बच्चो के मस्तक पर 'डिठौना' देती थी। कभी-कभी 'बघनखे' का प्रयोग भी करती थी।

जननी बलि जाइ, हालरु हालरौ गोपाल।

कठुला-कठ वज्र केहरि नख, मसि बिन्दुका सुमृग मद भाल ॥[4]

शिशु को नजर से बचाने के लिए सभी सम्भव उपाय कर लिए जाते थे। यदि तब भी किसी की कुदृष्टि लग ही जाती थी, तो उसे राई-लोन द्वारा उतारने का प्रयत्न किया जाता था।

बलि गई बाल रूप मुरारि।

× × × ×

कबहुँ अग भूषन बनावति, राई लौन उतारि ॥[5]

तथा—

जब दधि बेचन जाहिं, मारग रोकि रहे।

× × × ×

दीठि लगावति कान्ह कौ, जरैं-वरैं वे आँखि ॥[6]

---

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद २२२१
२ वही ,, पद ३८६०
३ वही ,, पद १३६२
४ वही ,, पद ७०२
५ वही ,, पद ७३६
६ वही ,, पद २१०६

शकुन-अपशकुन आदि

शकुनो तथा अपशकुनो पर भी लोगो का विश्वास था। छीक आना अथवा विल्ली द्वारा मार्ग काटना, अगो का फडकना, कुत्ते द्वारा कान फटफटाना आदि वातें अपशकुन की प्रतीक मानी जाती थीं।

खेलत चलें नन्दकुमार।

× × × ×

महर पैंठत सदन भीतर, छीक वांईं धार।
सूर नद कहत महरि सों, आजु कहा विचार ॥[1]

तथा—

हाय-हाय करि सखनि पुकारयो।

× × × ×

वांए काग, दाहिने खर-स्वर, व्याकुल घर फिरि आई ॥[2]

तथा—

देखे नद चल घर आवत।
पैंठत पौरि छींक भई वांए, दाहिने धाह सुनावत।
फटकत स्रवन स्वान द्वारे पर, गररी करत लराई।
माथे पर ह्वै काग उडान्यौ, कुसुगुन वहुतक पाई ॥[3]

तथा—

भुज फरकत अँगिया तरकति, कोउ मीठी वात सुनावै।
स्याम सुन्दर को आगम जानिय, वै निस्चय घर आवै।
इमि सगुननि को यहै भरोसो, नैननि दरस दिखावै।[4]

पर्दा प्रथा

सूर ने अनेक स्थानो पर घूँघट, लाज, और सकोच आदि की चर्चा की है। इसका कारण यही था कि वे मुसलमानी युग में उत्पन्न हुए थे। वैसे इन्होंने कही भी पर्दा-प्रथा का खडन करने का प्रयत्न नही किया है।

मोहनि कर तैं दोहनि लीन्ही, गोपद वछरा जोरे।

× × × ×

दै घूँघट-पट ओट नील हँसि, कुँवरि मुदित मुख मोरे।
मनहु सदय-ससि को मिलि दामिन, घेर लियो घन घोरे ॥[5]

तथा—

स्यामा कनक-लकुट कर लीन्हे, पीताम्वर उर धारै।
उत गिरिवर नालाम्वर-मारी, घूँघट-ओट निहारै ॥[6]

---

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद ११४२
२ वही ,, पद ११५८
३ वही ,, पद ११५६
४ वही ,, पद ४०७२
५ वही ,, पद १२५०
६ वही ,, पद २७७०

नारी का स्थान

सूरदास जी ने तत्कालीन समाज मे नारी का स्थान भी वता दिया है। समाज मे; विशेपत ग्रामीण समाज मे, स्त्रियाँ स्वच्छन्द रूप से विचरण करती थीं। वही विशेप रूप से दूध-दही ग्रादि वेचने नगरों में जाया करती थी। सम्भवत पुरुष-वर्ग यह कार्य न करता हो।

उभ्क्त स्याम कौन तू गोरी।

× × × ×

तुम्हरौ कहा चोरि हम लैहैं, खेलन चलौ सग मिलि जोरी ॥[1]

तथा—

निसि काहैं वन कौं उठि धाई।
हँसि-हँसि स्याम कहत हैं सुन्दरि, कौ तुम ब्रज मारगहिं भुलाई।
गई रह्यौ दधि बेचन मथुरा, तहाँ ग्राजु ग्रवसेर लगाई ॥[2]

तथा—

निकसि कुवर खेलन चले रग होरी।
गए वृषभानु की पौरि लाल रग होरी।
ते सब ग्राई दौरि लाल रग होरी।—इत्यदि ॥[3]

विविध वाद्य एवं नृत्य-गान ग्रादि

विवाह, जन्म, रास, पर्व, त्योहार, उत्सव ग्रादि पर ग्रथवा ग्रन्य मगल के ग्रवसरो पर प्रसन्नता प्रकट करने के लिए ब्रजवासी विविध प्रकार के वाद्य-यन्त्र वजाते थे। उस समय जिन थोडे से वाद्य-यन्त्रों का विशेप प्रचलन था, उन्ही की सूरदास जी ने ग्रनेक स्थानों पर पुनरावृत्ति की है।

ताल मृदग, झाँझ इद्रिनि मिलि, वीना, वेनु बजायौ।
मन मेरै नट के नायक ज्यौं, तिनही नाच नचायौ ॥[4]

नृत्य, गान ग्रौर वाद्य-वादन का चोली-दामन का-सा साथ रहा है। एक के बिना दूसरा ग्रधूरा माना जाता है। सूरदास जी सगीत विद्या के भी ग्राचार्य थे। उनके प्रत्येक पद में उनके सगीतज्ञ होने की झलक झलकती है। ग्रनेक ताल, लय, स्वर ग्रादि का उनके पदो मे समावेश है। नृत्य के समय ध्वनि करने के लिए कमर मे किंकिणी तथा चरणों मे नूपुर वाँध लिए जाते थे, जिसमें नृत्य की ताल ग्रौर लय ठीक बनी रहे।

नृत्यत स्याम नाना रग।

× × ×

---

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद १२६१
२ वही ,, पद १६२६
३ वही ,, पद ३४८४
४ वही ,, पद २०५

चलत गति करि कुनित किंकिनि, घूघरु झनकार।
मनो हंस रसाल वानी, अरस-परस विहार।[1]

तथा—

राग रागिनी प्रगटं दिखायो, गायो जो जिहिं रूप।
सप्त सुरनि के भेद बतावति, नागरि रूप अनूप।। —इत्यादि।।[2]

पाक विज्ञान

सूर ने व्रज मे प्रचलित विविध प्रकार के खाद्य पदार्थों का नामोल्लेख मात्र किया है। विभिन्न सस्कारो तथा अन्य अवसरो पर अनेक प्रकार के व्यजन एव खाद्य पदार्थ बनते थे। प्रतिदिन के भोजन मे भी दूध तथा दूध से बने पदार्थों का ही आधिक्य होता था। मीठी, खट्टी, चरपरी, नमकीन आदि सभी रसो के व्यजनो से लोग भली-भाँति परिचित थे।

कान्हर बलि आरि न कीजै, जोइ-जोइ भावै सोइ लीजै।
खोवामय मधुर मिठाई, सो देखत अति रुचि उपजाई।
सुठि सरस जलेबी बोरी, जिहिं जेंवत रुचि नहिं थोरी।
अरु खुरमा सरस सँवारे, ते परसि धरे है न्यारे।
सक्करपारे सद पागे, तें जेंवत परम सभागे।
सेव, लाड़ू रुचिर सँवारे, जे मुख मेलत सुकमारे।
सुठि मोती लाड़ू मीठे, वे खात न कबहूँ उबीठे।
गूझा बहु पूरन पूजे, भरि-भरि कपूर रस चूरे।

× + ×

मृदु मालपूआ मधु साने; जो तुरत लपत करि आने।
घेवर अति घिरत चभोरे, लै खांड सरस रस बोरे।
मधुरी अति सरस खजूरी, सद परसि धरी घृत पूरी।
षटरस परकार मँगाए, जे बरनि जसोदा गाए।। —इत्यादि।।[3]

तथा—

खार-खांड, खीचरी सँवारी, मधुर महेरी गोपनि प्यारी।
राइ भोग लियो भात पसाई, मूँग ढरहरी हींग लगाई।
पापर, बरी, अचार, परम रुचि, अदरक अरु निबुअनि ह्वै है रुचि।
सरन करितरि सरस तोरई, सेम, सीगरी छौंकि झोरई।।[4]

मनोरंजन के साधन

सूरदास जी के समय मे मनोरजन के लिए जल-क्रीडा, रास, खेल, हिंडोले, आखेट,

---

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद १६७४
२ वही ,, पद १७६२
३ वही ,, पद ८०१
४ वही ,, पद १८३१

चौपड, चौगान आदि का प्रयोग होता था। चौपड का नाम अनेक स्थानो पर आया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि चौपड जन-साधारण में प्रचलित थी—

चौपरि जगत मडे जुग बीते।
गुन पाँसे क्रम अक चार गति, सारि न कबहूँ जीजै ॥[1]

तथा—

खेलन जाहु वाल सब टेरत।
× × ×
ले चौगान-बटा अपने कर, प्रभु आये घर बाहर।
सूर-स्याम पूछत सब ग्वालिनि, लेलौगे किहो ठाहर ॥[2]

तथा—

बहुरि रच्यो सुख रास कियो।
भुज-भुज जोरि जुरो ब्रजबाला, वैसेई रस उमँगि हियो ॥[3]

ब्राह्मण, ऋषि, मुनि आदि

ब्रज-समाज में ब्राह्मण, ऋषि, मुनि आदि का बडा सम्मान तथा आदर होता था। यहाँ तक कि राजा और बडे-बडे सरदार भी उन्हे देखकर सिंहासन छोड उठ खडे होते थे। वास्तव में ये लोग अपनी विद्वत्ता एव योग्यता के कारण ही इतने सम्मानित होते थे। सूर ने स्थान-स्थान पर साधु-सतो के सत्सग की महिमा गाई है। उनके आगमन मात्र से ही वहाँ करोडो तीर्थों की उत्पत्ति हो जाती है—

जादिन सत पाहुने आवत।
तीरथ कोटि सनान करै फल, जैसो दरसन पावत।
नयो नेह दिन-दिन अति उनकै, चरन कमल चित लावत।
सूरदास सगति करि तिनकी, जे हरि सुरति करावत ॥[4]

आतिथ्य सत्कार, शिष्टाचार एवं अभिवादन

उस समय ब्रज मे अतिथि-सत्कार की विभिन्न प्रथाएँ प्रचलित थी। सूरदास जी ने अपनी रचनाओं में विभिन्न प्रकार के, और विभिन्न श्रेणी के व्यक्तियों के लिए विभिन्न प्रकार से सत्कार एव स्वागत की व्यवस्था की है।

महाराज दसरथ तहँ आए।
बैठे जाइ जनक मन्दिर मँह, मोतिनि चौक पुराए।
विप्र लगे धुनि वेद उचारन, जुवतिनि मगल गाए ॥[5]

---

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद ६०
२ वही ,, पद ८६१
३ वही ,, पद १७५०
४ वही ,, पद ३६०
२ वही ,, पद ४६८

तथा—

पहुँचौ आइ नन्द के द्वारे, जसुमति देखि अनन्द बढायौ।

पांइ धोइ भीतर बैठायौ, भोजन को निज भवन लिवायौ ॥[1]

तथा—

पाटम्बर पाँवडे बिछाए, महलनि वदनवार बँधाए।

महर लिवाइ गए निज मन्दिर, हरषित लियो उतारी।

अरघ देत भीतर तिहि लीन्हौं, धनि-धनि दिन कहि आज ॥ इत्यादि ॥[2]

सूर-साहित्य मे वर्णित व्रज-सस्कृति का यह दिग्दर्शन-मात्र है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सूर के वर्णनो मे कई तत्त्वो का समावेश है, इसलिए इनसे यह निष्कर्ष निकालना कि—ये सभी वर्णन सूर के समय मे प्रचलित प्रथाओ का यथार्थ चित्रण करते हैं, कुछ भूल होगी। परन्तु जब हम व्रज के आज के ग्रामीण-समाज की प्रचलित प्रथाओ और रिवाजो का अध्ययन करते हैं, तो बहुत कुछ यथार्थ-चित्र सूर के समय का भी हमारे सामने आ जाता है। अब धीरे-धीरे बहुत-सी प्रथाओ का लोप होता जा रहा है और बहुत-सी नवीन प्रथाओं का प्रचलन हो रहा है। वास्तव मे ये सब प्रथाएँ और प्रचलन सस्कृति के बाह्य रूप हैं, इन्ही के पीछे सस्कृति के मूल रूप की झाँकियाँ मिलती है। आज की सभ्यता के आवरण मे वे झाँकियाँ कुछ मलिन-सी होती जा रही हैं। इस विज्ञान के भौतिकवादी युग मे जब मानव और मानवता के आदर्श और मान-दण्ड बदल रहे हैं, तब इन झाँकियो के दर्शन और भी दुर्लभ हो जावेंगे। इसलिए शीघ्र ही इनका सकलन और मूल्याङ्कन हो जावे, तो ये राष्ट्र की अपूर्व-निधि होगी।

---

१ सूरसागर (ना० प्र० सभा) पद ८६६

२ वही „ पद १६०२

नामानुक्रमणिका

(अ)

(आ)

-८

३

(ग)

(घ)

(च)

(छ)

(ज)

(ड)

(त)

(द)

(प)

(फ)

(ब)

(भ)

(म)

(य)

(र)

(ल)

(व)

(श)

(ष)

(स)

(ह)

(क्ष)

(त्र)

(ज्ञ)

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थों की सूची

(अ) वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण और पुराण-साहित्य

१ ऋग्वेद, यजु, साम
२ ईशावास्योपनिषद्
३ तैत्तिरीयोपनिषद्
४ बृहदारण्यक
५ श्वेताश्वतरोपनिषद
६ शतपथ ब्राह्मण
७ अग्नि पुराण
८ गरुण पुराण
९ देवी भागवत
१० पद्म पुराण
११ ब्रह्म पुराण
१२ ब्राह्मण पुराण
१३ ब्रह्म वैवर्त्त पुराण
१४ भविष्य पुराण
१५ (श्रीमद्) भागवत महापुराण
१६ मार्कण्डेय पुराण
१७ वामन पुराण
१८ वायु पुराण
१९ विष्णु पुराण
२० शिव पुराण
२१ स्कन्ध पुराण
२२ हरिवंश पुराण

(आ) सूत्र ग्रन्थ

२३ नारद भक्ति-सूत्र—हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीता प्रेस गोरखपुर, संस्करण सं० २००८

२४ शांडिल्य भक्ति-सूत्र व्याख्या—सम्पादक म० म० प० गोपीनाथ कविराज, मुद्रक जैकृष्ण दास हरिदास गुप्त, काशी।

(इ) साम्प्रदायिक साहित्य

२५ अणु-भाष्य—बनारस संस्कृत सीरीज, १९०७ ई०, प्रकाशक–ब्रजवासीदास एण्ड कम्पनी बनारस।

२६ अष्ट सखामृत।

२७ उज्जल नीलमणि किरण—सं० प्राणगोपाल गोस्वामी नवद्वीप, संस्करण सन् १९२७ ई०।

२८ जमुनादास कृत—घौल।

२९ तत्त्वदीप निबन्ध—शास्त्रार्थ व भागवतार्थ प्रकरण, ले० श्री वल्लभाचार्य, सं० नन्दकिशोर भट्ट, प्रकाशक–निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।

३० तत्त्वार्थदीप निबन्ध—शास्त्रार्थ प्रकरण, ले० श्री वल्लभाचार्य प्रकाशक–प० श्रीधर शिवलाल जी, ज्ञानसागर प्रेस, बम्बई संस्करण सं० १९६१।

३१ नागर समुच्चय—(नागरीदास)।

३२ भक्तिमाल भक्ति-सुधा—(नाभादास) नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, संस्करण १९२२ ई०।

३३ भक्तिमाल की टीका (प्रियादास)।

३४ भक्त विनोद—(कवि मियाँ सिंह)।

३५ भाव संग्रह।

३६ वल्लभ दिग्विजय—ले० गोस्वामी यदुनाथ जी, प्रकाशक–नाथद्वारा विद्या-विभाग, सं० १९७५ वि०।

३७ वल्लभ पुष्टि-प्रकाश ।

३८ वृत्रासुर चतु श्लोकी—श्री गोस्वामी पुरुषोत्तम जी के प्रकाश सहित, प्रकाशक—सेठ जेठानन्द आसामल, कालिवादेवी रोड, वम्वई, सन् १९३७ ।

३९ वैष्णवाह्निक पद ।

४० षोडश ग्रन्थ—ले० श्री वल्लभाचार्य, सम्पादक—भट्ट रमानाथ शर्मा, १९३८ ई० ।

४१ सम्प्रदाय कल्पद्रुम ।

४२ सस्कृत वार्त्ता मणिमाला ।

४३ सप्रकाश तत्त्वदीप निवन्ध—ज्ञानसार यन्त्रालय, वम्वई, सम्वत् १९६४ वि० ।

४४ सिद्धान्त रहस्य विवृति—ले० श्री हरिराय जी, अनुवाद देवर्षि भट्ट, श्री रमानाथ जी, सस्करण सम्वत् १९८४ वि० ।

४५ स्वरूप-निर्णय—ले० श्री हरिराय जी, सम्पादक—द्वारकादास परीख, प्र०—सत्सङ्ग कार्यालय, सस्करण स० २००७ वि० ।

४६ स्वामिनी स्तोत्र और स्वामिन्यष्टक—ले० गोस्वामी विट्ठलनाथ, वृहत्स्तोत्र सरित्सागर भाग २, निर्णय-सागर प्रेस, वम्वई ।

४७ सुवोधिनी—ले० वल्लभाचार्य, भाषान्तर कर्त्ता—देवर्षि रमानाथ शास्त्री, प्रकाशक—विद्या-विभाग श्रीनाथद्वारा ।

४८ हरि भक्ति-रसामृत सिन्धु—ले० श्री रूपगोस्वामी, प्रकाशक—अच्युत ग्रन्थमाला, काशी ।

४९ श्री वल्लभ जी महाराज के वचनामृत—प्रका० लल्लूभाई छगनलाल देसाई, अहमदावाद, स० १९८० वि० ।

५० श्री हरिराय वाङ्मुक्तावली—प्रकाशक—पुष्टिमार्गीय पुस्तकालय, नडियाड, १९९३ वि० ।

५१ श्री हरिराय जी कृत वडे शिक्षापात्र—प्रकाशक—श्री सुवोधिनी सभा, जगदीश्वर प्रिंटिंग प्रेस, वम्वई—सस्करण स० २००१ वि० ।

५२ श्रीभागवत निवन्धानुसारी—गोकुलराय कृतोऽध्यायार्थ, प्रकाशक—जेठानन्द आप्तनमल, १९९६ वि० ।

(ई) जीवन-चरित और वार्त्ता-साहित्य

५३ चरितावली—(भारतेन्दु) स० १९१७ ।

५४ मूल गुसांई चरित ।

५५ श्री चैतन्य चरितावली—प्रभुदत्त (ब्रह्मचारी) ।

५६ श्री महाराज सूरदास जी का जीवन-चरित—भारत जीवन प्रेस काशी, स० १९९३ वि० ।

५७ प्राचीन वार्त्ता रहस्य—विद्या-विभाग, कॉकरौली, स० १९९८ वि० ।

५८ गोस्वामी श्री हरिराय जी कृत सूरदास की वार्त्ता—सम्पादक—श्री प्रभुदयाल मीतल, अग्रवाल प्रेस मथुरा, सस्करण स० २००८ वि० ।

५९ चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता—प्रकाशक—वेंकटेश्वर प्रेस, वम्वई, सम्वत् १९८५ ।

६० ए शॉर्ट वायोग्राफिकल स्केच आव श्री वल्लभाचार्य जीज़ लाइफ, लेखक—नटवरलाल, गोकुलदास शाह, प्रकाशक—लल्लूभाई छगनलाल देसाई, अहमदावाद ।

६१ हित हरिवंश चरित (भगवन्मुदित), मालवीय पुस्तकालय, अलीगढ़।

(उ) दार्शनिक

६२ गीता रहस्य—ले० लोकमान्य तिलक, अनु० माधवराव सप्रे, सन् १९२४ ई० ।
६३ श्रीमद्भगवद्गीता—गीता प्रेस गोरखपुर, सस्करण स० २०७८ वि० ।
६४ ब्रह्मवादसग्रह शुद्धाद्वैतपरिष्कारश्च—प्रकाशक—जयकृष्णदास हरिदास गुप्त काशी, स० १९८५ वि० ।
६५ ब्रह्मवाद—ले० रमानाथ शास्त्री, प्रकाशक—पुष्टि-मार्गीय पुस्तकालय, नाथद्वारा सस्करण स० १९९२ वि० ।
६६ शुद्धाद्वैत दर्शन—भाग १, २, ३—ले० भट्ट रमानाथ शास्त्री, वडा मन्दिर भुईवाडा, वम्वई ।
६७ शुद्धाद्वैत मार्तण्ड—ले० गोस्वामी गिरधर जी, प्रकाशक—रत्न गोपाल भट्ट, वनारस ।

(ऊ) ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक

६८ अकवर दी ग्रेट मुगल—विसेण्ट स्मिथ १९१७ ई० ।
६९ अकवर नामा—भाग ३ ।
७० आयने-अकबरी—अनु० ब्लाक मैन ।
७१ इम्पीरियल फर्मान—झावेरी ।
७२ केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया—भाग ४ ।
७३ मुन्तखिब-उल-तवारीख ।
७४ मुशियात अवुलफजल—अब्दुलसमद द्वारा संकलित स० १९६३ वि०
७५ हिस्ट्री ऑव मैडीविल इण्डिया (डा० ईश्वरीप्रसाद) ।
७६ पुष्टि-मार्ग नो इतिहास—प्रकाशक—वसन्तराम हरिकृष्ण शास्त्री, अहमदावाद, सस्करण १९३३ ई० ।
७७ हिन्दुत्व—(रामदास गौड) ।
७८ Influence of Islam on Indian Culture—(ले० डा० ताराचन्द) ।
७९ The coming of the Brahmanism and the South of India J. R. A. S. 1912 (Govindacharya)
८० Historical sketches of Daccan, Book II and III (K. V. Subrahmanya Aiyer)
८१ South Indian History (S K. Ayangar).
८२ History of Indian Philosophy (Surendra Nath Gupta)
८३ Material for the study of Pushthimarga (Guru Prasad Tandan)
८४ Vaishnavism, Shaivism and Minor Religious systems (Sir R G Bhandarkar)

(ए) साहित्यिक एवं समीक्षात्मक

८५ अष्टछाप—ले० गोकुलनाथ कृत, सम्पादक डा० धीरेन्द्र वर्मा, प्रकाशक—रामनारायणलाल प्रयाग, सस्करण १९२९ ई० ।
८६ अष्टछाप परिचय—ले० प्रभुदयाल मीतल, प्रकाशक—अग्रवाल प्रेस, मथुरा ।
८७ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, भाग १, २—ले० डा० दीनदयालु गुप्त, प्रकाशक—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, स० २००४ वि० ।

८८ भारतीय साधना और सूर साहित्य—(डा० मुंशीराम शर्मा)।
८९ भक्त शिरोमणि महाकवि सूरदास—(नलिनी मोहन सान्याल)।
९० महाकवि सूरदास—नन्ददुलारे वाजपेयी।
९१ सूरसागर हस्तलिखित प्रतियाँ (जिनका उल्लेख द्वितीय अध्याय में हुआ है)
९२ सूरसागर मुद्रित प्रतियाँ " " "
९३ सूरदास के अन्य ग्रन्थ " " "
९४ सूरदास जी के दृष्टिकूट—नवलकिशोर प्रेस, स० १९०४ वि०।
९५ सूरदास—ले० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सरस्वती मन्दिर बनारस, सस्करण स० २००६।
९६ सूरदास—ले० जनार्दन मिश्र।
९७ सूरदास—डा० ब्रजेश्वर वर्मा, हिन्दी परिषद् विश्वविद्यालय प्रयाग, सस्करण, सन् १९५०।
९८ सूरदास—डा० पीताम्वरदत्त वडथ्वाल, सम्पादक—डा० भागीरथ मिश्र, लखनऊ।
९९ सूर निर्णय—द्वारकादास परीख व प्रभुदयाल मीतल, अग्रवाल प्रेस मथुरा, सस्करण सम्वत् २००६।
१०० सूर साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक—मध्यभारत हिन्दी साहित्य समिति, सस्करण स० १९९३ वि०।
१०१ सूर साहित्य की भूमिका—रामरतन भटनागर, वाचस्पति त्रिपाठी।
१०२ सूर सौरभ भाग १, २—(प्रो० मुंशीराम शर्मा) सस्करण २००२ वि०।

(ऐ) हिन्दी-साहित्य के इतिहास ग्रन्थ

१०३ मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर—(सर जॉर्ज ग्रियर्सन)।
१०४ मिश्रबन्धु विनोद—(मिश्रबन्धु)।
१०५ शिवसिंह सरोज—(शिवसिंह सेंगर)।
१०६ हिन्दी साहित्य—(डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी)।
१०७ हिन्दी साहित्य का इतिहास—(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल) ना० प्रा० स० काशी, स० २००६।
१०८ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—(डा० रामकुमार वर्मा)।

(ओ) विविध विषयों के ग्रन्थ

१०९ इस्त्वार दैला लितेरा त्यूर ऐन्दवै ऐन्दुस्तानी।
११० ए वर्ड्स आई व्यू ऑव पुष्टिमार्ग—ले० नटवरलाल गोकुलदास शाह, प्रकाशक लल्लूभाई छगनलाल देसाई, अहमदाबाद।
१११ गौडीय दशम खण्ड।
११२ तर्जुमा-उल-कुरान—(मौलाना आजाद) सैयद एम० हसन द्वारा अनूदित।
११३ भक्ति योग—ले० चौ० रघुनन्दनप्रसाद सिंह, प्रकाशक—गीता प्रेस गोरखपुर, सस्करण १९९३ वि०।
११४ वसन्त धमार कीर्तन सग्रह, भाग २—प्रकाशक—लल्लूभाई छगनलाल देसाई, अहमदावाद स० १९८४ वि०।
११५ ब्रजयात्रा वर्णन—प्रकाशक—प० माधव शर्मा काशी, सस्करण स० १९९६ वि०।
११६ रसेश श्रीकृष्ण—ले० जे० जी० शाह, प्रकाशक—लल्लूभाई छगनलाल देसाई, अहमदावाद।
११७ राम रसिकावली—(ठा० साधुराम सिंह)।

११८ लघु भागवतामृत—ले० श्री रूप गोस्वामी, प्रकाशक—खेमराज श्रीकृष्णदास बम्बई, स० ११५९ वि०।

११९ वर्षोत्सव और कीर्त्तन सग्रह–प्रकाशक–लल्लूभाई छगनलाल देसाई, सस्करण १९९३ वि०।

१२० व्यास वाणी—प्रकाशक–राधाकिशोर गोस्वामी वृन्दावन, सस्करण १९९४ वि०।

(औ) पत्र-पत्रिकाएँ—लेख, भाषण आदि

१२१ कल्याण, साधनाङ्क, कृष्णाङ्क और भागवताङ्क, गीताप्रेस गोरखपुर।

१२२ Modern Hindusim and its Debt to the Nestorians C. Dr.

१२३ Grierson, Journal of Royal Asiatic Society.

१२४ वल्लभीय सुधा—मथुरा से समय-समय पर प्रकाशित।

१२५ व्रज भारती—मथुरा से प्रकाशित।

१२६ श्रीकृष्ण—काशी से प्रकाशित।

१२७ Gorakhnath and the Kanfata Yogis (an article by W. Briggs, Published in 'Religious Life in India' series.)

१२८ भाषण सूरदास और उनकी कविता, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, बगाल।

१२९ हिन्दी मण्डल द्वारा प्रकाशित (सन् १९४४)।

१३० सूरदास और उनका साहित्य—प० जवाहरलाल चतुर्वेदी (सर्चलाइट प्रेस, पटना)।

१३१ The Birth date of Ballabhacharya, the advocate of Suddhadvait Vedant, by Prof. Bhatt of Baroda College (9th All India Oriental Conference, Trivendram)

१३२ गजेटियर ऑव दी मथुरा डिस्ट्रिक्ट, गवर्नमेण्ट प्रेस, इलाहाबाद, १९११ ई०।

